

हिन्दी मासिक जिनवाणी

वर्ष-67 अंक-12 एवं वर्ष-68 अंक-01 * मूल्य : ₹ 100.00 * 10 जनवरी 2011 * मार्गशीर्ष-पौष, सं. 2067
आचार्यप्रवर पूज्य श्री हस्तीमल जी म.सा. की जन्म-शताब्दी (अध्यात्म-चेतना वर्ष) में प्रकाशित

गुरु-गरिमा एवं श्रमण-जीवन विशेषांक



परस्परप्रेमो जीवानाम्

प्रज्ञा

निर्मलता

समता

अप्रमत्तता

साम्यदर्शन-ज्ञान-चारित्र्य

अहिंसादि पंच महाव्रत

ईर्यादि पंच समिति

मनोगुप्ति आदि त्रिगुप्ति



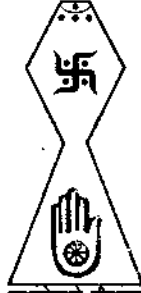
मंगल-मूल, धर्म की जननी, शाश्वत सुखदा कल्याणी।

द्रोह-मोह-छल-मान-मादिनी, फिर प्रगटी यह 'जिनवाणी' ॥

जिनवाणी हिन्दी-मासिक

मंगल-मूल धर्म की जननी, शाश्वत, सुखदा, कल्याणी।
द्रोह, मोह, छल, मान-मर्दिनी, फिर प्रगटी यह 'जिनवाणी' ॥

गुरु-गरिमा एवं श्रमण-जीवन विशेषाङ्क



परत्यरोपग्रहो जीवानाम्

सम्पादक

डॉ. धर्मचन्द जैन



सह-सम्पादक

नौरतन मेहता

डॉ. श्वेता जैन

प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार, जयपुर

जिनवाणी

गुरु-गरिमा एवं श्रमण जीवन विशेषाङ्क

दिसम्बर 2010, जनवरी 2011

वीर निर्वाण सम्बत् 2537

मार्गशीर्ष-पौष, सम्बत् 2067

वर्ष-67 अंक-12 एवं वर्ष-68 अंक-1

प्रकाशक

विरदराज सुराणा

मंत्री-सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

दुकान नम्बर 182-183 के ऊपर, बापू बाजार

जयपुर-302003(राज.), फोन नं. 0141-2575997, फैक्स 0141-2570753

E-mail:jinvani@yahoo.co.in

संरक्षक

अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ

घोड़ों का चौक, जोधपुर (राज.), फोन नं. 0291-2636763

संस्थापक

श्री जैन रत्न विद्यालय, भोपालगढ़

सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र

3 K 24-25, कुड़ी भगतासनी हाउसिंग बोर्ड

जोधपुर-342005(राज.), फोन नं. 0291-2730081

भारत सरकार द्वारा प्रदत्त

रजिस्ट्रेशन नं. 3653/57

डाक पंजीयन सं. RJ/JPC/M-07/2010-11

सदस्यता-शुल्क

| | | | |
|-----------------------|---------|-------------------------|--------|
| स्तम्भ सदस्यता | ₹11,000 | संरक्षक सदस्यता | ₹5,000 |
| आजीवन सदस्यता देश में | ₹500 | आजीवन सदस्यता विदेश में | ₹5,000 |
| त्रिवर्षीय सदस्यता | ₹120 | इस विशेषाङ्क का मूल्य | ₹100 |

ड्राफ्ट 'जिनवाणी' जयपुर के नाम बनवाकर उपर्युक्त पते पर प्रेषित किया जा सकता है।

मुद्रक : दी डायमण्ड प्रिण्टिंग प्रेस, मोतीसिंह भोमियों का रास्ता, जयपुर, फोन नं. 0141-2562929

नोट: यह आवश्यक नहीं कि लेखकों के विचारों से सम्पादक या मण्डल की सहमति हो।

प्रकाशकीय

अध्यात्म, धर्म, दर्शन, नैतिकता, इतिहास, संस्कृति एवं जीवन-मूल्यों की संवाहक जिनवाणी मासिक पत्रिका विगत 67 वर्षों से आपकी सेवा में पहुँच रही है। इसका शुभारम्भ जनवरी 1943 में हुआ, तबसे समय-समय पर विभिन्न महत्व के विषयों पर विशेषाङ्कों का प्रकाशन हुआ है। अब तक जिनवाणी के 16 विशेषाङ्क प्रकाशित हो चुके हैं, यथा- 'स्वाध्याय' (1964), 'सामायिक' (1965), 'तप' (1966), 'श्रावक धर्म' (1970), 'साधना' (1971), 'ध्यान' (1972), 'जैन संस्कृति और राजस्थान' (1975), 'कर्म-सिद्धान्त' (1984), 'अपरिग्रह' (1986), 'आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. श्रद्धांजलि अंक' (1991), 'आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' (1992), 'अहिंसा' (1993), 'सम्यग्दर्शन' (1996), 'क्रियोद्धार : एक चेतना' (1997), 'जैनागम' (2002), 'प्रतिक्रमण' (2006)।

अध्यात्मयोगी युगमनीषी आचार्यप्रवर पूज्य 1008 श्री हस्तीमल जी महाराज उच्चकोटि के गुरु एवं श्रमण थे। उनकी जन्म-शताब्दी को अध्यात्म चेतनावर्ष (30 दिसम्बर 2009 -18 जनवरी 2011) के रूप में मनाया जा रहा है। इसी उपलक्ष्य में यह विशेषाङ्क 'गुरु-गरिमा एवं श्रमण-जीवन' विषय पर प्रकाशित किया जा रहा है।

मानव-जीवन में गुरु प्रकाश-स्तम्भ की भांति होते हैं, जो व्यक्ति की पात्रता के अनुसार उसका मार्गदर्शन करते हैं। वे हमारे अज्ञान-अन्धकार को दूर कर ज्ञान-प्रकाश का संचार करते हैं तथा दुर्गुणों को दूर कर सद्गुणों का आधान करते हैं। उनकी महिमा अपरम्पार है। गुरुओं में भी जब कोई श्रमण गुरु हो तो ज्ञान के साथ हमारा आचरण पक्ष भी निर्मल एवं सुदृढ़ बनता है, क्योंकि श्रमणगुरु आचरणनिष्ठ सन्त होते हैं। उनका जीवन अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का निदर्शन होता है तथा अनेक व्रत-नियमों से शोभित होता है। इस विशेषाङ्क को दो खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड गुरु-गरिमा से सम्बद्ध है तथा द्वितीय खण्ड श्रमण-जीवन की महत्ता का प्रतिपादन करता है।

विशेषाङ्क में जिन आचार्यों, सन्तों एवं महनीय विद्वान् लेखकों के अमूल्य विचारों से सम्पृक्त लेख हमें प्राप्त हुए हैं, उनका हम हृदय से आभार ज्ञापित करते हैं। जिन श्रद्धालु महानुभावों ने हमें विज्ञापन प्रेषित किए हैं, उनकी उदारता एवं धर्मभावना का आदर करते हैं तथा हृदय से धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

पी. शिखरमल सुराणा
अध्यक्ष

सम्पतराज चौधरी
कार्याध्यक्ष

विरदराज सुराणा
मन्त्री

विषयानुक्रमणिका

| | | |
|---|---|-----|
| प्रकाशकीय | | 8 |
| सम्पादकीय | | 9 |
| गुरु-गरिमा खण्ड | | |
| जीवन-निर्माता : सद्गुरु | : आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म.सा. | 15 |
| सद्गुरु के प्रति समर्पण | : आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा. | 19 |
| सच्चा गुरु व्यक्ति को कल्याण-मार्ग से जोड़ता है | : उपाध्यायप्रवर श्री मानचन्द्र जी म.सा. | 25 |
| श्रद्धा और समर्पण से मिलता है, गुरु का आशीर्वाद | : आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी म.सा. | 28 |
| जीवन के कलाकार : सद्गुरु | : उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी म.सा. | 34 |
| जीवन में गुरु की महत्ता | : मधुरव्याख्यानी श्री गौतममुनि जी म.सा. | 39 |
| गुरु एक या अनेक : नयदृष्टि | : तत्त्वचिन्तक श्री प्रमोदमुनि जी म.सा. | 45 |
| गुरु की महिमा अपरम्पार | : साध्वीप्रमुखा श्री मैनासुन्दरी जी म.सा. | 50 |
| 'गुरु' का आध्यात्मिक स्वरूप | : श्री कन्हैयालाल लोढ़ा | 53 |
| गुरु-शिष्य का स्वरूप एवं अन्तःसम्बन्ध | : क्षुल्लक श्री ध्यानसागर जी | 58 |
| सद्गुरु का मिलना : एक सौभाग्य | : श्री मोफतराज मुणोत | 68 |
| जीवन-निर्माण में गुरु की भूमिका | : श्री पी.शिखरमल सुराणा | 70 |
| संकल्प-विकल्प मिटे मन के, गुरुवर को जब मैंने देखा | : श्री सम्पतराज चौधरी | 73 |
| गुरु का महत्त्व | : श्रीमती सुशीला बोहरा | 75 |
| जैन परम्परा में गुरु का स्वरूप | : श्री पारसमल चण्डालिया | 80 |
| Guru : A Light in Life | : Dr. Ashok Kavad | 86 |
| हिन्दी भक्ति-साहित्य में गुरु का स्वरूप एवं महत्त्व | : डॉ. किशोरीलाल रैगर | 89 |
| जैन साधना में सद्गुरु का महत्त्व | : प्रो. पुष्पलता जैन | 99 |
| गुरु-महिमा का छोर नहीं | : श्रीमती अभिलाषा हीरावत | 111 |
| श्रुतज्ञान की प्राप्ति का उपाय: गुरु की उपासना | : सुश्री नेहा चोरडिया | 115 |
| गुरु-गरिमा | : संकलन एवं अनुवाद | 120 |

| | | |
|--|---|-----|
| सन्मार्गप्रवृत्ति हेतु गुरुपदेश का महत्त्व | : सुश्री ऋचा शर्मा | 123 |
| गुरु गुण लिख्या न जाय | : श्री देवेन्द्र नाथ मोदी | 139 |
| जैन परम्परा में गुरु का वैशिष्ट्य | : श्री मनोहरलाल जैन | 142 |
| विशाहीन युवा और आध्यात्मिक गुरु | : श्री पदमचन्द गाँधी | 144 |
| युवा पीढ़ी को आध्यात्मिक गुरु की आवश्यकता | : श्रीमती कमला सुराणा | 148 |
| आचार्य श्री हस्ती में गुरु तत्त्व | : डॉ. मंजुला बम्ब | 151 |
| सद्गुरु एवं उनका सान्निध्य लाभ | : श्री पवन कुमार जैन | 157 |
| अभी चलना है बाकी | : मधुरव्याख्यानी श्री गौतममुनि जी म.सा. | 170 |

श्रमण-जीवन खण्ड

| | | |
|--|--|-----|
| साधु रहे तीन विषों से सावधान | : आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म.सा. | 173 |
| सामायिक से समता का अभ्यास | : आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा. | 180 |
| श्रमण की प्रमुख विशेषताएं | : आचार्य श्री विजयराज जी म.सा. | 192 |
| श्रमणाचार परिचायक कतिपय पारिभाषिक शब्द | : उपाध्याय श्री रमेशमुनि जी शास्त्री | 202 |
| आध्यात्मिक-साधना एवं श्रमणाचार | : श्री रणजीत सिंह कूमट | 209 |
| आदर्श श्रमण-जीवन का स्वरूप | : प्रो. सागरमल जैन | 215 |
| श्रमण-परम्परा का वैशिष्ट्य | : प्रो. दयानन्द भार्गव | 222 |
| श्रमण-जीवन की महत्ता | : श्री सम्पतराज चौधरी | 225 |
| श्रमण-जीवन में अप्रमत्तता | : श्री प्रेमचन्द कोठारी | 231 |
| श्रमणों एवं श्रावकों का पारस्परिक सम्बन्ध | : न्यायाधिपति श्री जसराज चौपड़ा | 237 |
| श्रमण-जीवन में गुणस्थान-आरोहण | : श्री धर्मचन्द जैन | 249 |
| आचार्य हस्ती के श्रमण-जीवन का वैशिष्ट्य | : श्री ज्ञानेन्द्र बाफना | 255 |
| दिगम्बर ग्रन्थ मूलाचार में प्रतिपादित श्रमणाचार | : डॉ. फूलचन्द जैन 'प्रेमी' | 260 |
| दशवैकालिक सूत्र में गुप्तित्रय का विवेचन | : डॉ. श्वेता जैन | 270 |
| आचारांग सूत्र में श्रमण-जीवन | : श्री मानमल कुदाल | 280 |
| श्रमणवर्ग में अनुशासनहीनता पर नियन्त्रण | : श्रमणसंघीय श्री सौभाग्यमुनि जी 'कुमुद' | 290 |
| श्रमण-सूचक पारिभाषिक शब्द : दशवैकालिक निर्युक्ति के आलोक में | : डॉ. हेमलता जैन (ललवाणी) | 294 |

| | | |
|---|---|-----|
| श्रमण-जीवन में पंचाचार | : श्री जशकरण डागा | 299 |
| श्रमण एवं श्रमणी के आचार में भेद | : डॉ. पदमचन्द मुणोत | 307 |
| साधक-जीवन में त्रिगुमि आवश्यक | : श्रीमती रतन बाई चोरडिया | 313 |
| श्रावकोपयोगी श्रमणाचार | : डॉ. दिलीप धींग | 318 |
| आधुनिक युग में श्रमणाचार की महत्ता | : डॉ. जीवराज जैन | 328 |
| श्रमण-जीवन के परीषह | : श्री जौहरीमल छाजेड़ | 335 |
| श्रमण-जीवन से शिक्षाएँ | : श्री नवरतन डागा | 342 |
| श्रमणचार : प्रमुख प्रश्नोत्तर | : श्री पी.एम. चोरडिया | 346 |
| साधना के गुरुशिखर पर | : डॉ. रमेश 'मयंक' | 352 |
| आचार्य का स्वरूप एवं महिमा | : श्री प्रकाशचन्द जैन | 360 |
| आचार्य पद की महत्ता | : श्री हस्तीमल गोलेछा एवं श्रीमती शर्मिला खीवसरा | 363 |
| उपाध्याय का स्वरूप एवं महिमा | : प्रो. चाँदमल कर्णावट | 370 |
| ईर्या एवं भाषा समिति | : श्री त्रिलोकचन्द जैन | 375 |
| एषणा समिति | : श्री सौभाग्यमल जैन | 382 |
| आर्यिकाओं की आचार पद्धति | : प्रो. (डॉ.) फूलचन्द जैन | 394 |
| श्रमणाचार और आधुनिकता से ग्रस्त श्रावक | : श्रीमती मोहनकौर जैन | 404 |
| जैन श्रमण की रोग-प्रतिरक्षात्मक स्वालम्बी जीवन शैली | : श्री चंचलमल चोरडिया | 408 |

सम्पादकीय

गुरु की महत्ता विश्व में अनादिकाल से रही है। भारतीय परम्परा में गुरु के दो रूप रहे हैं- 1. लौकिक-विद्या गुरु और 2. अध्यात्म-विद्या गुरु। प्राचीनकाल में लौकिक विद्या सिखाने के लिए गुरुकुल प्रचलित रहे, जहाँ विशेष वर्ग के साथ राजकुमारों को भी ऋषियों द्वारा शिक्षण दिया जाता था। बाद में पौशाल के माध्यम से और अब पाठशालाओं, विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों के माध्यम से लौकिक विद्या का वितरण किया जा रहा है। अनेक संस्थाएँ निजी तौर पर भी आभियान्त्रिकी, प्रबन्धन, लेखांकन, बैंकिंग, चिकित्सा, पर्यावरण आदि विषयों का अध्यापन कराती हैं। यह लौकिक विद्या आज खूब विकसित हो रही है। सूचना तकनीक, अन्तरिक्ष अनुसन्धान, चिकित्सा, मनोरंजन आदि के क्षेत्र में विशेष तरक्की हुई है। कम्प्यूटर एवं इण्टरनेट ने दुनियाँ का नया स्वरूप प्रकट किया है। लौकिक ज्ञान-विज्ञान के नये आयाम प्रकट हो रहे हैं। व्यक्ति कार्यों को अधिक सुगमता से तथा उत्कृष्टता से सम्पन्न करने में सक्षम हुआ है। इससे आजीविका के साधन भी बढ़े हैं तथा भोगोपभोग के नूतन आयाम भी सामने आये हैं।

लौकिक विद्या की एक सीमा है। वह मनुष्य को आजीविका एवं भोगोपभोग की सामग्री उपलब्ध कराने के साथ बौद्धिक विकास भी करती है, किन्तु व्यक्ति को आत्यन्तिक रूप से दुःखमुक्त नहीं बना पाती। प्राणिमात्र के प्रति आत्मतुल्यता का भाव उत्पन्न करने के साथ संवेदनशीलता का विकास व्यक्ति में अध्यात्मविद्या ही उत्पन्न करती है। अध्यात्मविद्या में मनुष्य के आन्तरिक दृष्टिकोण का परिवर्तन करने का वह सामर्थ्य है जिससे व्यक्ति दुःख के निवारण में सक्षम हो जाता है। यह विद्या व्यक्ति को राग से विराग की ओर, भोग से योग की ओर, विषमता से समता की ओर, विभाव से स्वभाव की ओर, तनाव से शान्ति की ओर, प्रमाद से अप्रमाद की ओर, भय से निर्भयता की ओर ले जाती है। इस विद्या को प्राप्त व्यक्ति बाह्य वस्तुओं के अभाव में भी भीतरी आनन्द से सरोबार होने की दृष्टि प्राप्त कर लेता है। अपमान और सम्मान में, दुःख और सुख में वह जीवन-मूल्यों से विचलित नहीं होता। स्वाध्याय, सेवा, ध्यान, तप, जप, इन्द्रिय-निग्रह आदि के माध्यम से वह आत्म-विजय के मार्ग पर अग्रसर होता है। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि आभ्यन्तर शत्रु उससे परास्त होने लगते हैं। इस अध्यात्म-विद्या का रसास्वादन व्यक्ति को बहिरात्मा से अन्तरात्मा बना देता है तथा वह पूर्णतः दुःखमुक्त होकर परमात्मा बनने की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

अध्यात्म-विद्या गुरु ही वस्तुतः प्रमुख गुरु है। गुरु का मुख्यार्थ उसी में घटित होता है। गुरु शब्द में 'गु' अंधकार का तथा 'रु' प्रकाश का वाचक है। अर्थात् जो व्यक्ति को अज्ञान-अंधकार से ज्ञान-प्रकाश की ओर लाता है वह गुरु है। गुरु व्यक्ति भी है और तत्त्व भी। गुरु जो ज्ञान देता है वस्तुतः उसी से

व्यक्ति में प्रकाश का अनुभव होता है। वह ज्ञान ही अज्ञान का नाश करता है। इसलिए ज्ञान भी तत्त्व के रूप में गुरु है और जिस व्यक्ति से हमें ज्ञान की प्राप्ति होती है वह व्यक्ति के रूप में गुरु है। यों तो ज्ञान न्यूनाधिक रूप में सबको प्राप्त है, किन्तु वह ज्ञान मिथ्या है या सम्यक् इसका हमें बोध नहीं होता। गुरु यह बोध कराता है कि कौनसा ज्ञान सही है और कौनसा नहीं। अज्ञान अंधकार का नाश किस प्रकार हो सकता है इसका मार्ग हमें गुरु-व्यक्ति से प्राप्त होता है। इसलिए ऐसे गुरु हमारे लिए पूज्य हैं। जब गुरु की सही पहचान हो जाए और हमें उनके सान्निध्य में ज्ञान के उजाले का अनुभव हो तो ऐसे गुरु के प्रति शिष्य का समर्पण आवश्यक है। श्रद्धा का अतिरेक ही समर्पण में बदल जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि उसमें कोई जिज्ञासा नहीं रहती, शिष्य में जिज्ञासा होने पर ही वह अपने अज्ञान को दूर करने का उपाय जान पाता है तथा उसे आचरण में लाने में सक्षम बनता है। शिष्य में जिज्ञासा के साथ विनय का होना आवश्यक है। विनीत शिष्य को ही गुरु सही ढंग से ज्ञान दे पाता है। शिष्य ज्ञान न सीख सके तो उसका सम्पूर्ण दोष हम आचार्य पर नहीं मढ़ सकते। शिष्य की अपनी कमजोरियाँ होती हैं जो उसकी ज्ञान-प्राप्ति में बाधक बनती हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में अभिमान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य को शिक्षा-प्राप्ति में बाधक माना गया है। अविनीत शिष्य कौन होता है, इसे भी उत्तराध्ययन सूत्र में समझाया गया है। ग्यारहवें अध्ययन में अविनीत शिष्य के 14 स्थान बताते हुए कहा गया है कि ऐसा अविनीत शिष्य निर्वाण को प्राप्त नहीं होता, वे स्थान हैं-1. जो बार-बार क्रोध करता है 2. क्रोध को टिका कर रखता है 3. जो मित्रभाव रखने वाले को भी ठुकराता है 4. श्रुत को प्राप्त कर मद करता है 5. किसी की स्वलना होने पर उसका तिरस्कार करता है 6. जो मित्रों पर कुपित होता है 7. जो अत्यन्त प्रिय मित्र की भी एकान्त में बुराई करता है 8. जो असम्बद्धभाषी है 9. जो देशद्रोही है 10. जो अभिमानी है 11. जो सरस आहार आदि में लुब्ध है 12. जो अजितेन्द्रिय है 13. जो असंविभागी है तथा 14. जो अप्रीतिकर है। इन स्थानों से स्पष्ट होता है कि शिष्य में भी निरन्तर योग्यता का विकास आवश्यक है। यद्यपि भगवान् महावीर के पास अत्यन्त पापी अर्जुनमाली जैसे हत्यारे ने भी शिष्यत्व अंगीकार किया, तथापि वे अपनी पात्रता का निरन्तर परिष्कार करते हुए समत्व में आगे बढ़ते गए। गुरु उचित भूमि की परीक्षा करता है तथा उसमें ज्ञान का बीज वपित करता है। कुछ ऊसरभूमि की तरह शिष्य होते हैं, जिन्हें किसी भी रीति से ज्ञान दिया जाए, ग्रहण नहीं कर पाते हैं अथवा उस ज्ञान को अज्ञान में बदल देते हैं। गुरु भी यदि प्रज्ञाशील न हो, शिष्य की पात्रता की परीक्षा करना न जानता हो अथवा स्वयं ज्ञान के अनुरूप आचरण न करता हो तो वह भी शिष्य को अध्यात्म-मार्ग पर आगे बढ़ाने में सफल नहीं हो पाता है। इसलिए गुरु और शिष्य दोनों जितने सुयोग्य होंगे उतना ही ज्ञान का सम्प्रेषण सरल होगा।

सभी लोगों के साथ गुरु की समान अन्तरंगता सम्भव नहीं है, फिर भी गुरु का प्रसाद असीम रूप से सबको प्राप्त हो सकता है। अल्प समय में और संकेतों में ही गुरु अपने भक्तों का मार्गदर्शन कर सकते हैं।

गुरु होने के साथ कोई श्रमण भी हो तो उसमें अधिक वैशिष्ट्य होता है, क्योंकि श्रमण का आचरण पक्ष सबल होता है। श्रमण में ज्ञान भी होता है और आचरण भी, क्योंकि बिना ज्ञान के आचरण का विशेष महत्त्व नहीं होता। प्रत्येक श्रमण ज्ञान और क्रिया का आराधक होता है। ज्यों-ज्यों उसमें योग्यता का विकास होता है तो वह दूसरों को भी ज्ञान देता है एवं आचरण में प्रवृत्त करता है, यही उसका गुरुत्व है।

जैन श्रमण-परम्परा में तीर्थंकर के लिए भी 'श्रमण' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। भगवान् महावीर के लिए 'समणे भगवं महावीरे' शब्दों का प्रयोग आगम में बहुशः दृग्गोचर होता है। इसका अर्थ है कि तीर्थंकर भी गुरु हैं, क्योंकि वे श्रमण हैं। उनके सान्निध्य में हजारों-लाखों व्यक्तियों ने ज्ञान प्राप्त किया, श्रमणत्व एवं श्रमणोपासकत्व को प्राप्त किया। वे सर्वोत्कृष्ट गुरु हैं। वे सम्पूर्ण लोक में ज्ञान का प्रकाश प्रसारित करने वाले हैं - 'लोगस्स उज्जोयगरे'। साधारण गुरु तो कुछ लोगों में ही ज्ञान का प्रकाश सम्प्रेषित कर पाते हैं, किन्तु तीर्थंकर सम्पूर्ण लोक में ज्ञान का प्रकाश फैलाते हैं। जिसमें जितनी योग्यता है वह उतना ग्रहण कर लेता है। उनका द्वार सबके लिए खुला है। तीर्थंकर को अरिहन्त के रूप में यद्यपि जैन परम्परा 'देव तत्त्व' में समाविष्ट करती है, किन्तु जिन व्यक्तियों को तीर्थंकरों ने साक्षात् उपदेश दिया उनके लिए तो तीर्थंकर गुरु ही थे। हमारे लिए अब वे देव के रूप में उपास्य हैं। सिद्ध भी देव हैं।

वर्तमान में जैन परम्परा में गुरु के अन्तर्गत आचार्य, उपाध्याय और साधु-साध्वी का अन्तर्भाव किया जाता है। ये तीनों गुरुपद के रूप में पूज्य एवं श्रद्धेय हैं। ये सभी श्रमण भी हैं। इनमें ज्ञान और क्रिया का समावेश है। साधु-साध्वी पंच महाव्रतधारी होने के साथ ईर्यादि पाँच समितियों तथा मनोगुप्ति आदि त्रिगुप्तियों के पालक होते हैं। उनकी साधना ज्ञानपूर्वक यतना के साथ होती है। उन्हें स्पष्ट रूप से गुरु स्वीकार किया गया है- 'सुसाहुणो गुरुणो' अर्थात् सुसाधु मेरे गुरु हैं। सुसाधु से आशय उस साधु से है जो साधुत्व का पालन ठीक ढंग से कर रहा है। श्रमण की यह साधारण श्रेणी है, इनसे अधिक गुणवान् उपाध्याय और आचार्य होते हैं। उपाध्याय का कार्य मुख्यतः श्रुतज्ञान का वितरण है। वे आगमों के ज्ञाता होने के साथ आचार पक्ष के भी वेत्ता होते हैं। आचार्य संघ के नायक होने के साथ आचार की पालना कराने में सजग होते हैं। आचार पालन पर इनका अधिक बल होता है। ये सभी श्रमण गुरु ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार्य और वीर्याचार के धनी होते हैं।

श्रमण की अन्य विशेषताओं में क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, संयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य, शौच और आर्किचन्थ इन दस धर्मों की साधना तथा क्षुधा-पिपासा आदि परीषहों को समभाव से सहन करने की क्षमता को गिना जा सकता है। वे सरलचित्त होते हैं, निरभिमानी होते हैं, निरासक्त होते हैं, निर्ग्रन्थ होते हैं, क्षमाशील होते हैं, तपस्वी होते हैं, ब्रह्मचारी होते हैं, आत्मदमी होते हैं, विकार-विजय की साधना में सन्नद्ध रहते हैं तथा अपने दोषों को जानकर उनका निराकरण करने में तत्पर होते हैं। वे पदयात्रा करते हैं, वस्त्र अत्यन्त सीमित रखते हैं, स्वाद-विजेता होते हैं, एषणा समिति के नियमों का पालन करते

हुए आहारादि ग्रहण करते हैं, अनित्यादि भावनाओं से अपनी साधना को सुदृढ़ बनाते हैं, अपने मद का त्याग करते हैं, अप्रमत्तता को अपनाते हैं तथा ध्यान-साधना के द्वारा आर्त-रौद्र का परित्याग कर धर्मध्यान से शुक्लध्यान की सीढ़ी चढ़ते हैं। गुणस्थानों पर आरोहण प्रायः ऐसा संयमी साधक श्रमण ही कर सकता है।

प्रस्तुत विशेषांक में गुरु और श्रमण दोनों की चर्चा हुई है। प्रवचनों और लेखों में गुरु का स्वरूप और महत्त्व तो उजागर हुआ ही है, गुरु और शिष्य के अंतःसम्बन्धों पर भी प्रकाश मिलता है। सच्चा गुरु अपने सम्पर्क में आए व्यक्ति के जीवन का निर्माण करता है तथा वह उसे अपने से जोड़ने की अपेक्षा धर्म से अथवा कल्याण मार्ग से जोड़ता है। अध्ययन-क्रम, प्रायश्चित्त-ग्रहण एवं साक्षात् ज्ञानार्जन की दृष्टि से कोई एक गुरु को भी स्वीकार कर सकता है, किन्तु भावनात्मक दृष्टि से वह दूसरे गुणवान गुरुओं का भी उतना ही आदर करता है। किसी को हीनदृष्टि से नहीं देखता। आज जहाँ देश में गुरुओं का व्यवसाय चल रहा है, वे भक्त की मनोकामना को पूर्ण कर निज स्वार्थ की पूर्ति में सन्नद्ध रहते हैं वहाँ सद्गुरु का मिलना एक सौभाग्य ही कहा जा सकता है। गुरु-भक्ति का विशद वर्णन भक्तिकालीन हिन्दी कवियों एवं जैन सन्तों ने भी किया है। गुरु की आराधना से सन्मार्ग एवं श्रुतज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। श्रद्धा और समर्पण के साथ गुरुओं से लाभ लेने की युवा-पीढ़ी को महती आवश्यकता है।

एक अच्छा श्रमण निरन्तर समत्व की साधना में सजग रहता है। वह विभूषा, स्त्री-संसर्ग और प्रणीतरस भोजन से दूर रहता है। दशविध समाचारी का पालन करता हुआ अनुशासन में रहता है। ध्यान के माध्यम से आध्यात्मिकता को सदा आत्मसात् किए रहता है। दोषों की निवृत्ति पर बल देता है। मन-वचन और काया तीनों को अशुभता से निवृत्त कर पंचविध समिति का सम्यक् पालन करता है। श्रमणाचार का पालन निरतिचार हो सके यह एक आज के युग की कठिनाई तो है, तथापि मन-वचन एवं काया को अशुभता से रोकना आवश्यक है। श्रमण के लिए विहित आचार के अनेक बिन्दु श्रावकों के लिए भी उपयोगी हैं। आधुनिकता से ग्रस्त समाज को चाहिए कि वह श्रमणों की उन खूबियों पर ध्यान दे जिनको अपना कर वह अपने जीवन को उच्च शिखर पर ले जा सकता है तथा इस जीवन को शान्त, सुखी एवं संयमी बनाने के साथ दूसरों के लिए भी हितकारी हो सकता है। संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, राजस्थानी, कन्नड़, मराठी आदि सभी भाषाओं के साहित्य में गुरु की महिमा गायी गई है। 'गुरु बिन ज्ञान नहीं' वाक्य आम जिज्ञासुओं को गुरु की ओर आकर्षित करता है।

इस विशेषांक में जिन आचार्यों, सन्तों और विद्वानों ने अपना सहकार दिया है, उनके प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। उनके सहकार के बिना विशेषांक का यह स्वरूप सम्भव नहीं था।

-डॉ. धर्मचन्द जैन

10 जनवरी 2011

जिनवाणी

13

गुरु-गरिमा खण्ड

गुरु-गरिमा का करुँ बरवान,
रहे हृदय में हस्पल ध्यान ।
पाएँ ज्ञान, मिटे सब मान,
जीवन अपना बने महान् ॥

जीवन-निर्माता : सद्गुरु

आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज

परमश्रद्धेय आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी महाराज के प्रवचन-साहित्य एवं 'नमो पुरिसवरगंधहत्थीणं' ग्रन्थ से यहाँ उनके गुरुविषयक कतिपय विचारों एवं भजनों का संकलन किया गया है। आचार्य श्री हस्ती ऐसे परम गुरुभक्त थे जो अपने गुरु के हृदय में निवास करते थे। आचार्य श्री के यहाँ प्रदत्त भजन प्रायः अपने गुरुदेव को समर्पित हैं। -सम्पादक

- ❖ वास्तव में योग्य गुरु की ठोकरे खाने वाला ही योग्य शिष्य पूजनीय बन पाता है। आज कल के स्वेच्छाचारी शिष्यों के लिये यह बहुत ही ध्यान देने योग्य बात है।
- ❖ निर्ग्रन्थ गुरु के पास भक्त पहुँच जाए तो न तो गुरु उससे कुछ लेता है और न उसे कुछ देता ही है। वह तो एक काम करता है- अज्ञान के अंधकार को हटाकर शरणागत के ज्ञान चक्षु खोलता है, 'ज्ञानांजन-शलाका' के माध्यम से प्रकाश करता है और अज्ञान का जो चक्र घूमता है, उसको दूर करता है।
- ❖ देव का अवलम्बन परोक्ष रहता है और गुरु का अवलम्बन प्रत्यक्ष। कदाचित् ही कोई भाग्यशाली ऐसे नररत्न संसार में होंगे, जिन्हें देव के रूप में और गुरु के रूप में अर्थात् दोनों ही रूपों में एक ही आराध्य मिला हो। देव और गुरु एक ही मिलें, यह चतुर्थ आरक में ही संभव है। तीर्थंकर भगवान् महावीर में दोनों रूप विद्यमान थे वे देव भी थे और गुरु भी थे। लेकिन हमारे देव अलग हैं और गुरु अलग। हमारे लिए देव प्रत्यक्ष नहीं हैं, परन्तु गुरु प्रत्यक्ष हैं। इसलिए यदि कोई मानव अपना हित चाहता है, तो उस मानव को सद्गुरु की आराधना करनी चाहिए।
- ❖ गुरु के अनेक स्तर हैं, अनेक दर्जे हैं, जिनको गुरु कहा जाता है, लेकिन वे सभी तारने में, मुक्त करने में सक्षम नहीं होते। आचार्य केशी ने बतलाया है कि आचार्य तीन प्रकार के होते हैं- कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य। यदि कोई व्यक्ति कृतज्ञ स्वभाव का है और उपकार को मानने वाला है, तो उसको जिसने दो अक्षर सिखाए हैं, उसके प्रति भी आदर भाव रखेगा। जिसने थोड़ा सा खाने-कमाने लायक व्यवसाय प्रारम्भ में सिखाया है, उसको भी ईमानदार कृतज्ञ व्यक्ति बड़े सम्मान से देखेगा। इसी प्रकार जो शिल्पाचार्य हैं और उन्होंने अपने शिष्यों को शिल्प की शिक्षा दी है, उनके प्रति भी शिष्यों को आदरभाव रखना चाहिए। किन्तु कलाचार्य और शिल्पाचार्य को प्रिय है धन। जो भक्त जितनी ज्यादा भेंट-पूजा अपने गुरु के चरणों में चढ़ायेगा उसको कलाचार्य

और शिल्पाचार्य समझेगा कि यही शिष्य मेरा अधिक सम्मान करता है, लेकिन धर्माचार्य की नजर में उसी शिष्य का सम्मान है, जिसने अपने जीवन को ऊँचा उठाने के लिए साधना की है।

- ❖ सद्गुरु होने की प्रथम शर्त यह है कि वह स्वयं निर्दोष मार्ग पर चले और अन्य प्राणियों को भी उस निर्दोष मार्ग पर चलावे। सद्गुरु की इसलिए महिमा है।
- ❖ मनुष्य जैसा पुरुषार्थ करता है, वैसा भाग्य निर्माण कर लेता है। इतना जानते हुए भी साधारण आदमी शुभ मार्ग में पुरुषार्थ नहीं कर पाता। कारण कि जीवन-निर्माण की कुंजी सद्गुरु के बिना नहीं मिलती। जिन पर सद्गुरु की कृपा होती है, उनका जीवन ही बदल जाता है। आर्य जम्बू को भर तरुणाई में सद्गुरु का योग मिला तो उन्होंने 99 करोड़ की सम्पदा, 8 सुन्दर रमणियों एवं माता-पिता के दुलार को छोड़कर त्यागी बनने का संकल्प किया। राग से त्याग की ओर बढ़कर उन्होंने गुरुपूजा का सही रूप उपस्थित किया।
- ❖ शिष्य के जीवन में गुरु ही सबसे बड़े चिकित्सक हैं। जीवन की कोई भी अन्तर समस्या आती है तो उस समस्या को हल करने का काम और मन के रोग का निवारण करने का काम गुरु करता है। कभी क्षोभ आ गया, कभी उत्तेजना आ गई, कभी मोह ने घेर लिया, कभी अहंकार ने, कभी लोभ ने, कभी मान ने और कभी मत्सर ने आकर घेर लिया तो इनसे बचने का उपाय गुरु ही बता सकता है।
- ❖ निर्ग्रन्थ, जिनके पास वस्तुओं की गाँठ नहीं होती- आवश्यक धर्मोपकरण के अतिरिक्त जो किसी तरह का संग्रह नहीं रखते हैं, वे ही धर्मगुरु हैं। साधुओं के पास गाँठ हो तो समझ लेना चाहिए कि ये गुरुता के योग्य नहीं हैं।
- ❖ कड़वी सीख देने वाले गुरु तत्काल खारे लगने पर भी भविष्य सुधारने वाले सच्चे मित्र हैं। दुर्जन की प्रेम-दृष्टि सन्मार्ग से च्युत करने वाली होने से बुरी है। जबकि सज्जन की त्रासपूर्ण तीखी बात भी हित भावना होने से भली है, हितकर है।

गुरु-महिमा

(तर्ज- कुंथु जिनराज तूं ऐसा)

अगर संसार में तारक, गुरुवर हो तो ऐसे हों ॥टेर ॥

क्रोध ओ लोभ के त्यागी, विषय रस के न जो रागी।

सूरत निज धर्म से लागी, मुनीश्वर हों तो ऐसे हों ॥1 ॥ अगर ॥

न धरते जगत से नाता, सदा शुभ ध्यान मन भाता।

वचन अघ मेल के हरता, सुज्ञानी हों तो ऐसे हों ॥2 ॥ अगर ॥

क्षमा रस में जो सरसाये, सरल भावों से शोभाये ।
 प्रपंचों से विलग स्वामिन्, पूज्यवर हों तो ऐसे हों ॥3॥ अगर ॥
 विनयचन्द्र पूज्य की सेवा चकित हो देखकर देवा ।
 गुरु भाई की सेवा के, करैय्या हों तो ऐसे हों ॥4॥ अगर ॥
 विनय और भक्ति से शक्ति, मिलाई ज्ञान की तुमने ।
 बने आचार्य जनता के, गुण सुभागी हों तो ऐसे हों ॥5॥ अगर ॥

गुरु-विनय

(तर्ज- धन धर्मनाथ धर्मावतार सुन मेरी)

श्री गुरुदेव महाराज हमें यह वर दो-2 ।
 रग-रग में मेरे एक शान्ति रस भर दो ॥ टेर ॥
 मैं हूँ अनाथ भव दुःख से पूरा दुखिया-2 ।
 प्रभु करुणा सागर तू तारक का मुखिया ।
 कर महर नजर अब दीन नाथ तव कर दो-2 ॥1॥ रग ॥
 ये काम-क्रोध-मद-मोह शत्रु हैं घेरे-2,
 लूटत ज्ञानादिक संपद को मुझ डेरे ।
 अब तुम बिन पालक कौन हमें बल दो-2 ॥2॥ रग ॥
 मैं करूँ विजय इन पर आतम बल पाकर-2,
 जग को बतला दूँ धर्म सत्य हर्षाकर ।
 हर घर सुनीति विस्तार करूँ, वह जर दो-2 ॥3॥ रग ॥
 देखी है अद्भुत शक्ति तुम्हारी जग में-2
 अधमाधम को भी लिये तुम्हीं निज मग में ।
 मैं भी मांगू अय नाथ हाथ शिर घर दो-2 ॥4॥ रग ॥
 क्यों संघ तुम्हारा धनी मानी भी भीरु-2,
 सच्चे मारग में भी न त्याग गंभीरु ।
 सबमें निज शक्ति भरी प्रभो! भय हर दो-2 ॥5॥ रग ॥
 सविनय अरजी गुरुराज चरण कमलन में-2,
 कीजे पूरी निज विरुद जानि दीनन में ।
 आनंद पूर्ण करी सबको सुखद वचन दो-2, ॥6॥ रग ॥

गाई यह गाथा अविचल मोद करण में-2,

सौभाग्य गुरु की पर्व तिथि के दिन में।

सफली हो आशा यही कामना पूरण कर दो-2 ॥7 ॥ रग ॥

संकल्प

गुरुदेव चरण वन्दन करके, मैं नूतन वर्ष प्रवेश करूँ।
 शम-संयम का साधन करके, स्थिर चित्त समाधि प्राप्त करूँ ॥1 ॥
 तन, मन, इन्द्रिय के शुभ साधन, पग-पग इच्छित उपलब्ध करूँ।
 एकत्व भाव में स्थिर होकर, रागादिक दोष को दूर करूँ ॥2 ॥
 हो चित्त समाधि तन-मन से, परिवार समाधि से विचरूँ।
 अवशेष क्षणों को शासनहित, अर्पण कर जीवन सफल करूँ ॥3 ॥
 निन्दा, विकथा से दूर रहूँ, निज गुण में सहजे रमण करूँ।
 गुरुवर वह शक्ति प्रदान करो, भवजल से नैया पार करूँ ॥4 ॥
 शमदम संयम से प्रीति करूँ, जिन आज्ञा में अनुश्रुति करूँ।
 परगुण से प्रीति दूर करूँ, 'गजमुनि' यों आंतर भाव धरूँ ॥5 ॥

(अपने 73 वें जन्मदिवस पर के.जी.एफ. में रचित)

गुरुदेव तुम्हारे चरणों में

जीवन धन आज समर्पित है, गुरुदेव तुम्हारे चरणों में ॥टेर ॥
 यद्यपि मैं बंधन तोड़ रहा, पर मन की गति नहीं पकड़ रहा।
 तुम ही लगाम थामे रखना, गुरुदेव तुम्हारे चरणों में ॥1 ॥
 मन-मन्दिर में तुम को बिठा, मैं जड़ बंधन को तोड़ रहा।
 शिव मंदिर में पहुँचा देना, गुरुदेव तुम्हारे चरणों में ॥2 ॥
 मैं बालक हूँ नादान अभी, एक तेरा भरोसा भारी है।
 अब चरण-शरण में ही रखना, गुरुदेव तुम्हारे चरणों में ॥3 ॥
 अंतिम बस एक विनय मेरी, मानोगे आशा है पूरी।
 काया छायावत् साथ रहे, गुरुदेव तुम्हारे चरणों में ॥4 ॥



सद्गुरु के प्रति समर्पण

आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी महाराज

गुरु के प्रति जिसका समर्पण भाव होता है वह गुरु से सर्वविध ज्ञान एवं साधना के सूत्र प्राप्त कर सकता है। गुरु के प्रति जिसकी श्रद्धा होती है उसकी धर्म के प्रति श्रद्धा होती है। गुरु भी वही श्रेष्ठ है जो भक्त को अपने से नहीं जोड़कर धर्ममार्ग से जोड़ता है। गुरु चेतन व्यक्ति के जीवन को घड़ता है। उसमें शिष्य के प्रति उपकार बुद्धि होती है। आचार्यप्रवर के प्रस्तुत संकलित इस प्रवचन में समर्पण के साथ धर्मारोधन की प्रेरणा की गई है। -सम्पादक

बंधन में डालने वाले तीन तत्त्व कहे गये हैं। तन की आसक्ति बंधन में डालने वाली है। धन की ममता बंधन में डालने वाली है। परिवार का मोह संसार-चक्र में घुमाने वाला है। बंधन के इन तीन तत्त्वों के कारण अज्ञानी जीव, मोही जीव, आसक्ति वाला जीव आज तक संसार में चक्कर लगा रहा है।

बन्धन-मुक्ति के भी तीन तत्त्व हैं- देव, गुरु और धर्म। देव धर्म के आदर्श रूप हैं। जिन्होंने धर्म को एकमेक कर लिया। धर्म के साकार आधार बन गये। बंधन में डालने वाले राग, ममता, आसक्ति और मोह को समाप्त कर जो वीतराग अवस्था प्राप्त कर गये, ऐसे आराध्य देवाधिदेव बन्धन-मुक्ति के प्रथम सहायक कारण हैं। ऐसे तीर्थंकर भगवन्तों का संग पाकर पापी से पापी, अधर्मी से अधर्मी, हत्यारे तक अपने पाप का निराकरण कर उसी जन्म में मुक्ति प्राप्त कर गए।

दूसरा आराध्य तत्त्व है 'गुरु'। गुरु स्वयं वीतराग वाणी को हृदय में बसाकर, महाव्रत-समिति-गुप्ति की आराधना कर स्वयं तिरने के मार्ग पर चलते हैं तथा दूसरों को इसी मार्ग पर चलने की प्रेरणा करते हैं। इन गुरुदेवों ने, संत भगवन्तों ने और तिरने-तारने वाले महापुरुषों ने न जाने कैसे-कैसे नास्तिकों की धारणाएँ बदलकर उन्हें आस्तिक बनाया। गिरे हुए पतित लोगों को ज्ञान का प्रकाश देकर पावन बनाया। न जाने कितने पापाचरण करने वाले लोगों को पाप से हटाकर साधना-पथ पर बढ़ाया।

इन सबमें जो शक्ति है- साधना है वह धर्म की साधना है। 'धर्म' तीसरा तत्त्व है, जो मुक्ति में सहायक है। देवाधिदेव साक्षात् दर्शन कराते हैं। जीव की करणी को ज्ञान के आलोक से समझा कर सन्मार्ग बताते हैं। गुरु भगवन्त अपना जीवन स्वयं निष्पाप बनाकर दूसरों को भी आगे बढ़ाने की प्रेरणा करते हैं। किन्तु तिरता वह है जो उनके चरणों में समर्पण करता है। श्रद्धा, विश्वास और अटूट आस्था के साथ जो अपने-आपको अर्पण कर दे वह ही जीवन को मोड़ सकता है।

एक समय था, जब बड़े-बड़े जिज्ञासु महापुरुष गुरु की खोज करते रहे। आचार्य पूज्य श्री धर्मदास जी

महाराज की बात कहें, शासनप्रभावक धर्मसिंह जी महाराज की बात कहें इन्होंने दीर्घकाल तक खोज की, फिर भी सदुरु का समागम नहीं हुआ। किसी परम्परा में सुनते हैं कि गुरु की खोज के लिए पर्वतों एवं जंगलों में कितना प्रयास करना पड़ता, तब जाकर गुरु मिलते।

दृष्टान्त सुना है। साक्षात् गुरु द्रोण जो कलाचार्य थे, ने यह कहकर शिष्य को ठुकरा दिया कि मैं राजकुमार को, कुलीन और श्रेष्ठी पुत्रों को शिक्षा प्रदान करता हूँ। हीन कुल और हीन जाति वालों को मैं शिक्षा नहीं देता। गुरु ने ठुकरा दिया, पर शिष्य का समर्पण था। शिष्य ने गुरु की प्रतिमा बनाई और मूर्ति के सामने कला सीखनी प्रारम्भ की। आप जानते हैं गुरुभक्त एकलव्य ने अर्जुन की विद्या को भी पीछे छोड़ दिया। एकलव्य एकदृष्टि लगाकर विद्याध्ययन करते-करते शब्दभेदी बाण चलाने की कला सीख गया। कारण था उसका समर्पण।

आप अपने रोग-निकन्दन के लिए चिकित्सक के पास जाते हैं। वह दवा लिखता है, पथ्य-परहेज भी बताता है। किन्तु आप चिकित्सक की दवा बिना तर्क किए ले लेते हैं। आप नहीं पूछते कि यह कौनसा इंजेक्शन है, यह कैसी गोली है। कोई बहस नहीं, कोई तर्क नहीं, कोई शंका नहीं। जो दवा दी जा रही है उसे ग्रहण कर रहे हैं। डॉक्टर जैसा कहता है, वैसा करते हैं।

डॉक्टर पर इतना विश्वास है, क्या सदगुरु पर भी इतना विश्वास है? अगर गुरु सामायिक करने का कहें तो जिन्हें गुरु पर विश्वास है तो आज्ञा का पालन कर लेंगे, किन्तु? कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जो सामायिक क्या है? सामायिक क्यों की जाती है? सामायिक कैसे की जाती है? 48 मिनट बैठना क्यों जरूरी है? सामायिक से क्या होता है? सामायिक करने से क्या फल मिलेगा? इस प्रकार के न जाने कितने तर्क करेंगे। इन तर्कों का समाधान भी धर्मगुरु धैर्य के साथ करते हैं। वे इन प्रश्नों का स्वागत कर समाधान देते हैं।

गुरुमंत्र क्या है? वह किसलिए करवाया जाता है? गुरु आपकी परिस्थितियों का, प्रकृति का, पुरुषार्थ का जानकार होता है। प्रदेशी राजा का कोई गुरु नहीं था। गुरु नहीं था तब तक आत्मा को और शरीर को एक मानकर चलता था। उसके लिए उसने न जाने कितनी हिंसाएँ की होंगी, कितने परीक्षण किए होंगे, हिसाब नहीं। कई जीवों की बोटी उतार दी, मानव को पेटियों में बंद कर दिया, जीवित था तब कितने वजन का था और मरने के बाद कितना वजन रहा, जैसे उसने कई परीक्षण किए। लेकिन जब उसने समझ लिया कि जीव अलग है, शरीर अलग है तो तर्क छोड़ दिया। श्रद्धा एवं समर्पण आने पर तर्क छूट जाता है। अब तक जो हिंसा करता था, पापाचरण करता था, जानवर को काटते विचार तक नहीं करता था, वही प्रदेशी बारह ब्रती बन गया। कब? जब श्रद्धा जागृत हो गई।

मैं मात्र एक बात कह रहा हूँ- आप श्रद्धा के साथ गुरु को स्वीकार कर लीजिये। फिर आप चाहे जंगल में हैं, वन में हैं, चाहे किसी संकट में हैं, किसी भी परिस्थिति में हैं, आपको भय नहीं लगेगा।

आपने देखा होगा- छोटा बच्चा जब बाहर जाता है, पिता की अंगुलि पकड़ कर चलता है। वह हजारों

के बीच है, उसे चिंता नहीं। वहाँ लड़ने वाले भी हैं, खतरा भी है तब भी बच्चे को चिंता नहीं। क्योंकि वह पिता की अंगुलि पकड़ कर चल रहा है। क्या आपको भी अंगुली पकड़ने जैसा विश्वास है?

गुरु आत्मकल्याण के लिए रास्ता बताता है। आप गुरु को भगवान कह दीजिये। तीर्थंकर भी गुरु ही होते हैं। आज तीर्थंकरों का साक्षात् संयोग नहीं, पर उनकी वाणी का आधार आज भी है। गुरु भी वीतराग भगवन्तों की वाणी का आधार लेकर आपका मार्गदर्शन करते हैं। आपकी गुरु के प्रति श्रद्धा होगी, समर्पण होगा तो आप तिर सकेंगे। ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की साधना में आगे बढ़ सकेंगे।

सच्चा गुरु वह है जो अपने से नहीं व्यक्ति को धर्म से जोड़ता है। भक्त का समर्पण गुरु के प्रति भले ही हो, किन्तु गुरु उसे सही मार्ग बताता है, उन्मार्ग से सन्मार्ग की ओर ले जाता है। जो व्यक्ति से जुड़ता है वह व्यक्ति के न रहने पर भटक भी सकता है, किन्तु जो धर्म से जुड़ता है उसका जीवन कल्याणपथ पर अग्रसर हो जाता है। अतः गुरु निष्काम होकर श्रद्धालु भक्त अथवा शिष्य को हितभाव से धर्म में जोड़ता है। उसे शाश्वत दुःखमुक्ति का मार्ग दिखाता है एवं स्वयं निर्लिप्त रहता है।

धर्म क्या है? इसे समझना है। धर्म में पहला स्थान है, ज्ञान का—“पढमं नाणं तओ दया।” ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान नहीं तो क्रिया अंधी है। आपने देखा होगा— घाणी का बैल दिनभर चलता है, पर है कहाँ? वहीं का वहीं। घाणी का बैल आगे नहीं बढ़ता। इसी तरह जब तक ज्ञान नहीं, आप चाहे जितनी क्रिया कर लीजिये, तपाराधन कर लीजिये, वह उतना फलदायी नहीं होगा। लोग हैं जो महाराज के कहने से सामायिक कर लेते हैं, उपवास—आयंबिल—एकाशन कर लेते हैं। उनसे पूछा जाय— सामायिक क्या है, कैसे की जाती है तो....? शाम को सैकड़ों प्रतिक्रमण करते हैं, उनसे पूछा जाय कि प्रतिक्रमण क्या ...? तो क्या केवल ‘मिच्छामि दुक्कडं’ कहने मात्र से प्रतिक्रमण हो गया?

आप कोई भी क्रिया करें पहले ज्ञान प्राप्त करें। सामायिक क्या, उसकी विधि क्या, इसकी जानकारी प्राप्त हो। आज कई वयोवृद्ध श्रावक मिल जायेंगे जो वर्षों से सामायिक कर रहे हैं, पर सामायिक क्या है शायद नहीं जानते।

आप व्यापार करते हैं। क्या व्यापार बिना जानकारी किए करते हैं? आज जो सामायिक करते हैं अधिकांश ऐसे हैं जो या तो महाराज के कहने से करते हैं या धर्मपत्नी ने कह दिया इसलिये करते हैं। जो कहने से कर रहे हैं, उसे भी मैं गलत नहीं कह रहा, पर कैसे करनी चाहिये, उसका ज्ञान कीजिये। गुरु के प्रति समर्पण हो तो सब कुछ किया जा सकता है। एकलव्य ने तीर चलाने का एकमात्र उपयोगी साधन अंगूठा भी गुरु को समर्पित कर दिया।

हम कभी सामायिक के लिए एक घंटा माँगते हैं, वह भी कइयों को भारी लगता है। आप व्यापार—धंधे में, आमोद—प्रमोद में, मिलने—जुलने में घंटों पूरे कर देते हैं, वहाँ समय निकालना भारी नहीं लगता। मैं आपसे फिर कहूँ— आपमें से जो सामायिक नहीं कर रहे हैं वे करना शुरू करें और जो कर रहे हैं वे विंध का ज्ञान प्राप्त

करें। अगर आपने शुद्ध सामायिक की और आप आराधक हैं तो मानकर चलिये—एक सामायिक नरक में नहीं जाने देगी। मैं सामायिक की कीमत नहीं बता रहा हूँ, न प्रभावना बाँट रहा हूँ। आज लोग सामायिक को, जाप को, प्रतिक्रमण को खरीदना चाहते हैं। पूनिया की एक सामायिक लेने के लिए भगवान ने श्रेणिक से कहा— तेरे राज्य की जितनी सम्पदा है, वह दलाली में जाती है। आप प्रभावना में पाँच रुपये का नोट देकर क्या पाना चाहते हैं? हमारा काम धर्म का मार्ग प्रशस्त करना है।

आप वीतराग वाणी को बूँद-बूँद ही सही, आचरण में लायें। वीतराग वाणी को आचरण में लाने वाला ही अपना जीवन उन्नत बनाता है।

गुरु का जीवन में यही महत्त्व है। गुरु प्रेरणा करता है, गुरु घड़ता है। घड़ने वाले और भी कई हो सकते हैं, लेकिन गुरु जैसा घड़ने वाला दूसरा नहीं हो सकता। गुरु के प्रति श्रद्धा रखकर जीवन में आचरण करने वाला सुख प्राप्त करता है। गुरुदेव पूज्य आचार्य हस्ती अपने भजन में यही सीख दे रहे हैं—

घणो सुख पावेला, जो गुरु वचनों पर प्रीति बढ़ावेला,
वचन प्रमाणे जो नर चाले, चिंता दूर भगावेला।
आप मति आरति भोगे नित, धोखा खावेला॥
एकलव्य लखि चकित पांडुसुत, मन में सोच करावेला।
कहा गुरु से हाल भील भी, भक्ति बतलावेला॥
देश भक्ति उस भील युवा की, वनदेवी खुश होवेला।
बिना अंगूठे बाण चले यों, बर दे जावेला॥
गुरु कारीगर के सम जग में, वचन जो खावेला।
पत्थर से प्रतिमा जिम वो नर, महिमा पावेला॥
कृपा दृष्टि गुरुदेव की मुझ पर, ज्ञान शांति बरसावेला।
'गजेन्द्र' गुरु महिमा का नहि कोई, पार मिलावेला॥

पाँच पदों की वन्दना में कई लोग घड़ने वालों की महिमा गाते हैं— गुरु को कई तरह की उपमाओं से उपमित किया जाता है। वह चाहे कारीगर हो, सुनार हो, दर्जी हो, माली हो इस तरह की कई उपमायें देकर गुरु की महिमा गाई जाती है। किन्तु कारीगर, सुनार, दर्जी, माली ये तो आकृतियाँ घड़ने वाले हैं। ये अजीव को घड़ते हैं। दर्जी कुर्ते की कटिंग करता है। वह कपड़े को कैंची से काट-छांट कर तैयार करता है। कुम्हार मिट्टी को चाक पर चढ़ाकर जैसी चाहे वैसी आकृति घड़ता है। दर्जी हो, कुम्हार हो ये सब अजीव को घड़ते हैं। अजीव को घड़ना सरल है। अजीव कुछ बोलता नहीं, लेकिन चेतन को घड़ना सरल नहीं है। मांड़ने मांड़ना सरल है, चित्रकारी करना सरल है, किन्तु छोरे (लड़के) को समझाना सरल नहीं है।

गुरु जड़ को नहीं, चेतन को घड़ते हैं। चेतन में जो भी अवगुण हैं उन्हें हटा कर, चेतन की चंचलता

मिटाकर उसे घड़ना बहुत कठिन है, पर गुरु ऐसा कारीगर है जो चेतन को घड़कर तैयार करता है। यही कारण है कि गुरु ने छोटे-छोटे बच्चों तक को घड़ दिया और वीतराग पथ पर लगा दिया। सात-आठ वर्ष के बच्चे को शास्त्र-वाणी का अभ्यास करवाकर उसे मन-वचन-काया से साधना-मार्ग में जोड़ दिया। आज छोटे-छोटे बच्चों को आप कपड़े पहनाते हैं, मौजे और अण्डरवियर पहनाते हैं। बच्चे को कपड़े पहनाना सरल है, किन्तु उसे संयम-मार्ग पर बढ़ाना सरल नहीं है।

आचार्य भगवन्त पूज्य श्री शोभाचन्द्र जी महाराज ने आचार्य भगवन्त पूज्य श्री हस्तीमल जी महाराज को बचपन से घड़ना चालू किया। उसका मधुर फल हमने देखा है। बाड़मेर वासियों को उन्हीं आचार्य श्री हस्ती जन्म की शताब्दी के प्रसंग से संतों की सेवा का सुअवसर मिल रहा है। बाल ब्रह्मचारी आचार्य भगवन्त ने हजारों लोगों को व्रत-नियम के प्रत्याख्यान करवाकर, शीलव्रत के खंद करवाकर न जाने कितने-कितने लोगों को घड़ा एवं साधना-मार्ग में आगे बढ़ाया। उनकी महिमा को शब्दों में नहीं बांधा जा सकता।

पूज्य गुरुदेव एक बार नागौर चातुर्मास पश्चात् विहार करके धनारी पधारे। धनारी में जैन समाज के कुछ घर हैं। अधिकतर लोग चौधरी समाज के हैं। चौधरी जिन्हें आप जाट कहते हैं वे भी पूज्य गुरुदेव के व्याख्यान में आते। व्याख्यान में सेठ सुदर्शन की कथा चल रही थी। कथा सुनकर दो जने खड़े हुए और ब्रह्मचर्य का नियम ले लिया। गुरुदेव ने कहा- जब तक रोज दो शीलव्रत के खंद होते रहेंगे, यहाँ रुकना संभव होगा। दो-तीन दिन इसी तरह प्रत्याख्यान होते रहे। मुझे याद है- व्याख्यान में एक चौधरी खड़ा हुआ और बोला- “बाबजी! म्हाणे लोग जाट कैवे। कहावत भी है- आगल बुद्धि बाणिया, पाछल बुद्धि जाट।” वह भाई बोला- “महाराज! हूँ तो मैं जाट, पर हमारे बेटे के बेटा होता है तो हमारी खाट पोल के बाहर आ जाती है। बेटे के बेटा यानी पोता हो जाने के बाद घर में सोना तो दूर, अन्दर जाना भी हम ठीक नहीं समझते।”

अभी हम झोंटड़ा गाँव होकर आये हैं। वहाँ अर्जुनसिंह जी राठौड़ हैं। उन्होंने भी बताया- “महाराज! हमारे बेटे के बेटा हो जाता है तो फिर कोटड़ी से खाट बाहर आ जाती है, ठकुराइन के पास नहीं जाते। आप हमको नहीं समझायें, समझाना ही है तो आप इन महाजनों को समझायें।”

आज आपकी क्या स्थिति है? आपका जातिगत कोई नियम नहीं, इसी लिये घर में बेटा भी सुआवड़ पर है और बहू भी। माँ और बेटा सासू और बहु दोनों सुआवड़ पर हो तो.....? क्या आपका रिटायरमेंट का समय है? सरकारी नौकरी में कोई पचपन, कोई अठावन और कोई साठ साल में रिटायर हो जाता है आप महाजनों का रिटायरमेंट का कोई समय है?

आप जरा चिंतन तो कीजिये। सोचिये कि क्या यह जीवन केवल भोग के लिए ही है या योग के लिए भी है? क्या यह जीवन केवल वासना के लिए ही है या उपासना के लिए भी है? आज हम दो, हमारे दो की बात क्या ब्रह्मचर्य-पालन करके की जाती है

ब्रह्मचर्य ओज-तेज बढ़ाने वाला है, चमत्कार करने वाला है। ब्रह्मचर्य के प्रताप से आग भी पानी बन

सकता है, शूली का सिंहासन हो सकता है। इसीलिये तो आप बोलते हैं-

शील रतन मोटो रतन, सब रतनों की खान,
तीन लोक की सम्पदा, रही शील में आन॥

ब्रह्मचर्य की ताकत हो तो शेर का कान पकड़कर उसकी सवारी की जा सकती है। कई-कई माताओं ने शील को खण्डित नहीं किया। वह चाहे सच्चिदाय माता हो, लोढ़ा कुल की भंवाल माता हो अथवा कोई अन्य माता हो, शील के कारण माता को कुल की रक्षा करने वाली कहा गया है।

हमारे धर्म का मुख्य आधार शील है। हमारी हर क्रिया का सहयोगी शील है। शील बुद्धि बढ़ाने वाला है, शील शक्ति का संचार करने वाला है। शील धरती के धर्म को बदलने वाला है। सती चाहे वह सीता हो, द्रौपदी हो, चन्दनबाला हो, उन्होंने शील का पालन किया। शील का वृत्तान्त सुनकर ही न रहें इसका पालन करें।

आचार्य श्री हस्ती जन्म-शताब्दी वर्ष के प्रसंग पर आप अध्यात्म-चेतना की साधना में आगे बढ़ने का प्रयास करें। स्वयं करें, जिनको साधना की जानकारी नहीं है उन्हें समझाकर साधना मार्ग में आगे बढ़ाये।

आज कई ऐसे भी हैं जो ब्रह्मचर्य का पालन तो करते हैं, किन्तु संकोच से प्रतिज्ञाबद्ध नहीं होना चाहते। आपने आचार्य भगवन्त का जीवन चरित्र सुना है। इस (रत्नसंघ) पट्ट-परम्परा में आचार्य श्री गुमानचन्द्र जी महाराज हों, आचार्य श्री हमीरमल जी, आचार्य श्री कजोड़ीमल जी, आचार्य श्री विनयचन्द्र जी, आचार्य श्री शोभाचन्द्र जी और पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज सभी बाल ब्रह्मचारी हुए। इस परम्परा के सभी आचार्य दस से पन्द्रह साल की उम्र में दीक्षित हुए। ऐसे बाल ब्रह्मचारी आचार्य भगवन्त जहाँ भी गये वहाँ शांति की स्थापना की। उन महापुरुषों ने जो कह दिया वह हो गया।

पूज्य आचार्य भगवन्त श्री शोभाचन्द्र जी महाराज कितने निर्लेप साधक संत थे। वे कभी बन्द कमरे में नहीं, सबके सामने बाहर पाट पर विराजते। एकान्त उन्हें चाहिये जो गुपचुप बात करना चाहते हैं। साधना करने वाले साधक तो जहाँ भी विराजते हैं वह एकान्त हो जाता है। आचार्य भगवन्त पूज्य श्री शोभाचन्द्र जी महाराज का जीवन तो खुली डायरी के समान था। कोई जब चाहे तब आ जाये उन्हें सदा अप्रमत्त रूप में देखा। उनकी सेवा में न्यायाधिपति-वकील-अधिकारी सभी निःसंकोच आते, सेवा का लाभ लेते। जोधपुर में शायद ही किसी कौम का व्यक्ति हो जो उनकी सन्निधि में नहीं आया। एक संदेश कहकर अपनी बात समाप्त करूँ- अगर सुख पाना चाहते हो तो वीतराग वाणी पर और गुरु वचनों पर श्रद्धा करके साधना-मार्ग में आगे बढ़ें तो अव्याबाध सुख-शांति प्राप्त कर सकेंगे।



प्रवचन

सच्चा गुरु व्यक्ति को कल्याण के मार्ग से जोड़ता है

उपाध्यायप्रवर श्री मानचन्द्र जी म.सा.

जो गुरु व्यक्ति को धर्म से नहीं जोड़कर अपने से जोड़ता है वह ममत्व को बढ़ाता है एवं शिष्य को सन्मार्ग पर योजित नहीं कर पाता। सच्चा गुरु व्यक्ति को धर्म-मार्ग अथवा कल्याण-मार्ग से जोड़कर प्रमोद का अनुभव करता है। उपाध्यायप्रवर ने ऐसे ही सद्गुरु का विवेचन अपने प्रवचन में किया है। -सम्पादक

जैन धर्म में देव, गुरु और धर्म- ये तीन तत्त्व विशेष महत्त्व के हैं। देव धर्म के संस्थापक होते हैं, 'गुरु' प्रचारक। सिद्धान्त को 'धर्म' कहा गया है। गुरु का स्थान देव और धर्म के बीच का है। बीच में रहने वाला दोनों तरफ दृष्टि रखता है, देहली-दीपक न्याय की तरह। गुरुओं का काम जोड़ने का है, वे जोड़ते चले जाते हैं। गुरु हर समय व्यक्तियों को धर्म से जोड़ने का काम करते हैं। आचार्य भगवन्त (पूज्य श्री हस्तीमल जी म.सा.) के जीवन को लेकर आपके सामने बात रखी जा रही है।

गुरु कैसा होना चाहिए? गुरु अपने से नहीं जोड़कर, सम्प्रदाय से नहीं जोड़कर व्यक्ति-व्यक्ति को धर्म से जोड़ता है। जो अपने से जोड़ता है वह गुरु ममत्व को बढ़ाता है। सम्प्रदाय से जोड़ने वाला परिग्रह बढ़ाने का काम करता है और जो धर्म से जोड़ता है वह अपना तो कल्याण करता ही है, जिसको जोड़ता है उसका भी कल्याण करता है।

आचार्य भगवन्त पूज्य गुरुदेव श्री हस्तीमल जी महाराज जो भी उनके सान्निध्य में आया, उसे जोड़ते गये। बच्चे से वृद्ध तक सबको उस महापुरुष ने धर्म से जोड़ा। बच्चों के लिए धार्मिक पाठशालाओं की आवश्यकता बताई तो युवकों के लिए सामायिक-स्वाध्याय का अवलम्बन दिया। वृद्धों के लिए साधना की बात पर जोर दिया। जैसा व्यक्ति देखा उसकी योग्यता और प्रतिभा के अनुसार वे सबको जोड़ते गये।

गुरुदेव फरमाते थे- राग तीन तरह के होते हैं। एक होता है- व्यक्ति-राग, दूसरा सम्प्रदाय-राग और तीसरा होता है- धर्म-राग। व्यक्ति-राग, व्यक्ति रहता है तब तक रहता है। सम्प्रदाय-राग जब तक सम्प्रदाय है तब तक रहेगा। धर्म-राग हमेशा बना रहता है। जुड़ाव में भी कई व्यक्ति राग से जुड़े होते हैं। गुरु के प्रति राग बुरा नहीं है, किन्तु व्यक्तिगत राग व्यक्ति के जाने पर समाप्त हो जाता है। दिवाकर श्री चौथमल जी महाराज ने कई अजैनों को जैन बनाया। लोगों को उनके साथ व्यक्तिगत राग

ही रहा, धर्मराग नहीं। उनके चले जाने पर राग समाप्त हो गया। दिवाकर जी महाराज ने कई मोचियों को, मालियों को, तैलियों को, सुनारों को और यहां तक कि मुसलमानों को भी जैन बनाया। राग के कारण लोग उनके भक्त बन गये। जब तक दिवाकर जी रहे, वे जुड़े रहे।

व्यक्ति शाश्वत नहीं रहता। धर्म शाश्वत रहता है। सम्प्रदाय भी स्थायी रहने वाली नहीं है। भूतकाल में अनेक सम्प्रदायें हुईं, कई परम्पराएँ बनीं, परन्तु अच्छी-अच्छी सम्प्रदायें समाप्त हो जाने पर उनका पता तक नहीं रहा।

आचार्य भगवन्त फरमाते थे- धर्म शाश्वत है और रहेगा। त्रिकाल में धर्म रहने वाला है। भगवन्त ने व्यक्ति-व्यक्ति को सामायिक-स्वाध्याय से, व्रत-नियमों से और साधना-आराधना से जोड़ा। किसी में विनय का गुण देखा तो उसे विनय धर्म में लगाया। उस महापुरुष की पैनी दृष्टि थी, व्यक्ति-व्यक्ति की परख थी। वे व्यक्ति की प्रतिभा समझकर उसे जोड़ते और उसकी प्रतिभा को निखारते। गुरुदेव छोटे से बड़े सबको धर्म से जोड़ते गये। जिसे भी गुरुदेव धर्म में जोड़ते उसे पता तक नहीं लगता था। अंगुली पकड़ते-पकड़ते ऊपर तक पहुँचा देते। पहले-पहल पाँच नमस्कार मंत्र सिखाने से लेकर गुरुदेव ने पंच महाव्रती तक बना दिये। जुड़ने वाला व्यक्ति भी सहर्ष नियमों में आगे बढ़ता जाता। गुरुदेव जानते थे सराग संयम से व्यक्ति आगे बढ़ सकता है।

अधिकांश गुरु अपने भक्तों को खुद से जोड़ते हैं। एक मौलवी के पास एक शिष्य पहुँचा। कहने लगा- मौलवी साहब! मुझे हुकम दीजिये मैं लोगों को खुदा से जोड़ूँ। मौलवी साहब कहने लगे- खुदा से जरूर जोड़ना, खुद से मत जोड़ना। आचार्य भगवन्त का हृदय बड़ा विशाल था। उनकी भावना रहती श्रमण संघ उन्नति करे। श्रमण संघ से निकलने के बाद भी साधक उनका परामर्श लेते। गुरुदेव के हृदय में विशालता थी, इसीलिये वे जहाँ भी जाते वहाँ धर्म ध्यान का स्वतः ठाट लग जाता।

गुरुदेव में व्यक्तिगत-सम्प्रदायरोग नहीं, धर्म का राग था। जैन हो या जैनेतर, वे सबको धर्म-साधना में निरन्तर आगे बढ़ाते रहे। धर्मराग शाश्वत रहता है। भारत में अन्यान्य धर्म भी रहे और हैं भी। किन्तु कुछ धर्म ऐसे भी हैं जो व्यक्ति राग से जोड़ते हैं। आचार्य भगवन्त ने साधक को साधक तक ही नहीं रखा, साधना के द्वारा सिद्धि का रास्ता बताया।

जैन धर्म ऐसा ही है। एक पाश्चात्य व्यक्ति ने कहा- महावीर एक अद्भुत व्यक्ति था। वह साधक को सत्य से जोड़कर सिद्धि तक ले जाता। सच्चा गुरु वही है जो कल्याणमार्ग से जोड़े। गुरु की सोच भक्त को भक्त ही नहीं, भगवान बनाने की होती है। जो गुरु भक्त को भक्त ही बनाए रखता है, वह गुरु कैसा? पारस लोहे से सोना बनाता है, पारस नहीं, किन्तु गुरु भक्त को भगवान बनाता है।

जोधपुर में वि.सं. 2010 में संयुक्त चातुर्मास था, जिसमें उपाचार्य गणेशीलाल जी महाराज, प्रधानमंत्री आनन्दऋषि जी महाराज, सहमंत्री हस्तीमल जी महाराज, कवि अमरचन्द जी महाराज,

व्याख्यान वाचस्पति मदनलाल जी महाराज, बाबजी पूरणचन्द जी महाराज, बहुश्रुत समर्थमल जी महाराज सिंहपोल विराज रहे थे। सावण के महीने में हरियाली अमावस्या के दिन पूज्यपाद शोभाचन्द जी महाराज का पुण्य दिवस था। कवि अमरचन्द जी महाराज ने प्रवचन में उस समय जो शब्द कहे वे महत्व के हैं, उनके शब्द थे- गुरु वह है जो गुरु बनाता है, गुरु का निर्माण करता है। आचार्य श्री शोभाचन्द्र जी महाराज सच्चे गुरु थे, जिन्होंने समाज को प्रतिभा सम्पन्न तेजस्वी गुरु दिया।

गुरु की महिमा बखान करना सरल नहीं है। आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज भी सच्चे गुरु थे। उन्होंने भी अपने पीछे गुरु तैयार किया। आज आचार्य श्री (हीराचन्द्र जी म.सा.) चतुर्विध संघ की बराबर सार-सम्भाल करके विचरण कर रहे हैं। चतुर्विध संघ की सारणा-वारणा-धारणा के साथ जहाँ भी जाते हैं, सामायिक-स्वाध्याय के माध्यम से जागृति उत्पन्न करते हैं।



श्रद्धा और समर्पण से मिलता है, गुरु का आशीर्वाद

आचार्य श्री देवेन्द्र मुक्ति जी म.सा.

जो शिष्य गुरु के प्रति पूर्ण निष्ठा से श्रद्धा-समर्पित रहता है, उसे गुरु रहस्यात्मक ज्ञान भी सहज ही प्रदान करने को तत्पर हो जाते हैं। गुरु किस प्रकार शिष्य का कल्याण करने को तत्पर रहते हैं, इसे आचार्यश्री के इस आलेख से जाना जा सकता है। -सम्पादक

सद्गुरु की महिमा

वशिष्ठ ऋषि जी ने कहा है-

“गुरुपदेशेन विना नात्मतत्त्वागमो भवेत्।” -योगवाशिष्ठ

आत्मा में अनन्त ज्ञान है, अनन्त शक्तियाँ हैं, परन्तु इस ज्ञान और शक्ति को जागृत करने का मार्ग कौन बतायेगा?

उत्तर है- गुरु!

भवन पर ताला लगा है। चाबी भी आपके हाथ में है, किन्तु चाबी घुमाने का ज्ञान भी तो होना चाहिए। सीधी चाबी घुमाने से ताला खुल जाता है, तो वही चाबी उल्टी घुमाने से ताला बन्द हो जाता है। चाबी घुमाने की कला गुरु से ही प्राप्त होती है।

जैनाचार्यों ने कहा है-

“मेढी आलंबणं खंभं विट्ठी जाणं सुउत्तमे।

सूरि जे होइ गच्छस्स तम्हा तं तु परिक्खए।।”

-गच्छाचार, प्रकीर्णक 8

जैसे खेत-खलिहान में बैल घूमता है तो बीच में उसके एक लकड़ी का खम्भा बना होता है, जिसके सहारे बैल घूमता है, उसे ‘मेढी’ कहते हैं। गुरु जीवनरूपी खलिहान की मेढी है। गुरु आलम्बन है, सहारा है। वृक्ष के आश्रय या आलम्बन से लताएँ ऊपर चढ़ती हैं। इसी प्रकार गुरु का आलम्बन पाकर शिष्य साधना रूपी वृक्ष पर चढ़ता है। भवन या महल का आधार उसका स्तम्भ है। खम्भे या ‘पिलर’ हैं। स्तम्भ के सहारे दस-बीस मंजिल की बिल्डिंग खड़ी हो सकती है। गुरु साधनारूपी महल के ‘पिलर’ या स्तम्भ हैं। गुरु साधना की दिव्य दृष्टि देते हैं। चलने वालों के पास यदि दृष्टि है, आँखें खुली हैं तो वह अपनी मंजिल को पा लेगा। रास्ता

भी देखता चलेगा ताकि कहीं भटके नहीं, अटके नहीं।

गुरु निश्छिद्र यान है - नाव से नदी पार की जाती है, परन्तु नाव में ही यदि छेद है तो नाव स्वयं भी डूबेगी और यात्रा करने वालों को भी डुबो देगी। निश्छिद्र नाव ही पार पहुँचाती है, गुरु इस जीवन समुद्र में पार पहुँचाने वाली नाव है।

जिस प्रकार इन चीजों की उपयोगिता भौतिक जगत् में है उसी प्रकार अध्यात्म जगत् में गुरु की आवश्यकता और उपयोगिता है।

रोगी डॉक्टर या वैद्य के पास जाता है तो चिकित्सक उसको नीरोग एवं स्वस्थ बनाने का उपाय बताता है। छात्र अध्यापक के पास जाता है तो अध्यापक छात्र को अक्षर ज्ञान से लेकर अनेक प्रकार के शास्त्रों तक का ज्ञान देकर विद्वान् या योग्य बनाने की भावना रखता है। गार्ड के हाथ में गाड़ी के संचालन की जिम्मेदारी आती है तो वह गाड़ी को सकुशल अपने गंतव्य स्थान तक पहुँचाने की चेष्टा करता है। इसी प्रकार गुरु हमेशा ही शिष्य का कल्याण चाहता है। शिष्य की आचार-शुद्धि एवं विचार-शुद्धि करके उसे जीवन में श्रेष्ठ मानव बनाना गुरु का लक्ष्य रहता है।

रोगी यदि यह सोचे कि मैं चिकित्सक के पास न जाकर स्वयं ही अपनी चिकित्सा करूँ? तो इसमें बड़ा खतरा रहता है। उसे अनुभवी कुशल चिकित्सक की शरण लेनी ही पड़ती है। छात्र अध्यापक की सहायता के बिना स्वयं ही गणित, शिल्प, साहित्य, सर्जरी आदि का ज्ञान प्राप्त करना चाहे तो यह सम्भव नहीं। उसे अपना ज्ञान बढ़ाने और विषय को गहराई से समझने के लिए कुशल प्राध्यापक की जरूरत रहती है। इस प्रकार व्यावहारिक जीवन में भी हमें पद-पद पर दूसरों के सहयोग, मार्गदर्शन और अनुभव की आवश्यकता पड़ती है। अपनी त्रुटि, अपूर्णता और अक्षमता का ज्ञान हम स्वयं नहीं कर सकते, दूसरे अनुभवी ही हमें इस भूल का ज्ञान कराते हैं। अपना मुँह अपनी आँखों से नहीं दिखाई देता, उसके लिए दर्पण की जरूरत पड़ती है। यही स्थिति हमारे आध्यात्मिक जगत् में भी है। अपने दोष-दुर्गुणों को देखने, अपनी आत्म-शक्ति का अनुभव करने और उनका परिष्कार व संस्कार करने के लिए गुरु की आवश्यकता रहती है। गुरु का अर्थ ही है जिसने स्वयं अपनी आत्मा का परिष्कार किया है। अपनी शक्तियों को जगाया है, अपने परिश्रम, तपस्या, साधना और ज्ञान के बल पर अपने आत्म-बल से स्वयं के भीतर छुपी शक्तियों को जगाया है, इस साधना पथ में आने वाली कठिनाइयों का अनुभव किया है और उनका समाधान भी पाया है। वह मंजिल का द्रष्टा और मार्ग का अनुभवी व्यक्ति ही दूसरों को समाधान देने में समर्थ होता है। उपनिषद् में कहा गया है-

“गुरुपदेशतो ज्ञेयं न च शास्त्रार्थकोटिभिः।”

आत्म-विद्या का ज्ञान गुरु से ही सीखा जा सकता है, केवल करोड़ों शास्त्र पढ़ने से वह ज्ञान नहीं मिलता।

चतुर माली की तरह गुरु संस्कार और परिष्कार देते हैं

बगीचे में तरह-तरह के पेड़-पौधे, झाड़ियाँ, खरपतवार उगती हैं और उनसे बगीचे के सुन्दर पौधों का विकास रुक जाता है। चतुर माली उन झाड़-झंखाड़ को उखाड़कर साफ करता है। पेड़-पौधों की कटाई-छँटाई करके उनके विकास को रोकने वाले तत्त्वों को हटाकर सुन्दर उपयोगी पौधों से विकास का अवसर देता है।

मनुष्य का मन भी एक बगीचा है। इसमें दुर्विचारों की, वासना और विकारों की कैंटीली झाड़ियाँ, खरपतवार उगता रहता है और वे सद्विचारों और सद्संस्कारों के पौधों का विकास रोक देते हैं। उनका रस, जीवन तत्त्व स्वयं चूसकर उन्हें कमजोर और क्षीण बना देते हैं। गुरुरूपी माली ज्ञान की, उपदेश की कैंची और कुल्हाड़ी लेकर उन कुविचार रूप झाड़-झंखाड़ को उखाड़कर बाहर फेंकते हैं, उसे प्रोत्साहन की खाद-पानी देकर शक्ति देते हैं और सुविचारों के सुसंस्कार से सद्गुणों के पौधों से जीवनरूपी उद्यान को हरा-भरा सुन्दर-मनोरम बनाते रहते हैं।

गुरु अपने अनुभव, दूरदर्शिता, चतुरता और बुद्धिमत्ता के बल पर शिष्य के जीवन उद्यान में, उसके मस्तिष्क में, सद्विचारों के बीज बोता रहता है।

कुम्भार की तरह शिष्य को पात्र बनाता है गुरु

भारतीय साहित्य में गुरु को कुम्भार की उपमा दी गई है। कुम्भार का काम बहुत बड़ा, योग्यता व दायित्व भरा है। वह बेडौल कुरूप मिट्टी को सुन्दर घट, कलश, कुण्ड, दीपक आदि पात्रों का आकार देता है। जिस मिट्टी में गिरकर जल सूख जाता है उसी मिट्टी को पकाकर ऐसा पात्र बना देता है कि वह पानी को, दूध को, घी को अपने में धारण करके रख लेता है। जल को सोख लेने वाली मिट्टी ही जल धारण करने में समर्थ बनती है।

गुरु के सामने अनधड़ बेडौल आकार का मानव आता है। गुरु उसे ज्ञान, संस्कार, शिक्षा, सद्बोध और जीने की कला सिखाकर ऐसा पात्र बना देता है कि वह संसार के सभी श्रेष्ठ गुणों को धारण करने में समर्थ हो जाता है। जीवन का रस सोखने वाले तत्त्व भी उसके लिए पोषक बन जाते हैं। तपस्या, साधना, ज्ञान के बल पर वह एक योग्य व्यक्तित्व बनकर समाज में प्रतिष्ठा और आदर प्राप्त करता है।

इस प्रकार गुरु का एक महत्त्वपूर्ण दायित्व है शिष्य के प्रति, गुरु अपने दायित्व को पूर्ण करता है। निष्काम भावना से, निःस्वार्थ भावना से, उसके मन में शिष्य से प्राप्ति की भावना या लोभ नहीं रहता। यदि गुरु शिष्य से कुछ पाने की आशा से, अपेक्षा रखकर ज्ञान देता है तो वह गुरु नहीं कहला सकता, वह वेतनभोगी शिक्षक भले ही कहलाये। गुरु का पद शिक्षक से बहुत ऊँचा है। गुरु शिष्य का मार्गदर्शक है। वह शिष्य को अपने समान और अपने से भी महान् बनाना चाहता है। जिस प्रकार पत्थर को तरासकर सुन्दर देव-प्रतिमा बनाने वाला शिल्पकार एक दिन उस मूर्ति को अपने से भी अधिक मान-सम्मान पाने योग्य बना देता है। स्वयं

तो शिल्पकार ही रहता है, किन्तु मूर्ति को भगवान बना देता है। गुरु ऐसा ही महान् शिल्पी है जो निष्काम भाव के साथ शिष्यरूपी पत्थर को भगवान की प्रतिष्ठा दिलाने में ही अपना कर्तव्य समझता है।

शिष्य सदा शिष्य ही बना रहे

जैन सूत्रों में कहा गया है कि गुरु तो महान् है ही, परन्तु शिष्य को भी उन महान् गुरु के प्रति सदा विनय और श्रद्धा का भाव रखना चाहिए। शिष्य में श्रद्धा होगी, समर्पण की भावना होगी, विनय और उपकार के प्रति कृतज्ञता की भावना होगी तभी वह गुरुजनों का आशीर्वाद प्राप्त कर सकता है। इसलिए यदि शिष्य केवलज्ञानी बन जाये और गुरु छद्मस्थ ही रहे तब भी शिष्य अनन्त ज्ञान ऐश्वर्य प्राप्त करके भी ज्ञानदान देने वाले गुरुओं के प्रति सदा विनयशील और भक्तिमान बना रहे। वास्तव में शिष्य की भक्ति, समर्पण भावना और श्रद्धा ही गुरु को ज्ञानदान के लिए प्रेरित करती है। कहा गया है, गुरु तो गाय है, ज्ञान रूप दूध देने में समर्थ है, परन्तु दूध दुहने वाला ग्वाला है शिष्य। यदि शिष्य में गुरुओं के प्रति विनय, समर्पण, श्रद्धा और आदर भावना है तो उनके ज्ञान व आशीर्वाद का दूध शिष्य को स्वतः ही प्राप्त हो जायेगा। योग्य शिष्य ही गुरुओं का आशीर्वाद प्राप्त कर सकता है। यदि शिष्य में पात्रता नहीं है तो गुरुजनों का आशीर्वाद उसे प्राप्त नहीं हो सकता।

विनय से मिलता है दुर्लभ रहस्यों का ज्ञान

महाभारत का एक सुन्दर प्रसंग है। महाभारत का युद्ध घोषित हो चुका था। कुरुक्षेत्र में एक ओर पाण्डव सेना और दूसरी ओर कौरव सेना आकर डट गई। पाण्डव सेना में पाँचों महाबली पाण्डव थे और उनके साथ थे वासुदेव कृष्ण। किन्तु कौरव सेना बड़ी विशाल थी। युग के बड़े-बड़े महारथी, भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, शल्य, कर्ण जैसे अजेय योद्धा सभी किसी न किसी कारण से विवश होकर कौरव सेना के साथ थे। सभी दुर्योधन के पक्ष में लड़ने को युद्ध-भूमि में आ गये थे। उस समय धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ युद्ध के लिए सज्जित होकर युद्ध-भूमि में आते हैं। सामने भीष्म पितामह आदि कुल श्रेष्ठ योद्धाओं को देखकर वे अपने शस्त्र आदि रथ में ही रखकर नीचे उतरते हैं, अकेले दुर्योधन की सेना की तरफ चल पड़ते हैं। यह देखकर भीम-अर्जुन घबराये-“भैया यह क्या कर रहे हैं? यह युद्ध-भूमि है यहाँ शत्रुपक्ष में अकेले शस्त्रहीन होकर जाना कितना खतरनाक है, इतनी बड़ी भूल कैसे कर रहे हैं?” अर्जुन एवं भीम, श्रीकृष्ण से कहते हैं-“आप धर्मराज को शत्रु-सेना के सामने अकेले जाने से रोकिए! कहीं अनर्थ न हो जाए।”

श्रीकृष्ण कहते हैं-“धर्मराज स्वयं धर्म के ज्ञाता हैं। नीति के ज्ञाता हैं। जो भी कर रहे हैं वह अनुचित नहीं होगा। ठहरो, देखो और प्रतीक्षा करो।”

कौरव सेना भी धर्मराज को अकेले आते देखकर आपस में घुसुर-फुसुर करती है, अवश्य ही विशाल कौरव सेना को देखकर युधिष्ठिर घबरा गये और क्षमा माँगने या युद्ध में पराजय स्वीकारने के लिए आने लगे। धर्मराज का अकेला आना चारों तरफ चर्चा का विषय बन गया और सब देखने लगे-“अब क्या कहना चाहते हैं?”

तभी धर्मराज भीष्म पितामह के पास आकर प्रणाम करते हैं और कहते हैं-“पूज्य पितामह! आपके सामने शस्त्र उठाने का अवसर आ गया है। यह मेरे मन को बहुत ही अप्रिय लगा है, क्या करूँ? विवश हूँ। अब आप हमें युद्ध करने की आज्ञा प्रदान कीजिए।”

युधिष्ठिर की विनम्रता से भीष्म पितामह गद्गद हो गये। बोले-“धर्मराज! तुम वास्तव में ही धर्मराज हो! तुमने हमारी गौरवमयी परम्परा को अक्षुण्ण रखा है, मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। यदि तुम इस प्रकार नम्रतापूर्वक मुझसे युद्ध की अनुमति लेने नहीं आते तो मैं अवश्य ही तुम्हारी पराजय की कामना करता, परन्तु तुम्हारी नम्रता और धर्मशीलता ने मुझे विवश कर दिया, मैं तुम्हें विजयी होने का आशीर्वाद देता हूँ। मैं दुर्योधन का पाप का अन्न खाने से अधर्म का साथ देने पर मजबूर हूँ, अब तुम इस बात को छोड़कर मुझसे अन्य कोई सहायता माँग सकते हो।”

युधिष्ठिर कहते हैं-“पूज्य पितामह! आपसे युद्ध करके हम किस प्रकार विजयी बन सकते हैं, यदि नहीं तो फिर आपका यह आशीर्वाद कैसे सफल हो सकता है?”

भीष्म ने कहा-“धर्म-पुत्र! इस युद्ध में विजय तुम्हारी होगी, यह मेरा आशीर्वाद है। रहा प्रश्न मुझे परास्त करने का, इसका रहस्य भी समय आने पर मैं तुम्हें अवश्य बता दूँगा।”

युधिष्ठिर वहाँ से द्रोणाचार्य के पास आये और दण्डवत् प्रणाम करके बोले-“गुरुदेव! विवश होकर हमें आपसे युद्ध करना पड़ रहा है, आप हमें युद्ध की आज्ञा दीजिये और आशीर्वाद भी।”

द्रोणाचार्य ने भी अपनी विवशता बताते हुए कहा-“विजयी भव।”

युधिष्ठिर बोले-“गुरुदेव! आपके होते हुए हम इस युद्ध में विजयी कैसे हो सकते हैं? फिर आपका आशीर्वाद कैसे सार्थक होगा?”

द्रोणाचार्य ने कहा-“यह सत्य है कि मेरे हाथ में अस्त्र-शस्त्र रहते हुए मुझे कोई मार नहीं सकता.....किन्तु फिर भी मैंने तुमको विजयश्री का आशीर्वाद दे दिया है और एक स्थिति ऐसी आयेगी तब तुम शस्त्र चलाकर मुझे मार दोगे।”

द्रोणाचार्य ने भी युधिष्ठिर को अपनी मृत्यु का रहस्य बता दिया। इसी प्रकार कृपाचार्य और शल्यराज जो युधिष्ठिर के मामा भी थे और महारथी कर्ण के सारथी भी, उनसे भी युद्ध की आज्ञा और विजय का आशीर्वाद प्राप्त कर लिया। कृपाचार्य ने भी अपनी मृत्यु का रहस्य युधिष्ठिर को बता दिया और कहा-“मैं प्रतिदिन भगवान से तुम्हारी विजय के लिए प्रार्थना करता रहूँगा।”

शल्य ने भी धर्मपुत्र को वचन दिया कि मैं वचन मैं बँधा होने से दुर्योधन के पक्ष में लड़ूँगा, किन्तु मैं तुम्हारी विजय के लिए कर्ण को हतोत्साहित करता रहूँगा। फलस्वरूप वह साहसहीन होकर स्वयं ही तुम्हारी विजय की बाधा को दूर कर देगा।

इस प्रकार गुरुजनों को प्रणाम करके युधिष्ठिर ने अपनी नम्रता से ही महाभारत का आधा युद्ध जीत

लिया। जितने अजेय महारथी थे सबकी मृत्यु का रहस्य प्राप्त कर लिया तो विजय की बाधाएँ अपने आप दूर हो गयीं।

महाभारत का यह प्रसंग गुरुजनों से आशीर्वाद और अजेय रहस्य प्राप्त करने का रहस्य खोलता है कि शिष्य की नम्रता और श्रद्धा भावना पर प्रसन्न होकर गुरु उसे ज्ञान का गूढ़तम रहस्य बता देते हैं। यहाँ तक कि अपनी मृत्यु का रहस्य भी बता देते हैं।

गुरु-शिष्य में एक अनूठा समर्पण व स्नेह का भाव होता है- विश्वास और निष्ठा का एक सूत्र जुड़ा होता है, जो गुरु को विवश कर देता है शिष्य को सब कुछ सौंप देने के लिए। जैसे एक विशाल सरोवर सदा जल से भरा रहता है। जब छोटे तालाब को एक नाली के द्वारा उस विशाल सरोवर से जोड़ दिया जाता है तो वह छोटा-सा तालाब भी पानी का अक्षय भण्डार बन जाता है और जब तक बड़े सरोवर में पानी रहता है, छोटा तालाब भी नहीं सूखता। जैसे बिजलीघर (पावर हाउस) से घर की बिजली का कनेक्शन हो जाता है तो पावर हाउस की बिजली घर को, मिल को, कारखानों को बराबर मिलती है। प्रकाश और ऊर्जा का सम्बन्ध जुड़ा रहता है। बिजलीघर बराबर अपनी बिजली सप्लाई करता रहता है।

गुरु भी महासरोवर और बिजलीघर की भाँति शिष्य की आत्मा के साथ आत्मा का सम्बन्ध जुड़ जाने पर अपनी शक्ति, अपना ज्ञान, अपनी साधना का रहस्य सब कुछ शिष्य को प्रदान कर देता है। आवश्यकता है गुरुजनों का विनय करके, उनके प्रति एकनिष्ठ समर्पण करके उनसे सद्बोध प्राप्त किया जाये। समर्पण के बिना प्राप्ति नहीं होती। विनय के बिना विद्या नहीं मिलती। इसलिए गुरु-शिष्य के सम्बन्धों में सदा ही विनय, श्रद्धा, समर्पण और सदिच्छा का सूत्र जुड़ा रहना चाहिए। तभी गुरु शिष्य को अपना ज्ञान और अपनी शक्ति देकर उसे अपने से भी महान् बनाने में सब कुछ लुटा देते हैं।

-“अमृत-पुरुष” ग्रन्थ सन्-2002 से संकलित



जीवन के कलाकार : सद्गुरु

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. सा.

सद्गुरु हमारे जीवन के प्रकाश-स्तम्भ हैं। वे सच्चे मार्गदर्शक एवं कुशल नाविक हैं। पापियों के जीवन को भी वे उज्ज्वल एवं निर्मल बनाने में सक्षम हैं। सद्गुरु का मिलना सौभाग्य का सूचक है। उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी की प्रभावपूर्ण शैली में निबद्ध यह प्रवचनात्मक आलेख सद्गुरु के महत्त्व का कुशलतापूर्वक निरूपण करता है। -सम्पादक

एक यात्री

रात्रि का समय है। अन्धकार से भूमण्डल व्याप्त है। नेत्र सम्पूर्ण शक्ति लगाकर के भी देख नहीं पा रहे हैं। सुनसान जंगल है। एक यात्री उस घनान्धकार में चल रहा है, किन्तु तिमिर की अत्यधिकता के कारण मार्ग दिखलाई नहीं दे रहा है। उसके पैर लड़खड़ा रहे हैं, वह दो कदम आगे बढ़ता है और दस कदम पुनः पीछे खिसकता है। वह कभी चट्टान से टकराता है और कभी गर्त में गिर पड़ता है। वह कभी नुकीले तीक्ष्ण काँटों से बीधा जाता है तो कभी कोमल-कुसुमों के स्पर्श से नागराज की कल्पना कर भयभीत होता है। कभी उसे अज्ञात पशु और पक्षियों की विचित्र ध्वनियाँ सुनाई देती हैं। भय की भीषणता से उसका हृदय काँप रहा है, बुद्धि चकरा रही है तथा मन विकल और विद्वल है। वह सोच नहीं पा रहा है कि मुझे किधर चलना है और मेरा गन्तव्य मार्ग किधर है? ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति हाथ में सर्चलाइट लेकर आये और उस पथिक से कहे- घबराओ नहीं, भय से काँपो नहीं, मैं तुम्हें तुम्हारे अभीष्ट स्थान पर पहुँचा देता हूँ। चलो, इस चमचमाते हुए दिव्य प्रकाश में, तो बताइये! उस पथिक के अन्तर्मानस में प्रसन्नता की कितनी लहरें होंगी? उस समय वह कितना प्रसन्न होगा?

कौन बतावे घाट

हम और आप भी यात्री हैं। आज से नहीं, अपितु अनन्त-अनन्त काल से यात्रा कर रहे हैं, संसार रूपी भयानक जंगल में। अज्ञान का गहरा अन्धकार छाया हुआ है जिससे सही मार्ग दिखलाई नहीं दे रहा है। कभी हम स्वर्ग की चट्टान से टकराये हैं और कभी हम नरक के महागर्त में गिरे हैं, कभी तिर्यँच के काँटों से बिंधे हैं और कभी मानव-जीवनरूपी फूलों का भी स्पर्श हुआ है, कभी क्रोध-मान-माया और लोभ-रूपी पशुओं ने हम में भय का संचार किया है। हमारी स्थिति भी उस पथिक की तरह डाँवाडोल है। उस समय सद्गुरु ज्ञानरूपी सर्चलाइट लेकर आते हैं और शिष्य को कहते हैं कि घबराओ नहीं, मैं तुम्हें सही मार्ग बताता हूँ, ज्ञान के निर्मल प्रकाश में चले चलो, बढ़े चलो अपने लक्ष्य की ओर। उस समय साधक का हृदय भी आनन्द विभोर होकर गा

उठता है-

गुरु बिन कौन बतावे वाट ।

पथ-प्रदर्शक

सद्गुरु सच्चा पथप्रदर्शक है । वह भूले-भटके और गुमराह इन्सानों को मार्ग दिखलाता है । हताश और निराश व्यक्तियों में विद्युत सदृश प्रेरणाएँ देता है । कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग की ओर बढ़ाता है । वह मोह, माया और मिथ्यात्व के अंधकार से उबारता है, एतदर्थ ही केशवदास ने गाया है-

सद्गुरु शरण बिन, अज्ञान तिमिर टलशे नहीं रे ।

सद्गुरु की शरण ग्रहण किये बिना अज्ञान-अन्धकार कभी नष्ट नहीं होगा । गुरु शब्द का अर्थ ही वैयाकरणों ने गु-अन्धकार, रु-नाश करने वाला किया है । जो अज्ञान अन्धकार को नष्ट करता है वह गुरु है । कहा भी है-

‘गु शब्दस्त्वन्धकारस्य’, ‘रु’ शब्दस्तन्निरोधकः
अन्धकारनिरोधत्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥

चिनगारी

गुरु हमें ज्ञान की चिनगारी देते हैं, जैसे एक बहिन जिसे भोजन निर्माण करना है, पर पास में माचिस नहीं है तो वह सन्निकटस्थ पड़ोसी के वहाँ जाती है और उसके चूल्हे में से एक चिन्गारी लाती है तथा उसे सुलगा कर भोजन का निर्माण कर लेती है वैसे ही सद्गुरु के पास में से ज्ञान की चमचमाती चिनगारी लेकर हमें अपने जीवन का नव-निर्माण करना है ।

पावर हाउस

सद्गुरु ज्ञान का पावर हाउस है । पावर हाउस में पावर पूर्ण हो, पर यदि बल्ब में विकृति हो अथवा नेगेटिव-पोजिटिव तार टूटे हुए हों तो आप कितना ही स्विच दबावें तो भी प्रकाश नहीं होगा । सद्गुरु रूपी पावर हाउस में ज्ञान का पूर्ण पावर भरा हुआ है । यदि हमारे जीवन-रूपी बल्ब में मिथ्यात्व की विकृति है या विनय और विवेकरूपी तार टूटे हुए हैं तो बड़े से बड़े गुरु की शरण प्राप्त करके भी हम अपने जीवन को प्रकाशित नहीं कर सकते ।

भगवान श्री महावीर के पास स्वर्ण-महलों में रहने वाले सम्राट् आये, राजा आये, राजकुमार आये, राजरानियाँ आई, राजमाताएँ आई, और राजकुमारियाँ आई, ऊँची अड्डालिकाओं में रहने वाले इभ्य सेठ आये, सेठानियाँ आई, सेठ-पुत्र आये, सेठ-पुत्रियाँ आई । टूटी-फूटी झौपड़ियों में रहने वाले दीन आये, अनाथ आये, पर जिनके जीवन-रूपी बल्ब में मिथ्यात्व-रूपी विकृति नहीं थी, जिनके विनय और विवेक रूपी तार टूटे हुए नहीं थे उनका जीवन प्रकाश से जगमगा उठा था, और जिनके जीवन रूपी बल्ब खराब थे, और विनय-विवेक रूपी तार टूटे हुए थे उनके जीवन में प्रकाश नहीं हो सका ।

भगवती सूत्र में भगवान् श्री महावीर के जमाई जमाली का वर्णन है। वह भगवान के पीयूषवर्षी प्रवचनों को श्रवण कर पाँच सौ क्षत्रिय कुमारों के साथ प्रव्रजित होकर भगवान का शिष्य बनता है। आगमों का गंभीर अध्ययन भी करता है, तप से आत्मा को तपाता भी है, पर जीवनरूपी बल्ब विकृत था जिससे भगवान सदृश सर्वज्ञ सर्वदर्शी को प्राप्त करके भी अपने जीवन को चमका नहीं सका। मंखलीपुत्र गोशालक भी महावीर का अन्तेवासी बना। छह वर्ष तक निरन्तर छाया की तरह साथ रहा; किन्तु वह अन्धकार में ही भटकता रहा, अपने जीवन को प्रकाशित नहीं कर सका। भगवान के अवर्णवाद से उसने अपनी आत्मा अधिक काली बना ली। सदगुरु की शरण में पहुँचकर भी उसने अपना दिवाला निकाल दिया, एतदर्थ ही मैं कह रहा हूँ कि सदगुरु में ज्ञान का अखण्ड प्रकाश होने के बावजूद भी यदि शिष्य में योग्यता नहीं है तो वह अपने जीवन को आलोकित नहीं कर सकता।

कलाकार

सदगुरु एक सफल कलाकार है। कलाकार जैसे एक अनघड़ पत्थर को ऐसी सुन्दर आकृति प्रदान करता है जिसे देखते ही दर्शक आनन्द-विभोर हो जाता है वैसे ही सदगुरु भी असंस्कारी आत्मा को ऐसी संस्कारी बना देता है कि जिसमें जीवन बोलने लगता है। अर्जुन मालाकार जो एक दिन हत्यारा था, जिसके नाम से राजगृह के निवासी काँपते थे, नगर से बाहर निकलने का नाम नहीं लेते थे; किन्तु सुदर्शन के साथ वह भगवान् श्री महावीर के चरणारविन्दों में पहुँचता है और महावीर का शिष्य बन जाता है। बेले-बेले वह पारणा करता है और पारणा के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होकर जब नगर में जाता है तब उसे अनेक ताड़ना, तर्जना और त्रास दिया जाता है तब भी वह आक्रोश नहीं करता है, यह है सदगुरु की कला।

अंगुलीमाल जो एक दिन भयंकर डाकू था और अपने गले में अंगुलियों की माला पहना करता था, जिसकी आँखों से खून बरसता था, किन्तु जीवन के कलाकार सदगुरु महात्मा बुद्ध ने उसके जीवन को बदल दिया, हिंसक को अहिंसक बना दिया। सम्राट् प्रदेशी जो क्रूर, कठोर और निर्दय था, मनोविनोद के लिए ही उसने अनेकों को मौत के घाट उतार दिया था। प्रजावर्ग जिससे सदा भयभीत रहता था, पर चतुर चित्त की प्रबल प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर महाश्रमण केशी महाराज उसके जीवन का निर्माण करने हेतु श्वेताम्बिका आते हैं और उसके जीवन को ऐसा बदल देते हैं कि महारानी सूर्यकान्ता के द्वारा विष-दान देने पर भी सम्राट् शान्त, प्रशान्त और उपशान्त रहते हैं। यह है सदगुरु का चमत्कार।

स्टेशन

सदगुरु जीवन रूपी ट्रेन का स्टेशन है। ट्रेन यदि स्टेशन पर रुकती है तो उसे वहाँ किसी भी प्रकार का खतरा नहीं होता, यदि उसमें किसी भी प्रकार की कोई विकृति उत्पन्न हो जाय तो वहाँ शीघ्र ही दुरुस्त की जा सकती है। स्टेशन पर ही उसे पानी मिलता है, कोयला मिलता है और विश्रान्ति मिलती है। जीवन रूपी ट्रेन का स्टेशन सदगुरु है, यदि हमारे जीवन में किसी भी प्रकार की विकृति पैदा हो गई है तो सदगुरु उसे शीघ्र ही ठीक कर

देंगे।

दिक्षा की आज प्रथम रात थी, मेघ मुनि का आसन द्वार के पास लगा था। अन्धकार के कारण मुनियों के पैर व रजोहरण के स्पर्श से मेघ मुनि की निद्रा भंग हो गई। चिन्तन चिन्ता में बदल गया। मैं जब राजकुमार था तब ये मुनि-जन मेरा सत्कार और सम्मान करते थे, मुझे प्रेम करते थे। आज मुनि बनते ही यह स्थिति है कि- ठोकरें खानी पड़ रही हैं। श्रेयस्कर यही है कि प्रातः महावीर को ये सारे वस्त्र-पात्र सँभला कर गृहस्थ बन जाऊँ। रात भर इस प्रकार मानस में उधेड़बुन चलती रही, प्रातः महावीर के चरणों में पहुँचे। सर्वज्ञ सर्वदर्शी महावीर ने उनको रात के समय मानस में उठी विचार-लहरियों पर प्रकाश डालते हुए बतलाया कि मेघ तू पूर्वभव में कौन था, और किस प्रकार के कष्ट तूने सहन किये और अब तनिक से कष्ट से घबरा गया है। मेघ का मानस दुरस्त हो जाता है। विवेक का निर्मल नीर तथा चिन्तन का खाद्य मिलते ही उसने प्रतिज्ञा ग्रहण की कि आज से मैं नेत्रों के अतिरिक्त सर्व-शरीर से सन्तों की सेवा हेतु समर्पित करता हूँ।

कुशल नाविक

सद्गुरु जीवन-रूपी नौका का सफल और कुशल नाविक है। जो संसार रूपी सागर में से तथा क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी तूफान में से सकुशल पार पहुँचा देता है। एतदर्थ ही सद्गुरु की महिमा का बखान करते हुए एक वैदिक ऋषि ने कहा है-

गुरुर्ब्रह्म, गुरुर्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वरः।

गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म, तस्मै सद्गुरवे नमः ॥

महत्त्व- भगवान से भी सद्गुरु का महत्त्व अधिक है। एक वैदिक ऋषि ने तो यहाँ तक कहा है- भगवान यदि रुष्ट हो जाय तो सद्गुरु बचा सकता है, पर सद्गुरु रुष्ट हो जाय तो भगवान की भी शक्ति नहीं जो उसे उबार सके।

हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता, गुरौ रुष्टे न च शिवः।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन, गुरुमेव प्रसादयेत् ॥

दुर्लभ क्या?

एक जिज्ञासु ने एक विचारक से पूछा- इस संसार में दुर्लभ क्या है? 'किं दुर्लभं?' विचारक ने गंभीर चिन्तन के पश्चात् उससे कहा-अन्य वस्तुएँ मिलनी सरल है, सहज है, पर सद्गुरु का मिलना कठिन है, कठिनतम है 'सद्गुरवस्त्रिलोके'। वस्तुतः सद्गुरु का मिलना बड़ा ही कठिन है। एक सज्जन ने बताया कि भारतवर्ष में इस समय नब्बे लाख के लगभग गुरुओं की फौज है, जिनके पास रहने के लिए भव्य भवन हैं, फिरने के लिए हाथी, घोड़े और कारें हैं, और मौज करने के लिए तिजोरियाँ भरी पड़ी हैं? क्या वस्तुतः वे गुरु हैं?

वे गुरु कैसे?

एक दार्शनिक जा रहा था, गगनचुम्बी मठों को देखकर उसने सामने आते हुए एक सज्जन से पूछा- ये

सुन्दर मठ किसके चमक रहे हैं? उसने उत्तर देते हुए कहा- उदासियों के। वह सोचने लगा कि जो संसार से उदास हैं और उनके मठ! यह कैसे सम्भव है? मदोन्मत्त हाथी झूमते हुए दिखलाई दिये। उसने फिर प्रश्न किया- ये हाथी किसके हैं? तो उस सज्जन ने कहा वैरागियों के हैं? वह सोच नहीं पा रहा था कि जो वैरागी हों, जिनके मन में वैराग्य की ज्योति जल रही हो उनके पास हाथी कैसे हो सकते हैं! कुछ और आगे बढ़ा तो कुछ बच्चे खेलते हुए दिखलाई दिये, उसने पूछा ये बच्चे किसके खेल रहे हैं? उत्तर मिला- ब्रह्मचारियों के? ब्रह्मचारी और फिर बच्चे? आगे बढ़ने पर कुछ बहिनें आती हुई दृष्टिगोचर हुईं? पूछा किसकी हैं? तो उत्तर मिला-सन्तों की। सन्त होकर जो पत्नियाँ रखें वे सन्त ही कैसे हैं? हाँ तो, यह है नामधारी गुरु कहलाने वालों का शब्द चित्र! वस्तुतः वे गुरु नहीं हैं। जो इस तरह स्वयं भोग-विलास में निमग्न रहते हों और व्यसनों से व्यथित हों, वे गुरु कैसे बन सकते हैं? ऐसे नामधारी गुरुओं ने ही सद्गुरु के महत्त्व को कम कर दिया है।

सद्गुरु

सद्गुरु के लिए अपेक्षित है कि वह पाँच इन्द्रियों को वश में करने वाला हो, तथा नवविध ब्रह्मचर्य गुणियों को धारण करने वाला हो। क्रोध, मान, माया और लोभ से मुक्त हो; अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह से युक्त हो; ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य से सम्पन्न हो; ईर्या, भाषा, एषणा, आदानभण्डमात्र और उच्चार प्रसवण-खेल-जल्ल संस्थापनिका समिति तथा मन, वचन और काय का गोपन करने वाला हो। इस प्रकार जो इन सद्गुणों का धारक है, वही वस्तुतः सद्गुरु है। जो इन सद्गुणों के परीक्षण-प्रस्तर पर खरा उतरता है उसे ही भारतीय महर्षियों ने सद्गुरु कहा है-

पंचिन्द्रिय-संवरणो, तह नवविह बंभचेर गुणधरो।
चतविह-कसाय-मुक्को, इअ अङ्घरस गुणेहि संजुतो ॥
पंच-महव्वय जुतो, पंचविहायार-पालण समत्थो।
पंच समिओ तिगुतो, छत्तीस-गुणो गुरु मज्झं ॥

वस्तुतः सद्गुरु का महत्त्व अपरम्पार है। दीपक को प्रकाशित करने के लिए जैसे तेल की आवश्यकता है, घड़ी को चलाने के लिए चाबी की जरूरत है, शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिए भोजन आवश्यक है वैसे ही जीवन को प्रगतिशील बनाने के लिए सद्गुरु की आवश्यकता है। सद्गुरु ही जीवन के सच्चे निर्माता हैं।

- 'धर्म का कल्पवृक्ष : जीवन के आंगन में' पुस्तक से साभार



जीवन में गुरु की महत्ता

मधुर व्याख्यात्री श्री गौतममुनि जी महाराज

गुरु का शिष्य पर महान् उपकार होता है। उनके द्वारा प्रदत्त सद्बोध शिष्य के जीवन का निर्माण करता है। प्रज्ञाशील गुरु किस प्रकार अपने शिष्य का मार्गदर्शक बनता है तथा किस प्रकार उसे अहंकारादि विकारों से रहित बनाता है, इसका सुन्दर निरूपण श्री गौतममुनि जी महाराज द्वारा गोटन चातुर्मास में फरमाए गए प्रस्तुत प्रवचन में हुआ है। प्रवचन का संकलन एवं सम्पादन सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के कार्याध्यक्ष श्री सम्पतराज जी चौधरी ने किया है।-सम्पादक

धर्मप्रेमी बन्धुओं!

आपने एक बहुचर्चित दोहा सुना ही है जिसमें गुरु की महिमा बड़े सुन्दर रूप से प्रतिपादित हुई है-

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, का के लागू पांव।

बलिहारी गुरुदेव की, गोविन्द दियो बताय ॥

संसार के सभी धर्मों में व्यक्ति के जीवनोत्थान हेतु गुरु की भूमिका को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। जैन दर्शन में तीन तत्त्वों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। ये तीन तत्त्व हैं- देव, गुरु और धर्म। इनमें गुरु का स्थान मध्य में है। गुरु का लक्ष्य अरिहन्त बनने का रहता है। धर्म से वह स्वयं जुड़ा रहता है और दूसरों को भी जोड़ता है। जैन वाङ्मय में तो चौदह पूर्वों के अतिशय ज्ञानी गणधर भी भगवान महावीर को संबोधन करते हुए उनके बारे में कहते हैं- “मेरे धर्माचार्य धर्मगुरु भगवान महावीर!” गणधर जैसे शिष्यों ने तीर्थंकर भगवान में भी गुरु तत्त्व को प्राथमिकता दी है। उनका भी भगवान को प्रथम सम्बोधन गुरु के रूप में होता है और उसके बाद भगवान के रूप में। यही कारण है कि जैन परम्परा में गुरु को ‘गुरुदेव’ अथवा ‘गुरु भगवन्त’ के विशेषण से संबोधित किया जाता है। मेरे कहने का तात्पर्य है कि जैन धर्म में गुरु को जीवन में कल्याण पथ के अभिमुख करने वाले एक परम हितकारी के रूप में सर्वाधिक पूज्य माना गया है। गुरु को एक ऐसे माली की संज्ञा दी है जो हमारे जीवन-उपवन में दिव्य गुणों के पुष्प उगाकर उसे सौन्दर्य प्रदान कर सुवासित करता है। गुरु को एक कुम्भकार की उपमा भी दी गई है। जो हमारे मृण्मय जीवनघट को चिन्मयता के बोध से मंगलमय घट बना देता है। गुरु को एक कुशल नाविक कहा गया है जो हमारी जीवन-नौका को भवसागर से पार करा देता है। गुरु को एक शिल्पकार भी कहा है जो एक अनगढ़ जीवन को गढ़कर उसे एक सुन्दर प्रतिमा का रूप दे देता है। गुरु की एक वैद्य से तुलना की गई है, जिसमें वह अनन्त भवों से पीड़ित जीव को संजीवनी बूटी देकर अमरत्व प्रदान करता है। अन्त में गुरु एक ऐसा प्रणेता है जो हमारे जीवन के कोरे पृष्ठों पर आनन्द की अमिट रेखाएँ उत्कीर्ण करता है।

बन्धुओं! वास्तव में तो ‘गुरु’ शब्द में ही गुरु का अर्थ अंतर्निहित है। गुरु वह है जो हमारे अंधकार को

दूर कर हमें प्रकाश की रश्मियाँ प्रदान करता है, अर्थात् हमारे अज्ञान और मिथ्यात्व रूपी अंधकार को दूर कर हमें ज्ञान का प्रकाश देकर आत्म-साक्षात्कार कराता है। आप देखते ही हैं कि आज अत्यधिक भौतिक प्रगति के बावजूद चारों ओर अशांति और संघर्ष के वातावरण में वृद्धि हो रही है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति बाह्य सुखों की खोज में रात-दिन दौड़ा जा रहा है, त्यों-त्यों उसके मानसिक क्लेश बढ़ते ही जा रहे हैं। तनाव से मुक्ति नहीं मिल रही है। फलस्वरूप उसके जीवन में विषाद बढ़ जाता है और वह नैराश्य में डूबकर जीवन से पलायन का मार्ग ले लेता है। ऐसी मनःस्थिति में व्यक्ति कभी-कभी तो आत्महत्या का जघन्य कृत्य भी कर बैठता है। भौतिक संसाधनों की पूर्ति में आर्थिक प्रतिस्पर्धा अनेकानेक नई-नई समस्याओं को जन्म दे रही है। जीवन की इस दौड़-भाग में ऐसा लग रहा है कि जीवन का एक मात्र उद्देश्य अधिक से अधिक धन का अर्जन कर सुख के साधन जुटाना रह गया है। भोगवादी संस्कृति में ये क्षणिक सुख अनेक दुःखों का सृजन करके जीवन को नरक बना रहे हैं। ऐसा न हो जाय कि शांति, प्रेम, वात्सल्य, मैत्री आदि किताबों के शब्द ही रह जायें। इस समस्या का समाधान न तो आज का विज्ञान ही दे सका है और न ही धन-दौलत दे सकी है। इस विषम वातावरण में शान्ति प्राप्त करने का समाधान देकर सत्य का दर्शन केवल गुरु ही करा सकता है।

यदि इस जगत में आत्मबोध से युक्त गुरु नहीं होता, उसकी निष्काम साधना नहीं होती और ऐसे गुरु का हमें मार्गदर्शन नहीं मिलता, सान्निध्य नहीं मिलता, प्रेरणास्पद बोध नहीं मिलता तो आज संसार में जैसी भयावह स्थिति होती उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। गुरु एक वरदान है, जीवन में अमृत का पान है, जीवन का समाधान है और एक प्रकाश स्तम्भ है जो हर समय हमें दिशा बोध देता है। इसीलिये उनका महत्त्व है। इस दृष्टि से गुरु वह होता है जो विषय-कषायों और भोग से परे हो, इन्द्रियजयी हो, लक्ष्य के प्रति पूर्ण रूपेण समर्पित हो एवं आत्मबोध से परिपूर्ण होकर आत्म-साक्षात्कार के अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव कर रहा हो। ऐसा व्यक्ति केवल आत्म-कल्याण के मार्ग में निरन्तर गतिमान रहकर स्व के साथ पर-कल्याण में भी निस्पृह भाव से प्रवृत्त रहता है। वह आत्म-द्रष्टा और भविष्य-द्रष्टा होता है। ऐसे गुणों का धारी ही शिष्य के जीवन का निर्माण सम्यक् रूपेण कर सकता है। वह तो इतना निस्पृही होता है कि शिष्य को अपने समान ही नहीं, अपने से भी ऊँचा उठा देता है।

यह जिनशासन की महत्ता है कि इसमें ऐसे सद्गुरुओं की परम्परा आज भी अविच्छिन्न रूप से चल रही है। वे शिष्य की मनोभूमि को देखकर उसमें उचित संस्कारों के बीज बोते हैं, उसे वात्सल्य का नीर देते हैं, अंकुरित होने पर अपने आश्रय की सुखद छाया में विकसित होने का पूर्ण अवसर देते हैं ताकि उसमें शान्ति, समता, मैत्री और आनन्द के फल-फूल लग सकें और वह अपने दुर्लभ मानव जीवन का कल्याणकारी उपयोग कर अपनी मुक्ति की राह प्रशस्त कर सकें।

गुरु केवल शिष्य का निर्माण ही नहीं करता है, अपितु जब भी शिष्य जीवन में निराशा में डूब कर हतोत्साही हो जाता है, तब उसे अपनी प्रेरणा का प्रसाद देकर उसमें नवजीवन का संचार भी करता है। हमारे आगम ग्रन्थों में अनेक ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं जिनमें मुनि यदि परीषहों को सहन करने में असमर्थता का अनुभव

कर संयम धर्म से च्युत होने लगता है, तब गुरु उसे कुमार्ग से बचाकर पुनः मार्ग में स्थिर करता है। भगवान् महावीर के समय में मुनि मेघकुमार का आख्यान आपने सुना होगा। मेघकुमार राजमहलों में पले एक राजकुमार थे। भगवान् से प्रतिबोधित होकर उन्होंने मुनि जीवन अंगीकार कर लिया। मुनि बनने के पश्चात् प्रथम रात्रि में ही उन्होंने क्रम से अन्य मुनियों के साथ अपनी शय्या लगाई और सोने लगे। रात्रि के अन्धकार में अन्य मुनियों द्वारा कार्य हेतु आना-जाना होने पर उनको मुनि मेघ कुमार को लांघ कर जाना पड़ता था, जिससे उनके पैरों से मुनि मेघ को ठोकरें लगती रहती थीं। बार-बार यही होता देखकर मेघ मुनि सो न सके। वे विचार करने लगे कि जब मैं राजकुमार था तब ये ही मुनिगण मुझे मान-सम्मान देते थे और आज मेरी कोई परवाह न करते हुए मुझे ठोकरें लगाते हुए चल रहे हैं। वह रात, ऐसा विचारते-विचारते उसके लिये बड़े दुःख से बीती। उसने निश्चय कर लिया कि प्रातः होते ही वह भगवान् से आज्ञा लेकर पुनः गृहस्थ जीवन में चला जायेगा। सबेरा होते ही वह भगवान् के पास पहुँचा और उनको वन्दन-नमन किया। भगवान् तो सर्वज्ञ थे। उन्होंने मेघ के बिना बोले ही उसके मन में चल रहे वैचारिक द्वन्द्व को उसे बता दिया। मेघ ने कहा कि यह सत्य है भगवान् ! तब भगवान् ने उसे प्रतिबोध देते हुए कहा- “मेघ, रात्रि में केवल इतने से परीषह से घबरा कर तुम विचलित हो गये और इस उत्कृष्ट संयम को त्यागने का विचार कर बैठे। जरा अपने पूर्व भवों पर दृष्टिपात तो करो। अनन्त काल से तुम कितने भीषण नरक, निगोद आदि गतियों के दुःख को दीन बने झेल रहे थे। तुमने कितनी ही बार सर्दी, गर्मी आदि फी पीड़ाएँ भोगी हैं। उनके सामने तो ये पीड़ाएँ नगण्य हैं, फिर भी तुम निराश हो गये? अब यह भव तुमको अनन्त पुण्यों के फलस्वरूप मिला है। मानव भव के अतिरिक्त अन्य किसी भव में अपने दुःखों का अन्त करना सम्भव नहीं होता है, उन्हें केवल भोगना ही होता है। मानव भव में ही तुम अपने पुरुषार्थ से दुःखों की परम्परा को सदैव के लिये नष्ट कर सकते हो। इस भव में भी समता धर्म को धारण कर अपना पुरुषार्थ प्रकट नहीं किया तो तुम्हारे दुःखों की यह परम्परा अनवरत चलती ही रहेगी। अतः संबोधि को प्राप्त कर, निर्मल संयम का पालन करके आत्म-कल्याण के मार्ग पर बढ़ोगे तो आनन्द का अखण्ड साम्राज्य तुम्हारा होगा। फिर न तो तुम्हारा जन्म होगा और न ही मरण। न तुम्हें सांसारिक सुख होगा और न ही दुःख। तुम उस शाश्वत धाम के वासी हो जाओगे जहाँ केवल आनन्द ही आनन्द होगा। मानवभव में आकर भी क्या तुम उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ नहीं करोगे?”

भगवान् से अपने पूर्व भवों का वृत्तान्त सुनकर मेघ का रोम-रोम कांप उठा। उसकी चेतना जगी और वह आत्मभाव में आ गया। प्रभु से क्षमा मांगता हुआ वह तत्काल पुनः मुनि धर्म में स्थिर हो गया और भगवान् के चरणों में संकल्प किया कि “हे प्रभो! आज से इन दो आंखों के अतिरिक्त मेरा सम्पूर्ण शरीर संत-सेवा में समर्पित करता हूँ।” भगवान् ने एक गुरु के रूप में संयम से च्युत हो रहे शिष्य को पुनः कल्याण मार्ग का पथिक बना दिया। गुरु से उचित समय पर बोध पाकर मुनि मेघ का संघर्ष धुल गया और उन्हें जीवन का उत्कर्ष मिल गया। भगवान् के अन्तरमन में केवल शिष्य के हित की उद्भावना थी। वे तो वीतराग थे, अतः शिष्य के प्रति उनमें किंचित् भी राग नहीं था। उन्होंने मेघकुमार की परेशानी के निराकरण के लिये न तो उसे अपने पास शयन करने के लिये कहा और न ही अन्य मुनियों को उपालम्भ ही दिया कि उन्होंने एक राजघराने से आये मेघ मुनि का ध्यान भी नहीं रखा। भगवान् चाहते तो मेघ के लिये अनुकूल वातावरण बना सकते थे। उन्हें तो पता था कि उस

अनुकूलता में मेघ को क्षणिक सुख भले ही मिल जाये, पर वे अन्त में उसके दुःख की परम्परा को बढ़ाने वाले ही होंगे। उन्होंने ऐसा कुछ भी न कर उसमें संयम का पुरुषार्थ जगाया। गुरु का बोध मिले, तब ही हमें पता चलेगा कि हम असमर्थताओं से नहीं अपितु संभावनों से भरे हैं। मेघकुमार का जीवन इसका एक सुन्दर उदाहरण है।

एक और उदाहरण आपने सुना होगा अरणक मुनि का। अरणक अपने माता-पिता के साथ ही दीक्षित हुआ था। अरणक को साधु चर्या में कोई कष्ट न हो इसलिये उसके पिता मुनि स्नेहवश उसके सारे कार्य कर देते थे। फलस्वरूप अरणक मुनि को संयम-पालन में परीषहों के सहन करने का कुछ भी अभ्यास नहीं हुआ। पिता मुनि के देहावसान पर जब अरणक को साध्वाचार के सारे कार्य स्वयं ही करने पड़े तो वह घबरा गया। उसमें निराशा व्याप्त होने लगी। निराशा में डूबा एक दिन वह भिक्षार्थ बाहर गया। रास्ते में भीषण गर्मी से घबराकर वह एक भव्य प्रासाद के तले उसकी छाया में खड़ा हो गया। उसी समय ऊपर खड़ी एक रमणी ने उसे देखा। सुन्दर और सुकोमल युवा मुनि को देखकर वह उस पर मोहित हो गई। उसने मुनि को ऊपर बुलाकर कहा- “क्यों मुनि के कष्ट भोगकर जीवन को नष्ट कर रहे हो? तुम मेरे पास आ जाओ। हम यहाँ महलों में रहकर सुखों का उपभोग करते हुए अपने जीवन को सुखमय बना लेंगे।” अरणक का मन तो परीषहों के कारण पहले से ही विचलित हो रहा था। उस रमणी के सुखद बोलों ने उसे भोगों की ओर आकर्षित कर दिया। वह महलों में रहकर रमणी के साथ भोग-विलास में लिप्त हो गया।

उधर जब अरणक दिखाई नहीं दिया तो उसकी साध्वी मां उसे ढूँढने निकल पड़ी। अरणक! अरणक! पुकारती हुई जब वह उस महल के पास से निकली तो अरणक ने मां की आवाज को पहचान लिया। नीचे देखा तो उसकी साध्वी मां खड़ी थी। वह तुरन्त नीचे आया और साध्वी मां को वंदन कर बोला- “माँ मैं तेरा बेटा अरणक आ गया हूँ।” साध्वी मां बोली- “नहीं, तू मेरा बेटा नहीं हो सकता। मेरा बेटा तो अरणक मुनि था। मैं तो शेरनी हूँ और शेरनी का बेटा शेर ही हो सकता है। तू तो गीदड़ है जो संयम से भ्रष्ट हो गया। तू मेरा बेटा कैसे हो सकता है?” अरणक ने कहा- “मां, मैं मुनि-जीवन के परीषहों को कैसे सहन कर सकूँगा? मैं इनसे दुःखी होकर मर जाऊँगा।” साध्वी मां ने कहा- तुमको संयम में मरना श्रेयस्कर है, पर असंयम तो किसी भी रूप में स्वीकार्य नहीं होना चाहिए। असंयम में रहने से तो पृथ्वी पर पड़ी इस तप्त शिला पर संलेखना करना अच्छा है।” साध्वी मां की बात सुनकर अरणक का शौर्य जाग गया। उसने उस तप्त शिला पर संलेखना ले ली और असंयम में मरने से बच गया। साध्वी मां का उद्बोधन अरणक के लिये गुरु के रूप में उद्बोधन था जिसके कारण उसके लिये एक झुलसती शिला भी आत्मबोध होने पर शीतल लगने लगी।

बन्धुओं! कभी-कभी लोक प्रसिद्धि की कामना में अथवा अपनी विद्वत्ता के कारण साधकों में अहं भाव जाग जाता है। उस अहं में उनकी साधना गौण हो जाती है और वे अपना प्रभाव जमाने के लिये बाहरी प्रदर्शन और आडम्बर में लग जाते हैं। अपना प्रभाव बढ़ाने की लालसा में वे पर-भाव में आ जाते हैं और संयम जीवन से भ्रष्ट हो जाते हैं। ऐसे समय में भी एक मात्र गुरु ही उनके आन्तरिक अहं की आहट सुनकर उन्हें प्रतिबोधित करके उनके अहं का विगलन करते हैं और विनय धर्म की ओर मोड़ देते हैं। गुरु के उपालम्भ भरे

हितकारी वचनों की रगड़ से उन विद्वान् शिष्यों की अन्तश्चेतना में आत्मज्योति प्रज्वलित हो जाती है। उनकी विद्वत्ता सार्थक हो जाती है।

आप महा प्रभावकारी 'कल्याण मंदिर स्तोत्र' का पाठ करते होंगे। आपको पता होगा कि इस स्तोत्र की रचना करने वाले आचार्य सिद्धसेन दिवाकर एक महान् प्रतिभाशाली प्रज्ञावान् आचार्य हुए हैं जिन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें कई आज भी उपलब्ध हैं। मुनि बनने के पूर्व वे अपनी प्रज्ञा और बुद्धिबल के समक्ष अन्य विद्वानों को तृणवत् समझते थे। उन्होंने अपने मन में एक संकल्प लिया कि जो मुझे शास्त्रार्थ में हरा देगा मैं उन्हीं का शिष्य बन जाऊँगा। वे एक बार, उस समय के महान् आचार्य वृद्धवादी के पास पहुँचे और बोले—“मैं आपसे शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ।” आचार्य ने कहा—“ठीक है, पर जय-पराजय का निर्णय कौन करेगा?” सिद्धसेन अति विश्वास के साथ बोल पड़े कि इसका निर्णय ये आसपास में खड़े गोपाल ही कर देंगे। सिद्धसेन संस्कृत के उद्भूत विद्वान् थे, अतः उन्होंने संस्कृत में बड़ी सुन्दर लालित्यपूर्ण शैली में शास्त्रों का अर्थ प्रस्तुत किया। वहाँ खड़े गोप उनकी संस्कृत में प्रस्तुति को बिलकुल भी नहीं समझ सके और सुनकर चुप रहे। आचार्य वृद्धवादी ने समय और स्थिति को जानकर अपना पक्ष सीधी-सादी लोक प्रचलित भाषा में संगीत की लय के साथ प्रस्तुत किया जिसे सुनकर गोप वाह-वाह करने लगे। आचार्य की जीत हो गई। सिद्धसेन अपने मन के संकल्प के अनुसार वृद्धवादी के शिष्य बन गये।

शिष्य बनने के बाद भी सिद्धसेन की विद्वत्ता का अहं कम नहीं हुआ। वह राजा-महाराजाओं के यहाँ अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन कर अपना प्रभाव बढ़ाते रहे। राजाओं से उन्हें बड़ा सम्मान मिला। “प्रभुता पाई काहि मद नाही” की उक्ति के अनुसार वह मद में मस्त होकर राजा-महाराजाओं की तरह पालकी में बैठकर आने-जाने लगे। आचार्य वृद्धवादी को शिष्य के इन कृत्यों का पता चला तो उन्होंने उसे संयम-मार्ग में लाने की योजना बनाई। वे भेष बदलकर पालकी वाहक बनकर सिद्धसेन की पालकी उठाने वालों के साथ हो गये और सिद्धसेन की पालकी उठाने लग गये। वृद्ध व्यक्ति को पालकी उठाते देख सिद्धसेन ने उस वृद्ध से संस्कृत में पूछ लिया—“भूरिभारभारक्रान्तः बाधति स्कन्ध एष ते?” (अर्थात् पालकी के भार से आपके कन्धे तो नहीं दुःख रहे हैं?) सिद्धसेन के प्रश्न में व्याकरण की अशुद्धि थी। ‘बाधति’ की जगह ‘बाधते’ होना चाहिए था। पालकी वाहक के रूप में आचार्य को उन्हें प्रतिबोध देने का उचित अवसर मिला। वे बोले— तथा न बाधते स्कन्धः, यथा बाधति बाधते।” (अर्थात् पालकी से मेरे कन्धों को इतना भार रूपी दुःख नहीं लगता, जितना अशुद्ध संस्कृत से)। सिद्धसेन ने सोचा—“मेरी भूल बताने वाला यह कौन है?” उन्होंने पालकी वाले की तरफ ध्यान से देखा तो आचार्य को पहचान लिया। तत्क्षण उसका सारा अहं पिघल गया। वह पालकी से नीचे उतर कर गुरु चरणों में गिर पड़ा। उसका अहं गुरु के यथा समय दिये एक ही उपालम्भ से विनय और समर्पण में रूपान्तरित हो गया। वृद्धवादी गुरु के रूप में एक ऐसे कलाकार थे जिन्होंने शिष्य की विद्वत्ता की अंधेरी भित्ति पर ज्योति के अक्षर लिख दिये। शिष्य ने जब उन्हें पढ़ा तो अनेक महान् ग्रन्थों की रचना कर दी। पालकी वाहक के रूप में गुरु की पहचान उनके जीवन का निष्कर्ष हो गया। अगर गुरु का बोध नहीं मिलता तो सम्भवतः जिनशासन में वे इतने प्रभावक आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो पाते।

बन्धुओं! मैं आज के उन तथाकथित गुरुओं की बात नहीं कर रहा हूँ जो लोकैषणा के प्रवाह में बहकर अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिये शिष्यों की फौज खड़ी कर उनका उपयोग करते हैं। ऐसे गुरु स्वयं तो पतित हो ही रहे हैं, अपने शिष्यों को भी पतन के गहरे गर्त में धकेल रहे हैं। जहाँ निज का स्वार्थ हो, वहाँ शिष्यों का हित संपादन कैसे हो सकता है? किसी ने कहा है-

गुरु लोभी चेलो लालची, दोनों खेले दांव।

दोनों डूबा बापड़ा, बैठ पत्थर की नांव।।

जहाँ स्वार्थ टकरायेगें वहाँ डूबने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। मैंने अभी आपके समक्ष आगम ग्रन्थों में आये कुछ ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिनमें गुरु ने निःस्पृह भाव से मार्ग से भटकने वाले शिष्य को पुनः मार्ग में लाकर उसके कल्याण का पथ प्रशस्त किया। आगम में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जो शिष्य के जीवन में गुरु की महत्वपूर्ण भूमिका को प्रस्तुत करते हैं। मुनि जीवन में तो अनेक परीषह आते ही हैं, परन्तु यदि एक सद्गुरु का सान्निध्य मिल जाये तो एक शिष्य निर्भय होकर संयम पथ पर बढ़कर साध्य को पाने में सफल हो जाता है। जिनशासन की यह विशेषता है कि आज भी हमें ऐसे सद्गुरु मिल रहे हैं जो उत्कृष्ट संयम का पालन करते हुए अपने शिष्यों में भी वैसे ही संस्कार भर रहे हैं। आचार्य हस्ती एक ऐसे ही गुरु थे जिनका जीवन अप्रमत्तता और संयम से आपूरित था। वे एक विशिष्ट प्रज्ञा के धनी थे। उन्होंने अपने शिष्यों में उत्तम संयम के संस्कार भरे, जिससे वे आज भी उनके बताये मार्ग पर निर्भय होकर निरन्तर गतिमान हो रहे हैं।

बन्धुओं! हर बीज में एक विशाल वृक्ष बनने की सम्भावना है। पर वह फलित तभी होता है जब उसे उचित भूमि और पानी के साथ एक अच्छे माली का सहकार मिले। पत्थर में एक मूर्ति छिपी है, पर वह प्रकट तभी होती है जब वह पत्थर एक कलाकार के हाथ में जाता है। इसी तरह हर आत्मा में परमात्मा बनने की सामर्थ्य है, पर वह आत्मा परमात्मा तभी बन सकती है जब सद्गुरु का सान्निध्य मिल जाये। एक विद्यार्थी यदि परीक्षा में असफल होता है तो उसका एक वर्ष व्यर्थ ही चला जाता है। पत्नी यदि कर्कशा और दुर्गुणों से भरी मिल जाती है तो एक जीवन ही व्यर्थ चला जाता है। परन्तु एक उत्तम गुरु नहीं मिले तो भव-भव व्यर्थ में चले जाते हैं। अतः गुरु कैसा होना चाहिए, इसका दिग्दर्शन इस गीत में कराया गया है-

जिनके अन्तःस्थल में बहती करुणा रस की धारा,
वो है गुरुदेव हमारा।

जहाँ रोम-रोम में जिन आज्ञा का पावन पवित्र नजारा,
वो है गुरुदेव हमारा।

जो त्रस-स्थावर की करे न हिंसा, सत्य भी कडुवा टाले,
नहीं ले तृण भी बिन आज्ञा के, नव बाड़ शील शुद्ध पाले,
छोड़ा घरबार परिग्रह निज का, शुद्ध स्वरूप निहारा,
वो है गुरुदेव हमारा।



गुरु एक या अनेक : नयदृष्टि

तत्त्वचिन्तक श्री प्रमोदमुनि जी म. सा.

तीर्थंकर प्रभु भी धर्म गुरु हैं तथा सुसाधु भी गुरु हैं। नयदृष्टि से दोनों गुरु हैं, जिन्होंने तीर्थंकरों से सीधा ज्ञान प्राप्त किया, उनके लिए तीर्थंकर धर्माचार्य हैं तथा जिन्होंने सुसाधुओं से ज्ञान प्राप्त किया उनके लिए सुसाधु गुरु हैं, किन्तु क्रियात्मक दृष्टि से एक ही गुरु से ज्ञान प्राप्त करने के कारण व्यवहार नय से गुरु एक होता है। इसे तत्त्वचिन्तक मुनि श्री ने प्रवचन में विशेषावश्यकभाष्य के आधार से भी स्पष्ट किया है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि एक गुरु के होने पर भी सेवा सभी साधुओं की की जा सकती है। -सम्पादक

स्वच्छ हृदय में, निर्मल अन्तःकरण में, समाधियुक्त चित्त में, धर्म के बीज वपन कर शुक्लध्यान रूपी फसल को लहलहा कर मुक्ति रूपी फल प्राप्त करने वाले अनन्त-अनन्त उपकारी वीतराग भगवन्त और वीतराग भगवन्तों द्वारा प्ररूपित इस वीतराग वाणी के रहस्य को हृदयंगम कर उस परम मोक्ष के फल को प्राप्त करने के लिए धर्म के मूल विनय को जीवन में आत्मसात् करते हुए अपूर्व और अद्वितीय गुरु-भक्ति के द्वारा इस पद पर पहुँच कर संघ का रक्षण करने वाले आचार्य भगवन्त के चरणों में वन्दन के पश्चात्-

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो अ से मुक्खो।

जेण कित्ति सुअं सिग्घं, नीसेसं चाभिगच्छइ।।

दशवैकालिक सूत्र के अध्ययन नौ के उद्देशक दूसरे की गाथा एक व दो में पहले वृक्ष की बात कही गई और फिर वृक्ष की उपमा धर्म पर घटाई गयी। धर्मरूपी वृक्ष का मूल विनय कहकर फल के रूप में मोक्ष का विवेचन किया गया। वह धर्म हृदय की सरलता में उपजता है। सरल की सिद्धि होती है। शुद्ध आत्मा में धर्म ठहरता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया-

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ। (अ. 3, गाथा-12)

सरलता कहाँ होगी? उत्तराध्ययन सूत्र के 29 वें अध्ययन में पृच्छा की गई। वहाँ कहा गया कि अपने दोषों को देखने से सरलता आती है। अभी-अभी मुनिराज (श्री योगेशमुनि जी महाराज) कह रहे थे, वही बात फिर से दोहराई जा रही है- “भूल करने के लिए कोई समय अच्छा नहीं है और की हुई भूल को सुधारने के लिए कोई समय खराब नहीं है।”

साधना किसका नाम है? जानी हुई बुराई करे नहीं, की हुई बुराई दोहराये नहीं- ‘जाणियव्वा न समावरियव्वा’ और तस्स भंते पडिक्कमामि निंदांमि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।”

कल बात चल रही थी, ‘गुरु एक : सेवा अनेक।’ हमारे आगम में ऐसा कोई सूत्र नहीं ऐसा कोई

अर्थ नहीं जो नय के बिना हो ।

नट्थि नएहिं विहूणं, सुतं अत्थो य जिणम्ये किंचि ।

आसज्ज उ सोयारं नय-नय-विसारओ बूया ॥

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार जैन मत में नय के अभाव में कोई कथन नहीं है । एक अपेक्षा से कह दिया कि जगगुरु (नन्दीसूत्र, गाथा 1) अर्थात् सभी भगवान जगत के गुरु हैं फिर (नन्दीसूत्र, गाथा 2) 'गुरु लोगाणं' से भगवान महावीर को गुरु बताया एवं फिर आगे चलकर गुरु को तीन भदों में विभक्त कर दिया- आचार्य, उपाध्याय और साधु गुरु हैं । हम गुरु की बात को लेकर थोड़ा आगे बढ़ने का प्रयास करें ।

जो समस्त लोक के गुरु हैं वे अरिहन्त भगवन्त हैं । अरिहन्त भगवान भले ही नमस्कार मन्त्र के अन्तर्गत देव पद में सम्मिलित किए गये हैं, पर उनके पास जिन्होंने अज्ञान का नाश किया, सम्यक्त्व बोध को प्राप्त किया उनकी दृष्टि में अरिहन्त ही गुरु हैं । आगम में गौतमादि शिष्य तीर्थंकर के लिए यही बोलते हैं कि वे हमारे धर्माचार्य-धर्मोपदेशक-धर्मगुरु यहाँ पधारे हुए हैं । आनन्द श्रावक हो या कामदेव या अन्य श्रावक की बात करें उन्होंने धर्मोपदेशक-धर्माचार्य-धर्मगुरु का सम्बोधन किया । भगवान महावीर के कई श्रावक थे । आनन्द, कामदेव आदि दश श्रावकों में महाशतक का भी नाम आता है । उनके धर्माचार्य गुरु तीर्थंकर महावीर थे । वह धर्मनिष्ठ था, किन्तु परिवार में विषम परिस्थिति थी । महाशतक के तेरह पत्नियाँ थीं उनमें रेवती ने छः को शस्त्र प्रयोग से और छः को जहर देकर मरवा दिया । रेवती सबसे ज्यादा धनाढ्य थी । राजगृह में अमारि घोषणा थी, हिंसा पर प्रतिबंध था । वह प्रतिदिन पीहर से दो गायों के बछड़ों को कटवा के मंगवाती । उनका मांस खाती और पाँचों प्रकार की शराब पीती । महाशतक श्रावक पर्याय में संधारा करके बैठे हुए हैं, रेवती उनके सामने नाचती है, भोगों की याचना करती है, भोग भोगने के लिए कहती है । आनन्द-कामदेव को तीन दिशाओं में पाँच-पाँच सौ योजन का अवधि ज्ञान हुआ तो महाशतक हजार योजन तक देख सके, दुगुना अवधि ज्ञान हुआ । विपरीतता में साधक को दुगुना फायदा है ।

महाशतक ने रेवती का क्या होगा, उपयोग लगाया कि वह सात दिन बाद पहली नरक में जाने वाली है । रेवती गाय का मांस खा रही है, शराब पी रही है और वह महाशतक को भोगों को भोगने हेतु आमन्त्रित कह रही है । महाशतक संधारे की साधना में हैं फिर भी रेवती के अपराध पर क्षोभ आ गया । महाशतक ने अवधिज्ञान में देखा कि यह मर कर नरक में जाने वाली है । महाशतक ने कह दिया- तू क्या कर रही है? तू सातवें दिन मरकर पहली नरक में जाने वाली है । वीतराग भगवन्त कहते हैं- क्रोध के वश में बोला गया सत्य भी असत्य है । भगवान कहते हैं- ऐसा बोलना नहीं कल्पता । भगवान ने इन्द्रभूति गौतम को बुलाकर कहा- श्रावक महाशतक चूक गया । भगवान वीतरागी हैं, केवली हैं, केवलज्ञान में

सब कुछ जान रहे हैं, देख रहे हैं। भगवान का कहना आत्मीयता का सूचक है। क्योंकि महाशतक भगवान महावीर को गुरु मानता है।

गुरु की सेवा करना अच्छी बात है, क्योंकि गुरु सब पापों से निवृत्त हैं। हमने पढ़ा है, सुना है दुनियाँ का सबसे बड़ा वीर, सबसे बड़ा धीर, सबसे बड़ा गंभीर, सबसे बड़ा दक्ष, सबसे बड़ा तत्त्वज्ञ वही हो सकता है जो अपने साथ बुराई नहीं करे। ये (आचार्य श्री हीराचन्द्र जी महाराज की ओर संकेत कर) सबसे बड़े धीर-वीर-गंभीर, दक्ष और तत्त्वज्ञ आपके सामने बैठे हैं।

अरिहन्त-सिद्ध बुराई की उत्पत्ति से रहित हैं। वे निर्दोष परमात्मा हैं। आचार्य-उपाध्याय-साधु पूर्णतः बुराई से रहित नहीं हैं। वे निर्दोषता-प्राप्ति के लिए सजग महात्मा हैं। जो अठारह दोष रहित हैं वे हमारे देव हैं। देव में अरिहन्त भी आयेंगे, सिद्ध भी आयेंगे। जो अठारह दोष रहित होने की साधना कर रहे हैं, साधना-मार्ग में आगे बढ़ने के लिए सजग हैं वे गुरु हैं। कर्मोदय के प्रभाव में एक्सीडेंट हो सकता है, रोग आ सकता है, अन्य बाधा आ सकती है। किन्तु वे शुद्धि करके वापस साधना-मार्ग में बढ़ सकते हैं। रोगग्रस्त होने पर डॉक्टर की सेवा ली हो तो प्रायश्चित्त आता है। किसी के पांव में कांटा लग गया, कांटा निकलवाने में श्रावक का सहयोग लिया तो प्रायश्चित्त आता है।

सारे साधु अपेक्षा विशेष से गुरु हैं। उनमें पंच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति एवं दश यंति धर्मों का पालन हो रहा है, अतः वे सभी गुरु के रूप में पूज्य हैं। उसी दृष्टि से 'जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।' वाक्य सार्थक है कि जीवनपर्यन्त सुसाधु मेरे गुरु हैं। महाविदेह के हजार करोड़ साधु, शेष 4 भरत, 5 ऐरवत के साधु परोक्ष रूप से उपकारी हैं, उनकी वंदना स्तुति मात्र हो सकती है। भरत क्षेत्र के सभी साधु वंदनीय नमस्करणीय हैं, उनमें जिनका प्रत्यक्ष सान्निध्य मिले, उनकी सेवा शुश्रूषा, उनको भिक्षा बहराना, व्याख्यान सुनना, ज्ञान सीखना आदि सम्भव होने से वे उपकारी गुरुदेव हो सकते हैं, पर क्रियात्मक रूप से आगे बढ़ने के लिए एक ही गुरु को लेकर चलना पड़ेगा। आज विशेषावश्यकभाष्य पढ़ते समय बहुत सुन्दर विवेचन आया। 'करेमि भंते! सामाइयं' यानी हे भगवन्! मैं सामायिक करता हूँ। गुरु सामने हों, फिर सम्बोधन में 'भंते' शब्द का प्रयोग किया गया तो ठीक है, पर जब सामने गुरु नहीं हैं तो फिर यह 'भंते' शब्द निरर्थक है, ऐसी जिज्ञासा वहाँ की गई।

मुनिराजों के सहयोग से विशेषावश्यकभाष्य पढ़ते समय समाधान भी मिला। गुरु के गुण में ज्ञान का उपयोग रखते हुए शिष्य जब 'भंते' बोलता है तो परोक्ष में स्थित गुरु के गुण में उपयोग लगाता है। उस समय भाव से गुरु को, आचार्य को भंते बोलते-बोलते रोम-रोम में आचार्य या गुरु समाहित होता है। ध्यान में लीन हों तो आचार्य-गुरु अन्तर में आ जाय! वह धर्माचार्य-धर्मगुरु एक ही हो सकता है। आप सामायिक की प्रतिज्ञा करते समय 'करेमि भंते' बोलते हैं, उस समय शिष्य का उपयोग पूरी तरह एक गुरु में लगा हुआ रहेगा। शिष्य के भाव में गुरु के गुण समाये हुए हैं। गुरु के गुण में जिसका ज्ञान

उपयोग लगा हो वह गुरु एक ही हो सकता है। सामायिक करते समय उसे एक ही गुरु का चिन्तन आयेगा। अपेक्षा से 27 गुणों पर भी उपयोग लग सकता है, पर वहाँ कहा गया कि गुरु के प्रति समर्पण के भाव के साथ अपनी सारी वृत्ति उनकी आज्ञा के पारतन्त्र्यपूर्वक करने पर ही अपने अहंकार से छुटकारा पाकर कोई सच्चा साधक बन सकता है। आवश्यकसूत्र में बड़ी संलेखना में भी आता ही है- “अपने धर्माचार्य को वंदना करके” वहाँ- जीवन का अंतिम प्रत्याख्यान करते समय भी विशिष्ट उपकारी गुरु को ही वंदन हेतु कहा गया, शेष साधु-साध्वियों से क्षमायाचना का उल्लेख किया गया। औपपातिकसूत्र में सिद्ध परमात्मा अरिहंत भगवंत, श्रमण भगवंत महावीर स्वामी के पश्चात् अम्बड़ जी के 700 शिष्यों ने- अपने धर्माचार्य, धर्मोपदेशक अम्बड़ जी को, राजप्रशनीय में श्रमणोपासक परदेसी राजा ने अपने धर्मोपदेशक धर्माचार्य केशीकुमार श्रमण को संधारे के पूर्व स्तुतिपूर्वक वंदन किया है। जितशत्रु राजा और सुबुद्धि प्रधान का कथानक ज्ञातासूत्रकथा के बारहवें अध्ययन में शिक्षा दे रहा है-

“मिच्छन्तमोहियमणा पावपसत्तावि पाणिणो विगुणा।

फरिहोदगं व गुणिणो, हवन्ति वरगुरुरूपसायाओ॥

अर्थात्- गंदे पानी के नाले का कुत्सित जल सुबुद्धि प्रधान के प्रयोग से स्वच्छ, सुपाच्य, सुगंधित, प्रशंसनीय बन गया, वैसे ही श्रेष्ठ गुरु की कृपा से मिथ्यात्व से मोहित मन वाला, पाप प्रसक्त, गुणहीन प्राणी भी गुणी बन जाता है, अर्थात् सम्यक्त्वी बन जाता है। इसके अनेकानेक उदाहरण भरे पड़े हैं। ऐसा कृपालु गुरु एक ही हो सकता है। श्रेणिक राजा के लिए अनाथी भी ऐसे ही गुरु हैं। गुण पर दृष्टि की अपेक्षा सारे साधु गुरु कह दिये गये, वहीं विशेष उपकार की अपेक्षा, साधना के दिशा-दर्शन की अपेक्षा एक ही गुरु हो सकता है। प्रायश्चित्त, आलोचना, अध्ययन-क्रम, विचरण-विहार, चातुर्मास-निर्णय, स्वयं के व्यक्तित्व-विकास एवं साधना में आगे बढ़ने के लिए एक गुरु का होना आवश्यक है। तीर्थंकर भगवान की विद्यमानता में अलग-अलग गण, अलग-अलग गणधर किस बात के प्रतीक हैं? गणधर गौतम के अन्तगड के दृष्टान्त गणधर सुधर्मा के अन्तगड में होने अनिवार्य नहीं। गणधर अग्निभूति के विपाकसूत्र के दृष्टान्त गणधर वायुभूति जी के समान होना अनिवार्य नहीं- इनके पाँच-पाँच सौ शिष्य अपने-अपने गुरु की वाचना से ही स्वाध्याय करते थे। अब कोई श्रावक किसी गणधर की वाचना को अन्तगड से या विपाकसूत्र से उन्हीं के मुखारविन्द से सुनकर, उन्हें गुरु मानकर उनका अनुसरण करता है- तो क्या उसके वाचनाचार्य रूपी गुरु एक नहीं होंगे? इसी अपेक्षा गुरु भगवन्त फरमाते थे, संघनायक आज भी फरमाते हैं- ‘गुरु एक-सेवा अनेक’।

दौर्भाग्य से श्रमण आज बँटते जा रहे हैं, और इस बँटवारे में हमें दूसरे की बातें गलत ही नज़र आती हैं। जिनशासन में नय की महिमा है, अपेक्षा की महिमा है। उदारता, सरलता के धनी पूज्य हस्तीमल जी म.सा. ने अपने जीवन में एक-एक परम्परा को सहकार दिया, अपने समर्पित श्रावकों को

अपने समान सभी महापुरुषों की सेवा में तत्परता के लिये सदा प्रेरित किया, हमें उसी रास्ते चलना है। शिथिलता को, एकल विहार को, अनाचार को प्रोत्साहन देना कभी भी निर्जराकारी सेवा में नहीं आ सकता। आत्महित के साथ ही सुख का चिन्तन करने वाला इन्द्र भी भवी, शुक्ल पक्षी, सम्यग्दृष्टि, परीत, चरम जिनेन्द्र भगवान द्वारा बतलाया जाता है। उस उदारवादी दृष्टिकोण से ही आत्मा का हित सधने वाला है।

हमें किसी परम्परा में दोष नहीं बखानने हैं। गलती से अपने को बचाना ही है। सारे साधुओं को गुरु की बात कह एक गुरु को सिद्धान्त विरोधी कहना और बात है, पर सिद्धान्त के अनुरूप क्या वे अपनी परम्परा के मान्य गुरुओं के अतिरिक्त ठहरने का स्थान देने, भिक्षा बहराने को भी तत्पर रहते हैं? वहाँ हमें तो गुरु भगवन्तों के सिद्धान्त पर ही चलना है। सामायिक, दया, पौषध, प्रतिक्रमण अपने गुरु की धारणा से कर प्रवचन, भिक्षा, सेवा से समिति-गुप्ति, आराधक प्रत्येक पंच महाव्रत धारी की सेवा करनी है।

‘भंते’ बोलते समय आपके मन में गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति तो हो ही, मन में प्रमोद का भाव भी हो।

आचार्यश्री के दर्शन आपकी भक्ति जगाने वाले हैं। सुदर्शन सेठ के माता-पिता कह रहे हैं- भगवान आए हैं तो क्या, तू वहाँ मत जा, भगवान तो घट-घट की जानते हैं, तेरा वन्दन यहीं से स्वीकार कर लेंगे। माता-पिता प्राणों के संकट का वास्ता देकर रोकना चाहते हैं, पर सुदर्शन कहता है-

घर से जो वन्दू तो देखूँ कैसे तुझको।
मुग्धरूपाणी से डर नहीं मुझको॥



गुरु की महिमा अपरम्पार

साध्वीप्रमुखा श्री मैनासुन्दरी जी म.सा.

शासनप्रभाविका महासती श्री मैनासुन्दरी जी महाराज ने गुरु की महिमा को जैन एवं जैनेतर दोनों दृष्टियों से प्रस्तुत किया है। महासती जी की शैली सहज, सरल एवं हृदयग्राही है।-सम्पादक

सतगुरु की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपकार।

लोचन अनन्त उधारिया, अनन्त दिखावन हार॥

अर्थात् गुरु की महिमा का पारावार नहीं है। गुरु श्रमण संस्कृति के अमर गायक हैं। जैन संस्कृति के महान् उन्नायक हैं। गुरु ही घर-घर एवं जन-जन में सामायिक-स्वाध्याय के अमर सन्देश वाहक हैं। गुरु का क्या परिचय दिया जाय कोई शब्द नहीं है। नभोमंडल में उदय होने वाले सूर्य का परिचय उसका प्रकाश है। सुन्दर बगीचे में खिलने वाले गुलाब के फूल का परिचय उसकी सुगन्ध व इत्र है। मिश्री का परिचय उसकी मिठास है। ठीक इसी प्रकार गुरु के जीवन में रहे हुए अक्षय गुणों का क्या परिचय दूँ, उनके जीवन का त्याग, तप, ध्यान, मौन, स्वाध्याय व साधना ही परिचय है। गुरु के गुणों का किनारा पाना सरल नहीं, कठिन है।

कोई व्यक्ति तराजू में लेकर मेरु पर्वत को तोलना चाहे तो क्या तोल सकता है? कोई बाल चरण से पृथ्वी को नापना चाहता है तो क्या नाप सकता है। क्या कोई विराट् समुद्र को नन्हीं सी अंजलि में भर सकता है, तो कहना होगा, ये सभी कार्य असम्भव है। फिर भी देवादि प्रसंगों से अति कठिन कार्य भी सुलभ हो सकते हैं, पर गुरु के गुणों का अन्त पाना अत्यन्त कठिन है।

गुरु जीवन रूपी ट्रेन का स्टेशन है। ट्रेन को स्टेशन पर किसी प्रकार का कोई खतरा नहीं है। ट्रेन में अगर किसी प्रकार की खराबी है तो वहाँ पर उसे शीघ्र ठीक किया जा सकता है। स्टेशन पर ट्रेन को कोयला मिलता है, पानी मिलता है और मिलती है विश्रान्ति। इसी प्रकार हमारे जीवन रूपी ट्रेन में कहीं मिथ्यात्व की, अज्ञान की, गलतफहमियों की विकृति आ गई है तो गुरु रूपी स्टेशन पर वह शीघ्र ठीक की जा सकती है।

गुरु को हम जीवन रूपी नौका का नाविक कह सकते हैं। जैसे नाविक यात्रियों को सकुशल समुद्र से पार पहुँचाने का कार्य करता है। उसी प्रकार गुरु भी संसार समुद्र से भव्य आत्माओं को शीघ्र पार पहुँचाते हैं। इसीलिए जिज्ञासुओं ने पूछा है- “किं दुर्लभम्?” इस विश्व में दुर्लभ क्या है। तत्त्वज्ञानियों ने उत्तर देते हुए कहा है- “सद्गुरुस्ति लोके दुर्लभः।” इस विश्व में सद्गुरु का मिलना दुर्लभ है।

गुरु नाम धराने वालों की भारत वर्ष में कमी नहीं है। कहा जाता है कि लाखों की संख्या में गुरुओं की फौज है। जिनके पास आलीशान कोठी-बंगले हैं। स्कूटर व कारें हैं। मौज करने के लिए जिनके पास धन से तिजोरियां भरी पडी हैं। मन को गुदगुदाने वाले बच्चे हैं, मनोरंजन के लिए सुन्दर नारियां है। क्या ऐसे गुरु हमें पार ले जा सकते हैं? कहना होगा कभी नहीं ले जा सकते। विशेषज्ञों ने 'गुरु' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है। "गुशब्दस्त्वन्धकारस्य 'रू' शब्दस्तन्निरोधकः।" गुरु शब्द में दो अक्षर हैं- 'गु' अर्थात् अन्धकार, 'रू' यानी प्रकाश। जो अज्ञानान्धकार को हटाते हैं और ज्ञान के प्रकाश में लाते हैं वे ही गुरु होते हैं। गुरु की महिमा अपार, अनन्त व अगाध है। गुरु की वाणी जन-कल्याणी होती है। गुरु की वाणी में भाषा की कोमलता एवं भावों की गम्भीरता होती है। सच्चे गुरु की वाणी श्रोता के अन्तर्मन में नवचेतना का संचार करती है। जीवन में नई उमंग भरती है। गुरु की वाणी नर को नारायण बनाने का कार्य करती है और आत्मा को परमात्मा बना देती है। गुरु महिमा का वर्णन शब्दों की सीमा में नहीं समाता है। मेरी क्षमता भी नहीं कि मैं सीमित समय में गुरु महिमा को सम्पूर्ण रीति से आपके समक्ष प्रस्तुत कर सकूँ। गुरु शिष्य की आस्था का आधार है, केन्द्र है। गुरु कृपा से गूढ तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र के प्रथम अध्ययन में प्रभु ने फरमाया -

“पसन्ना लाभदस्सन्ति, विउलं अड्डियं सुयं।” (उत्तराध्ययन, 1.46)

गुरु कृपा वह सूर्य है जिसके प्रकाश में अन्तर का अन्धकार मिट जाता है। गुरु कृपा अनन्त फलदायिनी है। कबीरदास ने कहा-

“तीरथ नहाये एक फल, सन्त मिले फल चार।

गुरु मिले अनन्त फल, कहत कबीर विचार।”

गुरु कृपा से विघ्नों का पहाड़ ढह जाता है। गुरु कृपा से जीवन धन्य-धन्य हो जाता है। गुरु बड़े कृपालु होते हैं। उनकी कृपा दृष्टि से हत्यारे हरि, पापी पावन, दुष्ट मिष्ट एवं दुराचारी सदाचारी बन जाते हैं। भगवती सूत्र में भगवान ने गुरु को धर्मदेव की उपमा दी है- “गोयमा! जो इमे, अणगारा भगवन्तो इरियासमिया जाव गुत्तबंभयारी से तेण ट्ठेण एवं वुच्चइ धम्मदेवा।” गुरु तिन्नाणं तारयाणं होते हैं। कहा है- “जगत को तारने वाले, जगत में सन्तजन ही हैं।

गुरु के गुणगान जितने किए जायें कम हैं। वे चतुर्विध संघ के पिता हैं। पुत्र के लिए पिता जितना हितकारी होता है उससे भी हजारों गुणा बढ़कर गुरु उपकारी होते हैं। गुरु सूर्य हैं। जिस प्रकार सघन अंधकार को सूर्य की चमचमाती रश्मियाँ नष्ट कर देती हैं, उसी प्रकार श्रुत, शील, बुद्धि और ज्ञान संपन्न गुरु संघ के अज्ञान अंधकार को नष्टकर भानु की तरह चमकते हैं। गुरु गुणों के खजाने हैं, वे निरन्तर शासन की उन्नति करते हैं।

गुरु “चन्देसु निम्मलयरा” चन्द्र से भी निर्मल एवं सूर्य से भी तेजस्वी होते हैं। अगरबत्ती की तरह सुगन्धित एवं मोमबत्ती की तरह प्रकाशित होते हैं। शेर की तरह निर्भीक एवं समुद्र की तरह गंभीर होते हैं।

गुरु तीर्थंकर तो नहीं, परन्तु तीर्थंकर के समान उनके अभाव में संघ का कुशलता पूर्वक संचालन करते

हैं। वे पंचविध आचारों का पालन करते हैं और अपने शिष्य-शिष्याओं से पालन करवाते हैं।

गुरु भूले-भटके-अटके राहियों को सन्मार्ग प्रदर्शित करते हैं। गुरुओं ने कुशल चिकित्सक का विरुद्ध निभाया है। भव रोग से पीड़ित मानव समाज को सम्यक्त्वरूपी औषधि खिलाकर रोग से मुक्त किया है एवं करते हैं।

गुरु की महिमा का मैं किन शब्दों में व्याख्यान करूँ? गुरु असीम आकाश है, जिसे कोई लांघ नहीं सकता। नभोमंडल में असंख्य तारे टिम-टिमाते हैं, पर गगन के भाल पर प्रकाश देने वाला चन्द्र एक ही होता है। रजनी के अन्धकार को मिटाने वाला और चारों दिशाओं को आलोकित करने वाला ज्योति मंडल में सूर्य एक ही होता है। खान से निकलने वाले हीरे मोती माणिक अनेक होते हैं, पर प्रधानता एक कोहिनूर हीरे की होती है। वाटिका में खिलने वाले फूल अनेक हैं, पर महत्त्व तो गुलाब के फूल का है। पृथ्वी पर पत्थर अनेक हैं पर विशेषता तो पारसमणि की ही है। इसी प्रकार संसार के रंगमंच पर साधु का बाना पहनकर घूमने वाले अनेक सन्त नामधारी हैं, पर महिमा, गरिमा एवं प्रशंसा तो एक ही सच्चे त्यागी, विरागी गुरु की है। अतः कहा जाता है- “जगत को तारने वाले जगत में सन्तजन ही हैं।”

गुरु दया के देवता होते हैं। गुरु भारतीय संस्कृति के देदीप्यमान रत्न हैं। गुरु ही सन्तरूपी मणिमाला की दिव्यमणि होते हैं। कहा है-

“यह तन विष की बेलड़ी, गुरु अमृत की खान।

शीश दिये जो गुरु मिले, तो भी सस्ता जान ॥”

दीपक को प्रकाशित करने के लिए तेल की, घड़ी को चलाने के लिए चाबी की, शरीर को पुष्ट, मजबूत एवं ताकतवर बनाने के लिए दवा, पथ्य व पौष्टिक भोजन की आवश्यकता है। उससे भी बढ़कर जीवन को त्यागतप से निखारने के लिए गुरु की आवश्यकता है। कहा जाता है- “गुरु के बिना जीवन शुरू नहीं।”

वास्तव में गुरु का सहारा ही जीवन का किनारा है। गुरु का सहारा ही शान्ति का नज़ारा है।

“गूंगा इन्सान गीत गा नहीं सकता, ठहरा हुआ पांव मंजिल पा नहीं सकता।

गुरुवर का सान्निध्य मिल गया तो, अंधेरे में भी कोई ठोकर खा नहीं सकता ॥”

अन्त में गुरु को किस उपमा से उपमित करूँ-

“मात कहूँ कि तात कहूँ, सखा कहूँ गुरुराज।

जे कहूँ तो ओछू बधयो, मैं मान्यो जिनराज ॥”



‘गुरु’ का आध्यात्मिक स्वरूप

श्री कन्हैयालाल जी लोढ़ा

गुरु कोई व्यक्ति नहीं, अपितु यह एक तत्त्व है जो ज्ञानादि गुणों के रूप में प्रत्येक व्यक्ति में रहकर उसे प्रकाशित करता है। ज्ञानादि गुण जिसमें होते हैं उसे हम उपचार से गुरु कहते हैं। वह गुरु व्यक्ति के दोषों को दूर करने के लिए तत्पर होता है तथा स्वयं निरभिमान रहता है। वैषयिक सुखों के भोग की इच्छा अज्ञान की द्योतक है। ज्ञान हमें अनित्य, अनात्म, अशुचि एवं दुःख का बोध कराता है एवं यही ज्ञानस्वरूप गुरु प्रत्येक व्यक्ति के लिए कल्याणकारी होता है। गुरु के इस प्रकार के स्वरूप का प्रतिपादन प्रस्तुत आलेख का वैशिष्ट्य है। -सम्पादक

गुरुगीता में कहा है-

गुकारस्त्वन्धकारश्च रुकारस्तेज उच्यते।

अज्ञानान्धकारं ब्रह्म गुरुरेव न संशयः॥

अर्थात् ‘गु’ नाम अन्धकार का है और ‘रु’ नाम प्रकाश का है। अतः जो अज्ञान रूपी अन्धकार मिटाने का मार्गदर्शन करे, ज्ञान दे, वह गुरु है। अतः ज्ञान ही गुरुतत्त्व है, व्यक्ति नहीं। इसीलिए गुण पूजनीय है, व्यक्ति पूजनीय नहीं। ज्ञान वही दे सकता है, जो ज्ञान वाला है, जिसका अज्ञानान्धकार मिट गया है। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है, अपितु विपरीत ज्ञान है।

ज्ञान और विवेक में अज्ञान-अन्धकार को दूर करने का सामर्थ्य होता है, अतः ये गुरु हैं। विवेक सभी को स्वतः प्राप्त होता है, क्योंकि यह किसी कर्म का फल नहीं है। नित्यत्व, प्रेम, सुख, सुन्दरत्व में प्रियता एवं द्वेष, दुःख और अशुद्धि में अप्रियता का ज्ञान सभी प्राणियों में स्वाभाविक रूप से होता है। इस प्रकार ज्ञान और विवेक प्राणी को स्वतः प्राप्त हैं। इसके बावजूद इन्द्रिय व मन के विषय-सुख के भोगों में आबद्ध होने से वह उसे स्वयं प्राप्त नहीं कर पाता। फलस्वरूप जो महापुरुष धर्म, स्वभाव और लक्ष्य की ओर ले जाता है अथवा उस महान् लक्ष्य की प्रेरणा देता है, वह ‘गुरु’ शब्द से व्यवहृत होता है।

जिससे राग-द्वेष मिटे, वह ज्ञान वास्तविक है। जो ऐसा ज्ञान देता है, वीतराग होने का मार्गदर्शन कराता है, वह आध्यात्मिक शिक्षा देने वाला आध्यात्मिक गुरु है। वह शिष्य को दोषों के निवारण का उपाय बताता है। दोषों के निवारण का उपाय वह ही बता सकता है, जो स्वयं निर्दोष है। जो स्वयं दोषी है, वह दोष दूर करने का ज्ञान देता है, किन्तु उसका प्रभाव नहीं होता है। दोष का मिटना ही गुण प्रकट होना है, दुःख से मुक्ति

पाना है, कल्याण होना है। जहाँ परिपूर्णता है, लेशमात्र भी अभाव नहीं है वहाँ पूर्ण कल्याण है। अभाव का सर्वांश में क्षय होना ही कल्याण है। अभाव से सर्वांश में वह ही मुक्त होता है जो तृष्णा से, कामना से रहित है। तृष्णा से रहित होना ही समस्त दोषों, दुःखों, राग, द्वेष, मोह, अस्मिता, अभिनिवेश आदि क्लेशों से मुक्ति पाना है; यह निर्वाण है। इसे ही वास्तविक कल्याण कहा जा सकता है। जो स्वयं धन-सम्पत्ति, सुख-सुविधा, सत्कार-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा आदि चाहता है वह दूसरों का कल्याण नहीं कर सकता।

‘ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः’ के अनुसार सर्वप्रथम सम्यक् ज्ञान होना आवश्यक है। सम्यक् ज्ञान के विपरीत मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञान रूप मिथ्यात्व ही समस्त दोषों एवं दुःखों का कारण है। मिथ्यात्व का मूल है - विषय सुखों का भोग। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन एवं मन के विषय शब्द, रूप, गंध, स्वाद, स्पर्श आदि की अनुकूलता को सुख मानना एवं उस सुख तथा सुख की सामग्री के पदार्थों को नित्य, सुन्दर और अपना मानना ही मिथ्याज्ञान है। कारण कि सभी इन्द्रियजन्य सुख, भोग एवं भोग्य सामग्री प्रतिक्षण क्षीण होकर नष्ट हो जाती है। अतः नश्वर है, अनित्य है, क्षणिक है, विनाशी है। अपने से अलग हो जाने के कारण वह अपने से भिन्न है, पर है, अनित्य है। उनका सुंदरत्व-शुभत्व भी असुंदरत्व-अशुचित्व में बदल जाता है। विषय एवं विषय-सुखों की सामग्री अनित्य, अनात्म एवं अशुचिमय है एवं दुःख रूप है। इसे स्थायी, सुंदर, सुखस्वरूप मानना मिथ्यात्व है। ज्ञान के अनुरूप आचरण न होना, ज्ञान का अनादर है, ज्ञानावरण है। मिथ्यात्व अथवा ज्ञानावरण ही समस्त दोषों, पापों एवं दुःखों का कारण है। ज्ञानावरण कर्म का हेतु ज्ञान का अनादर ही, ज्ञान के विपरीत आचरण करना ही दर्शनावरण आदि समस्त कर्मों के बंधन का हेतु है। इसीलिए आठों कर्मों में इसे सर्वप्रथम स्थान दिया गया है।

समस्त दोषों (पापों), कर्मों एवं दुःखों से मुक्त होने के लिए ज्ञानावरण का क्षय अनिवार्य है। ज्ञानावरण के क्षय के लिए ज्ञान का आदर अनिवार्य है। जिससे ज्ञान का आदर करने की, मिथ्याज्ञान एवं अज्ञान को दूर करने की प्रेरणा जगे, वह ही गुरु है। वास्तविक ज्ञान का आदर न करने से व्यक्ति अपने निज स्वरूप से विमुख होता है। जो मानव ‘विषय-सुख क्षणिक, नश्वर तथा दुःख को उत्पन्न करने वाला है’ - अपने इस निज ज्ञान का आदर नहीं कर पाता; वह सद्गुरु तथा सद्ग्रन्थ आदि के ज्ञान का भी आदर नहीं कर पाता। निजज्ञान (विवेक), सद्गुरु एवं सद्ग्रन्थ आदि के ज्ञान में एकता है, भिन्नता नहीं। ज्ञान किसी भाषा में आबद्ध नहीं है। भाषा तो जाने हुए ज्ञान के प्रकाशन का माध्यम एवं संकेत मात्र है। अतः किसी भाषा के अर्थ को अपनाने के लिए उस भाषा में निहित अर्थ का प्रभाव अत्यन्त आवश्यक है। यदि किसी ग्रन्थ एवं गुरु की भाषा से वास्तविक ज्ञान का बोध (अनुभव) होता, तो एक ही ग्रन्थ एवं गुरुवाणी के शब्दों के अर्थ में भिन्नता नहीं होती, उसमें मतभेद नहीं होता, मन पर समान प्रभाव पड़ता, परन्तु ऐसा नहीं होता है। आशय यह है कि शब्द कल्प-वृक्ष के समान हैं। इस कारण निज अनुभव के ज्ञान अर्थात् सम्यक् ज्ञान की प्रभा होने पर ही सद्ग्रन्थ या सद्गुरु की वाणी के वास्तविक अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। उस अभिव्यक्ति या अनुभूति के प्रभाव से दोष स्वतः निवृत्त होते हैं

तथा कर्तव्यपरायणता, निर्भयता, निष्कामता, निरहंकारिता स्वतः प्राप्त होती है। जिससे मानव अपने वास्तविक लक्ष्य, चिर शान्ति, आन्तरिक प्रसन्नता, स्वाधीनता, प्रमुदितता, अमरता की उपलब्धि पाकर कृतकृत्य हो जाता है। अभिप्राय यह है कि जिससे स्वाभाविक व स्वभाव के ज्ञान के आदर में ज्ञान का आवरण हटकर स्वरूप से अभिन्नता होती है, वह ज्ञान जिससे भी अभिव्यक्त हो, वह ही गुरु है।

गुरु का उपदेश, संदेश, आदेश तभी आचरण में आयेगा, जब व्यक्ति निज ज्ञान स्वयंसिद्ध श्रुतज्ञान का आचरण करेगा। बाहरी कार्यों की शिक्षा देने वाला भी गुरु कहा जाता है। उसके प्रति भी कृतज्ञता होना अच्छी बात है। लेकिन उसका लक्ष्य सांसारिक और भौतिक कार्यों की सिद्धि मात्र है। आध्यात्मिक दृष्टि से गुरु वह है जो लक्ष्य का, निर्विकारता का, दुःख व दोषों से मुक्ति का अनुभव के स्तर पर मार्गदर्शन करा दे। दोष की जड़ तक पहुँचा दे। जिससे श्रुतज्ञान मिले, जो स्वयं निर्दोष है या इस दिशा में तत्पर है, वह ही गुरु है। अतः व्यक्ति का शरीर गुरु नहीं, उसकी सत्यवाणी ही गुरु है। सत्य वह है, जो अविनाशी है।

जैन परम्परा में गुण पूजनीय है, व्यक्ति पूजनीय नहीं है। जैन दर्शन में पाँच नमनीय हैं - अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। ये पाँचों गुणवाचक शब्द हैं। कोई भी व्यक्ति जिसने राग-द्वेष का क्षय कर दिया है, वह अरिहन्त है; जो शरीर और संसार से मुक्त है, वह सिद्ध है; जो पंचाचार का पालन करते और करवाते हैं, वे आचार्य हैं; जो शिक्षा देते हैं, वे उपाध्याय हैं तथा जो संयम का पालन करते हैं, वे साधु हैं। ये पाँचों पद किसी सम्प्रदाय, वर्ग, जाति, दार्शनिक मान्यता, क्रिया-काण्ड आदि से सम्बन्धित नहीं हैं और न ही किसी व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित हैं। इनका सम्बन्ध गुणों से है। जिससे भी दोष दूर करने, निर्दोष होने की प्रेरणा मिले, वे सब गुरु हैं। इस प्रकार गुरु व्यक्ति नहीं होकर ज्ञान होता है। गुरु निर्ग्रन्थ होता है। वह ग्रन्थि अर्थात् परिग्रहरहित होता है। वह दया-अनुकम्पा स्वरूप धर्म का उपदेश देता है। इस उपदेश का आचरण ही गुरु का आदर करना है। यह धर्म मंगलमय एवं कल्याणकारी होता है।

इन पाँच पदों में अरिहन्त और सिद्ध वीतराग और निर्दोष होने के कारण तथा स्वाभाविक दिव्य गुणों के धारक होने से देव हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु सरागी और सदोष हैं तथा सर्व दुःखों से मुक्त होने के लिए राग-द्वेष आदि दोषों को जीतने हेतु साधनरत हैं। इनका व्यक्तित्व आंशिक दोषों से युक्त है। जो व्यक्ति रागी होता है, उसका आंशिक राग निमित्त पाकर भयंकर दोष में बदल सकता है। जैसा कि प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के उदाहरण से ज्ञात होता है। अतः व्यक्ति नहीं, गुण ही नमन-योग्य व वन्दनीय होता है। गुण स्वभावरूप होने से पूजनीय व सम्माननीय होता है। अतः इनके व्यक्तित्व में आंशिक निर्दोषता व आंशिक स्वाभाविकता गुण ही पूजनीय और वन्दनीय है। इन गुणों की अभिव्यक्ति का ज्ञान ही गुरुत्व है और वह साधक के लिए ग्राह्य व उपादेय है।

सभी को स्वभाव से नित्यत्व, अपनत्व (प्रेम), सुख और सुन्दरत्व पसंद है; किसी को विनाश, द्वेष, दुःख और अशुद्धि इष्ट नहीं है। परन्तु जो इस निजज्ञान का आदर नहीं करके; परिवर्तनशील व नश्वर शरीर,

संसार, इन्द्रियों के भोग्य पदार्थ आदि का आदर करता है, वह स्थायी सुख नहीं प्राप्त कर सकता है। अस्थायी सुख का वियोग अवश्यंभावी है, वह पर है, उस सुख का अंत दुःख में होता है तथा वह पर पदार्थों पर निर्भर है।

बाहरी सुखों को नित्य, सुखद और सुन्दर मानकर भोग करना अज्ञान है, अविद्या है। प्रातञ्जल योगसूत्र में कहा है :- “अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या” अर्थात् अनित्य, अशुचि, दुःख एवं अनात्म में क्रमशः नित्य, उत्तम, सुन्दर, सुख तथा आत्मभाव का अनुभव होना अविद्या है, अज्ञान है। जैन धर्म में धर्म-ध्यान की चार भावनाओं - अनित्य, अशरण, एकत्व एवं अशुचि भावना में इसी तथ्य को व्यक्त किया गया है। आशय यह है कि जो शरीर में, इन्द्रियों के भोग्य पदार्थों में, भोगों में जीवन मानता है, वह अज्ञानी है, मिथ्यात्वी है।

वीतराग भगवान को छोड़कर कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जिसमें दोष नहीं हो। यदि व्यक्ति में दोष नहीं होता, सर्वांश में निर्दोष होता तो वह भगवान ही होता। कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से दोषी भी नहीं होता है। यदि पूर्ण दोषी होता तो स्वभाव नष्ट हो जाता और उसका अस्तित्व नहीं रहता। अतः प्रत्येक साधारण व्यक्ति में आंशिक गुण और आंशिक दोष होता है। उस आंशिक दोष में हानि-वृद्धि होती रहती है। जब तक आंशिक दोष का बीज है, वह बीज बढ़कर कभी भी वृक्ष का रूप धारण कर सकता है।

यह नियम है कि दोष करने से होता है, अतः कृत्रिम होता है; दोष का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वह हमारा किया हुआ अथवा माना हुआ होता है। अतः दोष अस्वाभाविक होता है, इसलिए वह मिटाया जा सकता है। इसके विपरीत गुण स्वाभाविक होता है। वह किसी क्रिया या कर्म का फल नहीं होता है, अतः सदैव ज्यों का त्यों रहता है। भले ही आवरण आ जाने से, विस्मृति हो जाने से या अपहरण हो जाने से वह प्रकट नहीं हो अथवा न्यूनाधिक रूप में प्रकट हो। इसलिए जो चेतना का स्वभाव है, वह ही साधक का साध्य या लक्ष्य है, उसका पूर्ण प्रकट हो जाना ही स्वरूप में अवस्थित होना है। सिद्धावस्था उसी का नाम है।

ज्ञान-दर्शन गुण का अनादर ही ज्ञान-दर्शन गुण पर आवरण आना है। मोह के कारण सम्यक् स्वरूप एवं स्वरूपाचरण गुण की विस्मृति होती है। गुणों के अपहरण तथा विमुखता से दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य (औदार्य, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य एवं सामर्थ्य) गुण दूर प्रतीत होते हैं, किन्तु वे नष्ट नहीं होते हैं। जो गुणवान है, उसके गुण ही पूजनीय है; शरीर पूजनीय नहीं हैं। जो गुण प्रकट करने की प्रेरणा देता है एवं मार्ग या उपाय बताता है, वह गुरु है। गुरु किसी भी साधक का दोष दूरकर गुण प्रकट नहीं करता है। यह कार्य या पुरुषार्थ साधक को स्वयं ही करना होता है। गुण स्वभावरूप होने से महिमावन्त एवं पूजनीय होते हैं। गुरु का शरीर पूजनीय नहीं होता है।

गुरु वह है जो अपने समस्त दोषों एवं दुःखों से मुक्ति दिला दे। कबीर के शब्दों में -

गुरु गोविंद दोनों खड़े, किसके लानूँ पाया।

बलिहारी गुरुदेव की, गोविंद दियो मिलाया।।

अभिप्राय यह है कि गुरुदेव को धन्य है जो गोविन्द (परमात्मा) से मिला देता है। गोविन्द वह है जो समस्त दुःखों एवं दोषों से मुक्त है। अर्थात् जो समस्त दुःखों और दोषों से मुक्ति पाने का मार्ग बता दे, वह ही गुरु है। जिसके साथ गोविन्द खड़ा न हो, वह गुरु नहीं है। सच्चा गुरु शिष्य का सम्बन्ध अपने से तोड़कर परमात्मा से जोड़ता है।

गुरु का आदर करना शिष्य के लिए हितकारी है। गुणों को धारण करना ही गुरु का आदर है। गुरु का वचन या कथन नहीं मानना गुरु का अनादर है। गुरु ज्ञान स्वरूप है, अतः ज्ञान का अनादर ही गुरु का अनादर है। शिष्य द्वारा गुरु के प्रति कृतज्ञता एवं प्रेम प्रकट करना आवश्यक है। कृतघ्नता भयंकर पाप है।

गुरु का यह वैशिष्ट्य है कि वह शिष्य को भी अपने जैसा अथवा अपने से श्रेयान् बना सकता है। गुरु एवं पारस पत्थर में अन्तर बताते हुए कहा गया है—

पारस में अरु संत में बहुत अन्तरो जान ।

वह लोहा कंचन करे, वह करै आपु समान ॥

पारस पत्थर लोहे को सोना बनाता है, किन्तु अपना पारस नहीं बनाता, किन्तु गुरु शिष्य को अपने समान बना सकता है। इससे गुरु की महत्ता स्पष्ट हो जाती है।

- 82 / 127, मानसरोवर, जयपुर (राज.)



गुरु-शिष्य का स्वरूप एवं अन्तःसम्बन्ध

क्षुल्लक श्री ध्यानसागर जी

गुरु में ज्ञान के साथ निरभिमानता, निःस्वार्थता, करुणा, सरलता, निर्विकारता, आचरण में शुद्धता आदि अनेक गुण होते हैं तो शिष्य में गुरु के समर्पण, विनयशीलता, गुणग्राहिता जैसे सदगुण होते हैं। गुरु एवं शिष्य दोनों सदगुणी हों तो कहना ही क्या? आचार्य विद्यासागर जी के शिष्य क्षुल्लक ध्यानसागर जी के प्रस्तुत आलेख में उत्कृष्ट गुरु एवं श्रेष्ठ शिष्य के स्वरूप का निरूपण तो हुआ ही है उनके पारस्परिक सम्बन्ध की भी विशद चर्चा हुई है। आलेख मननीय एवं धारणीय है। -सम्पादक

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध आस्था और प्रेम का पवित्र सम्बन्ध है। भले ही सम्बन्ध बन्धन हो, पर यह बन्धन अनन्त-बन्धन का अन्त करता है। गुरु, शिष्य को भौतिक जगत् से ऊपर उठाकर भावना-जगत् में स्थापित करते हैं जहाँ से अध्यात्म-जगत् की उड़ान भरी जा सके। भावना-जगत् की नींव करुणा है और शिखर विश्व-प्रेम है। इसी प्रकार अध्यात्म-जगत् का प्रवेशद्वार निज का एकत्व-बोध है तथा साक्षी-भाव उसका उन्नत शिखर है। मैं-तू, मेरा-तेरा, प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, छोटा-बड़ा, राग-द्वेष, ग्रहण-त्याग आदि द्वन्द्व अध्यात्म के असीम विस्तार में न जाने कहाँ विलीन हो जाते हैं। अपने आप को उच्च अथवा तुच्छ समझना तात्त्विक भ्रम है, अतः इसके निवारण बिना कभी यथार्थ एकत्व-बोध नहीं होता।

प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य सफल होने पर अपनी क्षमता पर फूल उठता है और असफल होने पर अपनी क्षमता को भूल बैठता है, संपत्ति में अपने को सबल और विपत्ति में निर्बल समझने लगता है। एक असहाय संकटग्रस्त मानव का अकेलापन अध्यात्म-जगत् का एकत्व-बोध नहीं है, क्योंकि वह अंतरङ्ग-तत्त्व से अपरिचित है, केवल बाह्य-जगत् में उलझा है। तत्त्व का शाब्दिक परिचय उलझन का समाधान नहीं है अतः जीवन में गुरु का स्थान अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि सुलझने का रहस्य तो उन्हीं के पास है, अन्यत्र नहीं। यथार्थ गुरु अन्दर-बाहर से योगी होते हैं, भोगी नहीं, कारण कि विलासिता और सात्त्विकता में 36 का आँकड़ा है। आँखों में निःस्वार्थ प्रेम, हृदय में अपरिमित-करुणा, शुद्ध-आचरण, अगाध-अनुभव, निरभिमानता, सरलता एवं शिशु जैसी निर्विकार-छवि में ब्रह्मचर्य का दिव्य तेज, गुरु के जीवन में अहिंसा का अमृत-रस घोलने वाले दुर्लभ गुण हैं। यही कारण है कि गुरु साक्षात् शान्तिदूत होते हैं।

द्वैत से अद्वैत की यात्रा अहंकार के विसर्जन बिना असंभव है और अहंकार-विसर्जन गुरु के प्रति समर्पण बिना असंभव है। भौतिकतावादी कहता है कि समर्पण तो पराधीनता है और कहा है 'पराधीन सपनेहु सुख नहीं।' इसका उत्तर है कि अनिच्छा अथवा दबाव से होने वाली विवशता तो पराधीनता है, जो दुःखदायक है, लेकिन भक्ति-वश होने वाला समर्पण इससे भिन्न इसलिये है क्योंकि उसमें परतन्त्रता संबंधी कष्ट नहीं है। गुरु शिष्य पर शासन नहीं चलाते, शिष्य स्वयं उनके अनुशासन में चलता है। अधिकारपूर्ण-शासन और समर्पणपूर्ण-अनुशासन को एक श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। गुरु शिष्य को यन्त्रवत् संचालित नहीं करते, सम्यक्-पुरुषार्थ सिखाते हैं। सर्वप्रथम अंगुलि पकड़ कर चलाते हैं, पश्चात् स्वावलम्बी बना देते हैं। यह तो दुःख-मुक्ति का मार्ग है, इसे दुःख समझना अविवेक है।

जिस प्रकार एक अनगढ़-पाषाण को कोई कुशल शिल्पी भगवान् का आकार प्रदान करता है, उसी प्रकार गुरु शिष्य का शुद्धीकरण करते हैं। आचरण ही दोनों के जीवन की शोभा है अतः पद की गरिमा को अखण्डित रखने के लिये वे कभी चारित्र की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। सत्य-निष्ठा आस्था पर आधारित है इसलिये शिष्य अपने गुप्ततम दोष भी गुरु से नहीं छिपाता और गुरु कण्ठगत-प्राण होने पर भी उसके दोष प्रकट नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि अपराध का प्रचार अपराधी के सुधार में बाधक है। अपमानित दोषी दोष-मुक्त तो नहीं होता, किन्तु लोक-लाज छोड़ बैठता है अथवा गुप्त-दोषी बन जाता है। गुरु उसे इस पतन से बचाते हैं। गुरु पापी से घृणा नहीं करते, उसे पापों से घृणा करा देते हैं। उनका वात्सल्य हत्यारे को भी सन्त में बदल देता है।

गुरु शिष्य को जीवन-निर्वाह की संकीर्ण परिधि से बाहर निकाल कर जीवन-निर्माण की कला सिखाते हैं। वे ही निर्वाण का मार्ग दिखाते हैं। वस्तुतः गुरु एक अलौकिक चिकित्सक हैं, शिष्य रोगी है, कर्म रोग है एवं संयम-साधना औषध है। प्रत्येक रुग्ण का उपचार क्या समान हो सकता है? विवेकी शिष्य जानता है कि जब गुरु किसी को अधिक समय अथवा प्रोत्साहन देते हैं, तब वे पक्षपात नहीं करते। जटिल रोग से ग्रस्त मनुष्य पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। यदि वे अकारण ही किसी शिष्य पर कृपा-वृष्टि करते हैं, तो भी उसका भाग्य ही सराहने योग्य है, क्योंकि गुरु पात्रता के पारखी होते हैं। ईर्ष्या शिष्यत्व पर कलंक है।

शिष्यत्व अहंकार-विसर्जन का नाम है। गुरु शिष्य को तो पतित से धावन बना देते हैं, परन्तु उस अभिमानी का कल्याण नहीं कर पाते, जो अपने आप को गुरु से अधिक चतुर समझता है। बुद्धिमत्ता का अभिमान अस्थान में भी तर्क उत्पन्न करता है और तर्कों की परिधि से बाहर आए बिना आस्था असंभव है। आस्था के अभाव में भक्ति, भक्ति के बिना समर्पण और समर्पण बिना गुरु-शिष्य-सम्बन्ध असंभव है। गुरु बिना जीवन का रहस्य, रहस्य ही रहता है। एक युवा साहित्यकार ने कहा है-

“जिसके जीवन में गुरु नहीं, उसका जीवन शुरू नहीं।”

हृदयस्पर्शी वाणी से सभा को अश्रुपूरित करने वाले पूज्य श्रमण श्री क्षमासागर मुनि कहते हैं, “समर्पण की पीड़ाएँ स्वच्छन्दता के सुखों से श्रेयस्कर हैं।”

इन्द्रियों एवं मन पर विजय पाना स्वेच्छाचारी मनुष्य का कार्य नहीं है, अतः गुरु कठोर-आचरण द्वारा शिष्य को पहले कष्ट-सहिष्णु बनाते हैं। सुविधाभोगी मानव अध्यात्म का पात्र नहीं होता। जो इन्द्रिय-जगत् से ऊपर नहीं उठा, वह आध्यात्मिक जगत् में कैसे अवकाश पा सकता है? चूँकि विषयी मानव की संवेदनाएँ मृतप्राय हो जाती हैं, वह भावना-जगत् में भी स्थान नहीं प्राप्त कर पाता। भावना-जगत् में आए बिना शुद्धीकरण प्रारम्भ नहीं होता। घृणा, उदासी, निराशा, ईर्ष्या, आघात, तनाव आदि नकारात्मक भावनाएँ सत्प्रेम, करुणा, सत्यनिष्ठा, निःस्वार्थ-सेवा, भक्ति आदि सद्भावनाओं द्वारा विलय को प्राप्त होती हैं। शिष्य की भावनात्मक-शुद्धि के लिये कभी तो गुरु उसे वात्सल्यपूर्वक प्रोत्साहित करते हैं, तो कभी कठिन प्रायश्चित्त द्वारा प्रताड़ित भी करते हैं। शिष्योत्थान के प्रति समर्पित गुरु का उपकार एक ऐसा ऋण है, जिसे निर्वाण प्राप्त कर ही चुकाया जा सकता है।

संस्कार में गुरुकृपा सबसे निराली, होली यही दशहरा यह ही दिवाली।

जो शिष्य है वह सदैव ऋणी रहेगा, कोई कभी न उपकार चुका सकेगा॥

सन्त कबीरदास जी ने कहा है-

गुरु क्कीजिये जानि कै, पानी पीजै छानि।

बिना विचारे गुरु करै, परै चुरासी खानि॥

यह उसके लिये चेतावनी है, जो शिष्य बनकर अपना जीवन गुरु को सौंपने जा रहा है। उतावली का परिणाम घोर पश्चात्ताप हो सकता है, अतः पुरातन शास्त्रों में प्राप्त गुरु-विषयक कुछ सामग्री पर दृष्टिपात करना हितकर होगा। पञ्चम शती के विद्वान् तपस्वी आचार्य पूज्यपाद स्वामी ‘इष्टोपदेश’ में कहते हैं-

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।

ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः॥

अर्थ:- अज्ञानी की उपासना अज्ञान को, किन्तु ज्ञानी की शरण ज्ञान को प्रदान करती है, यह कथन सुप्रसिद्ध है कि जिसके पास जो है, वह वही दे सकता है।

नवम शताब्दी के ग्रन्थ ‘आत्मानुशासन’ में पक्षोपवासी आचार्य गुणभद्र देव कहते हैं-

श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने,

परिणतिरुरुद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्भिधौ।

बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुतास्पृहा,

यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरुः सताम्॥

(आत्मानुशासन, 6)

अर्थ:— परिपूर्ण शास्त्रज्ञान, निर्दोष आचरण, दूसरों को समझाने की प्रवृत्ति, सन्मार्ग-प्रवर्तन की विधि में महान् उद्यम, विद्वानों द्वारा प्रशंसित होना, गर्व-रहितता, लोक-मर्यादा का ज्ञान/मनुष्य की पहचान, कोमलता, निःस्पृहता और अन्य भी मुनिराजों के गुण जिनमें हैं, वह सज्जनों के गुरु हों।

गुरु और शिष्य दोनों के स्वरूप को प्रकाशित करते हुए क्षत्र-चूडामणि ग्रन्थ में आचार्य वादीभसिंह सूरि लिखते हैं-

रत्नत्रयविशुद्धः सन् पात्रस्नेही परार्थकृत् ।
परिपालितधर्मो हि भवाब्धेस्तारको गुरुः ॥
गुरुभक्तो भवाद्भूतो विनीतो धार्मिकः सुधीः ।
शान्तस्वान्तो ह्यतन्द्रानुः शिष्टः शिष्योऽयमिष्यते ॥

(द्वितीयलम्ब-30,31)

अर्थ:— रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र से विशुद्ध होने वाले, पात्र-जन पर स्नेह रखने वाले, परोपकार करने वाले, धर्म का परिपालन करने वाले एवं भव-सागर से तारने वाले ही गुरु होते हैं। जो गुरु-भक्त है, संसार-भ्रमण से भयभीत है, विनीत है, धार्मिक है, सदबुद्धि वाला है, शान्तचित्त वाला है, आलस्य-रहित एवं शिष्ट है, वही शिष्य माना जाता है।

तपःकातर मनुष्य गुरु होना तो दूर, सच्चा योगी भी नहीं बन सकता, अतः गुरु बनने के पूर्व परमार्थ तपस्वी का शास्त्रोक्त स्वरूप ज्ञातव्य है। दूसरी सदी के शास्त्र 'रत्नकरण्ड' में आचार्य समन्तभद्र इसे प्रकाशित करते हैं-

विषयाशावशातीतो निशरम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥

(रत्नकरण्ड, 10)

अर्थ:— जो विषय अर्थात् इन्द्रिय-सुखों की आशा के वशीभूत नहीं हैं, धनोपार्जन के साधनों से दूर हैं, धन-संपत्ति से परे हैं एवं ज्ञान-ध्यान और तपस्या में लीन रहते हैं, वे तपस्वी प्रशंसनीय हैं।

गुरु-गीता में, गुरु कैसे होते हैं? यह एक श्लोक द्वारा कहा है-

गुरुवो निर्मलाः शान्ताः साधवो मितभाषिणः ।
कामक्रोधविनिर्मुक्ताः सदाचार्य जितेन्द्रियाः ॥

अर्थ:— गुरु-जन निर्मल, शान्त, साधु, मितभाषी, काम-क्रोध से मुक्त, सदाचारी एवं जितेन्द्रिय होते हैं।

चातुर्यवान् विवेकी च ह्यध्यात्मज्ञानवान्मुचिः ।
मानसं निर्मलं यस्य गुरुत्वं तस्य शोभते ॥

अर्थ:— गुरु-पद उन्हें शोभा देता है जो चातुर्य-सम्पन्न हैं, विवेकी हैं, अध्यात्म-ज्ञान से युक्त हैं, पवित्र हैं तथा जिनका मन निर्विकार है।

शिष्य के प्रति समयोचित कठोरता का बर्ताव न करने वाले गुरु को वास्तविक गुरु कैसे माना जा सकता है? 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ में कहा है—

दोषान् कांश्चन तान् प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं,
सार्धं तैः सहसा म्रियेद्यदि गुरुः पश्चात्करोत्येष किम्।
तस्मान्मे न गुरुर्गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्च स्फुटं,
ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सद्गुरुः ॥

अर्थ:—(अयं) यह (प्रवर्तकतया) प्रवर्तक होने के कारण (कांश्चन) किन्हीं (तान्) जाने-माने (दोषान्) काम क्रोधादि दोषों को (प्रच्छाद्य) छिपा कर (गच्छति) चलता है। (यदि) यदि (एषः) यह (सहसा) सहसा (तैः सार्धं) उनके साथ (म्रियेत) मृत्यु को प्राप्त हो जाय, (पश्चात्) फिर (गुरुः) गुरु (किं) क्या (करोति) कर लेगा? (तस्मात्) इसलिये (मे) मेरा (गुरुः) गुरु (गुरुः) गुरु (न) नहीं है। (अयं) यह (यः) जो (खलः) दुर्जन (लघून्) छोटे दोषों को (च) भी (निपुणं) निपुणता-पूर्वक (समीक्ष्य) देखकर (सततं) सदैव (गुरुतरान्) बढ़ा-चढ़ा (कृत्वा) कर (स्फुटं) स्पष्ट(ब्रूते) बोलता है, (सः) वह (सद्गुरुः) उत्तम गुरु है।

तात्पर्य:— जो गुरु मेरे दोष जानते हुए भी मुझसे छिपाता है, वह मुझमें उन दोषों का प्रवर्तन करता है। यदि मेरा मरण सदोष-अवस्था में हो जाए, तो गुरु मेरा कौनसा हित कर लेगा? ऐसे गुरु को मैं गुरु नहीं मानता, किन्तु जो दुष्ट मेरे सूक्ष्म-दोषों की भी बढ़ा-चढ़ा कर मेरी खुली आलोचना करके मुझे सदा सावधान रखता है, उसे मैं अपना श्रेष्ठ गुरु मानता हूँ।

शान्तिदेव ने तो यहाँ तक कहा है कि शत्रु ही हमारा श्रेष्ठ आध्यात्मिक गुरु है। 'गुरु गीता' में (दत्तगुरु ने) त्याज्य गुरु का लक्षण इस श्लोक में दिया है—

ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्यो मिथ्यावादी विडम्बकः।
स्वविश्रान्तिं न जानाति परशान्तिं करोति किम् ॥

अर्थ:— वह गुरु त्याज्य है जो ज्ञानहीन है, असत्यवादी है और विडम्बना करने वाला है। जो स्वयं विश्रान्त होना नहीं जानता, वह अन्य को क्या शान्त करेगा?

यदि गुरु में स्वार्थ, ईर्ष्या, स्पर्धा, पक्षपात, दुर्वासना, कृत्रिमता आदि विकार हों, तो उनसे किसका हित संभव है? गुरुता एक महान् उत्तरदायित्व है। यदि दीक्षा का दान एवं आदान संघ-वृद्धि एवं नाम-बढ़ाई के अर्थ हो, तो स्व-पर-कल्याण कैसे संभव है? दीक्षा मङ्गल-आचरण का मङ्गलाचरण है। शिष्य आत्म-समर्पण करता है, और गुरु उसका आत्मोत्थान करते हैं। दीक्षा का मूल उद्देश्य

आध्यात्मिक उन्नति है, प्रदर्शन नहीं। दीक्षाचार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव में से एक को भी उपेक्षित नहीं करते। वे दीक्षार्थी की शारीरिक, पारिवारिक एवं सामाजिक स्थिति समझकर, पवित्र-क्षेत्र एवं शुभ-दिशा को ध्यान में रखकर, शास्त्र सम्मत निर्दोष काल का चयन कर एवं निमित्त ज्ञान आदि से उसकी पात्रता और वैराग्य को देख-परख कर दीक्षा प्रदान करते हैं। भावुकता और उतावली से इष्ट-सिद्धि दुष्कर है।

गुरु का वात्सल्य स्फूर्तिदायक होता है। इसके अभाव में सामान्य साधना भी पर्वततुल्य प्रतीत होती है और इसके प्रभाव से काँटों पर चलना भी फूलों पर चलने जैसा प्रतीत होता है। दीक्षा वेश-परिवर्तन मात्र नहीं, हृदय-परिवर्तन है। सत्य-निष्ठा, वैराग्य, सहिष्णुता, प्रव्रज्या-योग एवं किसी पर भार न होना, ये पाँच गुण शिष्य की दीक्षा को सार्थक एवं गुरु के कार्य को सुगम करते हैं। अविवेक दीक्षा में इसलिये बाधक है कि कर्तव्य-अकर्तव्य के बोध के अभाव में मनुष्य 'न इधर का, न उधर का' रह पाता है। अविरक्त मनुष्य दीक्षा को भार समझता है अथवा पद का दुरुपयोग करता है। गुरु सब समझते हैं। किसी ने ठीक ही कहा है-

‘गुरु से शिष्य की कौन सी बात अनजानी है?
सागर को मालूम है बूंद में कितना पानी है!’

पहुँचा हुआ व्यक्तित्व भी प्रायः अन्त में मोह-ग्रस्त हो जाता है, अतः अन्ततः गुरु-चरणों में प्राण-विसर्जन की भावना शिष्य के हृदय में होती है। अपने अन्तिम क्षणों में गुरु का साक्षात् सान्निध्य हो, तो अहोभाग्य! अन्यथा उनका भक्तिपूर्वक प्राणान्त हो, तो क्या हानि है? यह उक्ति कितनी सुंदर है-

‘‘गुरोश्छत्रच्छाया न परिहरणीया क्वचिदपि’’

अर्थ:- गुरु की छत्रच्छाया को कहीं भी छोड़ना नहीं चाहिये। गुरु-सान्निध्य के अभाव में भी गुरु-भक्ति उपकार करती है। इसी गुरु-शिष्य-दर्पण में कहा है-

मुच्यमाने गुरावपि मुक्तिः शिष्यस्य संभवेत्ल्लोके ।
मुक्तिर्न जायते खलु गुरुभक्तौ मुच्यमानायाम् ॥

(गुरु-शिष्य-दर्पण, 21)

अर्थ:- जगत् में, गुरु छूटने पर भी शिष्य की मुक्ति संभव है, लेकिन गुरु-भक्ति छूट जाने पर मुक्ति हो ही नहीं सकती।

गुरु की दुर्लभता-विषयक एक श्लोक गुरु-गीता में आता है-

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः ।
तमेकं दुर्लभं मन्ये शिष्यहृत्तापहारकम् ॥

अर्थ:- शिष्य के वित्त का हरण करने वाले बहुत से गुरु हैं। एक उनको मैं दुर्लभ मानता हूँ, जो

शिष्य के हृदय का ताप हरते हैं।

निर्मल-हृदय वाले गुरु-शिष्य दोनों दुर्लभ हैं। शिष्यत्व को कलङ्कित करने वाले ब्राह्मण वायुभूति ने तो अपने सगे मामा शिक्षा-गुरु पुरोहित सूर्यमित्र के मुनि होने पर उन्हें भला-बुरा कह कर तिरस्कृत किया और एकलव्य की गुरु-भक्ति का अनुचित लाभ उठाने वाले गुरु द्रोणाचार्य पर आश्चर्य होता है, जिन्होंने गुरु-दक्षिणा के छल से उस बेचारे का अंगूठा ही कटवा लिया। निःस्वार्थ गुरु एवं समर्पित शिष्य धन्य हैं। अमरावती के युवा कवि मनोजीत जैन ने एक दोहे में लिखा है-

दुर्लभ हैं जग में अहो! ऐसे पावन दृश्य।
स्वार्थ रहित गुरु हो जहाँ और समर्पित शिष्य॥

गुरु-भक्ति गुरु के अलौकिक गुणों के समीप लाने वाली शक्ति है। वह किसी सन्त-विशेष का मोह नहीं, अपितु गुणी-व्यक्तित्व का बहुमान है। भावना का मूल्य विज्ञापन से अधिक है क्योंकि समर्पण में कोलाहल नहीं होता। निज-गुरु की कीर्ति के प्रचार-प्रसार के साथ इतर की अवमानना गुणानुराग नहीं, व्यक्तिवाद है। व्यक्तिवाद पक्षपात से उत्पन्न होता है और सांप्रदायिक-विद्वेष को उत्पन्न करता है। सन्त, ग्रंथ और पन्थ के नाम पर होने वाला मानवता का विभाजन, अध्यात्म का नहीं, कटुता का विस्तार है। यथार्थ गुरु-भक्ति में विनीत-भाव का दर्शन होता है, आडम्बर का नहीं। किसी की आलोचना करना अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण नहीं है, क्योंकि श्रेष्ठता दोष-मुक्ति का नाम है। अन्तर्निरीक्षण द्वारा निजपरीक्षण करने पर ही दोष-मुक्ति संभव है। जो गुरु के बिना असंभव है। किसी के विचारों से मन को बांधने की अपेक्षा अपने विचारों को पढ़ कर मन के विकारों की पहिचान करके उन्हें विसर्जित करना संघर्ष-मुक्ति की सहज-साधना है।

कभी गुरु अपने शिष्य को प्रतीक्षा कराते हैं, इस परीक्षा में धैर्यवान् ही खरा उतरता है। गुरु-चरणों में पाप-विसर्जन का संकल्प लेना साधना का प्रारम्भिक चरण है। अवसर पा कर भी पाप की इच्छा न होना अधिक महत्त्वपूर्ण है। दीक्षा पूर्णता नहीं, भूमिका है। वेश और परिवेशमात्र का परिवर्तन, जीवन-परिवर्तन नहीं है। महान् होने का भ्रम, महान् होने में बाधक है। गुणी होने का दिखावा, अवगुणों को दृढ़ करता है। तपस्या द्वारा देह-शोषण तभी सार्थक है, जब उसके साथ विकार-शोषण भी हो। भोली जनता की श्रद्धा का अनुचित लाभ उठाना आत्मवञ्चना है, साधुता नहीं। जीवन के किन्हीं कर्तव्यों से घबराकर संसार से मुख मोड़ लेना और त्यागवृत्ति अपनाकर एक काल्पनिक संतोष के भ्रम में जीना वैराग्य नहीं, पलायन है। अपने पैर पुजवाना सुगम है, पूज्य होना कठिन है। उत्कृष्टता पद से नहीं, गुणों से आती है। तृष्णा का रूपान्तरण, तृष्णा-मुक्ति नहीं है। गुरु ही सच्चा मार्ग दिखा सकते हैं।

गुरु के विषय में पाश्चात्य विद्वानों ने भी बड़े सुन्दर विचार प्रकट किये हैं। उदाहरणार्थ-ज्योतिर्विद्या की देवी लिंडा गुडमैन ने अपनी पुस्तक 'स्टार साइन्स' (STAR SIGNS) में आंग्ल भाषा में

गुरु शब्द का विश्लेषण करते हुए पृष्ठ 425 पर लिखा है- "GURU" के एक-एक अक्षर का स्पष्ट एवं पृथक् उच्चारण करें। तीन बार दोहराने पर ऐसा लगेगा कि "GURU" स्वयं शब्दरूप में कहता है: G-Geel U-you R-are...U-you! अर्थात् अहो! तुम,.... तुम हो! यही तो सारतः सर्व गुरुओं का कार्य है।”

रॉबर्ट ई. स्वोबोड कहते हैं कि सच्चे गुरु, शिष्य की सुविधा को गौण कर उसे ऐसा रगड़ते हैं कि वह जीवन की प्रत्येक परीक्षा में खरा उतर सकता है। वे कच्चे शिष्यों की भीड़ नहीं, किन्तु कुछ ऐसे पक्के शिष्य चाहते हैं जिन पर उन्हें गर्व हो।

26 वर्ष भारत की खोज करने वाले 'ए सर्च इन सिक्रेट इण्डिया' **A Search in secret India** नामक पुस्तक के लेखक डॉ. पॉल ब्रण्टन का मन्तव्य है : गुरुत्व के बाह्य आडम्बर में यद्यपि सत्य लुप्तप्राय हो चुका है, तो भी भारतीय संतों में आज अध्यात्म का पूर्णतः अभाव नहीं हुआ है। ऊपर से सीधे-सादे अथवा सिरफिरे लगने वाले कुछ ऐसे साधक हैं, जिनका अन्तस् विस्मयकारी अनुभवों का भण्डार है। प्रत्येक साधु को अनपढ़ अथवा पाखण्डी समझ बैठना बड़ी भारी भूल है।

जोसेफ स्पार्टी **The runnin'Wolf** में कहते हैं कि श्रेष्ठ गुरु वह है, जिसकी फिर आवश्यकता नहीं रह जाती, जो शिष्य को सर्वोच्च विकास की ही प्रेरणा देता है, जो शिष्य को स्वावलम्बी, स्पष्ट, रचनात्मक, चिन्तनशील, निष्पक्ष-विश्लेषक, आज्ञाकारी और अनुशासित बनाता है। जब शिष्य की समझ, गुरु की समझ से भी उन्नत हो जाये तब समझ लो कि गुरु ने पूर्ण सफलता पा ली। ऐसी निःस्वार्थ एवं उच्च-मानदण्डों वाली विरक्त-छवि में ही गुरु की कल्पना साकार हो सकती है।

डॉ. पॉलाहोरन ने अपनी कृति 'रेकी-108 प्रश्नोत्तर' के 'समर्पण' में लिखा है : 'मेरे उन शिष्यों को समर्पित, जिनमें से कुछ मेरे श्रेष्ठ गुरु रहे हैं!'

भारतीय मनीषियों के विचार भी कितने सुंदर हैं- बिना अनुभवी गुरुओं की साक्षी के धारा गया व्रत अवश्य ही भंग हो जाता है। (प्रभु-वाणी/पृ. 11/4-4/जिनेन्द्र चर्णी)

स्वामी मुक्तानन्द का यह कथन बड़ा महत्त्वपूर्ण है: 'गुरु की महत्ता यह है कि तुम जो खोज रहे हो, वह उन्हें मिल गया है।' (गुरुत्वसार, पिछला कवर पृष्ठ)

'कठोपनिषद्' में कहा है-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः ॥

अर्थ:- यह आत्मा न प्रवचन द्वारा, न बुद्धि से और न अनेक शास्त्रों द्वारा प्राप्त होने योग्य है। यह जिसे वर ले, उसी से प्राप्त होने योग्य है।

इसी परिप्रेक्ष्य में नरेन्द्रसेनाचार्य विरचित ग्रन्थ 'सिद्धान्तसार' का यह श्लोक अत्यन्त प्रासंगिक

है-

भववाह्रिं तितीर्षन्ति सद्गुरुभ्यो विनापि ये।
जिजीविषन्ति ते मूढा नन्वायुःकर्मवर्जिताः ॥

(सिद्धान्तसार, 9.30)

अर्थ:- जो लोग सच्चे गुरुओं के बिना भी संसार सागर को पार करने की इच्छा करते हैं, वे मूढ़ वास्तव में आयुर्कर्म के अभाव में जीवन की इच्छा करते हैं।

गुरु-भक्ति के बिना सारे अनुष्ठानों की व्यर्थता रयणसार ग्रन्थ की इस गाथा में अवलोकनीय है-

गुरुभक्तिविहीणाणं सिरुसाणं सखसंगविरहाणं।
ऊसरखेत्ते वविदं सुबीयसमं जाण सखाणुट्ठाणं ॥

अर्थ:- हे जीव! सर्व परिग्रहों से विरत, किन्तु गुरु-भक्ति-रहित शिष्यों के समस्त अनुष्ठान बंजर धरती में बोये गये उत्तम बीज की भाँति व्यर्थ जानो!

समर्पित शिष्य की भावना गुरु-गीता के इन पद्यों में दृष्टिगोचर होती है-

न गुरोरधिकं तत्त्वं न गुरोरधिकं तपः।
न गुरोरधिकं ज्ञानं तस्मै श्री गुरवे नमः ॥
ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्विक्रयं मोक्षमूलं गुरोः कृपा ॥

अर्थ:- तत्त्व गुरु से बड़ा नहीं है, तप गुरु से बड़ा नहीं है और ज्ञान गुरु से बड़ा नहीं है, अर्थात् गुरु तत्त्व, तप और ज्ञान से बढ़कर हैं। उन श्रीगुरु के लिये नमस्कार हो। गुरु की छवि ध्यान का आधार है, गुरु-चरण पूजा का मूल है, गुरु-वचन मन्त्र का मूल है, तथा गुरु की कृपा मोक्ष का मूल है।

योगी गोरक्षनाथ विरचित 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के पञ्चम अध्याय का यह श्लोक देखें-

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन च।
दुर्लभा चित्तविश्रान्तिर्विना गुरुकृपां पराम् ॥

अर्थ:- इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ है? तथा सैकड़ों-करोड़ों शास्त्रों से क्या प्रयोजन है? गुरु की परम-कृपा के बिना चित्त की विश्रान्ति दुर्लभ है। श्री कृष्ण से उपमन्यु कहते हैं-

गुरोःश्लोकमात्रेण स्पर्शनाद्भाषणादपि।
सद्यः संज्ञा भवेज्जन्तोः पाशोपक्षयकारिणी ॥

अर्थ:- गुरु के दर्शन मात्र से, स्पर्श से और संभाषण से भी प्राणी के बन्धन का क्षय करने वाली संज्ञा अर्थात् चेतना तत्काल आविर्भूत होती है। 'गुरु गीता' में 'गुरु' शब्द को महामन्त्र माना है-

सप्तकोटिमहामन्त्राश्चित्तविभ्रमकारकाः ।

एक एव महामन्त्रो गुरुरित्यक्षरद्वयम् ॥

(गुरुगीता, 39)

अर्थ:— सात करोड़ बड़े-बड़े मन्त्र चित्त में विभ्रम उत्पन्न करते हैं। दो अक्षरों वाला 'गुरु' शब्द ही अद्वितीय महामन्त्र है।

'अष्टपाहुड' की टीका में उद्धृत यह श्लोक कितना मार्मिक है-

ये गुरुं नैव मन्यन्ते पूजयन्ति स्तुवन्ति न ।

अन्धकारो भवेत्तेषामुद्धितेऽपि दिवाकरे ॥

अर्थ:— जो गुरु को ही नहीं मानते, न पूजा और न स्तुति करते हैं, सूर्य का उदय होने पर भी उनके लिये अन्धकार होता है।

'श्री गुरुमहिमा' नामक पुरस्कृत कृति के लेखक आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी गुरु के विषय में पृष्ठ 33 पर लिखते हैं-

“.....ऐसे महामहिम अकारण करुणालय से मनुष्य कभी उन्मूढ हो सकता है?”

सारांश में यही कहना होगा कि गुरु की महिमा अवर्णनीय है-

स्याही समुद्र भर हो, लिपि सर्व भाषा, पन्ना धरा, कलम हो सुरवृक्ष-शाखा ।

मैं शारदा यदि सदा लिखती रहेंगी, तो भी न पार गुरु का वह पा सकेगी।

(क्षुल्लक श्री ध्यानसागर जी कृत पुस्तक 'गुरु-शिष्य-दर्पण' से साभार)



सद्गुरु का मिलना : एक सौभाग्य

श्री मोफतराज मुणोत

आज व्यक्ति को सम्यक् मार्गदर्शक गुरु का मिलना अत्यन्त कठिन है। चहुँओर गुरुओं का व्यवसाय चल रहा है जो भक्तों को उनकी भौतिक मनोकामनाओं की पूर्ति का लालच देकर उन्हें ठगते हैं। उन्हें जीवन की सही दिशा नहीं मिलती। जीवन के सच्चे मार्गदर्शक गुरु सौभाग्य से ही मिलते हैं, जो जीवन में सद्गुणों का सिंचन करते हैं। अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ के संरक्षक मण्डल के संयोजक श्री मुणोत साहब ने अपने आलेख में गुरुओं की वर्तमान स्थिति से परिचित कराने के साथ अपने सद्गुरु आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज से मिले लाभों से भी अवगत कराया है। -सम्पादक

आज का युग भौतिकवाद का युग है और उसका आधार धन-सम्पदा का परिग्रह है। इसलिए कई श्रद्धालु-भक्तों का इसी ढंग का सोच रहता है कि जो गुरु हमारी मनोकामना की पूर्ति कर सकते हैं, उन्हीं की हम आराधना करेंगे। अधिकतर गुरु भी इसी ढर्रे पर चलने वाले हैं। वे भक्तों को उनकी अभिलाषा पूर्ति हेतु मन्त्र, तन्त्र, जाप आदि का उपाय बताते रहते हैं। भक्तों को भी प्रायः वे ही गुरु प्रिय लगते हैं जो उनकी मनोकामनाओं की पूर्ति का ध्यान रखते हैं।

व्यक्ति की यह मनोवृत्ति कभी उसे देवी-देवताओं के पास भी ले जाती है। भारत में हजारों मन्दिर हैं और हजारों देवी-देवता हैं। इनमें अपनी इच्छाओं या मनोकामनाओं की पूर्ति हेतु ही अधिकतर भक्तों का आवागमन होता है। वैष्णो देवी का मन्दिर हो या तिरुपति बालाजी का, साई बाबा का मन्दिर हो या नाकोड़ा-भैरव का, जहाँ भी मन्दिरों में अधिक भीड़ होती है, वहाँ कोई न कोई मांग लेकर ही भक्तों का आवागमन होता है। उनकी भक्ति भगवान या देवी-देवताओं के प्रति नगण्य एवं अपनी स्वार्थ-पूर्ति के प्रति अधिक झुकी होती है। जहाँ भी वह सुनता है कि उसकी इच्छा की पूर्ति अमुक देवी-देवता के यहाँ जाने से हो सकती है तो वह वहाँ पहुँच जाता है।

मन्दिरों में जाने का धार्मिकता या आध्यात्मिकता के साथ कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं होता। धार्मिक और आध्यात्मिक व्यक्ति घर बैठकर भी अथवा अपने ग्राम-नगर में या धर्मस्थान में जाकर भी धर्म-आराधना या भगवद्-भक्ति कर सकता है। किन्तु जो अभावों से ग्रस्त है, समस्याओं से पीड़ित है, इच्छाओं से सन्तप्त है तथा जिसे अपने श्रम, पुरुषार्थ और भाग्य पर भरोसा नहीं है, वह इधर-उधर कभी तीर्थयात्रा के नाम पर, कभी भक्ति के नाम पर अपनी लौकिक समस्याओं के भौतिक समाधान हेतु देवी-देवताओं और मन्दिरों की ओर मुख किये रहता है।

तीर्थ-स्थलों और मन्दिरों में तो भीड़ देखी ही जाती है, किन्तु कई गुरु ऐसे भी हैं जिनके

व्यवसाय चल रहे हैं, जो भक्तों की इच्छाओं और समस्याओं को भांपते हैं तथा उनकी पूर्ति का लालच देकर स्वयं धन-संग्रह में लगे रहते हैं। कई गुरु आज अरबपति हैं। वे लुभावना प्रवचन देते हैं, मधुरवाणी का प्रयोग करते हैं, भक्तों की नब्ज को पकड़ते हैं एवं तदनुसार उनको मनोकामना पूर्ति का विश्वास दिलाकर स्वयं भी अपनी मनोकामना पूर्ण करते रहते हैं।

मुझे ऐसे महान् सद्गुरु मिले जो उपर्युक्त बुराइयों से जीवनभर अस्पृष्ट रहे। उन्होंने कभी भौतिक मनोकामना की पूर्ति का लालच नहीं दिया। जो गुरु किसी व्यक्ति में विद्यमान दोषों को दूर कर उसे सन्मार्ग पर लगाते हैं तथा आध्यात्मिकता को जागृत करने में तत्पर रहते हैं वे ही सद्गुरु हैं। मैं भाग्यशाली हूँ कि मुझे आचार्य हस्तीमल जी महाराज जैसे गुरु मिले, जिन्होंने मुझे अच्छा जीवन जीने का मार्गदर्शन किया तथा आध्यात्मिकता की प्रेरणा की। मैंने कितनी ही बार गुरुदेव का सान्निध्य लाभ लिया, किन्तु मेरे व्यवसाय के सम्बन्ध में गुरुदेव ने कभी बात नहीं की और न मैंने की। उनके रोम-रोम में संयम, तप और अहिंसामय धर्म व्याप्त था।

गुरुदेव के रोम-रोम में संतपना था। उठने में, बैठने में, हाथ धोने में सभी क्रियाओं में संयम और विवेक की उत्कृष्टता थी। मैं सन् 1982 तक उनके मात्र दर्शन करने जाता था। सन् 1986 के पीपाड़ चातुर्मास से गुरुदेव के प्रति मेरा झुकाव बढ़ता गया। उनकी पूरी कृपा रही तथा अन्तरंग प्रेम मिला। मेरे जीवन को सही दिशा मिली।

उनके सान्निध्य से मुझे जो लाभ हुए, उन्हें संक्षेप में इस प्रकार कह सकता हूँ:-

1. अच्छा जीवन कैसे जीऊँ? इसके सूत्र प्राप्त हुए।
2. जीवन में सच्चाई के प्रति आस्था बढ़ी।
3. संघ-सेवा एवं स्वधर्मि-वात्सल्य भाव का विकास हुआ।
4. सिगरेट की बुराई छूटी तथा जीवन व्यसन-रहित हो गया।
5. धर्म का सही स्वरूप समझने का अवसर मिला।
6. समर्पण एवं त्याग की भावना का विकास हुआ।
7. संग का प्रेम मिला, अनेक साधनाशील श्रावकों से सम्पर्क हुआ।
8. तप-त्याग में वास्तविक रुचि जागृत हुई।

मैं अपने को सौभाग्यशाली मानता हूँ कि मुझे सद्गुरु का सान्निध्य मिलने से अपने आपको समझने का सुयोग मिला तथा आत्मविकारों को जानने एवं उन्हें जीतने का सामर्थ्य मिला। ऐसे सद्गुरु मिल जाना, आज के समय में बहुत बड़ी बात है। मैं असीम श्रद्धा के केन्द्र गुरुदेव के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ कि उन्होंने मेरे जीवन को सुन्दर बनाने हेतु आत्मीय मार्गदर्शन किया। उन्हीं के शिष्य आचार्य श्री हीराचन्द्र जी म.सा. के प्रति भी मेरी उतनी ही श्रद्धा है, क्योंकि वे भी मेरे जीवन को आध्यात्मिक साधना में आगे बढ़ाने की निरन्तर प्रेरणा करते रहते हैं।

- 'मुणोत वित्ता', 63-के, वेस्ट फील्ड कम्पाउण्ड लेन, भूलाभाई देसाई रोड, मुम्बई-400026 (महाराष्ट्र)

जीवन-निर्माण में गुरु की भूमिका

श्री पी. शिखरमल सुराणा

एक सद्गुरु किस प्रकार जीवन-निर्माण में सहायक होता है, इसका प्रयोगात्मक रूप सहस्रों श्रावकों ने अनुभव किया होगा, किन्तु हमारे निवेदन पर सम्मग्नान प्रचारक मण्डल के अध्यक्ष श्री शिखरमल जी सुराणा ने एक प्रेरक आलेख प्रेषित किया है। गुरु की जीवन-निर्माण में कैसी भूमिका होती है, इसकी एक दृष्टि प्रस्तुत आलेख से प्राप्त हो सकेगी। -सम्पादक

(1) मेरे पिता श्री पारसमल जी सुराणा अपने गुरु प्रातः स्मरणीय, इतिहास मार्तण्ड, अध्यात्मयोगी आचार्य प्रवर श्री हस्तीमल जी महाराज के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा भक्ति रखते थे। उन्होंने स्कूली शिक्षा नहीं पाई। वे हिन्दी पढ़ लेते थे, लेकिन बोलचाल में राजस्थानी (भारवाड़ी) भाषा का ही प्रयोग करते थे।

(2) जब मैं दो वर्ष का शिशु था, तब एक घटना घटी। आचार्य श्री हस्तीमल जी म. सा. के एक वाक्य ने मेरे पिताजी और मेरे जीवन का निर्माण कर दिया। 'नमो पुरिसवरगंधहृत्थीणं' में पृष्ठ 600 पर "नवो जुनो मत करीजै" शीर्षक से संक्षिप्त में यह घटना प्रकाशित है। उसे यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ :-

"श्री पारसमल जी सुराणा नागौरवाले गुरुदेव के दर्शनार्थ जोधपुर पधारे हुए थे। अचानक घर से तार आया कि माँ बीमार है, जल्दी आओ। तार पढ़कर सुराणा सा. बेचैन हो गये व आचार्यश्री की सेवा में मांगलिक लेने उपस्थित हुए और सारा वृत्तांत गुरुदेव को बताया। गुरुदेव ने सारी बात सुनकर मुस्कराते हुए मांगलिक फरमा दी और जाते-जाते कहा कि कोई नवो जुनो मत करीजै।

रास्ते भर पारसमल जी इसी उधेड़बुन में लगे रहे कि "कोई नवो जुनो मत करीजै" का क्या तात्पर्य हो सकता है। कुछ समय में नहीं आया। घर आकर देखा तो माँ तो स्वस्थ, किन्तु पत्नी अस्वस्थ थी। स्मरण रहे कि पुराने जमाने में पत्नी के बीमार होने पर बेटे को बुलाना होता तो पत्नी की बीमारी नहीं लिखकर माँ की बीमारी लिखी जाती थी।

श्री पारसमल जी ने पत्नी की सार-संभाल की और दो-चार दिन बाद ही पत्नी का देहान्त हो गया। शोक बैठक का आयोजन किया गया। आठवें-नवें दिन ही बीकानेर से कोई सज्जन अपनी लड़की का रिश्ता लेकर आया, तब उन्हें आचार्यश्री द्वारा कही बात का गूढार्थ समझ में आया। उन्होंने मन ही मन आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने का निर्णय ले लिया।"

(3) उस समय पिताजी 30 वर्ष के थे। कितने ही रिश्ते आये तथा परिजनों का कितना ही जोर रहा, लेकिन वे टस से मस नहीं हुए। अपने गुरु के वचन को पत्थर की लकीर मानकर वापस शादी नहीं की।

जब भी परिवार वाले पुनर्विवाह के लिए ज्यादा जोर देते, तब वे घर पर बिना कुछ बोले अपने गुरु की सेवा में पहुँच जाते। यह सिलसिला काफी समय तक चलता रहा। अन्ततः हताश होकर मेरे दादा-दादी तथा अन्य परिवारजनों ने पिताजी से पुनर्विवाह के लिए आग्रह करना छोड़ दिया। मैं दिल की गहराई से कह सकता हूँ कि पूज्य आचार्य श्री हस्ती ने मेरे पिताजी के जीवन को आध्यात्मिक दिशा में मोड़ने के साथ ही मेरे जीवन-निर्माण की नींव भी डाल दी। मेरा पूरा परिवार उनके परम उपकारों से उपकृत है।

(4) गुरु के छोटे-से वाक्य को शिरोधार्य करके पिताजी ने अपने जीवन में कोई नया सांसारिक कार्य भी नहीं किया। कोई व्यापार नहीं किया, कोई जमीन-जायजाद, सोना, चांदी, गहने आदि नहीं खरीदे। अपने जीवन के शेष 54 वर्ष गुरुसेवा तथा संयुक्त परिवार में रहते हुए धर्म-ध्यान में बिताये। पहले नागौर में तथा कुछ वर्षों बाद चेन्नई में अपने अनुज उमरावमल जी सुराणा के साथ रहे। जितना होता, उनके व्यापार में हाथ बँटाते। चातुर्मास के अलावा भी महीनों तक वे गुरुदेव की सेवा में रहते और उनकी विहार यात्राओं में भी साथ चलते थे। सिर्फ मेरे कारण उन्होंने महाव्रत अंगीकार नहीं किये। सत्संग, ब्रह्मचर्य, धर्म-ध्यान आदि से वे नीरोग रहते थे। अपना सारा कार्य खुद करते थे। उनका व्यक्तिगत खर्च नहीं के बराबर था। “सादा जीवन उच्च विचार” उनकी पहचान बन गई थी। 84 वर्ष की उम्र में पूरे होश में स्वयं की प्रबल भावना तथा वर्तमान आचार्यश्री की स्वीकृति के बाद, चतुर्विध संघ की साक्षी से सविधि संलेखना संधारा धारण किया। अपने गुरुदेव का अनुसरण करते हुए पाँच दिन का संधारा पूर्ण करके 13 जुलाई 2001 को वे समाधिमरण को प्राप्त हुए। चेन्नई निवासी कहते हैं कि पिछले कई वर्षों के स्मरणकाल में चेन्नई में ऐसा सजगतापूर्ण व शुद्ध संधारा देखने को नहीं मिला।

(5) यदि गुरुवर आचार्य श्री हस्तीमल जी ने मेरे पिताजी को यह कहकर नहीं चेताया होता कि “नवो-जुनो मत करीजै”, तो शायद मेरे पिताजी परिवार वालों के दबाव में आकर दूसरी शादी करते, नया व्यापार करते और संसार में फँसते। ऐसा होने पर 54 वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन, शान्तिपूर्वक गुरुसेवा और इतना धर्म-ध्यान नहीं हो पाता। फलस्वरूप जो सुन्दर संधारा उन्हें आया, वह भी शायद नहीं आ पाता। सही समय पर सही दिशा देकर उनके जीवन का निर्माण उनके गुरुदेव ने कर दिया। इसी प्रकार यदि पिताजी दूसरी शादी करते तो मेरी सौतेली माँ आती। पिताजी मुझे इतना प्यार-दुलार शायद ही दे पाते। वे जो भी व्यापार करते, उसमें मुझे लगाना पड़ता। मैं कानून की पढ़ाई और वकालत शायद ही कर पाता। मेरे जीवन का जिस प्रकार बेहतर निर्माण हुआ है, वह शायद नहीं हो पाता। इस प्रकार मेरे जीवन-निर्माण की नींव भी आचार्य श्री हस्ती ने डाली।

(6) पिताजी दीपावली के दिन कभी घर पर नहीं रहते थे। या तो गुरुदेव की सेवा में या पौषधोपवास के साथ स्थानक में। वर्ष 2002 की दीपावली को खयाल आया कि मुझे सपरिवार आचार्यश्री की सेवा में पहुँचना चाहिये। मैं सपरिवार मुम्बई में चातुर्मासार्थ विराजित वर्तमान आचार्य श्री हीराचन्द्र जी के

दर्शनार्थ पहुँचा। आचार्यश्री और अन्य सन्तों ने मुझे सराहा कि आखिरी समय में मैंने अपने पिताजी को उनकी तीव्र अभिलाषा के अनुसार संलेखना-संधारा दिलवाकर उनको धर्म-ध्यान में सहयोग दिया। मेरी पुत्रवधू रश्मि सुराणा ने पहली बार आचार्यश्री के दर्शन किये और उनसे गुरु आम्ना ग्रहण की। आचार्यश्री ने बड़े सुन्दर ढंग से संक्षिप्त में सुदेव, सुगुरु और सुधर्म का सही स्वरूप और महत्त्व बताया। करणीय और अकरणीय का बोध कराया। हम सबने सुना, बहुत अच्छा लगा, मन में धारण किया। तब से जब भी आचार्यश्री की सेवा में गया और कभी किसी को उन्हें समकित पाठ सुनाते हुए देखा तो मुझे भी ध्यान से सुनकर आनन्द की अनुभूति करता हूँ।

(7) तत्त्वचिन्तक श्री प्रमोद मुनि जी को मैं उनकी दीक्षा के पहले से ही जानता हूँ। श्री प्रमोद मुनि जी ने मेरी कुछ विशेष खबर ली। कुछ इस अन्दाज में बोले - “आपके पिताजी तो हम सब छोटे सन्तों का भी खयाल रखते थे। आप उनके सुपुत्र हो और सन्त-सन्निधि, स्वाध्याय आदि से वंचित रहते हैं। एक नियम बना लीजिए, गुरु-सन्निधि का लाभ लेकर आगे बढ़ेंगे।” उनके कहने का अन्दाज और माधुर्य ही कुछ ऐसा था कि मैं मना नहीं कर सका। फिर उन्होंने पूछा - “सामायिक तो करते ही होंगे।” मैंने कहा - “नहीं, ककालात में ही इतना व्यस्त रहता हूँ कि फुर्सत ही नहीं मिलती।” नजदीक ही एक श्रावक बैठा था। उस श्रावक ने उपाध्याय अमर मुनि जी की पुस्तक ‘सामायिक सूत्र’ मेरे हाथ में थमा दी। प्रमोद मुनि जी ने मुझे कहा - “आप यह पुस्तक अवश्य पढ़ लेना। जब भी आचार्य श्री के दर्शन का अवसर मिले तब यदि कोई शंका हो तो उसका समाधान कर लेना।”

(9) आचार्यश्री का सौम्य चेहरा और स्नेहसिक्त मधुर मुस्कान प्रभावित करती थी, फिर भी उनसे ज्यादा बात करने का साहस नहीं होता था। प्रमोद मुनि जी में अनूठी आत्मीयता और चुम्बकीय आकर्षण था। मैं तो प्रभावित हुआ ही; मेरी धर्मपत्नी लीलावती, सुपुत्र डॉ. विनोद और बहुरानी रश्मि, सभी प्रभावित हुए। उनकी प्रेरणा से ‘सामायिक सूत्र’ पुस्तक मैंने पढ़ डाली। अच्छी लगी, दुबारा पढ़ी। सन्तोष नहीं हुआ, तीसरी बार पढ़ी। अन्तर्मन में लगा कि सामायिक जरूर करनी चाहिये।

(10) मुम्बई चातुर्मास के बाद आचार्यश्री पूना पधारे। वहाँ कुछ मुमुक्षुओं की दीक्षाएँ भी हुई थीं। मैं भी सपरिवार पूना पहुँचा। ‘सामायिक सूत्र’ पुस्तक पढ़कर जिज्ञासाओं की सूची बनाई थी। प्रमोद मुनि जी से मैंने उन सबका सन्तोषप्रद समाधान पाया तथा रोज सामायिक करने का नियम भी ग्रहण किया।

(श्रावकरत्न श्री पी. शिखरमल जी सुराणा ने चार-पाँच वर्षों में ही अपने जीवन को गुरु-सान्निध्य, मार्गदर्शन एवं स्वाध्याय से आध्यात्मिकता की ओर मोड़ दिया है। वे समर्पण, भक्ति एवं व्रत-नियमों के पालन में दृढ़ता के साथ आध्यात्मिक-विकास करने में सन्नद्ध हैं। प्रतिक्रमण कण्ठस्थ करने के साथ उपवास, पौषध आदि की आराधना पूर्वक विकार-विजय के मार्ग पर सत्श्रावक के रूप में आप सन्नद्ध हैं। हमने उनके विस्तृत आलेख का प्रारम्भिक अंश ही यहाँ प्रकाशित किया है।)

-61-63, Dr. Radhakrishnan Road, Mylapur, Chennai-04

संकल्प-विकल्प मिटे मन के, गुरुवर को जब मैंने देखा

श्री सम्पतराज चौधरी

(तर्ज : जीवन उन्नत करना चाहो तो, सामायिक साधन कर लो)

(वीर छन्द)

भव-भव में भटक रहा हूँ पर, मुझको न मिली सुख की रेखा ।
 संकल्प-विकल्प मिटे मन के, गुरुवर को जब मैंने देखा ॥

काया-माया के बंधन में, मैं झूम रहा हो मदमाता ।
 नित नई वासनाएँ जगतीं, उनकी पूर्ति में लग जाता ॥

संसार बढ़ा करके प्रतिपल, मैं रोज नये दुःख लेता था ।
 जग में जिसको अपना कहता, वह छोड़ मुझे चल देता था ॥

मैं भूल स्वयं के वैभव को, पर की ममता में था डूबा ।
 आकुलता से बचने मुझको, मिलता न कोई था मनसूबा ॥

मैं समझ नहीं पाया अब तक, जिन की वाणी क्या कहती है ।
 जीवन की उज्ज्वलता भरने, इसमें तो बसते मोती हैं ॥

परिग्रह की आकुलता तजकर, गुरुवर के चरणों में आया ।
 निज वैभव की मस्ती पाने, अब आया जग की तज छाया ॥

तुम भक्तों को क्या देते हो? करता हूँ ऐसा प्रश्न नहीं ।
 भगवान बनाते भक्तों को, सुनली मैंने यह बात कहीं ॥

इसलिये तुम्हारे चरणों में, आलोकित करने अन्तर को ।
 अब आया तेरी छाया में, बरसाओ अपने निर्झर को ॥

सब अन्तर क्लुष मिटे मेरे, उसमें तुम सम्यक् नीर भरो ।
 चैतन्य निलय में मेरे तुम, दुर्लभ बोधि का ज्ञान भरो ॥

हो अर्द्ध निशा का सन्नाटा, जब जग के प्राणी सोते हैं ।
 दिन के अज्ञान-अंधेरे में, अर्जित धन को भी खोते हैं ॥

दिन-रात बोधि की ज्योति में, तुम शान्त सुधारस पीते हो ।

अपने निर्झर के अमृत से, उजड़े उपवन सरसाते हो ॥
 तेरा अन्तर्वास सुवासित है, माया की कोई गन्ध नहीं ।
 चैतन्य जगत् के चित्तरंजन जड़ से तेरा अनुबन्ध नहीं ॥
 सार्थक है मुझको शरण तेरी, गुरुवर मुझको दो अन्तर्बल ।
 बस ज्ञाता-द्रष्टा बन जाऊँ, मिल जाये अब उत्तम मंगल ॥
 संवर से आस्रव को रोकूँ, कर्मों का आना बन्द हुए ।
 जब भेद-ज्ञान की आँख मिले, तप से कर्मों का अन्त हुए ॥
 स्वाध्याय करूँ मैं तन्मय हो, उस आत्म-तत्त्व के चिंतन का ।
 फिर पा जाऊँ मैं रत्नत्रयी, सच्चा पथ मोक्ष निकेतन का ॥
 मैं राग-द्वेष को दग्ध करूँ, निज आत्मतत्त्व को पा जाऊँ ।
 फिर सहचर होगी मुक्ति रमा, आनन्द भवन में आ जाऊँ ॥
 अन्तर की दाह मिटाने को, तुम गुरुवर हो मेरे चंदन ।
 अतएव झुके तव चरणों में, मेरे भाव-भरे सारे वंदन ॥

- 14, वरदाज अयाटमेंट्स, 64, इन्द्रप्रस्थ एक्सटेंशन, दिल्ली-110092



गुरु का महत्त्व

श्रीमती सुशीला योहरा

प्रस्तुत आलेख में गुरु के महत्त्व को विभिन्न उद्धरणों, उदाहरणों एवं विचारों से पुष्ट किया गया है।-सम्पादक

गुरु की महिमा अपरम्पार है। गुरु शब्द से ही मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है। वह शिष्य को अज्ञानरूपी अंधकार से निकाल कर ज्ञान रूपी प्रकाश के दर्शन कराता है, ऐसे गुरु को देव तुल्य माना गया है। कहा भी है -

गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।

गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म, तस्मै श्री गुरुवे नमः॥

गुरु ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर है वही साक्षात् परम ब्रह्म है, ऐसे गुरु को नमस्कार है। गुरु हमें हिताहित का ज्ञान कराता है। माता-पिता बच्चों को जन्म देकर उनका पालनपोषण करते हैं, लेकिन गुरु जीवन का निर्माण करते हैं। जन्म देने वाले प्रातःस्मरणीय एवं वन्दनीय होते हैं जो हमें दुनियाँ दिखाते हैं लेकिन आध्यात्मिक गुरु तो उससे भी अधिक पूजनीय होते हैं जो मोक्ष का मार्ग दिखाकर जन्ममरण की शृंखला को ही समाप्त कर जन्मातीत होने में प्रेरक होते हैं। जहाँ जन्म नहीं, जरा नहीं, मरण नहीं, रोग नहीं, शोक नहीं, दुःख नहीं, दारिद्र्य नहीं, कर्म नहीं, काया नहीं, मोह नहीं, माया नहीं, ज्योति में ज्योति स्वरूप होने का सौभाग्य मिलता है।

जो अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर ज्ञान रूपी प्रकाश दिखाये वह गुरु होता है। वैसे सामान्य दृष्टि से जिससे हम कुछ सीखते हैं वह गुरु है, चाहे वह आध्यात्मिक गुरु हो या शैक्षिक। शैक्षिक गुरु हमें अक्षरज्ञान सिखा कर रोजीरोटी कमाने लायक बनाता है अर्थात् पेट एवं पेटि भरने की शिक्षा देता है, लेकिन आध्यात्मिक गुरु हमें ठेठ की शिक्षा देता है, अर्थात् जीवन-लक्ष्य को प्राप्त करने का सुगम उपाय बताता है।

जैन दर्शन की दृष्टि से ऐसा आध्यात्मिक गुरु वही हो सकता है जो -

सो हू गुरु जो पाणी, आरम्भपरिग्रहा विरओ।

पंचिदिय-संवरणो, तह नवविह बंभचेरगुतिधरो॥

-जैन तत्त्व प्रकाश, 21

वही गुरु है जो ज्ञानी है, आरम्भ एवं परिग्रह से विरत है, पाँचों इन्द्रियों को संयत रखने वाला है तथा जो नौ प्रकार से ब्रह्मचर्य की गुप्ति का धारक है। ऐसे गुरु स्वयं निर्दोष मार्ग पर चलते हैं और बिना किसी स्वार्थ के

अन्य प्राणियों को उस मार्ग पर चलने हेतु प्रेरित करते हैं।

जो स्वयं तिरते हुए दूसरों को तारने में समर्थ हैं, जो सिद्धान्त का सही ज्ञान कराने, सुगति और कुगति के मार्ग एवं पुण्य-पाप का विवेक कराने, कर्तव्याकर्तव्य का सम्यग् ज्ञान कराने वाले हैं वे गुरु हैं उनके सिवाय भवसागर पार कराने वाला जहाज और कौनसा हो सकता है?

विषयों की आशा नहीं जिनको, साम्यभाव धन रखते हैं,
निज पर के हित साधन में, जो निशदिन तत्पर रहते हैं।
स्वार्थ-त्याग की कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते हैं,
ऐसे ज्ञानी साधु जगत् के, दुःख समूह को हरते हैं।

अब स्कूल कॉलेजों में केवल नामधारी शिक्षक/ गुरु रह गये हैं, जो कक्षा में पढ़ाते नहीं तथा द्यूशन के नाम से लाखों, करोड़ों बटोरने में लगे हुए हैं। ऐसे शिक्षक गुरु कहलाने के अधिकारी नहीं। आज तो कई धार्मिक कहे जाने वाले भी गुरु कहलाने के अधिकारी नहीं। वे कथा एवं प्रवचन के नाम से लाखों बटोरने में लगे हुए हैं। ऐसे गुरु के शिष्यों में नैतिकता, सदाचार, प्रामाणिकता एवं ईमानदारी के गुण कहाँ से पनपेंगे? ऐसे गुरु तारक नहीं हो सकते। नीति कहती है -

लोभी गुरु तारे नहीं, तिरे तो तारण हार।
जो तू तिरणो चाहे तो, निर्लोभी गुरु धार।

अर्थात् लोभी गुरु किसी को संसार सागर से पार नहीं उतार सकता। वह ही हमें तार सकता है जो स्वयं तिरने में समर्थ है। अतएव यदि हमें वास्तव में तिरना है तो निर्लोभी गुरु को ही धारण करना होगा अन्यथा वह स्वयं भी डूबेगा और हमें भी ले डूबेगा।

नीति भी यही कहती है -

बिल्ली गुरु बगुला किया, दशा उजळी देख।
कहो काळू कैसे तिरे, दोनों की गति एक।

बिल्ली यदि बगुले के सफेद रंग को देखकर उसे अपना गुरु बनाले तो यह ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रकार बिल्ली का ध्यान चूहा पकड़ने में रहता है उसी प्रकार बगुला भी मछली खाने के लिये पानी में एक पैर पर ध्यान की मुद्रा में खड़ा होता है और मछली देखते ही उसे गटक जाता है। दोनों की गति समान ही है। ऐसे ही कुछ भौतिक रंग में रंगे स्वार्थी गुरु हो सकते हैं जो अपने स्वार्थ, प्रतिष्ठा एवं सम्मान के लिये शिष्यों/जनसाधारण को झूठे प्रदर्शन एवं महोत्सवों में उलझाये रखते हैं और अपना मतलब गाँठते रहते हैं। इसलिये मारवाड़ी में कहावत है कि “ गुरु कीजे जाण कर और पाणी पीजे छाणकर ” यानी गुरु का चयन बहुत सोच समझ कर आत्मार्थ को दृष्टि में रखकर करना चाहिए।

आत्मार्थी गुरु के लक्षण बतलाते हुए कहा है -

आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदय प्रयोग।
अपूर्व वाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्या।

अर्थात् जो आत्म ज्ञानी है, परभाव की इच्छा से रहित हो गया है, तथा शत्रु - मित्र , हर्ष-शोक, सत्कार-तिरस्कार आदि के प्रति समताभाव रखता है, जो पूर्वकृत कर्मों के उदय के प्रति जागृत रहते हुए क्रियाएँ करता है, जिसकी वाणी अपूर्वता की द्योतक है तथा श्रुत ज्ञान का ज्ञाता है, वही सद्गुरु कहलाने का अधिकारी है। हमारी संस्कृति में ऐसे गुरु को ही महत्त्व दिया गया है - यथा

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव।।

कभी सती मदालसा ने मां के रूप में, कृष्ण ने पिता-पति-भाई के रूप में तथा, महासती चन्दना ने भाणजी के रूप में गुरु बनकर तिराने का काम किया है।

इतना आदर , सत्कार, सम्मान गुरु को क्यों दिया, इसको स्पष्ट करते हुए ऋषि कह रहे हैं -

अज्ञानतिमिश्रान्धानां, ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुःशुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरुवे नमः।।

वे अज्ञान रूप अन्धकार को मिटाने के लिये ज्ञानरूपी अंजनशलाका से चक्षु को खोल देते हैं, अर्थात् सही आन्तरिक दृष्टि प्रदान कर देते हैं। ऐसे वन्दनीय गुरु वही होते हैं जो देह में रहते हुए देहभाव से विरत होते हैं अर्थात् देह की ममता से ऊपर उठे हुए केवल आत्मभाव में रमण करते हैं, ऐसे गुरु के प्रति समर्पण भाव कैसा हो?

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः, पूजामूलं गुरोःपदम्।
मंत्रमूलं गुरोर्वक्तियं, मोक्षमूलं गुरोःकृपा।।

ऐसा समर्पणभाव एकलव्य में था। द्रोणाचार्य राजगुरु थे और एकलव्य एक गरीब अनाथ बालक। वह उनसे धनुर्धारी बनने की शिक्षा नहीं ले सकता था, अतः उसने जंगल में गुरु द्रोणाचार्य की मूर्ति बनाकर उनकी साक्षी में धनुष-बाण चलाने में अर्जुन से भी अधिक कुशलता हासिल करली। लेकिन द्रोणाचार्य ने अपने शिष्य अर्जुन को धनुर्विद्या में प्रथम पंक्ति में रखने के लिये गुरु दक्षिणा में एकलव्य से अंगूठा मांग लिया और शिष्य एकलव्य भी ऐसा जिसने गुरु के कहने पर वर्षों की धनुषबाण की साधना का महत्त्वपूर्ण अंग अंगूठा भेंट कर अपना नाम इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में अमर कर दिया।

हमारे प्राचीन इतिहास में ऐसे कई गौरवशाली कथानक हैं कि शिष्यों ने गुरु दक्षिणा में अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया। अयोध्यापति महाराजा हरिश्चन्द्र ने अपने गुरु वशिष्ठ के मांगने पर अपना सम्पूर्ण राज्य उनके चरणों में समर्पित कर दिया था। क्योंकि उन्हें गुरु में इतना विश्वास था कि इसमें भी मेरा कुछ भला है इसलिये उन्होंने ऐसी मांग रखी है। वास्तव में यदि वशिष्ठ ऐसी मांग नहीं करते तो क्या महाराजा हरिश्चन्द्र

युगों-युगों तक सत्यवादी हरिश्चन्द्र के नाम से विख्यात हो सकते थे? उनकी भी वही गति होती जो अन्य अनगिनत राजा-महाराजाओं की हुई। गुरु पर ऐसी श्रद्धा-भक्ति होने पर ही ऐसी फलश्रुति होती है।

वे गुरु दक्षिणा भी उन्हीं से लेते हैं तथा ऐसा ज्ञान भी उन्हें ही देते हैं जिन्हें वे इस योग्य समझते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि- पात्र बिना वस्तु न रहे, पात्रे आत्मिक ज्ञान। अर्थात् अनुकूल पात्र के बिना वस्तु भी नहीं रहती। शेरनी का दूध सोने के पात्र में ही सुरक्षित रह सकता है जैसे ही सद्ज्ञान भी हर शिष्य पचा नहीं सकता। भद्रबाहु स्वामी ने इसी कारण तो स्थूलभद्रजी को 10 पूर्वों के ज्ञान के बाद अपनी बहिनों के सामने शेर के रूप में प्रदर्शन करने पर उन्होंने संघ के विशेष अनुरोध से अन्तिम चार पूर्वों की वाचनी तो दी, लेकिन उसका रहस्य नहीं बताया। आत्मार्थी साधक रायचन्दजी ने गुरु की महिमा को बताते हुए कहा है-

प्रत्यक्ष सद्गुरु सख नही, परोक्ष जिन उपकार।

एवो लक्ष्य तथा बिना, ऊगे न आत्मविचार।

सद्गुरु के प्रत्यक्ष योग बिना तथा परोक्ष में तीर्थंकर परमात्मा के उपकार के प्रति अनन्य श्रद्धा भक्ति हुए बिना आत्मविचार, आत्मचिन्तन तथा आत्मदर्शन सम्भव नहीं है, क्योंकि-

मानादिक शत्रु महा, निज छंदे न मराय।

जातां सद्गुरु शरणमां, अल्प प्रयासे जाय।।

मानादिक कषाय आत्मोत्थान में महान शत्रु हैं। वे स्वयं के प्रयास से जल्दी जाते नहीं, क्योंकि स्वयंपाठी होने पर अपनी विद्वत्ता पर अहंकार अथवा घमण्ड आ जायेगा, लेकिन सद्गुरु के चरणों में जाने से अल्प प्रयास से ही कषायादि तिरोहित हो सकते हैं।

गुरु भटके हुए शिष्य को सही मार्ग पर लगा सकता है। कल्याणमन्दिर स्तोत्र के रचयिता श्री सिद्धसेन दिवाकर गुरु से हठ करके न्याय दर्शन सीखने बौद्ध गुरुओं के पास चले गये। वहाँ मान-सम्मान पाकर वे इतने गृद्धित हो गये कि बौद्ध धर्म के आचार्य पद पर आसीन होने की स्वीकृति दे दी। लेकिन अचानक उन्हें गुरु आश्रम से प्रस्थान के पूर्व गुरु का अन्तिम वाक्य स्मृति में आ गया कि कुछ अन्यथा ग्रहण करने पर आशीर्वाद लेने अवश्य आना। वे गुरु दर्शनार्थ आये, लेकिन वंदन की औपचारिकता देख गुरु भांप गये कि शिष्य भटक गया है। उन्होंने शिष्य को दशवैकालिक शास्त्र हाथ में देकर जंगल से वापिस आने तक रुकने को कहा। सिद्धसेन दिवाकर ज्यों-ज्यों उसे पढ़ते गये उनकी आँखों से अज्ञान का पर्दा उठने लगा और गुरु के आते ही उनके चरणों में समर्पित हो गये। गुरु ऐसे ही भटके हुए शिष्यों तथा श्रावकों को सही मार्ग पर ले आते हैं। कबीरदास जी तो यहाँ तक कहते हैं -

कबिरा ते नर अंध है, गुरु को मानत और।

हरि रूठे गुरु ठोर है, गुरु रूठे नहीं ठौर।।

उन्होंने गुरु को इतना महत्त्व दिया कि जो गुरु सम्मान नहीं देता ऐसा व्यक्ति अज्ञानी है। अरे! भगवान के रूठने पर गुरु की शरण में जा सकते हैं, लेकिन गुरु के रूठने पर दुनिया में कोई ठोर अथवा जगह नहीं है। हमारे सद्शास्त्रों में ऐसा कथानक है कि भगवान महावीर के अंतेवासी शिष्य को गौतम स्वामी के उपदेश से रास्ते में ही केवलज्ञान हो गया, फिर भी वे छद्मस्थ गुरु गौतम की वैसी ही विनय भक्ति करते रहे जैसे एक शिष्य करता है। यह स्थिति उस समय स्पष्ट हुई जब भगवान महावीर के समवशरण में वह शिष्य केवलियों की सभा में बैठने जा रहा था और गुरु गौतम ने उन्हें टोका, फिर भी शिष्य मौन रहा। तब भगवान महावीर ने गौतम की शंका का समाधान करते हुए कहा कि केवली का अपमान न करो। यह है गुरु के प्रति विनय भावना का ज्वलंत उदाहरण। अतः गुरु ही तो हमें गोविन्द (सिद्ध) बनने का रास्ता बताता है, इसलिये नमस्कार मंत्र में अरिहन्त भगवन्तों को पहले नमन किया और फिर सिद्ध भगवान को। कहा भी है -

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लॉंगू पाय।

बलिहारी गुरु आपकी, गोविन्द दियो बताय।।

-जी- 21, शास्त्रीनगर, जोधपुर (राज.)



जैन परम्परा में गुरु का स्वरूप

श्री पारसमल चण्डालिया

जैन परम्परा में सुसाधु ही गुरु है। सुसाधु कौन होता है, उसका क्या स्वरूप है तथा उसे गुरु क्यों मानना चाहिए, आदि बिन्दुओं पर प्रस्तुत आलेख में सम्यक् प्रकाश डाला गया है। -सम्पादक

1. गुरु कौन ? :-

मनुष्य के अंतःकरण में व्याप्त सघन अंधकार को जो विनष्ट कर देता है, जो विवेक का आलोक फैला देता है वह 'गुरु' कहलाता है। ज्ञान एवं आचरण में जो अपने से श्रेष्ठ होते हैं, त्याग और वैराग्य में जो अपने लिए आदर्श होते हैं, वे 'गुरु' कहलाते हैं। शास्त्र एवं टीका ग्रंथों में गुरु की अनेक व्याख्याएं मिलती हैं। जो धर्मज्ञ, धर्माचारी और धर्ममय जीवन जीते हुए धर्म एवं शास्त्र का उपदेश करता है, वह 'गुरु' होता है। जीवन रथ को कुमार्ग से बचा कर सन्मार्ग पर चलाने के लिए और अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए योग्य गुरु की अनिवार्य आवश्यकता है।

2. जैन धर्म में गुरु तत्त्व :-

जैन धर्म में तीन तत्त्व बताए हैं - (1) देव, (2) गुरु और (3) धर्म। कर्म शत्रु का नाश करने वाले अठारह दोष रहित, सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशक अरिहंत भगवान् देव हैं। निर्ग्रन्थ (परिग्रह रहित), कनक कामिनी के त्यागी, पंच महाव्रत के धारक, पाँच समिति एवं तीन गुप्ति युक्त, षट्कायिक जीवों के रक्षक, सत्ताईस गुणों से भूषित और वीतराग की आज्ञा अनुसार विचरने वाले धर्मोपदेशक साधु महात्मा गुरु हैं। सर्वज्ञभाषित दयामय, विनयमूलक, आत्मा और कर्म का भेद ज्ञान कराने वाला, मोक्ष का प्ररूपक शास्त्र धर्मतत्त्व है।

देव, गुरु और धर्म इन तीन तत्त्वों में भी गुरु का स्थान महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि गुरु ही देव और धर्म की सच्ची पहचान कराने वाले हैं। यही कारण है कि जैनागमों में स्थान-स्थान पर गुरु महिमा का वर्णन किया गया है।

'गुरु' तत्त्व को स्वीकारने से पूर्व उसे जानना-पहचानना व मानना आवश्यक है, इसीलिये कहा जाता है - 'पानी पीजे छान के, गुरु कीजे जान के।' क्योंकि जिसका गुरु तत्त्व उत्तम है उसका देव तत्त्व और धर्म तत्त्व भी निश्चय ही उत्तम होगा। अतः गुरु की सच्ची पहचान कर उस पर श्रद्धा और समर्पण की नितांत आवश्यकता है।

3. जैन धर्म में गुरु का स्वरूप :-

आवश्यकसूत्र में सम्यक्त्व का स्वरूप समझाते हुए आगमकार फरमाते हैं - 'जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।'

अर्थात् जीवन-पर्यन्त के लिए सुसाधु मेरे गुरु हैं। जैन परम्परा में सुसाधु को गुरु कहा गया है। साधु शब्द का अर्थ है सीधा, सरल, सज्जन, भला। इसके साथ 'सु' शब्द जोड़ा गया है। 'सु' का तात्पर्य वीतराग प्रभु की आज्ञा के अनुसार चलने वाला। अर्थात् जिनेश्वर भगवान् के मार्ग पर चलने वाले पंच महाव्रत के धारक, पाँच समिति, तीन गुप्ति के आराधक, छह काय के रक्षक, तप एवं संयम युक्त जीवन व्यतीत करने वाले साधुओं को सुसाधु कहते हैं।

4. सुसाधु की पहचान कैसे हो ? :-

दुनिया में साधु तो कई मिल जायेंगे, पर सुसाधु की पहचान कैसे हो? इसके लिए आगमकार दशवैकालिक सूत्र के सातवें अध्ययन में फरमाते हैं -

बहवे इमे असाहू लोए वुच्चंति साहुणो।

ण लवे असाहं साहुत्ति, साहं साहुत्ति आलवे।।

-दशवैकालिक, 7.48

लोके में बहुत से असाधु भी साधु कहे जाते हैं, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति असाधु को साधु नहीं कहे और साधु को ही साधु कहे।

णाणदंसणसंपण्णं संजमे य तवे रयं।

एवं गुणसमाउत्तं, संजयं साहुमालवे।।

-दशवैकालिक, 7.49

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन से युक्त सतरह प्रकार के संयम में और बारह प्रकार के तप में अनुरक्त साधु को ही साधु कहना चाहिए।

'साहवो संजमुत्तरा' - तप-संयम से श्रेष्ठ साधु ही सुसाधु हैं और सुसाधु ही जैन धर्म में गुरु पद में वंदनीय हैं। जो सुसाधु होता है वही सच्चा भिक्षु, निर्ग्रन्थ और अणगार होता है। उत्तराध्ययन सूत्र के पन्द्रहवें और दशवैकालिक सूत्र के दसवें 'सभिक्षू' अध्ययन में आदर्श भिक्षु अथवा सच्चा साधु कौन होता है उसका विस्तृत वर्णन किया गया है, जो जिज्ञासुओं के लिए द्रष्टव्य है।

जैन धर्म आचार प्रधान है, गुण प्रधान है। इसमें आचार और गुणों की ही पूजा है। व्यक्ति-पूजा का जैन धर्म में कोई स्थान नहीं है। इसीलिए कहा है - 'गुणेहिं साहू'² विनयादि गुणों को धारण करने से साधु होता है और गुणवान् साधु ही गुरु तत्त्व में पूजनीय है। संक्षेप में सुसाधु की पहचान कैसे की जाय, इसके लिए बुजुर्ग श्रावक फरमाते हैं -

ईर्या भाषा लषणा, ओलखजो आचारा।
गुणवंत साधु देखने वंदजो बारम्बार।।

जैन परम्परा में अनगार धर्म के पालक अनगार भगवंतों की विशेषताएं श्री सूर्यमुनिजी म.सा. ने अपने स्वरचित गीत में इस प्रकार गुम्फित की है -

ऐसे निर्ग्रन्थ गुरुजी हमारे, जो आप तिरे पर तारे।।टेर।।
अज्ञान तिमिर भयोघट भीतर, सो सब टारन हारे।
मोह निवार भये जग त्यागी, स्वपर स्वरूप निहारे।।1।।
त्रस थावर की हिंसा परिहर, अनुकम्पा रस धारे।
झूठ अदत्त परिग्रह आदि, अघावस अघ टारे।।2।।
नव विध वाड़ सहित ब्रह्मचारी, नारी नागन वारे।
बाह्य आभ्यन्तर एक स्वभावे, चरण करण मग धारे।।3।।
ध्यान धर्म का ध्यावे निशदिन, आरत रौद्र निवारे।
आनन्द कन्द चिदानन्द सुमरे, अघ मल पंक प्रजारे।।4।।
द्वाविंश परीषह पंच इन्द्रिय को, जीते सम अनगारे।
घोर तपोधन सम दम पूरे, पण परमाद विडारे।।5।।
श्रमण धर्म में लीन रहे नित, दिनकर धर्म उजारे।
क्षमा दया वैराग्य समाधि, धारक तत्त्व विचारे।।6।।
अनाचीर्ण बावन नित टाले, समिति गुप्ति वृद्ध पारे।
नन्दसूरि रज 'सूर्य मुनि' यों, सद्गुरु उच्चारै।।7।।

जिसमें न तो दर्शन है और न चारित्र गुण ही है, जिसकी श्रद्धा प्ररूपणा खोटी है, जो पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति से रहित है, जिसके आचरण सुसाधु जैसे नहीं है, उसे लौकिक विशेषता के कारण अथवा साधु वेष देखकर सुसाधु मानना उचित नहीं।

कौन गुरु हैं कौन नहीं, इसका विवेचन हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र में इस प्रकार दिया है -

महाव्रतधरा धीरा, मँक्षमात्रोपजीविनः।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः।।

-योगशास्त्र, 2.8

पाँच महाव्रतधारी, परीषहादि सहन करने में धीर, माधुकरी वृत्ति से भिक्षा करके जीवन चलाने वाले समभाव युक्त एवं धर्मोपदेशक गुरु माने जाते हैं।

सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशका गुरवो न तु ।।

-योगशास्त्र 2.9

सभी (भोग्य) वस्तुओं के अभिलाषी, सभी प्रकार के भक्ष्यभोजी, परिग्रहधारी अब्रह्मचारी और मिथ्या उपदेश देने वाले गुरु नहीं हो सकते हैं।

कुगुरु न तो स्वयं संसार सागर से तिरते हैं और न ही अपने आश्रय वालों को तार सकते हैं। वे स्वयं डूबते हैं और दूसरों को भी डूबाते हैं, क्योंकि -

परिग्रहार्थममग्नास्तारयेयुः कथं परान्।

स्वयं दरिद्रो न परमीश्वरीकर्तुमीश्वरः॥

- योगशास्त्र 2.10

परिग्रह और आरम्भ में मग्न रहने वाले गुरु दूसरों को कैसे तार सकते हैं ? जो स्वयं दरिद्र हैं वे दूसरों को धनाढ्य बनाने में समर्थ कैसे हो सकते हैं ?

5. वंदनीय कौन ? :-

जैन परम्परानुसार गुरु के रूप में वे ही वंदनीय होते हैं, जिन्होंने सर्व आरंभ और सर्व परिग्रह का त्याग कर दिया हो और जिनके अंतर में संयम की ज्योति प्रदीप्त हो। जो संयमहीन हैं वे वंदनीय नहीं होते। जिसकी आत्मा मिथ्यात्व के मैल से मलिन हो और चित्त कामनाओं से आकुल हो उसको सच्चा श्रावक वंदनीय नहीं मान सकता। खाने-पीने की सुविधा और मान-सम्मान के लोभ से कई साधु का वेश तो धारण कर लेते हैं, पर उतने मात्र से ही वे वंदन के योग्य नहीं होते हैं। ज्ञानियों ने गुरु की एक परिभाषा यह भी दी है - 'सो हु गुरु जो णाणी आरंभपरिग्राहा विरओ' - जिसने विशिष्ट तत्त्वज्ञान प्राप्त किया हो और जो आरंभ तथा परिग्रह से सर्वथा विरत हो, वह गुरु है यानी जैन धर्म के अनुसार जो सुगुरु हैं वे आरंभ परिग्रह के सर्वथा (तीन करण तीन योग से) त्यागी होने के कारण स्वयं तिरते हैं और अपने आश्रितों को भी मोक्ष का राजमार्ग बता कर तिराने का पुरुषार्थ करते हैं, ऐसे सद्गुरुओं के लिए ही 'तिष्णाणं तारयाणं' का विशेषण सार्थक होता है। जो अनगर भगवंत जिनेश्वर प्रभु द्वारा फरमाये हुए विधि-निषेधों का श्रद्धा पूर्वक पालन करते हैं वे परमेष्ठी पद अर्थात् गुरु पद (आचार्य, उपाध्याय और साधु) में वंदनीय हैं। गुरु पद में उन्हीं को स्थान प्राप्त है, जिनमें दूसरों की अपेक्षा गुणों की अधिकता हो। गुणवान् महात्मा के विद्यमान होते हुए भी गुणहीन एवं दोष पात्र को गुरु बनाना या तो अज्ञान का कारण है या पक्षपात अथवा स्वार्थ का। जिसमें बुद्धि है, जो गुणी, अवगुणी, शुद्धाचारी, शिथिलाचारी और दुराचारी का भेद समझता है, वह तो उत्तम गुणों के धारक महात्मा को ही गुरु पद में स्थान देता है।

जिसने जड़-चेतन के पार्थक्य को पहचान लिया है, पुण्य-पाप के भेद को जान लिया है, कृत्य-अकृत्य को समझ लिया है वह गुरु कहलाने के योग्य है, बशर्तेकि उसका व्यवहार उसके ज्ञान के अनुसार हो अर्थात् जिसने समस्त हिंसाकारी कार्यों से निवृत्त होकर मोह माया को तिलांजलि दे दी है, जो ज्ञानी होकर भी आरंभ परिग्रह का त्यागी नहीं है, वह संत नहीं।

जो ज्ञानी हो और आरम्भ तथा परिग्रह से विरत हो उसे गुरु बनाना चाहिए। साधना के मार्ग में आगे बढ़ने के लिए साधक के हृदय में श्रद्धा की दृढ़ता तो चाहिए ही, गुरु का पथ-प्रदर्शन भी आवश्यक है। गुरु के अभाव में अनेक प्रकार की भ्रमणाएं घर कर सकती हैं, जिनसे साधना अवरूढ़ हो जाती है और कभी-कभी विपरीत दिशा पकड़ लेती है। अतः जिसे हम गुरु के रूप में स्वीकार करना चाहें पहले उसकी परीक्षा कर लें और जो 'छत्तीसगुणो गुरु मज्झ' की कसौटी पर खरा उतरे उसे ही गुरु रूप में स्वीकार करें।

6. जैन साधुता :-

जैन धर्म ने देश, काल एवं व्यक्ति की सीमाओं को तोड़ कर कहा - जो साधना करे वह साधु है। जो राग-द्वेष को जीतने की साधना करता है, अपने विकारों और कषायों का दमन करता है, मन को समता एवं शांति में रमाता है वह साधु है। जैन परम्परा में समभाव की साधना को मुख्य स्थान दिया गया है। समता ही श्रमण संस्कृति का प्राण है। इसीलिए प्रभु फरमाते हैं - 'समयाए समणो होइ' सिर मुंडा लेने से कोई श्रमण नहीं होता बल्कि समता का आचरण करने से श्रमण होता है। राग द्वेष की क्षीणता, विकारों की परिमार्जना और समभाव की संवृद्धि, यह जैन साधुता की मूल निधि है।

जैन साधु की साधना 'अत्तताए परिब्बए' केवल आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए ही होती है। उनका एक मात्र ध्येय समस्त बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए होता है। उनका प्रयत्न कम्मणिग्घायणट्ठाए अब्भुटिट्ठया 'कर्म बन्धनों को नष्ट करने का ही होता है, वे निर्दोष आहार पानी लेते हैं और शरीर को पोषते हैं, वह भी मोक्ष साधना के लिए ही है। जैन साधु की सारी जिन्दगी सारे प्रयत्न, सभी क्रियाएं मोक्ष के लिए ही होती हैं। प्रभु जैन साधुओं की निर्दोष वृत्ति के लिए फरमाते हैं -

अहो जिणेहिं अन्सावज्जा, वित्तीं साहूण देसिआ।

मुक्खसाहणहेउस्स साहूदेहस्स धारणा।⁶

जिनेश्वर देवों ने मोक्ष-प्राप्ति के साधनभूत साधु के शरीर के निर्वाह हेतु साधुओं के लिए निर्दोष भिक्षावृत्ति बताई है।

निर्ग्रन्थ श्रमण मोक्ष के लिए ही प्रव्रजित होता है अर्थात् कर्म-बन्धनों को काट कर मोक्ष प्राप्त करने के लिए ही जैन साधुता अंगीकार की जाती है। मोक्ष मार्ग के आराधक मुनियों का इस प्रकार का उन्नत आचार, जिनशासन के अतिरिक्त अन्य मतों में कहीं भी नहीं कहा गया है। जो लोक में अत्यन्त दुष्कर है, जिनशासन के अतिरिक्त अन्य मतों में ऐसा आचार न तो भूतकाल में कहीं कहा हुआ है और न आगामी काल में कहीं होगा और न ही वर्तमान काल में कहीं है।⁷

जिनशासन में गुण और योग्यता का विकास करके हर व्यक्ति चरम-परम पराकाष्ठा को प्राप्त कर सकता है। अतः 'सुसाहुणो गुरुणो' की परिभाषा अपने आप में पर्याप्त है। जीवन का उत्कर्ष बिना गुरु के

संभव नहीं है। यदि जीवन को सुव्यवस्थित, सम्यग् एवं निश्चित दिशा में आगे बढ़ाना है तो सुसाधुओं की चरण शरण ग्रहण कर लेनी चाहिये। इसी में हमारा कल्याण निहित है।

सन्दर्भ:--

1. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 5, गाथा 20
2. दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन 9, उद्देशक 3, गाथा 11
3. उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 25, गाथा 32
4. सूयगडांग सूत्र, 3.3.11
5. उववाई सूत्र, 17
6. दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन 5 उद्देशक 1, गाथा 92
7. णणत्थ एरिसं वुत्तं, जं लोए परमदुच्चरं ।

विउल्लङ्घण भाइस्स, ण भूयं ण भविस्सइ ॥ - दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन 6 गाथा 5

- 7/14, उत्तरी नेहरू नगर, विडुल बस्ती, बंगाली मिठई के सामने, ब्यावर-305901(राज.)



Guru : A Light in Life

Dr. Ashok Kavad

This article shows importance and attributes of a Guru for the real development of moral spiritual life of a Person. It also shows difference among a teacher, a coach, a mentor and a Guru.-Editor

Importance of Guru:

We need teachers to expand our knowledge. We need coaches to deepen our skills. We need mentors to reveal us to our self; we do need guru to realize our spiritual self.

There can be multiple or many teachers, but only one guru. Teachers teach and help us in expanding our knowledge of material world. They are the architects of materialist life. Whereas guru is the beacon to a spiritually aligned life. Teachers are guide to this world. They guide us how to live in this world by providing information, techniques, ideas and knowledge for this material world. Similarly coaches help us in improving skills in various sports. Whereas, Guru is guide to the world beyond.

Mentors help us to reveal us to ourself by analyzing our strength and weaknesses. But guru is one who makes us to realize our spiritual self—the true-self.

We need teachers, coaches, mentors and guru the Becons, to go beyond the horizons. We can succeed in our temporary material life without guru, but we can not succeed in our journey of life, the spiritual life without the help of guru. Unless we acquire our true spiritual self we cannot succeed in the lives to come.

If we remove sun from sunrays nothing remains. If we remove the mud from the pot, nothing remains. If we remove cause from the effect nothing remains. Similarly if we remove teachings and our philosophy from the guru nothing remains.

Guru, the guide and philosopher, is the beacon for the spiritually aligned life. Guru is the one who shows us the path of liberation. In Namaskar Mahamantra due to this quality of Arihant, showing us the path of attaining pure self is being first revered even before siddhas, the pure liberated souls. The relationship with guru is of deep love, reverence, surrender and faith. Through him we first get the glimpse of divinity. Guru removes the darkness of ignorance from the minds of seeker. He by removing darkness enlightens the seeker with Brightness. With the help of enlightenment one can understand what is right and what is wrong.

Who can be Guru:

Thus guru can only be one who is on the path of liberation and also shows us

the path of the same. He should be pure and of great quality, so that he can help us to attain the same.

What he does:

Guru is similar to a sculpture, who removes all unwanted material from a rock or stone and creates a statue or idol. Similarly guru helps us in identifying the bad elements or qualities and by shredding all those unwanted or bad elements from us, a true and pure self will emerge one day or other.

It is said, millions of stars cannot give brightness, they can only sparkle, but one Moon can give brightness. Guru is like the moon to give brightness even in the dark side of our life.

True Qualities of Right Guru:

Jaina system prescribes that a true guru is one who should have

1. Renounced the material world in full,
2. Renounced the family relationships in Total, and
3. Taken a vow not to disturb any living organisms by any means and who should have taken the path of self purification as the only aim of his life.

Before accepting any one as guru, we should be very selective and confident. Upanishads prescribe five signs of sat guru.

In the presence of sat-guru

- a) Knowledge flourishes
- b) Sorrow reduces
- c) Joy increases
- d) Abundance dawns and
- e) Talents manifest.

In fact it is said in Guru Stuti,

“Guru is Bramhaa, Guru is Vishnu and Guru is Mahesha”.

One, who has found such a guru in his life, is the most blessed person in this world.

Benefits:

In the presence of a guru, we feel pulled towards our own self. Guru guides us to stand apart from our self and watch our self. He helps us in studying our thoughts and alters the direction of our thoughts. He helps us to watch our own emotions and choose our expressions and suppressions and makes us self-conscious. As a result, by our own awareness, we lift our self by us. He, the guru, opens our gates of paradise.

One of the greatest gifts to mankind is that man can practice self-observation. Man alone can analyze his own experiences and improve himself. Man alone can study his own behavior and either appreciates himself or changes his

behavior.

The three most prominent concepts of the spiritual world are, "Deva, Guru and Dharma". The self being atman is described as Deva, the light or brightness being provided by Guru and the same being utilized in life is known as Dharma.

It is easy to accept guru and it is different to practice what guru has preached.

In Shimoga, Mahasatiyanji Shri Sangeetaji said that the following benefits accrues to one who accepts and surrenders to guru unconditionally:

1. He will not be wasting his life.
2. He will be successful.
3. He will not be wandering in life, since the control of his life is in the hands of guru.
4. He will not have ego. It is because any success he will always accept that it was all because of his blessings.
5. He will be firm and clear in his thoughts. It is because he has got the torch which emits light and removes the darkness of ignorance.

On the other hand Dasavaikalika Sutra warns all those who criticize guru. It says that those who criticize guru will never attain liberation. We can also learn from Shree Bhagavati Sutra that Goshalaka due to his misbehavior has to suffer in Naraka [Hell] two births with maximum life duration.

Gratitude:

We should convey our thanks to god for showing us our Guru and

Convey our thanks to Guru

For showing us our god.

That is why Kabir said,

"Guru and God stand side by side

Whose feet should I touch?

O guru! I offer myself at the feet, since you showed me the path to God!"

It is a great opportunity to remind and cherish the benefits attained due to the blessings and teachings of this great Guru viz., Acharya Shree Hastimalji Maharajsaab, in this birth centenary year. He fulfilled all the true qualities prescribed in scriptures. It was a great opportunity to get his blessings and teachings. An Ideal Guru in all respects. He not only excelled him self but also created excellent.

A Light for Life:

A true guru is one who helps the seeker to achive his ultimate objective. The ultimate objective of all the soul is to attain Liberation. Guru doesn't keep the disciple with him but he makes him to attain the pure form of soul being siddhatva. A true Light for the Soul.

33, Montieth Road, Egmore, Chennai. 600008.

हिन्दी-भक्ति-साहित्य में गुरु का स्वरूप एवं महत्त्व

डॉ. किशोरीलाल रैजर

गुरु वह तत्त्व है जो अज्ञान का नाशकर परमात्म-पद से हमारा साक्षात्कार कराता है। सिद्ध एवं नाथों के साथ हिन्दी के भक्तिकालीन सन्त कवियों कबीर, नानक, रविदास, दादूदयाल, चरनदास, स्वामी शिवदयालसिंह, मीरां, साईं बुल्लेशाह, तुलसीदास आदि के काव्यों में निहित गुरु-महिमा को लेखक ने निपुणता से संयोजित किया है। आलेख से गुरु की उत्कृष्टता का सहज ही बोध होता है। -सम्पादक

मनुष्य जन्म लेते ही सीखने की ओर प्रवृत्त होता है। संसार में वह जो कुछ भी ग्रहण करता है, सीखता है। इसके लिए उसे गुरु की आवश्यकता होती है। वैसे तो संसार के जीवों की प्रथम गुरु उसकी जन्मदात्री 'माँ' होती है, क्योंकि बच्चा जन्मते ही माँ के सम्पर्क में आता है। अतः माँ ही उसे संसार रूपी पाठशाला में पहला पाठ पढ़ाती है। लेकिन जब बात अध्यात्म या भक्ति की आती है तो वहाँ गुरु का अर्थ एक विशिष्ट रूप में लिया जाता है। वेद, उपनिषद्, बौद्ध, जैन, सिद्ध, नाथ साहित्य में गुरु की महत्ता पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। सामान्य अर्थ में 'गुरु' वह है जो जीव को सांसारिक बंधनों से दूर कर उसे अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाये। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में भक्ति की जो पावन सरिता प्रवाहित हुई उसमें डूबकी लगाकर कई भक्त संसार सागर से पार हो गये। सवाल उठता है कि सांसारिक माया-मोह में डूबे जीव को पार लगाने वाला कौन है ? निःसन्देह वह गुरु ही है। चाहे भक्ति की सगुण धारा हो या निर्गुण धारा, दोनों पंथों में ही गुरु के स्वरूप और उसके माहात्म्य पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है।

हिन्दी के निर्गुण साहित्य की परम्परा सिद्ध, नाथों से प्रारम्भ होकर संतों तक आती है। सिद्धों में सरहपा, शबरपा, लुहपा, डोम्बिपा, कुक्कुरिपा आदि कई प्रसिद्ध सिद्ध कवि हुए हैं। सिद्ध कई गुह्य विद्याओं के ज्ञाता थे। उनको सीखने के लिए समर्थ गुरु की अत्यन्त आवश्यकता पड़ती थी, क्योंकि वह अध्यात्म पथ पर आगे ले जाता है। सरहपा के बारे में प्रसिद्ध है कि उन्होंने गुरु-सेवा को महत्त्व दिया। साधना का मार्ग अत्यन्त जटिल होता है, उसमें भटकने से बचने के लिए साधक को गुरु के पास जाना ही पड़ता है। सिद्ध कवि लुईपा ने कहा है - लुई भणई गुरु पुच्छेउ जाण। इसी तरह नाथ साहित्य में भी गुरु के माहात्म्य का विस्तृत वर्णन है।

भक्तिमार्ग में अज्ञानी जीव को परमात्मा से मिलाने का सच्चा मार्ग गुरु ही बता सकता है। गुरु जीव के अन्दर परमात्मा के प्रति प्रेम पैदा करके उनसे एकाकार होने का मार्ग बताता है, क्योंकि गुरु की कृपा से ही भक्त

के अन्तर्हृदय के कपाट खुलते हैं। 'आदिग्रंथ' में इस संबंध में कहा गया है- गुरु परसादी पाईएं अंतरि कपट खुलाही।²

गुरु अर्जुनदेव ने तो यहाँ तक कहा है कि जीवात्मा को प्रेम-भक्ति का आधार बख्शने के लिए परमात्मा स्वयं साधु या गुरु के रूप में प्रकट होता है -

'अंध कूप ते काढनहार। प्रेम भगति होवत निसत्तारा।

साध रूप अपना तनु धारिआ। म्हा भगति ते आपि उबारिआ।'³

शास्त्रों में गुरु को ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के रूप में मानकर साक्षात् परमब्रह्म कहा है। इसी बात को कबीरदास जी ने गुरु के पद को परमात्मा से भी बढ़कर बताते हुए कहा है -

'गुरु गोविन्द ढोऊ खड़े, काके लागूं पाया।

बलिहारि गुरु आपने, गोविन्द दियो बताया।'

(कबीर)

वास्तव में गुरु परमात्मा से भी बढ़कर होता है, क्योंकि गुरु की कृपा से ही परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है। अन्यथा जीव संसार रूपी सागर में भटकता रहता है। गुरु संसाररूपी ताले की कुंजी है। उनके ज्ञान की चाबी के बिना संसार का घुमावदार ताला नहीं खुल सकता। उसको गुरु अर्जुनदेव ने इस रूप में प्रकट किया है -

'जिस का ग्रिहू तिनि दीआ ताळा कुंजी गुरुअउपाई।

अनिक उपाव करे नहीं पावै बिनु सतिगुरु सत्पणाई।'

तात्पर्य यह है कि संसार सागर से उतरने के चाहे कितने ही प्रयास कर लो, गुरु की कृपा और उसकी शरण में गये बिना सांसारिक जीवों की मुक्ति नहीं हो सकती। इसलिए 'आदिग्रंथ' में तो गुरु नानक साहब स्पष्ट कहते हैं - 'ओ सतिगुरु प्रसादि' अर्थात् उस अकाल पुरुष का साक्षात्कार गुरु की कृपा से ही हो सकता है जो 'ओंकार' रूप है।

गुरु कौन हो सकता है ? इसके संबंध में राधास्वामी सत्संग के गुरु महाराज सावन सिंह ने कहा है- "गुरु से संतों का अभिप्राय अपने समय का जीवित गुरु है। पिछले समय में हो चुके महात्मा पूर्ण होने के बावजूद हमारी कोई सहायता नहीं कर सकते। हमें ऐसे पूर्ण संत-सत्गुरु की जरूरत है, जो हमारी लिव अन्तर में नाम से जोड़ सके और जिसके ध्यान द्वारा हम अपने मन और आत्मा को अन्तर में एकाग्र करके परमात्मा के शब्द या नाम से जोड़ सकें।"⁵

इस संबंध में दरिया साहब ने स्पष्ट कहा है -

'जिन्दा गुरु निहचै गहो, वा गुरु सनदी हजूर।

वा सनदी के देखते, जम भागे बड़ी दूर।'

(दरिया)

अर्थात् समय का जिंदा सतगुरु ही समर्थ एवं सक्षम गुरु होता है। जिनको देखते ही काल भी भाग जाता है। इस बात को और भी अच्छी तरह से स्वामी शिवदयाल सिंह ने इन शब्दों में बयां किया है -

बिन गुरु वक्त भक्ति नाहिं परवे, बिन भक्ति सतलोक न जावे॥

वक्त गुरु जब लग नहिं मिलई। अनुरागी का काज न सर है॥

(सार बचन, स्वामी जी महाराज)

संत कबीर ने तो अपनी साखियों, पदों और रमैणियों में गुरु के स्वरूप एवं उसके महत्त्व को विस्तृत रूप से रेखांकित किया है। उन्होंने 'सतगुरु सबान को सगा, साधि सहें न दाति', द्वारा स्पष्ट कहा है कि सतगुरु के समान इस संसार में कोई निकट सम्बंधी नहीं, क्योंकि वह जिस परम तत्त्व की खोज करता है उसको पूर्ण रूप से शिष्य में उंडेल देता है। इसलिए कबीर गुरु पर बार-बार बलिहारी होने की बात करते हैं। गुरु शिष्य को संसार के अंधानुकरण से मुक्त कर स्वयं ज्ञान का दीपक हाथ में लेकर ब्रह्म तत्त्व तक पहुंचता है। इस संबंध में कबीर की यह साखी देखिए -

‘पीछें लागा जाह था, लोक वेद के साधि।

आगे थैं सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि॥’

(कबीर)

उन्होंने आगे कहा है कि गुरु से भेंट होने पर शिष्य के हृदय में ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। सदुरु सच्चे शूरी हैं। जिस प्रकार रणभूमि में सूर अपने विरोधी पक्ष को बाणों के प्रहार से परास्त कर देता है, उसी प्रकार सच्चा गुरु शब्द रूपी बाण से शिष्य को आत्मसाक्षात्कार करवाकर सारी मोह-माया से मुक्त कर देता है। 'कबीर ज्ञान गुदडी' में गुरु की महत्ता को विस्तार से प्रकट किया गया है -

गुरुदेव बिन जीव की कल्पना न मिटे, गुरुदेव बिन जीव का भला नाहीं।

गुरुदेव बिन जीव का तिमर नासै नहीं, सम्झि बिचारि लो मनै माहीं।

राह बारीक गुरुदेव तें पाइये, जन्म अनेक की अटक खोलैं।

कहै कबीर गुरुदेव पूरन मिलैं, जीव और सीव तब एक तोलैं॥

(कबीर ज्ञान गुदडी)

कबीर के अनुसार गुरु योग की 'उनमन' अवस्था तक पहुंचाता है तथा मन की चंचल वृत्तियों को दूर कर उसे सांसारिकता से दूर करता है। इन्हीं भावों को कबीर इस साखी में प्रकट करते हैं -

हंसै न बोले उनमनी, चंचल मेलहया मारि।

कहे कबीर भीतरी भिद्या, सतगुरु कै हथियारि॥

(कबीर)

कबीर ने कहा है कि सदुरु ने प्रेमरूपी तेल से परिपूर्ण एवं सदा प्रज्वलित रहने वाली ज्ञानवर्तिका से

युक्त उन्हें दिव्य दीपक प्रदान किया है, जिसके प्रकाश से संसार रूपी बाजार में उपयुक्त रीति से समस्त क्रय-विक्रय कर लिया है। अतः अब वे इस बाजार में पुनः नहीं आयेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि सतगुरु की कृपा से आवागमन से मुक्ति मिलती है -

दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुणां, बहुरि न आंवाँ हट्ट।

(कबीर)

गुरु महिमा को और भी स्पष्ट करते हुए कबीर कह रहे हैं - संसार के माया रूपी दीपक पर जीव रूपी अनेकानेक पतंगे आकर नष्ट हो जाते हैं, किन्तु ऐसे विरले ही हैं जो गुरु के ज्ञान और उनकी कृपा से उबर जाते हैं

माया दीपक नर पतंग, भमि भमिइवै पडंत।
कहै कबीर गुरु ग्यान तैं, एक आध उबरंत॥

(कबीर)

कबीर की दृष्टि में गुरु सच्चा और ज्ञानी होना चाहिए, क्योंकि जिस शिष्य का गुरु भी अंधा व अज्ञानी है तथा शिष्य भी पूर्ण रूपेण अंधा, मूढ़ है तो वे दोनों ही लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकेंगे। उन्होंने कहा है -

‘जा का गुरु भी अंधला, चेला खरा, निरंध।
अंधै अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पडंत॥’

(कबीर)

उन्होंने इसे एक जगह पर और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि -

ना गुरु मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या दाव।
दून्यूं बूडे धार में, चदि पाथर की नाव॥

(कबीर)

दूसरी ओर जिन लोगों के चित्त भ्रममुक्त हैं, उन्हें यदि सदुरु मिल भी जायें तो क्या लाभ होगा। ऐसे भ्रमित लोग ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि यदि वस्त्र को रंगने से पूर्व पुट देने में ही वह नष्ट हो जाये तो सुन्दर रंग देने में समर्थ मजीठ बेचारा क्या कर सकता है -

सतगुरु मिल्या त का भया, जे मन पाड़ी भोळ।
पासि बिनंठा कप्पड़ा, का करै बिचारी चोळ॥

(कबीर)

कबीर ने कहा है कि सदुरु सच्चा शूरवीर है जो शिष्य को अपने प्रयत्नों से उसी प्रकार योग्य बना देता है, जैसे लोहार लोहे को पीट-पीट कर सुघड़ और सुडौल आकार प्रदान करता है तथा शिष्य को परीक्षा की अग्नि में तपा-तपाकर स्वर्णकार की भांति इस प्रकार योग्य बना देता है कि शिष्य कसौटी पर खरा उतारकर सोने के

समान अपनी शुद्धता प्रकट कर ब्रह्म तत्व को प्राप्त कर ले -

सतगुरु सांचा सूरिवां, तातैं लोहिं लुहाए।
कसणी दे कंचन किया, ताह लिया तवसाए।।

(कबीर)

संत कबीर की तरह अन्य निर्गुण संतों ने भी गुरु की महिमा का सांगोपांग बखान किया है। गुरु रविदास की वाणी से इस कथन को और भी पुष्टता मिलती है। संत रविदास ने कहा है कि एकमात्र गुरु ही हमें सच्चे प्रेम की दीक्षा देकर भवसागर से पार करता है। गुरु ज्ञान का दीपक प्रदान कर उसे प्रज्वलित करते हुए शिष्य से परमात्मा की भक्ति करवाता है तथा उसे आवागमन के चक्र से मुक्त करता है -

गुरु ग्यान दीपक दिया, बाती बह जलाय।
रविदास हरि भगति कारनै, जन्म मरन विळमाय।।

(रविदास)

इसी तरह माया रूपी दीपक को जलता देखकर जीव रूपी पतंगा अंधा होकर उस पर टूट पड़ता है और उसमें जल मरता है। रविदास जी समझाते हैं कि गुरु का ज्ञान प्राप्त किए बिना कोई भी व्यक्ति इस मायाजाल से मुक्त नहीं हो सकता। संसार रूपी सागर को पार करने के लिए गुरु रूपी पतवार का सहारा अत्यावश्यक है -

मौ सागर दुतर अति, किधुं मूरिख यहू जान।
रविदास गुरु पतवार है, नाम नाम करि जान।।

(रविदास)

रविदास की मान्यता के अनुसार गुरु परमात्मा तक पहुंचने के सभी रहस्यों को जानता है, किन्तु कोई व्यक्ति सच्चे गुरु के चरणों में न जाकर षड्दर्शन, वेद, पुराणों को पढ़कर तत्त्वज्ञान की बात करता है तो वह अधूरा है। प्राणायाम करना, शून्य समाधि लगाना, कान फड़वाना, गेरुए वस्त्र लपेटे रहना सद्गुरु के लक्षण नहीं। सद्गुरु तो अन्तर की रूहानी खोज कराकर शिष्य को परमात्मा से मिलता है। इस सम्बन्ध में यह पद द्रष्टव्य है -

गुरु सभु रहसि अगमहि जानैं।
दूंदे काउ घट सास्त्रन मंह, किधुं कोउ वेद बखाने।।
सांस उसांस चढ़ावै बहु बिध, बैठहिं सुनि समाधी।.....
कहि रविदास मिल्यौ गुरु पूरै, जिहि अंतर हरि मिळानै।।

(रविदास)

रविदास कहते हैं कि सतगुरु सभी पिछले जन्मों के पापों को नष्ट कर शिष्य को सच्चा रास्ता दिखाते हैं तथा कनक-कामिनी के बीच मग्न रहने वाले सांसारिक लोगों को रास्ता दिखाकर उनका उद्धार करते हैं। सच्चा गुरु सांसारिक सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीवन-मरण, हर्ष-शोक की चिन्ता किए बिना निष्काम भाव से कर्तव्य पालन करता है तथा कमल के पत्ते के समान जल में रहते हुए भी जल से अछूता रहता है। वह करुणा और

क्षमा की साक्षात् प्रतिमूर्ति होता है तथा सदैव परोपकार में लगा रहता है। यहाँ तक कि वह राग-द्वेष से ऊपर उठकर गुरु कहलाने की भी इच्छा नहीं रखता। इसलिए रविदास ऐसे सतगुरु के दर्शन पर बलिहारी जाते हैं। उनके चरण धोते हैं तथा चरणों में शीश झुकाते हैं, क्योंकि सतगुरु मिल जाता है तो वह जन्म-जन्म के कर्म बंधन को काट डालता है। इस वाणी में रविदास ने भावातिरेक होकर इन्हीं भावों को प्रकट किया है -

आज दिवस लेउं बलिहारी,
मेरे ब्रिह आया राजा राम जी का प्यारा।
आंगन बगड़, भुवन भयौ पावन, हरिजन बैठे हरिजस भावन।
करौ डंडोत अरु चरन पखारौं, तन-मन-धन संतन पर वारौं।
कथा करै अरु अरथ विचारै, आप तरै औरति कौ तारै॥

(रविदास)

रविदास का कहना है कि सतगुरु का मिलाप होने पर जो सुख प्राप्त होता है उसे शब्दों में बयां नहीं किया जा सकता। गुरु से भेंट होने पर जीव के प्रारब्ध कर्म कट जाते हैं तथा उसका वज्र कपाट खुल कर उसे प्रेमाभक्ति प्राप्त हो जाती है। रविदास कहते हैं -

‘रवि प्रगास रजनी जूथा, गति जानत सम संसार।
परस आनों तांबो छुए, कनक होत नहीं बार॥
परम परस गुरु भंटीए, पूरब लिखत लिळाट।
उनमन मन मन ही मिलै, छुटकत बजर कपाट॥’

(रविदास)

जीव संशय में पड़कर सांसारिक बंधनों में लिपटा रहता है, उसे सतगुरु ही मुक्त कर सकता है। दादूदयाल इस संबंध में कहते हैं-

सतगुरु मिलै न संसार जाई, ये बंधन सब देखै छुड़ाई।
तब दादू परम गति पावै, सो निज मूरति माहिं लखावै॥

(दादूदयाल)

संत चरनदास के अनुसार भी सतगुरु जगत की समस्त व्याधियों से मुक्ति दिलाता है, ईश्वर-भक्ति में प्रेम उत्पन्न करता है तथा जीव को सभी दुःखों से दूर करता है -

‘गुरुही के परताप सुं, मिटे जगत की ब्याध।
राग दोष दुःख ना रहै, उपजे प्रेम अगाध॥’

(चरनदास)

गुरु सदैव शिष्य का हित साधने वाला, उसका मित्र तथा रहस्य की बातें बताने वाला है। स्वामी शिवदयाल सिंह जी इस भाव को इन शब्दों में प्रकट करते हैं -

गुरु है हितकारी तेरे। गुरु बिन कोई मित्र न है रे।
गुरु फंद छुड़ावे जम के। गुरु मर्म लिखावे सम के।
भौजल से पार उतारें। छिन-छिन में तुझे संवारें।

(सारबचन, स्वामी शिवदयालसिंह)

प्रेममार्गी सूफी संतों ने भी गुरु की महत्ता का बखान बहुत ही आदरपूर्वक व्यापक रूप में किया है। उनकी मान्यता है कि बिना गुरु के निर्गुण ब्रह्म का रहस्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। जायसी बहुत ही प्रसिद्ध सूफी संत हुए हैं। उन्होंने 'पद्मावत' में गुरु के महत्त्व का बखान इस प्रकार से किया है -

गुरु सुआ जेहि पंथ देख्वावा।
बिन गुरु जगत को निरगुण पारवा।।

(पद्मावत, जायसी)

इसी तरह सूफी संत सुल्तान बाहू ने मुर्शिद (गुरु) को रहमत का दरवाजा बताते हुए कहा है -

मुर्शद मैंनू हज्ज मक्के दा, रहमत दा दरवाजा हूँ।
करां तवाफ़ दुआले किबले, हज्ज होवे नित ताजा हूँ।

(सुल्तान बाहू)

साई बुल्लेशाह ने गुरु को साक्षात् खुदा के रूप में मानते हुए कहा है -

मौला आदमी बण आया। ओह आया जग जगाया।।

(साई बुल्लेशाह)

इस छोटे से कलम में साई बुल्लेशाह ने गुरु की महत्ता का पूरा बखान कर दिया है कि उस आदमी रूपी सतगुरु ने संसार को जगाया है।

संतमत में गुरु को अत्याधिक प्रमुखता दी गई है, क्योंकि गुरु शिष्य को सिमरण की विधि सिखाकर नामदान देता है। बिना गुरु के सुमिरन करने वाले व्यक्ति को सावधान करते हुए कबीर कहते हैं कि -

जो निगुरा सुमिरन करै, दिन में सौ सौ बार।
नगर नायका सत करै, जरै कौन की लार।।

(कबीर)

सद्गुरु मोक्ष-मुक्ति का दाता होता है। 'आदिग्रंथ' में इस सम्बन्ध में कहा गया है -

गगन मध्य जो कँवल है, बाजत अन्नहद तूर।
दल हजार को कमल है, पहुँच गुरु मत सूर।।

(चरनदास)

कहने का तात्पर्य यह है कि सद्गुरु के बताये मार्ग द्वारा ही उस परम पुरुष तक पहुँचा जा सकता है। दरिया साहब भी यही बात कहते हैं -

अनहद की धुनि करे बिचारा। ब्रह्म दृष्टि होय उजियारा।
एह जो कोह गुरु ज्ञानी बूझे। सब्द अनहद आपुहि सूझे।

(दरिया)

संतमत में परम पुरुष तक पहुँचने का अन्तर्मुखी रूहानी अभ्यास सतगुरु ही सिखाता है, जिसको गुरुमंत्र, नाम-दान या गुरु का शब्द कहा जाता है। सूफी संत इसे 'कलमे का भेद' दिया जाना मानते हैं। वास्तव में रूहानी अभ्यास से गुरु का शब्द ही साक्षात् गुरु के रूप में प्रकट हो जाता है। सदुरु के दिए गए नाम में बड़ी शक्ति होती है। इसे महाराज सावन सिंह ने इस प्रकार समझाया है - सतगुरु का बख्शा सिमरन केवल लफ्ज ही नहीं होता। इसमें सतगुरु की शक्ति और दया शामिल होती है, जिस कारण यह सिमरन शीघ्र फलदायक होता है। इस सिमरन के द्वारा मन सहज ही अन्दर एकाग्र हो जाता है। सतगुरु द्वारा बख्शा गया सिमरन बन्दूक में से निकली गोली के समान प्रभाव डालता है, जबकि मन-मर्जी से किया गया सिमरन हाथ से फेंकी गई गोली के समान व्यर्थ चला जाता है। (संतमत सिद्धांत: महाराज सावन सिंह जी, राधास्वामी सत्संग, ब्यास, पृ 145) कहने का तात्पर्य यह है कि सतगुरु साक्षात् परम पुरुष के रूप में होते हैं, जो शिष्य को नामदान देकर उसकी रूहानी यात्रा में मार्गदर्शन करते हैं। ऐसे शिष्य का ही परदा खुलता है तथा फिर उसकी आवागमन से मुक्ति हो जाती है।

नानक सतिगुरु भेटिए, पूरी होवै जुगति।
हसंदिआ खेळंदिया पैनंदिया खावंदिया विचे होवै मुकति॥
(नानकदेव)

सतगुरु शब्द के रूप में शिष्य को ऐसी अमृत जड़ी का पान करवाता है, जिसे पीकर शिष्य संसार सागर से पार उतर जाता है। सतगुरु के शब्द से काल भी डरता है। इस बात को संत कबीर ने और भी स्पष्ट करते हुए कहा है -

'गुरु ने मोहिं दीन्ही अजब जड़ी।
ओ जड़ी मोहिं प्यारी लगतु है, अमृत रसन भरी।
(कबीर)

इसी तरह उन्होंने और भी कहा है -

सतगुरु एक जगत में गुरु हैं, सो भव से कडिहारा।
कहे कबीर जगत के गुरुवा, मरि-मरि लैं औतारा॥
(कबीर)

कबीर, रविदास व अन्य निर्गुण संतों ने अपने देहधारी गुरु को परमात्मा के रूप में माना है। इनके पदों में स्थान-स्थान पर अपने गुरु की प्रशंसा में अमोलक वचन कहे गये हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि भक्ति में गुरु का पद सबसे बड़ा है। सगुण भक्ति में भी सतगुरु को विशेष महत्त्व दिया गया है। मीरा, संत रविदास को अपना गुरु

मानते हुए कहती हैं कि उनकी कृपा से ही उनको ईश्वर के दर्शन हुए हैं --

मीरा ने गोविन्द मिळायाजी, गुरु मिळिया रैदास।

(मीरां)

इसी तरह रैदास संत मिळे मोहि सतगुरु, दीन्हीं सुरत सहदानी।

(मीरां)

स्पष्ट है कि 'सुरत शब्द' का ज्ञान गुरु कृपा से ही होता है। उन्होंने एक पद में सतगुरु की महत्ता को दर्शाते हुए कहा है कि नव-विवाहित आत्मा जब प्रभु के धाम पहुँचती है तो अन्य सुहागिन आत्माएँ उससे पूछती हैं कि तू इतने समय तक कुँआरी क्यों रही ? आत्मा कहती है कि उसे अबतक सतगुरु नहीं मिले थे। सतगुरु ही उसके लिए वर ढूँढ़ कर, विवाह का लगन निश्चित करके उसका हाथ प्रभु रूपी वर के हाथ में दे सकते थे। अर्थात् प्रभु का मिलाप तब तक नहीं हो सकता जब तक सच्चा सदुरु नहीं मिलता -

सुरता सवागण नार, कुंवारी क्यूँ रही।

सतगुरु मिळिया नांय, कुंवारी बीरा यूँ रही।।

सतगुरु बेगि मिळाय, छिन में सात्वा सोडिया।

झटपट लगन लखाय, ब्याव बेगो छोडिया।।

(मीरां)

मीरां ने सतगुरु को इस भवसागर से पार उतारने वाला कहा है, क्योंकि सतगुरु से जो नाम मिलता है, उस दुर्लभ पदार्थ को पाकर संसार सागर से पार उतरा जा सकता है -

पायो जी मैं तो राम रतन धन पायो।

बस्तु अमोळक दी मेरे सतगुरु, किरपा कर अपनायो।।

सत की नाव खेवटिया सतगुरु, भवसागर तर आयो।।

(मीरां)

गोस्वामी तुलसीदास भी सदुरु को हारिरूप ही मानते हैं। उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'रामचरित मानस' में गुरु की वंदना करते हुए कहा है -

बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि।

महामोह तम पुंज जासु बचन रवि कट निकट।।

(रामचरित मानस, तुलसीदास)

तुलसीदास ने गुरु के चरणकमलों की रज को संजीवनी जड़ी के समान माना है जो संसार के समस्त रोगों को नष्ट करती है। गुरु के चरणों की वह धूलि भक्त के मन के मैल को दूर करने वाली और उसका तिलक करने से गुणों के समूह को वश में करने वाली है -

सुकृति संभु तन बिमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती।।

जन-मन मंजु मुकुट मल हरनी। किं तिलक गुन गन बस करनी॥

(रामचरित मानस, तुलसीदास)

उन्होंने गुरु के चरण नखों की ज्योति को मणियों के प्रकाश के समान बताया है, जिसके स्मरण करते ही हृदय में दिव्य दृष्टि उत्पन्न होती है तथा शिष्य के अज्ञान रूपी अंधकार का नाश होता है।

श्री गुरु पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती।

दलन मोह तम सो सप्रकासू। बड़े भाग उर आवह जासू॥

(रामचरित मानस, तुलसीदास)

उनके अनुसार गुरु कृपा से ही वे 'रामचरित मानस' लिख पाए हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिन्दी के भक्ति-साहित्य में गुरु के स्वरूप और उसकी महिमा का विस्तार से चित्रण हुआ है। चाहे सिद्ध साहित्य हो या नाथ साहित्य या फिर संत-साहित्य, सबमें गुरु को परमात्मा ही माना गया है। वह समय का देहधारी व्यक्ति होता है, स्वयं परमात्मा से मिला होता है तथा अपनी कृपा से वह शिष्य को नामदान देकर उसके समस्त पापों का विनाश करता है तथा संसार के आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक सभी त्रितापों का शमन करता है तथा अपने शिष्य के संसार के सभी बंधनों को समाप्त कर उसे अंधकार की कारा से छुटकारा दिलाता है। सतगुरु अपने नामदान से शिष्य को रूहानी यात्रा करवाता है तथा अंदर की धुन व प्रकाश से परिचित करवाता है। संत कबीर, नानक, रविदास, दादू, चरनदास, स्वामी शिवदयाल सिंह आदि सभी निर्गुण संतों, सूफी कवियों जायसी, साईं बुल्लेशाह, सुल्तान बाहु तथा सगुणधारा के तुलसीदास, भक्त कवयित्री मीराबाई ने सतगुरु की महिमा का भावातुर हृदय से बखान किया है, जो सिद्ध करता है कि सतगुरु की महिमा अनन्त है। वह संसार सागर को पार कर सकता है, क्योंकि गुरु ही साक्षात् परमात्मा के रूप में देह धारण करता है।

सन्दर्भ :-

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 63
2. आदिग्रंथ पृ. 425
3. आदिग्रंथ, पृ. 1005
4. आदिग्रंथ पृ. 205
5. संतमत सिद्धांत व महाराज सावन सिंह, राधास्वामी सत्संग ब्यास, पृ. 12

एसोशिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय,
विश्वविद्यालय स्टाफ कॉलोनी, रेजीडेन्सी रोड, जोधपुर-342011



जैन साधना में सद्गुरु का महत्त्व

प्रोफेसर पुष्पलता जैन

जैन सन्तों एवं कवियों ने विशाल वाङ्मय की रचना की है। भक्तिकाल में कुशललाभ, मानसिंह, बनारसीदास, ध्यानतराय, सहजकीर्ति, पांडे हेमराज, रूपचन्द्र, आनन्दधन, दीलतराम, भूधरदास, बुधजन, समयसुन्दर आदि अनेक जैन कवियों ने अपने काव्यों में गुरु-गुणगान भी किया है। उसे ही प्रस्तुत आलेख में प्रो. पुष्पलता जैन ने संयोजित किया है। -सम्पादक

परमात्म-पद की प्राप्ति के लिए साधना एक अपरिहार्य तत्त्व है। जैन-जैनेतर साधकों ने अपने-अपने ढंग से उसकी आराधना की है। यहाँ हम हिन्दी जैन साहित्य के आधार पर जैन साधना में सद्गुरु की कितनी आवश्यकता होती है, इस तथ्य पर प्रकाश डालेंगे।

जैन साधना में सद्गुरु प्राप्ति का विशेष महत्त्व है। साधना में सद्गुरु का स्थान वही है जो अर्हन्त का है। जैन साधकों ने अर्हन्त-तीर्थंकर, आचार्य, उपाध्याय और साधु को सद्गुरु मानकर उनकी उपासना, स्तुति और भक्ति की है। 'मोहादिक कर्मों के बने रहने के कारण वह 'बड़े भागनि' से हो पाती है।' कुशललाभ ने गुरु श्री पूज्यवाहण के उपदेशों को कोकिल-कामिनी के गीतों में, मयूरों की थिरकन में और चकोरों के पुलकित नयनों में देखा। उनके ध्यान में स्नान करते ही शीतल पवन की लहरें चलने लगती हैं सकल जगत् सुपथ की सुगन्ध से महकने लगता है, सातों क्षेत्र सुधर्म से आपूर हो जाता है। ऐसे गुरु के प्रसाद की उपलब्धि यदि हो सके तो शाश्वत सुख प्राप्त होने में कोई बाधा नहीं होगी-

‘सदा गुरु ध्यान स्नानलहरि शीतल वहइ रे।
कीर्ति सुजस विस्माल सकल जग मह महइ रे।
साते क्षेत्र सुठाम सुधर्मह नीपजई रे।
श्री गुरु पाय प्रसाद सदा सुख संपजइ रे।’

मानसिंह ने क्षुल्लक कुमार चौपड़ (सं. 1670) में सद्गुरु की संगति को मोक्षप्राप्ति का कारण माना है। उनका कहना है-

श्री सद्गुरु पद जुग नमी, सरसति ध्यान धरेसु,
क्षुल्लक कुमार सुसाधुना, गुण संग्रहण करेशु।

गुणग्रहतां गुण पाइयइ, गुणि रंजइ गुणजाण,
 कमलि क्षमर आवइ चतुर, दादुर ग्रह इन अजाण।
 गुणिजन संगत थइ निपुण, पावइ उत्तम ठाम,
 कुसुमसंग डोरो कंटक केतकि सिरि अभिराम।
 पहिलउ धर्म न संग्रहित, मात कहिइ गुरुवयण,
 नटुइवयणे जागीयइ, विकसे अंतरनयण।

सोमप्रभाचार्य के भावों का अनुकरण कर बनारसीदास ने भी गुरु सेवा को 'पायपंथ परिहरहिं धरहिं शुभपंथ पग' तथा 'सदा अवांछित चित्त जुतारन तरन जग' माना है। सद्गुरु की कृपा से मिथ्यात्व का विनाश होता है। सुगति-दुर्गति के विधायक कर्मों के विधि-निषेध का ज्ञान होता है, पुण्य-पाप का अर्थ समझ में आता है, संसार-सागर को पार करने के लिए सद्गुरु वस्तुतः एक जहाज है। उसकी समानता संसार में और कोई भी नहीं कर सकता -

मिथ्यात्व दलन सिद्धान्त साधक, मुक्तिमारग जानिये।
 करनी अकरनी सुगति दुर्गति, पुण्य पाप बखानिये।
 संसारसागर तरन तारन, गुरु जहाज विशेखिये।
 जगमांहि गुरुसम कह 'बनारसि', और कोउ न पेखिये।।'

कवि का गुरु अनन्तगुणी, निराबाधी, रूपाधि, अविनाशी, चिदानन्दमय और ब्रह्मसमाधिमय है। उनका ज्ञान दिन में सूर्य का प्रकाश और रात्रि में चन्द्र का प्रकाश है। इसलिए हे प्राणी, चेतो और गुरु की अभूत रूप तथा निश्चय-व्यवहारनय रूप वाणी को सुनो। मर्मी व्यक्ति ही मर्म को जान पाता है।⁸ गुरु की वाणी को ही उन्होंने जिनागम कहा और उसकी ही शुभधर्मप्रकाशक, पापविनाश, कुनयभेदक, तृष्णानाशक आदि रूप से स्तुति की।⁹ जिस प्रकार से अंजन रूप औषधि के लगाने से तिमिर रोग नष्ट हो जाते हैं वैसे ही सद्गुरु के उपदेश से संशयादि दोष विनष्ट हो जाते हैं।¹⁰ शिव पच्चीसी में गुरु वाणी को 'जलहरी' कहा है।¹¹ उसे सुमति और शारदा कहकर कवि ने सुमति देव्यष्टोत्तर शतानाम तथा शारदाष्टक लिखा है जिनमें गुरुवाणी को 'सुधाधर्म, संसाधनी धर्मशाला, सुधातापनि नाशनी मेघमाला। महामोह विध्वंसनी मोक्षदानी' कहकर 'नामोदेवि वागेश्वरी जैनवानी' आदि रूप से स्तुति की है।¹² केवलज्ञानी सद्गुरु के हृदय रूप सरोवर से नदी रूप जिनवाणी निकलकर शास्त्र रूप समुद्र में प्रविष्ट हो गई। इसलिए वह सत्य स्वरूप और अनन्तनयात्मक हैं।¹³ कवि ने उसकी मेघ से उपमा देकर सम्पूर्ण जगत के लिए हितकारिणी माना है।¹⁴ उसे सम्यग्दृष्टि समझते हैं और मिथ्यादृष्टि नहीं समझ पाते। इस तथ्य को कवि ने अनेक प्रकार से समझाया है जिस प्रकार निर्वाण साध्य है और अरहंत, श्रावक, साधु, सम्यक्त्व आदि

अवस्थायें साधक हैं, इनमें प्रत्यक्ष-परोक्ष का भेद है। ये सब अवस्थायें एक जीव की हैं। ऐसा जानने वाला ही सम्यग्दृष्टि होता है।¹²

सहजकीर्ति गुरु के दर्शन को परमानन्ददायी मानते हैं- 'दर्शन अधिक आणंद जंगम सुर तरुंकंद।' उनके गुण अवर्णनीय हैं- 'वरणवी हूँ नवि सकूँ'।¹³ जगतराम ध्यानस्थ होकर अलख निरंजन को जगाने वाले सद्गुरु पर बलिहारी हो जाता है।¹⁴ और फिर सद्गुरु के प्रति 'ता जोगी चित लावो मोरे वालो' कहकर अपना अनुराग प्रगट किया है।¹⁵ वह शील रूप लंगोटी में संयम रूप डोरी से गाँठ लगाता है, क्षमा और करुणा का नाद बजाता है तथा ज्ञान रूप गुफा में दीपक संजोकर चेतन को जगाता है। कहता है, रे चेतन, तुम ज्ञानी हो और समझाने वाला सद्गुरु है तब भी तुम्हारे समझ में नहीं आता, यह आश्चर्य का विषय है।

सद्गुरु तुमहिं पढ़ावै चित दै अरु तुमहू हौ ज्ञानी, तबहूँ तुमहिं न क्यों हू आवै, चेतन तत्त्व कहानी।¹⁶

पांडे हेमराज का गुरु दीपक के समान प्रकाश करने वाला है तथा वह तमनाशक और वैरागी है।¹⁷ उसे आश्चर्य है कि ऐसे गुरु के वचनों को भी जीव न तो सुनता है और न विषयवासना तथा पापादिक कर्मों से दूर होता है।¹⁸ इसलिए वह कह उठता है-सीष सगुरु की मानि लै रै लाल।¹⁹

रूपचन्द की दृष्टि में गुरु-कृपा के बिना भवसागर से पार नहीं हुआ जा सकता।²⁰ ब्रह्मदीप उसकी ज्योति में अपनी ज्योति मिलाने के लिए आतुर दिखाई देते हैं- 'कहै ब्रह्मदीप सजन सुमझाई करि जोति में जोति मिलावै।'²¹

ब्रह्मदीप के समान ही आनंदघन ने भी 'अबधू' के सम्बोधन से योगी गुरु के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।²² भैया भगवतीदास ने ऐसे ही योगी सद्गुरु के वचनामृत द्वारा संसारी जीवों को सचेत हो जाने के लिए आह्वान किया है-

एतो दुःख संसार में, एतो सुख सब जान।

इति लखि भैया चैतिये, सुगुरुवचन उर आन।²³

मधुबिन्दुक की चौपाई में उन्होंने अन्य रहस्यवादी सन्तों के समान गुरु के महत्त्व को स्वीकार किया है। उनका विश्वास है कि सद्गुरु के मार्गदर्शन के बिना जीव का कल्याण नहीं हो सकता, पर वीतरागी सद्गुरु भी आसानी से नहीं मिलता, पुण्य के उदय से ही ऐसा सद्गुरु मिलता है-

'सुअटा सोचै हिण मझार। ये गुरु सांचे तारनहार॥

में शठ फिरयोकरम वन मांहि। ऐसे गुरु कहूं पाए नाहि।

अब मो पुण्य उदय कुछ भयौ। सांचे गुरु को दर्शन लयो॥²⁴

पांडे रूपचन्द्र गीत परमार्थी में आत्मा को सम्बोधते हुए सद्गुरु के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सद्गुरु अमृतमय तथा हितकारी वचनों से चेतन को समझाता है-

चेतन, अचरज भारी, यह मेरे जिय आवै ।
अमृत वचन हितकारी, सद्गुरु तुमहिं पढ़ावै ।
सद्गुरु तुमहिं पढ़ावै चित दे, आरु तुमहू हौ घानी ।
तबहं तुमहिं न क्यों हू आवै, चेतन तत्त्व कहानी ॥²⁵

दौलतराम जैन गुरु का स्वरूप स्पष्ट करते हुए चिंतित दिखाई देते हैं कि उन्हें वैसा गुरु कब मिलेगा जो कंचन-कांच में व निंदक-वंदक में समताभावी हो, वीतरागी हो, दुर्धर तपस्वी हो, अपरिग्रही हो, संयमी हो। ऐसे ही गुरु भवसागर से पार करा सकते हैं-

कब हौं मिलैं मोहि श्री गुरु मुनविर करि हैं भवोदधि पारा हो ।
भोग उदास जोग जिन लीन्हों छाड़ि परिग्रह मारा हो ॥
कंचन-कांच बराकर जिनके, निंदक-बंधक सारा हो ।
दुर्धर तप तपि सम्यक् निजघर मन वचन कर धारा हो ॥
श्रीषम गिरि हिम सरिता तीरे पावस तरुतर तारा हो ।
करुणा मीन हीन त्रस थावर ईर्यापथ समारा हो ॥
मास छमासउपास बासवन पासुक करत अहारा हो ।
आरत रौद्र लेश नहिं जिनके धर्म शुक्ल चित धारा हो ॥
ध्यानारुढ़ गूढ़ निज आतम शुद्ध उपयोग विचारा हो ।
आप तरहि औरनि कौ तारहि, भव जल सिन्धु अपारा हो ।
दौलत ऐसे जैन जतिन को निजप्रति धोक हमारा हो ।

(दौलत विलास, पद 72)

द्यानतराय को गुरु के समान और दूसरा कोई दाता दिखाई नहीं दिया। तदनुसार गुरु उस अन्धकार को नष्ट कर देता है जिसे सूर्य भी नष्ट नहीं कर पाता, मेघ के समान सभी पर समानभाव से निःस्वार्थ होकर कृपा जल वर्षाता है। नरक, तिर्यच आदि गतियों से जीवों को लाकर स्वर्ग-मोक्ष में पहुँचाता है अतः त्रिभुवन में दीपक के समान प्रकाश करने वाला गुरु ही है। वह संसार-सागर से पार लगाने वाला जहाज है। विशुद्धमन से उसके पद-पंकज का स्मरण करना चाहिए।²⁶

कवि विषयवासना में पगे जीवों को देखकर सहानुभूति पूर्वक कह उठता है-

जो तजै विषय की आसा, दानत पावै विश्वासा ।
यह सतगुरु सीख बनाई काहूँ विरलै के जिय आई ॥²⁷

भूधरदास को भी श्री गुरु के उपदेश अनुपम लगते हैं इसलिए वे सम्बोधित कर कहते हैं- “सुन ज्ञानी प्राणी, श्री गुरु सीख सयानी”²⁸। गुरु की यह सीख रूप गंगा नदी भगवान महावीर रूपी हिमाचल से निकली, मोह-रूपी महापर्वत को भेदती हुई आगे बढ़ी, जग को जड़ता रूपी आतप को दूर करते हुए ज्ञान रूप महासागर में गिरी, सप्तभंगी रूपी तरंगें उछलीं। उसको हमारा शतशः वन्दन। सद्गुरु की यह वाणी अज्ञानान्धकार को दूर करने वाली है।

बुधजन सद्गुरु की सीख को मान लेने का आग्रह करते हैं- “सुठिल्यौ जीव सुजान सीख गुरु हित की कही। रूत्यौ अनन्ती बार गति-गति सातान लही। (बुधजन विलास, पद 99), गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान के प्याले से कवि बुधजन घोर जंगलों से दूर हो गये:-

गुरु ने पिलाया जो ज्ञान प्याला।

यह बेखबरी परमावां की निजरस में मतवाला।

यों तो छाक जात नहीं छिनहूँ मिटि गये आन जंजाल।

अद्भुत आनन्द मगन ध्यान में बुद्धजन हाल समहाला ॥

-बुधजन विलास, पद 77

समयसुन्दर की दशा गुरु के दर्शन करते ही बदल जाती है और पुण्य दशा प्रकट हो जाती है- आज कू धन दिन मेर उ। पुण्यदशा प्रगटी अब मेरी पैखतु गुरु मुख तेरउ ॥ (ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृ. 129) सन्त साधुकीर्ति तो गुरु दर्शन के बिना विह्वल से दिखाई देते हैं। इसलिए सखि से उनके आगमन का मार्ग पूछते हैं। उनकी व्याकुलता निर्गुण संतों की व्याकुलता से भी अधिक पवित्रता लिए हुए है (ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृ. 91)

इस प्रकार सद्गुरु और उसकी दिव्यवाणी का महत्व रहस्य साधना की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। सद्गुरु के प्रसाद से ही सरस्वती की प्राप्ति होती है (सिद्धान्त चौपाई, लावण्य, समय, 1.2) और उसी से एकाग्रता आती है (सारसिखामनरास, संवेग-सुन्दर उपाध्याय, बड़ा मन्दिर जयपुर की हस्तलिखित प्रति)। ब्रह्ममिलन के महापथ का दिग्दर्शन भी यही करता है। परमात्मा से साक्षात्कार कराने में सद्गुरु का विशेष योगदान रहता है। माया का आच्छन्न आवरण उसी के उपदेश और सत्संगति से दूर हो पाता है। फलतः आत्मा परम विशुद्ध बन जाता है। उसी विशुद्ध आत्मा को पूज्यपाद ने निश्चय नय की दृष्टि से सद्गुरु कहा है- “नयत्यात्मात्मेव जन्म निर्वाणमेव च गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः”- समाधितन्त्र, 65

प्रायः सभी दार्शनिकों ने नरभव की दुर्लभता को स्वीकार किया है। यह सम्भवतः इसलिए भी होगा कि ज्ञान की जितनी अधिक गहराई तक मनुष्य पहुँच सकता है उतनी गहराई तक अन्य कोई नहीं। साथ ही यह भी तथ्य है कि जितना अधिक अज्ञान मनुष्य में हो सकता है उतना और दूसरे में नहीं। ज्ञान

और अज्ञान दोनों की प्रकर्षता यहाँ देखी जा सकती है। इसलिए आचार्यों ने मानव की शक्ति का उपयोग अज्ञान को दूर करने में लगाने के लिए प्रेरित किया है। यह प्रेरक सूत्र सद्गुरु ही होता है। सद्गुरु की ही सत्संगति से साधक नरभव की दुर्लभता को समझ पाता है और साधना के शिखर तक पहुँच जाता है। महावीर, बुद्ध आदि महापुरुषों को इसीलिए सद्गुरु कहा जाता है। आचार्य श्री हस्तीमल महाराज सा. भी ऐसे ही सद्गुरु रहे हैं जिनकी संगति से लोगों ने धर्म के अन्तस्तल को पहचाना है।

सद्गुरु और सत्संग

साधना की सफलता और साध्य की प्राप्ति के लिए सद्गुरु का सत्संग प्रेरणा का स्रोत रहता है। गुरु का उपदेश पापनाशक, कल्याणकारक, शान्ति और आत्मशुद्धि करने वाला होता है।⁹ उसके लिए श्रमण और वैदिक साहित्य में श्रमण आचार्यों, बुद्ध, पूज्य, धर्माचार्य, उपाध्याय, भन्ते, भदन्त, सद्गुरु, गुरु आदि शब्दों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। जैनाचार्यों ने अर्हन्त और सिद्ध को भी गुरु माना है और विविध प्रकार से गुरु-भक्ति प्रदर्शित की है। इहलोक और परलोक में जीवों को जो कोई भी कल्याणकारी उपदेश प्राप्त होते हैं वे सब गुरुजनों के प्रति विनय से ही होते हैं।¹⁰ इसलिए उत्तराध्ययन में गुरु और शिष्यों के पारस्परिक कर्तव्यों का विवचेन किया गया है।¹¹ इसी सन्दर्भ में सुपात्र और कुपात्र के बीच जैन तथा वैदिक साहित्य भेदक रेखा भी खींची गई है।

जैन साधक मुनिरामसिंह¹² और आनन्दतिलक¹³ ने गुरु की महत्ता स्वीकार की है और कहा है कि गुरु की कृपा से ही व्यक्ति मिथ्यात्व, रागादि के बंधन से मुक्त होकर भेदविज्ञान द्वारा अपनी आत्मा के मूल विशुद्ध रूप को जान पाता है। इसलिए उन्होंने गुरु की वन्दना की है। आनन्दतिलक भी गुरु को जिनवर, सिद्ध, शिव और स्व-पर का भेद दर्शाने वाला मानते हैं। जैन साधकों के ही समान कबीर ने भी गुरु को ब्रह्म (गोविन्द) से भी श्रेष्ठ माना है। उसी की कृपा से गोविन्द के दर्शन संभव हैं।¹⁴ रागादिक विकारों को दूर कर आत्मा ज्ञान से तभी प्रकाशित होती है जब गुरु की प्राप्ति हो जाती है।¹⁵ उनका उपदेश संशयहारक और पथप्रदर्शक रहता है।¹⁶ गुरु के अनुग्रह एवं कृपा दृष्टि से शिष्य का जीवन सफल हो जाता है। सद्गुरु स्वर्णकार की भांति शिष्य के मन से दोष और दुर्गुणों को दूर कर तम स्वर्ण की भांति खरा और निर्मल बना देता है।¹⁷ सूफ़ी कवि ज़ायसी के मन में पीर (गुरु) के प्रति श्रद्धा द्रष्टव्य है। वह उनका प्रेम का दीपक है।¹⁸ हीरामन तोता स्वयं गुरु रूप है¹⁹ और संसार को उसने शिष्य बना लिया है।²⁰ उनका विश्वास है कि गुरु साधक के हृदय में विरह की चिनगारी प्रक्षिप्त कर देता है और सच्चा साधक शिष्य गुरु की दी हुई उस वस्तु को सुलगा देता है।²¹ ज़ायसी के भावमूलक रहस्यवाद का प्राणभूतत्व प्रेम है और यह प्रेम पीर की महान देन है। पद्मावत के स्तुतिखंड में उन्होंने लिखा है-

“सैयद असरफ पीर पिशया। जेहि मोहि पंथ दीनह उंजियारा।

लेसा हिट प्रेम कर दीया। उठी जौति भा निश्मल हीया।।²²

सूर की गोपियां तो बिना गुरु के योग सीख ही नहीं सकीं। वे उद्धव से मथुरा ले जाने के लिए कहती हैं जहाँ जाकर वे गुरु श्याम से योग का पाठ ग्रहण कर सकें।⁴³ भक्ति-धर्म में सूर ने गुरु की आवश्यकता अनिवार्य बतलाई है और उसका उच्च स्थान माना है। सद्गुरु का उपदेश ही हृदय में धारण करना चाहिए क्योंकि वह सकल भ्रम का नाशक होता है-“सद्गुरु को उपदेश हृदय धरि, जिन भ्रम सकल निवारयौ।।”

सूर गुरु महिमा का प्रतिपादन करते हुए करते हैं कि हरि और गुरु एक ही स्वरूप हैं और गुरु के प्रसन्न होने से हरि प्रसन्न होते हैं। गुरु के बिना सच्ची कृपा करने वाला कौन है? गुरु भवसागर में डूबते हुए को बचाने वाला और सत्पथ का दीपक है।⁴⁴ सहजोबाई भी कबीर के समान गुरु को भगवान से भी बड़ा मानती है।⁴⁵ दादू लौकिक गुरु को उपलक्षण मात्र मानकर असली गुरु भगवान को मानते हैं।⁴⁶ नानक भी कबीर के समान गुरु की ही बलिहारी मानते हैं, जिसने ईश्वर को दिखा दिया अन्यथा गोविन्द का मिलना कठिन था।⁴⁷ सुन्दरदास भी “गुरुदेव बिना नहीं मारग सूझय” कहकर इसी तथ्य को प्रकट करते हैं।⁴⁸ तुलसी ने भी मोहभ्रम दूर होने और राम के रहस्य को प्राप्त करने में गुरु को ही कारण माना है। रामचरितमानस के प्रारम्भ में ही गुरु-वन्दना करके उसे मनुष्य के रूप में करुणासिन्धु भगवान माना है। गुरु का उपदेश अज्ञान के अंधकार को दूर करने के लिए अनेक सूर्यों के समान है-

बंदुं गुरुपद कंज कृपासिन्धु नररूप हरि।

महामोह तम पुंज जासु वचन रवि कर निकर ॥⁴⁹

कबीर के समान ही तुलसी ने भी संसार को पार करने के लिए गुरु की स्थिति अनिवार्य मानी है। साक्षात् ब्रह्मा और विष्णु के समान व्यक्तित्व भी, गुरु के बिना संसार से मुक्त नहीं हो सकता।⁵⁰ सद्गुरु ही एक ऐसा दृढ़ कर्णधार है जो जीव के दुर्लभ कामों को भी सुलभ कर देता है-

करनधार सद्गुरु दृढ़ नावा, दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।⁵¹

मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने भी गुरु को इससे कम महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने तो गुरु को वही स्थान दिया है जो अर्हन्त को दिया है। पंच परमेष्ठियों में सिद्ध को देव माना है और शेष चारों को गुरु रूप स्वीकारा है। ये सभी ‘दुरित हरन दुखदारिद दोन’ के कारण हैं।⁵² कबीरादि के समान कुशल लाभ ने शाश्वत सुख की उपलब्धि को गुरु का प्रसाद कहा है- “श्री गुरु पाय प्रसाद सदा सुख संपजइ रे”।⁵³ रूपचन्द ने भी यही माना। बनारसीदास ने सद्गुरु के उपदेश को मेघ की उपमा दी है जो सब जीवों का हितकारी है।⁵⁴ मिथ्यात्वी और अज्ञानी उसे ग्रहण नहीं करते, पर सम्यग्दृष्टि जीव उसका आश्रय लेकर भव से पार हो जाते हैं।⁵⁵ एक अन्यत्र स्थल पर बनारसीदास ने उसे “संसार सागर तरन तारन गुरु जहाज विशेषिये” कहा है।⁵⁶

मीरा ने 'सगुरा' और 'निगुरा' के महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए कहा है कि सगुरा को अमृत की प्राप्ति होती है और निगुरा को सहज जल भी पिपासा की तृप्ति के लिए उपलब्ध नहीं होता। सद्गुरु के मिलन से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है।⁵⁸ रूपचन्द का कहना है कि सद्गुरु की प्राप्ति बड़े सौभाग्य से होती है, इसलिए वे उसकी प्राप्ति के लिए अपने इष्ट से अभ्यर्थना करते हैं।⁵⁹ द्यानतराय को "जो तजै पिये की आसा, द्यानत पावै सिबवासा। यह सद्गुरु सीख बताई, काँहूँ विरलै के जिय जाई" के रूप में अपने सद्गुरु से पथदर्शन मिला।⁶⁰

सन्तों ने गुरु की महिमा को दो प्रकार से व्यक्त किया है- सामान्य गुरु का महत्त्व और किसी विशिष्ट व्यक्ति का महत्त्व। कबीर और नानक ने द्वितीय प्रकार को भी स्वीकार किया है। जैन सन्तों ने भी इन दोनों प्रकारों को अपनाया है। अर्हन्त आदि सद्गुरुओं का तो महत्त्वगान प्रायः सभी जैनाचार्यों ने किया है, पर कुशल लाभ जैसे कुछ भक्तों ने अपने लौकिक गुरुओं की भी आराधना की है।⁶¹

गुरु के इस महत्त्व को समझकर ही साधक कवियों ने गुरु के सत्संग को प्राप्त करने की भावना व्यक्त की है। परमात्मा से साक्षात्कार कराने वाला ही सद्गुरु ही है।⁶² सत्संग का प्रभाव ऐसा होता है कि वह मजीठ के समान दूसरों को अपने रंग में रंग लेता है।⁶³ काग भी हंस बन जाता है।⁶⁴ रैदास के जन्म-जन्म के पाश कट जाते हैं।⁶⁵ मीरा सत्संग पाकर ही हरि-चर्चा करना चाहती है।⁶⁶ सत्संग से दुष्ट भी वैसे ही सुधर जाते हैं जैसे पारस के स्पर्श से कुधातु लोहा भी स्वर्ण बन जाता है।⁶⁷ इसलिए सूर दुष्ट जनों की संगति से दूर रहने के लिए प्रेरित करते हैं।⁶⁸

मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने भी सत्संग का ऐसा ही महत्त्व दिखाया है। बनारसीदास ने तुलसी के समान सत्संगति के लाभ गिनाये हैं-

कुम्भति निकद होय महा मोह मंद होय,
जनमगै सुयश विवेक जगै हियसों।
नीति को दिव्य होय विनैको बढाव होय,
उपजे उछाह ज्यों प्रधान पद लियेसों॥
धर्म को प्रकाश होय दुर्गति को नाश होय,
बरते सभाधि ज्यों पीयूष रस-पिये सों।
तोष परि पूर होय, दोष दृष्टि दूर होय,
एते गुन होहिँ सह संगति के किये सों॥⁶⁹

द्यानतराय कबीर के समान उन्हें कृतकृत्य मानते हैं जिन्हें सत्संगति प्राप्त हो गयी है।⁷⁰ भूधरमल सत्संगति को दुर्लभ मानकर नरभव को सफल बनाना चाहते हैं-

प्रभु गुन गाय रे, यह ओसर फेर न पाय रे।
मानुष भव जोग दुहेला, दुर्लभ सतसंगति मेला।
सब बात भली बन आई, अरहन्त भजौ रे आई।⁷¹

दरिया ने सत्संगति को मजीठ के समान बताया और नवल राम ने उसे चन्द्रकान्तमणि जैसा बताया है। कवि ने और भी दृष्टान्त देकर सत्संगति को सुखदायी कहा है—

सत संगति जग में सुखदायी है।
देव रहित दूषण गुरु सांचौ, धर्म दया निश्चै चितलाई॥
सुक मेना संगतिनर की करि, अति परवीन बचनता पाई।
चन्द्र कांति मनि प्रकट उपल सौ, जल ससि देखि झरत सरसाई॥
लट घट पलटि होत घट पद सी, जिन कौ साथ भ्रमर को थाई।
विकसत कमल निरखि दिनकर कों, लोक कनक होय पारस छाई॥
बोझ तिरै संजोग नाव कै, नाग दमनि लखि नाग न खोई।
पावक तेज प्रचंड महाबल, जल मरता सीतल हो जाई॥
संग प्रताप भुयंगम जै है, चंदन शीतल तरल पठाई।
इत्यादिक ये बात धणेरी, कौलो ताहि कहौ जु बदाई॥⁷²

इसी प्रकार कविवर छत्रपति ने भी संगति का माहात्म्य दिखाते हुए उसके तीन भेद किये हैं—
उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य।⁷³

इस प्रकार मध्यकालीन हिन्दी जैन साधकों ने विभिन्न उपमेयों के आधार पर सद्गुरु और उनकी सत्संगति का सुन्दर चित्रण किया है। ये उपमेय एक दूसरे को प्रभावित करते हुए दिखाई देते हैं जो निःसन्देह सत्संगति का प्रभाव है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि जैनेतर कवियों ने सत्संगति के माध्यम से दर्शन की बात अधिक नहीं की, जबकि जैन कवियों ने उसे दर्शन मिश्रित रूप में अभिव्यक्त किया है।

सन्दर्भ:—

1. बनारसी विलास, पंचपदविधान
2. हिन्दी पद संग्रह, रूपचन्द, पृ. 48
3. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 117
4. बनारसी विलास, पृ. 24
5. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 48
6. बनारसी विलास, भाषा, मु. पृ. 20,27

7. वही, ज्ञान पच्चीसी, 13, पृ. 148
8. वही, शिव पच्चीसी, 6, पृ. 150
9. वहीं, शारदाष्टक, 3, पृ. 166
10. नाटक समयसार, जीवद्वार, 3
11. वही, सत्यसाधकद्वार, 6, पृ. 338
12. नाटक समयसार, 16, पृ. 38
13. जिनराजसूरि गीत, 9
14. पदसंग्रह 946 ते. मंदिर, जयपुर
15. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 99
16. परमार्थ जकड़ी संग्रह, गीत पर
17. गुरु पूजा, 6, वृ. जि. सं. पृ. 201
18. ज्ञानचिन्तामणि, 35
19. सुगुरु सीष, गु.नं. 161, दी.व.मं,
20. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ. 97
21. मनकरहारास
22. आनंदघन महोत्तरी,.....
23. मधु बिन्दुक की चौपाई 58, ब्रह्मविलास
24. ब्रह्मविलास, पृ. 270
25. गीत परमार्थी द्वि.जै.भ.का.क., पृ. 171
26. द्यानत पद संग्रह, पृ. 10
27. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 126-127, 133
28. भूधर विलास, पृ. 4
29. उत्तराध्ययन, 127
30. वसुनन्दि श्रावकाचार, 339
31. उत्तराध्ययन, प्रथम अध्ययन
32. योगसार, 41, पृ. 380
33. आपणदा, 36
34. संतवाणीसंग्रह, भाग-1, पृ. 2

35. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 1
36. ससै खाया सकल जग, ससा किनहूं न खड्ड, वही, पृ. 2-3
37. वही, पृ. 4
38. जायसी ग्रन्थमाला, पृ. 7
39. गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा । बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ॥- प्रदूमावत
40. गुरु होइ आप, कीन्ह उचेल-जायसी ग्रन्थावली, पृ. 33
41. गुरु विरह चिनगी जो मेला । जो सुलगाइ लेइ सो चेला ॥- वही, पृ. 51
42. जायसी ग्रंथावली, स्तुतिखण्ड, पृ. 7
43. जोग विधि मधुबन सिखिहैं जाइ । बिनु गुरु निकट संदेसनि कैसे, अवगाह्यौ जाइ ।- सूरसागर (सभा), पद 4328
44. वही, पद 336
45. सूरसागर, पद 416, 417; सूर और उनका साहित्य ।
46. परमेश्वर से गुरु बड़े गावत वेद पुरान-संतसुधासार, पत्र 182
47. आचार्य क्षितिमोहन सेन-दादू और उनकी धर्मसाधना, पाटल सन्त विशेषांक, भाग 1, पृ. 112
48. बलिहारी गुरु आपणों चौ हांडी के बार । जिनि मानिषतें देवता, करत न लागी बार ॥- गुरु ग्रंथ साहिब, म 1, आसादीवार, पृ. 1
49. सुन्दरदास ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, पृ. 8
50. रामचरितमानस, बालकाण्ड, 1-5
51. गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई जो विरंछि संकर सम होई । बिनु गुरु होहि कि ज्ञान ज्ञान कि होइ विराग बिनु । रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, 93
52. वही, उत्तरकाण्ड, 4314
53. बनारसीविलास, पंचपद विधान, 1-10, पृ. 162-163
54. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 117
55. ज्यों वरषै वरषा समै, मेघ अखंडित धार । त्यों सदगुरु वानी खिरै, जगत जीव हितकार ॥- नाटक समयसार, 6, पृ. 338
56. वही, साध्य साधक द्वार, 15-16, पृ. 342-3
57. बनारसी विलास, भाषासूक्त मुक्तावली, 14, पृ. 24
58. सदगुरु मिलिया सुंछपिछानौ ऐसा ब्रह्म मैं पाती । सगुरा सूरु अमृत पीवे निगुरा प्यारस जाती । मगन

- भया मेरा मन सुख में गोविन्द का गुणगाती । मीना कहै इक आस आपकी औरां सूं सकुचाती ॥-
सन्त वाणी संग्रह, भाग 2, पृ. 69
59. अब मौहि सद्गुरु कहि समझायी, तौ सौ प्रभू बडै भागनि पायो । रूपचन्द नटु विनवै तौही, अब
दयाल पूरै दे मोही ॥- हिन्दी पद संग्रह, पृ. 49
60. वही, पृ. 127, तुलनार्थ देखिये । मनवचनकाय जोग थिर करके त्यागो विषय कषाड । दानत स्वर्ग
मोक्ष सुखदाई सतगुरु सीख बताई ॥ वही, पृ. 133
61. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 117
62. भाई कोई सतगुरु सत कहावै, नैनन अलख लखावै- कबीर; भक्ति काव्य में रहस्यवाद, पृ. 146
63. दरिया संगम साधु की, सहजै पलटै अंग । जैसे संग मजीठ के कपड़ा होय सुरंग ॥- दरिया 8, संत
वाणी संग्रह, भाग 1, पृ. 129
64. सहजो संगत साध की काग हंस हो जाय । सहजोबाई, वही, पृ. 158
65. कह रैदास मिलै निजदास, जनम जनम के काटे पास- रैदास वानी, पृ. 32
66. तज कुसंग सतसंग बैठ नित, हरि चर्चा गुण लीजौ- सन्तवाणी संग्रह, भाग 2, पृ. 77
67. जलचर थलचर नभचर नाना, जे जड चेतन जीव जहाना । मीत कीरति गति भूति भलाई, जग जेहिं
जतन जहां जेहिं पाई । सौ जानव सतसंग प्रभाऊ, लौकहुं वेद न आन उपाऊ । बिनु सतसंग विवेक न
होई, राम कृपा बिनु सुलभ न सोई । सतसंगति मुद मंगलमूला, सोई फल सिधि सब साधन फूला ।
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई, पारस परस कुधात सुहाई ॥- तुलसीदास-रामचरितमानस, बालकाण्ड
2-5
68. तजौ मन हरि विमुखन को संग । जिनके संग कुमति उपजत है परत भजन में ।
69. बनारसी विलास, भाषा मुक्तावली, पृ. 50
70. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 136
71. वही, पृ. 155
72. वही, पृ. 158-186
73. मन मोदन पंचशती, 147-8, पृ. 70-71

-धर्मपत्नी श्री (डॉ.) भाग्यचन्द जैन 'भास्कर', सदर बाजार, नागपुर (मह.)



गुरु-महिमा का छोर नहीं

श्रीमती अम्बिका देवी

गुरु के वैशिष्ट्य एवं महिमा पर यह भावपूर्ण लघु निबन्ध उनके प्रति भक्ति तथा समर्पण के लिए प्रेरित करता है। -सम्पादक

परमश्रद्धेय श्री प्रमोद मुनि जी म.सा. फरमाते हैं-

“अनन्त धैर्य, अशेष क्षमा, अमित शान्ति
अविरल दया, अवितथ संयम, अद्भुत मनःसंयम,
आसान शय्या, अल्प वस्त्र, अतुलनीय ज्ञानामृत भोजन
बँधु कुटुम्बी, भय कहीं योगी?”

उपर्युक्त विशेष विशेषणों को पढ़ते-सुनते ही स्वतः आत्मा के अनवरत आनन्द-सरोवर में तन्मय, अपने केन्द्र पर स्थित गुरु का सजीव चित्रण समक्ष प्रतिबिम्बित हो जाता है।

वैसे तो लोक व्यवहार में माता-पिता और शिक्षक को गुरु माना जाता है, पर मोक्षमार्ग में आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीनों गुरु कहलाते हैं। यहाँ गुरुता, महानता या पूज्यता वीतरागता के होने पर ही आती है। वीतरागता कसौटी है पूज्यता की।

कहते हैं माँ की ममता का जगत में कोई ओर छोर नहीं है, पर माँ की ममता ससीम होती है। वह अपने अंगजात के लिए ही होती है और गुरु असीम आत्मीयता और वात्सल्य के अनन्त आकाश होते हैं, उनमें अनेक माँओं की ममता समाई होती है, जो प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्व सभी के लिए बिना भेदभाव के सदा ही प्रवाहित होती है। गुरु का वात्सल्य सदैव स्फूर्तिदायक होता है। माता-पिता जन्म देते हैं, किन्तु गुरु जीवन बनाता है, जिन्दगी सार्थक रूप में जीना सिखलाता है। गुरु अमृत का वह महासागर है जिसकी हर बूँद कुबेर के खजाने से कम नहीं, जितना इस सागर में डुबकी लगाते हैं या गहरे उतरते चले जाते हैं उतना ही अनमोल रत्नों को सहज ही पाते चले जाते हैं। गुरु के नयनों में निःस्वार्थ वात्सल्य, हृदय में अपरिमित करुणा, दया एवं सरलता होती है। उनकी कथनी करनी एक समान होती है, अबोध बालक के समान निर्विकार छवि होती है। वे निरभिमानता, ब्रह्मचर्य के दिव्य तेज, अहिंसा के पुजारी इत्यादि अनेक गुणों से परिपूर्ण होते हैं। गुरु जिनवाणी को अन्तर्मन से अपनाते हैं, अमृत रस बरसाते हैं तथा सभी जीवों में प्रीति प्रसारित करते हैं। संत कबीरदास जी ने कहा है-

“गु औँधियारी जानिए, रु कहिए परकाश।
मिटि अज्ञाने ज्ञान दे, गुरु नाम है तास ॥”

अर्थात् अज्ञान रूपी अंधकार को दूर कर ज्ञान का प्रकाश फैलाने वाला ही सच्चा एवं श्रेष्ठ गुरु है। ज्ञान से धर्म होता है, अज्ञान से अधर्म होता है। जिसमें ज्ञान होता है वह धर्म को समझता है। कहते हैं जब गुरु मौन होता है तब देव होता है और बोलता है तब धर्म होता है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने गुरु का स्वरूप बताते हुए लिखा है—

विषयाशावशातीतो, निराभोऽपरिग्रहः।
ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तः, तपस्वी सः प्रशस्यते॥

“जो विषयों (भौतिक सुखों) की आशा के वशीभूत नहीं होते हैं, जो पापों से विरक्त हैं या सारे सासारिक पाप कार्यों से विरक्त रहते हैं, जो अपरिग्रही हैं और सदा ज्ञान, ध्यान व तप में लीन रहते हैं ऐसे गुरु प्रशंसनीय हैं।”

रत्नत्रय अर्थात् सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र को धारण करने वाले, पाँच महाव्रत का निरतिचार पालन करने वाले, पाँच समिति तीन गुप्ति की अखण्ड पालना करने वाले, धर्म को समीचीन रूप से अपनाने वाले, भवसागर से तिरने और तारने वाले ही सुगुरु होते हैं। वे इन्द्रिय-विषयों के वशीभूत नहीं होते, धन सम्पत्ति से बाह्य और आन्तरिक परिग्रह से परे, ज्ञान ध्यान का खजाना स्वयं प्राप्त करते हैं और दूसरों में भी बाँटते हैं। सुगुरु निर्मल, विकार रहित, शान्त, मितभाषी, काम-क्रोध से मुक्त, सदाचारी, जितेन्द्रिय, आध्यात्म ज्ञान से युक्त एवं पवित्र होते हैं।

आज की तनाव भरी जिन्दगी में सहनशीलता, त्याग, परोपकार, संयम, दया, पापभीरुता इत्यादि शब्द अपना अर्थ खोने लगे हैं। आज के बौद्धिक युग में किताबी ज्ञान इतना बढ़ जाने के बावजूद भी आपाधापी, असंतोष, भौतिक लोभ-लालच, वैचारिक उलझन, तनाव और चिन्ता में कमी नहीं आई है। जब जीव अपने दुःखों परेशानियों से घबरा उठता है, अशान्त हो जाता है तो शान्ति की तलाश में इधर-उधर भटकने लगता है, उसकी तलाश सच्चे गुरु के चरणों में पहुँचकर खत्म हो जाती है। लौकिक उपकार करने वाले सैकड़ों लोग दुनिया में हैं, परन्तु अपना आत्म-कल्याण करते हुए प्राणिमात्र के कल्याण की भावना रखने वाले सुगुरु अल्प हैं। परम श्रद्धेय श्री गौतम मुनि जी म.सा. फरमाते हैं—

“जो बात दवा से नहीं होती, वो बात हवा से होती है।
काबिले गुरु मिले तो हर बात खुदा से होती है॥”

जीव को गुरु की अनिवार्यता समझ आने लगती है। गुरु के बिना अहंकार अभिमान, क्रोध आदि कषाय राग-द्वेष आदि विभावों का विसर्जन संभव नहीं है। परम श्रद्धेय श्री प्रमोदमुनि जी म.सा. फरमाते हैं—

“निश्चय कृपा गुरुदेव की, भव जल से पार लगाती है,
हारे थके निराश में पुरुषार्थ पूर्ण जगाती है,
लक्ष्य की पहचान व दृढ़ता अपूर्व दिलाती है,
अन्तर्भव अर्णव करा मुक्तिपुरी पहुँचाती है।”

सत्य ही है, गुरु की कृपा निराश हताश में भी नई आशा का संचार करती है साथ ही चलने की शक्ति भी प्रदान करती है। बाहर के भटकाव को रोकने के लिए, मोक्ष लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए, सुगुरु के मार्गदर्शन रूपी मशाल का होना अति आवश्यक है। गुरु मिथ्यात्व के सघन गहन अंधकार को हटाकर हममें ज्ञान का प्रकाश भर देते हैं। सुगुरु जीवन्त तीर्थ हैं। उनके सान्निध्य से, मार्ग दर्शन से, उनकी अनुपम कृपा से सभी विकार विभाव स्वतः ही दूर होने लगते हैं।

जरूरत है गुरु चरणों में पूरी तरह समर्पित होने की। श्रद्धा समर्पण माँगती है। गुरु-भक्ति गुरु के अलौकिक गुणों के समीप लाने वाली शक्ति है। वह किसी सन्त विशेष का मोह नहीं, अपितु गुणी व्यक्तित्व का बहुमान है। भावों की विशुद्धिपूर्वक पूज्य पुरुषों के प्रति जो अनुराग है वही तो भक्ति कहलाती है। गुरु की भक्ति तो गंगा के समान है जिसमें कोई डूब जाए, लीन हो जाए तो उसका तन, मन और सारा जीवन पवित्र हो जाता है। पहले गुरु की आकृति काम आती है, फिर गुरु की प्रकृति आती है, क्योंकि आचार से प्रचार स्वयं होता है, आचरण स्वयं प्रेरणा देता है। सच्चे गुरु सिर्फ अपनी वाणी से ही शिष्यों को शिक्षा नहीं देते, अपितु अपने जीवन से भी मूक शिक्षा देते हैं। शिष्य उनकी वाणी से आध्यात्मिक या पारमार्थिक शिक्षा प्राप्त करता हुआ उनके जीवन से निर्लोभता, निःस्वार्थता, नैतिकता, सदाचार, चारित्र-निर्माण आदि कलाओं की शिक्षा प्राप्त करता चला जाता है। जैसे गुलाब की वाटिका में लोग सुगन्ध की याचना नहीं करते, वह स्वयं ही मिल जाती है, वैसे ही गुरु के चरणों में समर्पित होने के बाद कुछ माँगना शेष नहीं रहता। कल्पवृक्ष रूपी गुरु से प्राप्ति स्वतः होती रहती है। परम श्रद्धेय श्री प्रमोदमुनि जी म.सा. फरमाते हैं-

“समर्पण की कोई भाषा नहीं, समर्पण में कोई अभिलाषा नहीं।

मैं कुछ नहीं भेदा कुछ नहीं, गुरु के चरणों में विलीन हो गए ॥”

श्रद्धा को शब्दों की जरूरत नहीं पड़ती। समर्पण में कोलाहल नहीं होता। गुरु-भक्ति में विनीत भाव का दर्शन होता है, आडम्बर का नहीं। गुरुजनों के सदा निकट रहना उनकी उपासना है। परन्तु निकट रहने का मतलब यह नहीं है कि हमेशा उनके पास बैठे रहो। अपने अन्तरंग में उन्हें अपने निकट महसूस करना ही सच्ची निकटता है। जो गुरु की आज्ञा में है वह गुरु के निकट, गुरु के हृदय में होता है, भले ही वह शरीर से दूर ही क्यों न हो। जो गुरु की आज्ञा में नहीं है वह गुरु के समीप हो कर भी उनसे दूर होता है।

महान आत्माओं का दर्शन, वन्दन या उनकी भक्ति करते समय यह बात ध्यान में रहनी चाहिए कि ‘वन्दे तद्गुणलब्धये’। मेरे दर्शन-वन्दन का उद्देश्य महान् आत्माओं के समान गुणों की प्राप्ति करने का है।

गुरुमुख एवं गुरुकृपा से सीखा हुआ ज्ञान ही जीवन में उपयोगी हो सकता है, क्योंकि पोथी से ज्ञान नहीं मात्र जानकारी मिलती है। गुरु पराश्रय परावलम्बन को हटाकर निरालम्ब कर देते हैं। सुगुरु शिष्य को स्वयं के दुःख दूर करना ही नहीं सिखाते, बल्कि पर-पीड़ा को दूर करने के उपाय भी सिखलाते हैं। गुरु-शिष्य-दर्पण में गुरु के लिए लिखा है-

“अल्पाक्षर्योऽपि न तथादयोऽपि न तथाश्रितोऽपि नैव तथा ।
निर्ग्रन्थोऽपि च न तथा वृत्तिविहीनोऽपि नैव तथा ॥
सन्नपि गुरुत्वयुक्तो गुरुत्वमुक्तो भवेद्गुरुनिर्णयतम् ।
नासक्तोऽप्यासक्तोऽभयोऽपि सभयोऽदभुतश्चैवम् ॥”

अर्थात् “गुरु अल्पाक्षर होते हुए भी अल्पाक्षर नहीं होते, निर्दय होते हुए भी निर्दय नहीं होते, आश्रित होते हुए भी आश्रित नहीं होते, निर्ग्रन्थ होते हुए भी निर्ग्रन्थ नहीं होते और वृत्ति रहित होते हुए भी वृत्ति रहित नहीं होते हैं, गुरुत्व युक्त होकर भी गुरुत्व मुक्त होते हैं, अनासक्त होकर भी आसक्त होते हैं तथा नियम से भय रहित होकर भी भयसहित होते हैं इस प्रकार वे यथार्थतः अदभुत होते हैं ।”

भावार्थः – गुरु अल्पाक्षर अर्थात् अल्प बोलने वाले होते हैं, लेकिन वे अल्पाक्षर अर्थात् मन्द बुद्धि नहीं होते हैं । वे दोषों के प्रति निर्दय होकर भी प्राणियों के प्रति निर्दय नहीं होते । वे आत्माश्रित होते हैं, पराश्रित नहीं । वे निर्ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह रहित होते हैं, पर ग्रन्थ शास्त्र रहित नहीं होते । वे वृत्ति अर्थात् आजीविका से रहित होते हैं, पर त्याग वृत्ति से रहित नहीं । वे गुरुत्व युक्त अर्थात् गुरुता से युक्त होते हुए भी गुरुत्व मुक्त अर्थात् गर्व से मुक्त होते हैं । वे विषयों में आसक्त नहीं होते पर धर्म में आसक्त होते हैं । वे अभय होते हैं क्योंकि इहलोक, परलोक, अत्राण, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिक भय उनमें नहीं होते, किन्तु संसार-भ्रमण से भयभीत होने के कारण अभय नहीं होते ।”

गुरु लघुता में गुरुता और गुरुता में लघुता का प्रत्यक्ष समन्वय होते हैं ।

गुरु की महिमा का जितना गुणगान किया जाए कम है । कहा जाता है कि समुद्र भर को स्याही बना लें, पूरी पृथ्वी को पृष्ठ बना लें और माँ सरस्वती स्वयं भी सदा लिखती रहे तो भी गुरु की महिमा पूरी लिखी नहीं जा सकती । गुरु की महिमा अवर्णनीय है ।

- 31 / 548, आदर्श नगर, बंगाल केमिकल्स के पास, वली, मुम्बई-400025 (महा.)



श्रुतज्ञान की प्राप्ति का मूल उपाय : गुरु की उपासना

सुश्री नेहा चोरडिया

मोक्ष-प्राप्ति में श्रुतज्ञान की उपयोगिता असंदिग्ध है एवं श्रुतज्ञान की प्राप्ति में गुरु की आराधना एक प्रमुख आधार है। सुश्री नेहा चोरडिया ने गुरु के प्रति श्रद्धा जागरित करने वाले इस आलेख को 'मुनि तुं जागृत रहेजे' पुस्तक से हिन्दी अनुवाद के रूप में प्रस्तुत किया है। -सम्पादक

सूर्य की किरणें किससे बंधी हुई हैं? इस प्रश्न का जवाब पलभर का विलंब किए बिना हम दे सकते हैं कि वे सूर्य से बंधी हुई हैं। चाँदनी किससे बंधी हुई है? चंद्र से। सुवास किससे बंधा है? पुष्प से। जवाब देने में कोई देर नहीं लगती। बरसात किससे बंधी है? बादल से। वृक्ष किससे बंधे हैं? मूल से। इस जवाब को चुनौती देने की किसी की हिम्मत नहीं। मकान किससे बंधा है? नींव से। इस जवाब में किसी का विरोध नहीं है।

लेकिन,

अपने अध्यवसायों की निर्मलता श्रुतज्ञान से बंधी है, अपने संयम-जीवन की मस्ती श्रुतज्ञान के आधीन है, अपनी श्रद्धा की निर्मलता का आधार श्रुतज्ञान है, अपनी समाधि के केन्द्र में श्रुतज्ञान है और सभी घातिकर्मों का क्षय होने के बाद उत्पन्न होने वाला केवलज्ञान भी श्रुतज्ञान का आभारी है। वह श्रुतज्ञान किससे बंधा है?

ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से?

ज्ञानार्जन के पुरुषार्थ से?

ज्ञानार्जन के लिए अपनी आराधना से?

कदाचित् अपनी समझ में नहीं आवे, ऐसा समाधान दिया है 'विशेषावश्यक भाष्य' नामक ग्रंथ में टीकाकार हेमचन्द्र सूरीश्वर महाराज ने-

'श्रुतज्ञानं गुर्वयत्तम्'

श्रुतमवाप्तौ मूलोपायः गुर्वाराधना'

श्रुतज्ञान बंधा है- गुरुदेव से। श्रुतज्ञान की प्राप्ति का मूल उपाय है- गुरुदेव की आराधना।

श्रुतज्ञान के साथ गुरुदेव का क्या संबंध है? श्रुतज्ञान की प्राप्ति में गुरुदेव की आराधना को बीच में लाने

की क्या जरूरत है? अपने आप ही आगम का पाठ पढ़ लेंगे। गाथाएँ कंठस्थ करना है न? स्वाध्याय की धूनी लगा देंगे। शास्त्रपाठ जीभ पर खेलते रखना है न? स्मृति को धारदार बना देना है न? अपने को प्रवचनकार बनाने के लिए पदार्थों का बोध होना जरूरी है न? अपने को जीवन में एकाग्रचित्तता से शास्त्रों की पंक्ति धारण करनी होगी।

इनके सबके लिए गुरुदेव को बीच में लाने की जरूरत क्या है? गुरुदेव की आराधना करने का प्रश्न ही कैसे उठता है?

लेकिन,

याद रखना श्रुत मात्र ज्ञानरूप ही नहीं, अज्ञानरूप भी होता है। समकित के साथ श्रुत ज्ञानरूप और मिथ्यात्व के साथ श्रुत अज्ञानरूप होता है। मोहनीय के क्षयोपशम से होने वाला श्रुत ज्ञानरूप होता है और मोहनीय के उदय से होने वाला श्रुत अज्ञानरूप होता है।

दुःख की बात यह है कि हम केवल पदार्थों के बोध को श्रुतज्ञान मान बैठे हैं। शास्त्रपंक्तियों की धारदार स्मृति को श्रुतज्ञान मान बैठे हैं। हजारों श्लोकों के पाठ को श्रुतज्ञान मान बैठे हैं। आगम-वाचन को श्रुतज्ञान मान बैठे हैं। पुरुषार्थ से खाली हुई पदार्थों की छनावट करने की कला को श्रुतज्ञान मान बैठे हैं।

नहीं,

यह धारदार स्मृति, यह सूक्ष्म बुद्धि, ज्ञानावरणीय का जबर्दस्त क्षयोपशम सभी को प्रभावित करने वाला पदार्थों का विश्लेषण, इन कलाओं का स्वामी तो अभी भी बन सकता है। गाढ़ मिथ्यात्वी के पास भी बुद्धि का वैभव हो सकता है। ऐसी तीव्र प्रज्ञा तो विषयदुष्ट और कषायदुष्ट के पास भी हो सकती है।

नहीं, इस वैभव को या कला को, इस बुद्धि को या इस प्रज्ञा को शास्त्रकार श्रुतज्ञान कहने को तैयार नहीं हैं। इसका समावेश होता है श्रुत-अज्ञान में। न तो ये गुणों को विकसित करने में सहायक बनते हैं और न ही ये आत्म-कल्याण में निर्णायक बनते हैं।

स्वीकार है,

ये वैभव कदाचित् लोकप्रिय बना सकते हैं, ये वैभव कदाचित् मन को आनंदित कर सकते हैं, ये वैभव पुण्य बंध का स्वामी बनाकर स्वर्ग के मेहमान बना सकते हैं, पर न तो यह वैभव आत्मा को दोषमुक्त बना सकता है और न ही यह वैभव आत्मा को परमात्मतुल्य बना सकता है।

सम्यक् परिणाम लाने की ताकत तो केवल मोहनीय के क्षयोपशम पूर्वक होने वाले श्रुतज्ञान में है और यह श्रुतज्ञान बंधा है अनंत उपकारी गुरुदेव के प्रति हृदय में प्रतिष्ठित बहुमान भाव से। मोहनीय के क्षयोपशम पूर्वक होने वाला श्रुतज्ञान बंधा है- गुरुदेव की भावसहित उपासना से। सद्गतिदायक और परमगति प्रापक यह श्रुतज्ञान बंधा है कृतज्ञतागुण की प्रतीति करने वाली गुरुदेव की आराधना से।

सार में

गुरुदेव की उपासना के सिवाय विद्वान् बन सकते हैं, पर विवेकी बनने के लिए गुरुदेव की उपासना सिवाय नहीं चल सकता। गुरुदेव के हृदय में प्रतिष्ठा किए बिना पुण्यबंध का स्वामी बन सकता है, पर कुशलानुबंधी पुण्य तो गुरुदेव के बहुमान भाव से बंधा है। गुरुदेव को हृदय में स्थापित किए बिना लोकप्रियता हासिल कर सकते हैं, पर प्रभुप्रियता तो गुरुदेव के प्रति सद्भावों की पराकाष्ठा हुए बिना संभव नहीं है। सुख की सामग्रियों की सद्गति गुरुदेव की भक्ति बिना हो सकती है, पर अनंतगुणों को विकसित करने की परमगति तो गुरुदेव की भक्ति से बंधी है।

मन में यह प्रश्न उठता है कि इस वास्तविकता के पीछे क्या रहस्य है? संयम-जीवन की प्राप्ति की सार्थकता श्रुतज्ञान के अर्जन में है। इस श्रुतज्ञान के अर्जन में गुरुदेव को केन्द्र स्थान में रखने के बाद शास्त्रकारों की क्या जरूरत है? गुरुदेव को ध्यान में रखते हुए अर्जन होने वाले श्रुत को ज्ञानरूप न कहकर अज्ञानरूप कहने का शास्त्रकारों का क्या आशय है?

इस प्रश्न का जवाब देने से पहले पंचसूत्र (सूत्र तृतीय) की यह पंक्ति समझ लेने जैसी है—
‘कथण्णुआ खु एसा, करुणा च धम्मप्यहाणजणणी जण्णम्मि’

अर्थ इस पंक्ति का स्पष्ट है। कृतज्ञता और करुणा को लोक में धर्म की मुख्य माता कहा है। दूसरों के उपकार को याद रखने का काम कृतज्ञता का है, तो अन्य पर उपकार करते रहने का काम करुणा का है। हकीकत यह है कि जीव प्रथम किसी का उपकार स्वीकार करता है। अन्य पर उपकार तो सामर्थ्य प्राप्त करने के बाद करता है। बालक के ऊपर माता का प्रथम उपकार रहता है। कदाचित् सामर्थ्यवान होने के बाद वह किसी पर उपकार करता है।

सार में उपकार प्रथम लेते हैं, उपकार बाद में करते हैं। इसी कारण इस पंक्ति में कृतज्ञता को पहले और करुणा को बाद में स्थान दिया है।

जवाब दो,

संयम-जीवन में अपने ऊपर प्रधान उपकार किसका है? पापमय संसार की भयंकरता और दुःखमय संसार की असारता समझाकर अपने को गुणयुक्त और दोषमुक्त संयमजीवन की तरफ आकर्षित करने का प्रधान यश किसको मिलता है? इस जीवन में आने के पश्चात् अपने अध्यवसायों की निर्मलता को टिकाये रखने में अपने को प्राप्त हुई सफलता में केन्द्रस्थान कौन? कुसंस्कारों का जालिम आधिपत्य होते हुए भी उनके आदेश से अपने को बचाने के लिए सावधान करने वाला कौन है? छोड़े हुए संसार की तरफ मन का आकर्षण नहीं होने के लिए अपने को सतत जागृत कौन रखेगा? माता का वात्सल्य और पिता का प्रेम देकर अपने जीवन का रस कौन रखेगा?

इन सभी प्रश्नों का जवाब एक ही है ‘गुरुदेव’। सभी नदियाँ जैसे सागर में जाकर मिलती हैं, वैसे ही अपने

जीवन की सभी सफलता और सरसता का यश एक पात्र पर टिकता है। वह पात्र है अनंतोपकारी गुरुदेव।

यह हकीकत है तो अपना कर्तव्य बनता है कि अपनी सभी वृत्ति-प्रवृत्ति के केन्द्र गुरुदेव ही रहने चाहिए।

बालक किसकी याद में रोता है? मम्मी की।

बालक अंगुलि किसकी पकड़ता है? मम्मी की।

बालक निर्भयता अनुभव किसके सान्निध्य में करता है? मम्मी की।

बालक निश्चितता अनुभव किसके सान्निध्य में करता है? मम्मी की।

बस, इस बालक जैसी स्थिति हमारी है। गुरुदेव ही हमारे रक्षक हैं, यही हमारे प्राण और यही हमारे आधार हैं। इनकी प्रसन्नता ही हमारी पूंजी है। इनकी स्वस्थता हमारी प्रसन्नता है। इनकी कृपा नज़र ही हमारी कमाई है। इनका अनुग्रह ही हमारा सौभाग्य और इनके मुख पर हँसी ही हमारा सौंदर्य है।

हृदय में गुरुदेव के प्रति बहुमान भाव हो तो मोहनीय कर्म अपने को सता नहीं सकता। गुरुदेव की स्मृति से हृदय पुलकित होता है तो पीछे विषय वासना अपने मन पर कब्जा जमाने में सफल हो जाए, यह सम्भव नहीं।

गुरुदेव के लिए हृदय पागल बनता है तो फिर कषाय अपने संयम-जीवन को बर्बाद करने में सफल बनता है, इस बात में कोई तथ्य नहीं।

यह ताकत है गुरुदेव के प्रति बहुमान भाव की, इसका तात्पर्यार्थ स्पष्ट है, जो भी ज्ञान प्राप्त करना है उसे सम्यक् बनने के लिए गुरुदेव की शरण स्वीकारना चाहिए। इसकी विस्मृति यानी अनंत-अनंत उपकारों की विस्मृति। इनकी अवगणना यानी सद्गुणों की अवगणना। इनके प्रति दुर्भाव यानी सद्गति के प्रति दुर्भाव। इनकी आशातना यानी तीर्थंकर भगवंतों की आशातना। इनकी उपेक्षा यानी परमगति की उपेक्षा।

याद रखना,

सम्यक् ज्ञान का जानकारी के साथ इतना संबंध नहीं जितना संबंध मोहनीय के क्षयोपशम के साथ है और मोहनीय के क्षयोपशम का जानकारी से इतना संबंध नहीं जितना कृतज्ञता गुण से है। कृतज्ञता गुण का संबंध विद्वत्ता से नहीं जितना नम्रता से है और नम्रता का संबंध बुद्धि की सूक्ष्मता से नहीं, हृदय के अहोभाव से है।

मासतुष मुनि के पास क्या था? भले ही ज्ञानावरणीय का तीव्र उदय था, पर गुरुदेव के प्रति सद्भाव ने उन्हें सद्भाग्य का स्वामी बनाया और यह सद्भाग्य मोहविजेता बनाकर कैवल्यलक्ष्मी का निमित्त बना।

जमालि के पास क्या नहीं था? 500 शिष्यों का गुरु पद था, 11 अंग का अध्ययन था, परमात्मा महावीर जैसे तारक पुरुषों के शिष्य थे, पर उन्होंने गुरुदेव के प्रति बहुमान भाव खो दिया था। बुद्धि में उत्पन्न हुए विकारों से वे अहं के शिकार बन गये थे। परिणाम? संयमजीवन को हार बैठे। ज्ञान अज्ञान में परिणत होने से संसार की यात्रा

के लिए निकल पड़े।

सावधान,

गुरुतत्त्व-विनिश्चय की यह पंक्ति पढ़ लो- 'कृतपापानुबन्धहरत्वेन गुरुरेवाश्रयणीयः।

जन्म-जन्मान्तर के किए हुए पाप कर्मों के अनुबंध को तोड़ने की इच्छा है तो गुरुदेव की शरण में गए बिना दूसरा कोई विकल्प ही नहीं है। पढ़िए पंचसूत्र की यह पंक्ति- 'अओ चेव परमगुरुसंजोगो' गुरु के द्वारा परमगुरु की प्राप्ति होती है।

चित्र स्पष्ट है विद्वत्ता नहीं पर महानता, ख्याति नहीं पर शुद्धि, समृद्धि नहीं पर सद्गुण, सद्गति नहीं पर परमगति, सफलता नहीं पर सरसता, जानकारी नहीं पर सम्यग्ज्ञान। इन सभी का एक ही उपाय है- 'गुरुदेव के चरणों की शरणा' ('मुनि तुं जागृत रहेजे' पुस्तक के अंश का हिन्दी अनुवाद)

-आर. सी. बाफना सदन, 9 ए विद्या नगर, आकाशवाणी चौक, जलगांव-425001 (मह.)



गुरु-गरिमा

संकलन एवं अनुवाद

श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा रचित स्कन्दपुराण के उत्तरखण्ड में गुरु के सम्बन्ध में जो श्लोक हैं उन्हें 'श्री गुरुगीता' के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त है। श्री गुरुगीता में से ही यहाँ कुछ उपयोगी श्लोकों को चुनकर उनका हिन्दी अनुवाद दिया जा रहा है। अनुवाद डॉ. श्वेता जैन ने किया है। -सम्पादक

गुरुर्बुद्ध्यात्मनो नान्यत् सत्यं सत्यं न संशयः।
तल्लाभार्थं प्रयत्नस्तु कर्तव्यो हि मनीषिभिः ॥9 ॥

अर्थ:- हमारे भीतर ज्ञान का जो स्वरूप है वही स्वरूप गुरु का है, अन्य नहीं। यह सत्य है, इसमें कोई संशय नहीं है। क्योंकि ज्ञान जो मार्ग दिखाता है, वही चलने योग्य है। अतः मनीषियों के द्वारा गुरु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किए जाने चाहिए।

गुरुमूर्तिं स्मरेन्नित्यं गुरुनाम सदा जपेत्।
गुरोराज्ञां प्रकुर्वीत गुरोरेन्यन्न भावयेत् ॥18 ॥

अर्थ :- गुरु के स्वरूप का सदा स्मरण करे। गुरुप्रदत्त शिक्षाओं का सदैव जाप करे। गुरुवर की आज्ञा का पालन करे। गुरु के स्वरूप, शिक्षा और आज्ञा को छोड़कर अन्य विषयों का चिन्तन न करे।

गुकारस्त्वन्धकारश्च रुकारस्तेज उच्यते।
अज्ञानशासकं ब्रह्म गुरुरेव न संशयः ॥23 ॥

अर्थ:- 'गु' का अर्थ अन्धकार और 'रु' का अर्थ प्रकाश है। गुरु ही अज्ञान का नाश करने वाला ब्रह्म है। इसमें कोई संशय नहीं है।

गुकारः प्रथमो वर्णो मायादिगुणभासकः।
रुकारो द्वितीयो ब्रह्म मायाभ्रान्तिविनाशनम् ॥24 ॥

अर्थ:- गुरु शब्द का प्रथम वर्ण 'गु' मायादि गुणों को प्रकट करता है। द्वितीय वर्ण 'रु' ब्रह्म का द्योतक है, जो माया रूपी भ्रान्ति का विनाश करता है।

कर्मणा मनसा वाचा नित्यमाराधयेद् गुरुम्।
दीर्घदण्डं नमस्कृत्य निर्लज्जो गुरुसन्निधौ ॥28 ॥

अर्थ:— उनकी मन, वचन एवं कर्म से नित्य उत्तराधना करनी चाहिए। गुरु की सन्निधि में बिना लज्जा के दीर्घ दण्ड के समान अर्थात् दण्डवत् प्रणाम कर गुरु की आराधना करनी चाहिए।

संसारवृक्षमारुढाः पतन्तो नरकार्णवे ।

येन चैवोद्धृताः सर्वे तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥31 ॥

अर्थ:— संसार रूपी वृक्ष पर आरूढ़ (क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष से युक्त) तथा नरक रूपी अर्णव में गिरते हुए लोगों का उद्धार करने वाले गुरु को नमस्कार है।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।

गुरुरेव परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥32 ॥

अर्थ:— (गुणों का सर्जन करने से) गुरु ही ब्रह्मा है, (सदाचरण को पुष्ट करने से) गुरु ही विष्णु है और (भीतर के कर्म कलिमल का नाश करने से) गुरु ही शिव है। गुरु ही (मुक्ति का मार्ग दिखाने से) परम ब्रह्म है, उन गुरु को नमस्कार है।

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।

चक्षुस्ममीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥34 ॥

अर्थ:— अज्ञान रूपी अन्धकार से अन्धे हुए जीवों के नेत्र को जो अपनी ज्ञानरूपी अञ्जनशलाका से खोल देते हैं, ऐसे गुरुदेव को नमन है।

शिवे क्रुद्धे गुरुस्त्राता गुरौ क्रुद्धे शिवो न हि ।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन श्रीगुरुं शरणं व्रजेत् ॥44 ॥

अर्थ:— शिव के क्रुद्ध होने पर गुरु रक्षा करता है, किन्तु गुरु के रुष्ट होने पर शिव रक्षा करने में समर्थ नहीं होते। अतः सारे प्रयत्नों से गुरु की शरण में जाएं।

श्री गुरोः परमं रूपं विवेकचक्षुषोऽमृतम् ।

मन्दभाग्या न पश्यन्ति अन्धाः सूर्योदयं यथा ॥49 ॥

अर्थ:— विवेक-चक्षु की प्राप्ति के लिए श्रीगुरु का परम रूप अमृततुल्य है। जैसे अन्धे व्यक्ति सूर्योदय को नहीं देखते हैं वैसे ही मन्दभाग्य वाले शिष्य श्री गुरु के उस अमृतरूप को नहीं देखते हैं।

यस्य स्मरणमात्रेण ज्ञानमुत्पद्यते स्वयम् ।

य एव सर्वसंप्राप्तिस्तस्मै श्री गुरवे नमः ॥69 ॥

अर्थ:— जिसके स्मरण मात्र से ही ज्ञान स्वयं उत्पन्न हो जाता है, जो सर्वसम्प्राप्त है, उस गुरु को नमस्कार है।

न गुरोरधिकं तत्त्वं न गुरोरधिकं तपः ।

तत्त्वम् ज्ञानात्परं नास्ति तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥74 ॥

अर्थ:— कोई तत्त्व गुरु से अधिक नहीं है, गुरुसेवा से बढ़कर कोई तथ नहीं है, ज्ञान से बढ़कर तत्त्व नहीं है, ऐसे गुरु को नमन।

गुरुदर्शितमार्गेण मनःशुद्धिं तु कारयेत्।
अनित्यं खण्डयेत् सर्वं यत्किञ्चिदात्मगोचरम् ॥99 ॥

अर्थ:— गुरु द्वारा दिखाए गए मार्ग से मन का शोधन करना चाहिए। अपने द्वारा ज्ञात अनित्य पदार्थों के प्रति रही हुई आसिक्त को खण्डित कर देना चाहिए।

श्रुतिस्मृती अविज्ञाय केवलं गुरुसेवकाः।
ते वै संन्यासिनः प्रोक्ता इतरे वेषधारिणः ॥108 ॥

अर्थ:— श्रुति, स्मृति को नहीं जानते हुए भी जो गुरु की सेवा में संलग्न हैं, वे संन्यासी कहे गए हैं। दूसरे केवल वेशधारी संन्यासी होते हैं।

गुरोः कृपाप्रसादेन आत्मरामं निरीक्षयेत्।
अनेन गुरुमार्गेण स्वात्मज्ञानं प्रवर्तते ॥110 ॥

अर्थ:— गुरु का आशीर्वाद प्राप्त कर शिष्य आत्मविषयक चिन्तन करे, इसी गुरूपदिष्ट मार्ग से आत्मस्वरूप का ज्ञान प्रकट होता है।

वन्देऽहं सच्चिदानन्दं भेदातीतं सदा गुरुम्।
नित्यं पूर्णं निराकारं निर्गुणं स्वात्मसंस्थितम् ॥112 ॥

अर्थ:— सत्, चित्, आनन्द स्वरूप, भेदातीत, नित्य, पूर्ण, निराकार, निर्गुण एवं स्वात्म में स्थित गुरुदेव को मैं नमस्कार करता हूँ।



सन्मार्गप्रवृत्ति हेतु गुरूपदेश का महत्त्व

सुश्री ऋचा शर्मा

गुरु का महत्त्व निर्विवाद है। संस्कृत गद्यकवि बाणभट्ट की कादम्बरी कथा में शुकनास मन्त्री के द्वारा युवराज चन्द्रापीड को प्रदत्त उपदेश 'गुरु-उपदेश' का एक निदर्शन है, जो युवाओं, विद्यार्थियों, राजनेताओं एवं सामान्यजन को भी दिशाबोध प्रदान करता है। शोधछात्रा ऋचा शर्मा ने शुकनासोपदेश के मर्म को समग्रता से प्रस्तुत किया है। साथ ही भगवद्गीता, मनुस्मृति, विवेकचूडामणि, धम्मपद आदि ग्रन्थों से भी अपने प्रतिपाद्य की पुष्टि की है। -सम्पादक

भारतीय वैदिक वाङ्मय एवं लौकिक वाङ्मय दोनों ही गुरु-गरिमा से अटे पड़े हैं। गुरु को ब्रह्मा विष्णु, महेश और परब्रह्म की सञ्ज्ञा दी गयी है। 'ब्रह्म अपनी शक्ति से प्रेरित होकर ब्रह्म-प्राप्ति में लगे हुए सच्चे साधकों का रक्षण, पोषण आदि अनुग्रह करता है। यह शक्ति ईश्वरीय है और इसी को गुरु कहते हैं। शक्ति और शक्तिमान् में वास्तविक भेद नहीं होने से ब्रह्म ही गुरु है और गुरु से ही ब्रह्म की प्रतिष्ठा होती है।'

'गुरु' शब्द की व्युत्पत्ति

गृणाति-उपदिशति वेदादिशास्त्राणि इन्द्रादिदेवेभ्यः असौ गुरुः² अर्थात् जिसने वेद-शास्त्रों का इन्द्र आदि देवताओं को उपदेश दिया, उसे 'गुरु' सञ्ज्ञा दी गई, अतः कहा गया- 'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।' यही गुरु शब्द लोक में वेदादि शास्त्रों, आगम ग्रन्थों के अध्ययनपूर्वक शिष्यों को उपदेश देने वाले लौकिक उपदेष्टा में भी व्यवहृत हुआ। इसी प्रकार 'गुकारस्तमसि रुकारस्तन्निवारणे'- यह व्युत्पत्ति भी है अर्थात् 'गु' शब्द का अर्थ है 'अन्धकार' तथा 'रु' शब्द का अर्थ है 'निवारण'। अज्ञानरूपी अन्धकार का ज्ञानरूपी प्रकाश के द्वारा निवारण करने वाले को 'गुरु' कहते हैं।

ज्ञान का स्रोत गुरु

'न हि ज्ञानादृते मुक्तिः' अर्थात् ज्ञान के बिना भव-बन्धन से मुक्ति सम्भव नहीं है और ज्ञान की प्राप्ति 'गुरु' के बिना कहाँ ? अतः 'गुरु' को इस भवसागर से पार लगाने वाला माना गया है।³ गुरु-सम्मान की व्याख्या यत्र-तत्र उपलब्ध है। गुरु की आज्ञा का बिना किसी तर्क-वितर्क के पालन करना चाहिए।⁴ इस प्रकार के सभी तथ्य तब तक निराधार ही प्रतीत होते हैं जब तक कि इनमें हमारी आस्था

जागरित नहीं होती। आस्था भी तब तक नहीं जाग सकती जब तक हमें इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल जाता कि गुरु की क्या आवश्यकता है? क्यों हम गुरु को इतना महत्त्व देते हैं? गुरु-भक्ति क्यों आवश्यक है? क्या वास्तव में गुरु-महिमा का कोई औचित्य भी है? इन सभी शङ्काओं को अन्तःस्थ कर यहाँ प्रतिपादन किया जा रहा है।

जब हम प्रार्थना करते हैं- असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतं गमय ॥' तो यहाँ अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने की हम कामना करते हैं जो गुरु की भक्ति से प्राप्त सज्ज्ञान अर्थात् 'सत्' तत्त्वज्ञान, 'अमृत' तत्त्वज्ञान रूपी 'गुरुतत्त्व' ज्ञान के बिना असम्भव है। अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करने वाला गुरु में स्थित 'गुरुतत्त्व' ही है। 'गुरु तत्त्व' का प्रताप इतना प्रचण्ड है कि बिना गुरु (व्यक्ति) के दर्शन के भी 'एकलव्य' बना जा सकता है, किन्तु इसके लिए 'साधना'⁶ आवश्यक है। गुरु का ध्यान ही 'एकलव्य' की साधना थी। वह 'गुरुतत्त्व' जिस व्यक्ति, शास्त्र आदि से प्रकट हो जाए वही जिज्ञासु का 'गुरु' माना जाता है। गुरु अंधकार को अपने 'ज्ञान' से दूर भगाते हैं। लौकिक और वैदिक-दोनों ही क्षेत्रों में ज्ञान को सम्मान का आधार स्वीकार किया गया है। अतः 'मनुस्मृति' में कहा गया है कि धन से उत्तम बन्धु, बन्धु से अतिशय आयु, आयु से श्रेष्ठ कर्म और कर्म से पवित्र ज्ञान वाले उत्तरोत्तर अधिक सम्माननीय हैं और ज्ञानवान् सर्वाधिक आदर योग्य माना गया है।⁷

भगवद्गीता में गुरुपदेश

गीता में भी कहा गया है- 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'⁸ अर्थात् ज्ञान के समान संसार में कुछ भी पवित्र नहीं है। गुरुपदेश ही वह साधन है जो अन्धकार को दूर करता है। गुरु के कृपापात्र व्यक्ति के लिए तो ब्रह्मज्ञान भी सुलभ है। गुरुवाणी में ही गुरुता है। गुरु के पास तो केवल ज्ञान है, वाणी है, उपदेश है, विद्या है, कला है। यह उपदेश हमारे जीवन से जुड़ा है। गुरुवाणी में ही सार है।

गुरु के उपदेश में जो सामर्थ्य है वह किसी भी अस्त्र-शास्त्र में नहीं, किसी मन्त्रोच्चार में नहीं। यह उपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया तो वह 'गीता' के रूप में विख्यात हो गया। युद्ध में अर्जुन ने स्वयं को श्रीकृष्ण का शिष्य कहा है और उनसे प्रार्थना भी की है कि आप शरणागत मुझ को शिक्षा प्रदान करें।⁹ 'गीता' हमारा धर्मग्रन्थ है, आदर्श है, भगवान् की वाणी है। इसमें हमारा अदृष्ट विश्वास है। वस्तुतः यह 'गीता' अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करने वाला गुरुपदेश ही तो है। 'गीता' 'महाभारत' का एक भाग है तथापि 'महाभारत' से 'गीता' जो कि उपदेश है, की ख्याति अधिक है। 'गीता' कोई कथावाचन नहीं है, फिर भी इसका उपदेशात्मक स्वरूप अधिक महत्त्वपूर्ण है, रुचिर है। 'महाभारत' का पाठ करने की परम्परा नहीं है। किन्तु उपनिषद् विद्या होने के कारण 'गीता' के नियमित पाठ की परम्परा है, क्योंकि 'गीता' श्री कृष्ण के मुखारविन्द से साक्षात् निःसृत उपदेश मानी गई है।¹⁰ 'गीता' पर ही

रखकर न्यायालयों में शपथ दिलाई जाती है, 'महाभारत' पर नहीं। 'गीता' तो 'महाभारत' का अंश है। फिर 'गीता' पर ही क्यों? 'महाभारत' के ऊपर हाथ रखकर शपथ क्यों नहीं दिलाई जाती? शायद गुरुपदेश की महत्ता और औचित्य का यह प्रमाण है। यदि इसे 'प्रमाण' न भी मानें तो भी गुरु के उपदेश (=गीता) का 'मान' तो है ही, क्योंकि कृष्ण को जगत् का गुरु कहा गया है- 'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्' और 'गीता' कृष्ण की वाणी है।

कादम्बरी का गुरूपदेश

अर्जुन को दिए गए 'गीतोपदेश' की भाँति ही 'शुकनासोपदेश' भी गुरूपदेश की महत्ता में प्रमाणस्वरूप है। 'महाभारत' के अंश 'गीता' की भाँति ही 'शुकनासोपदेश' भी 'कादम्बरी'¹¹ का एक अंश है। यह भी शुकनास द्वारा युवराज चन्द्रापीड को दिया गया गुरु का उपदेश ही है। गुरु, शिष्य, शिक्षा एवं शिक्षण का प्रकरण हो और वहाँ 'कादम्बरी' का उल्लेख करना छूट जाए तो वह प्रकरण अधूरा है। इस प्रकरण के लिए तो 'कादम्बरी' अकेले ही पर्याप्त है।

गुरु की महिमा का जो सुन्दर एवं समुचित विस्तृत वर्णन 'कादम्बरी' गद्य काव्य में दिया गया है वैसा सारगर्भित वर्णन अन्यत्र असम्भव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। 'कादम्बरी' महाकवि बाणभट्ट का वह गद्य-काव्य है जिसमें उसने कोई विषय अछूता नहीं छोड़ा है जो परवर्ती कवियों या साहित्यकारों के लिए नवीन विषय बन सके। 'कादम्बरी' में पदार्थवर्णन पढ़ने के पश्चात् संसार के पदार्थों का अलग से वर्णन करना बाण के वर्णन का उच्छिष्ट (जूठन) मात्र प्रतीत होता है। अतः कहा गया है-

'बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्'¹²

गुरु-माहात्म्य को भी बाणभट्ट ने अपना वर्णन-विषय बनाया है। 'कादम्बरी' का 'शुकनासोपदेश' नामक अंश इस सन्दर्भ में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आज के इस भौतिकवादी दौर में भी 'कादम्बरी' का कोई न कोई अंश संस्कृत-गद्य के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत अवश्य पढ़ाया जाता है। विद्यार्थियों के लिए तो इसका 'शुकनासोपदेश' नामक अंश विशेष पठनीय है। मंत्री शुकनास का यह उपदेश चन्द्रापीड के लिए ही नहीं है, अपितु समस्त विद्यार्थी वर्ग अथवा युवावर्ग के लिए है। इसमें गुरु-माहात्म्य का अतीव उत्कृष्ट वर्णन है। 'शुकनासोपदेश' सञ्ज्ञक इस खण्ड में मंत्री शुकनास ने युवराज चन्द्रापीड को जो उपदेश दिया है वह तरुण समाज की दुर्बलताओं को यथार्थतः उजागर करता है और दुर्बलताओं को दूर करने के लिए सचेत भी करता है। इस उपदेश में मानव की जिन दुर्बलताओं का वर्णन किया गया है, उनके विषय में युवावस्था में प्रवेश के समय स्मरण किया जाए तो कुपथ का मार्ग अवरुद्ध किया जा सकता है। इस गम्भीर उपदेश के मनन से हमारे ज्ञान का क्षेत्र विशद बनता है और इन्द्रियनिग्रह भी होता है। यह उपदेश हमें सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करता है और कुमार्ग से विमुक्त करता है। अतः इस उपदेश का विस्तृत वर्णन करना यहाँ प्रसङ्गोचित है।

चन्द्रापीड के जब यौवराज्याभिषेक की तैयारियाँ की जा रही थीं तब मन्त्री शुकनास ने उपदेश देते हुए कहा कि 'यौवन' में स्वभावतः ही एक ऐसा अन्धकार उत्पन्न होता है जो सूर्य के द्वारा भी अभेद्य है, जिसे न तो किसी मणि के आलोक से और न ही किसी दीपक की आभा से दूर किया जा सकता है।¹³

शुकनास ने 'लक्ष्मी' के मद को ऐसा भीषण बताया है जो कि उम्र बीत जाने पर भी शान्त नहीं होता है।¹⁴ वास्तव में धन से उत्पन्न नशा कभी दूर नहीं होता है।

'ऐश्वर्य' की तुलना तिमिरान्ध (रतौंधी) रोग से की गई है¹⁵ और अहङ्कार को अनेकशः शीतोपचार से भी नहीं शान्त होने वाले भीषण दाहक ज्वर के सदृश बताया है¹⁶। श्री शंकराचार्य ने भी अहङ्कार को नीरोगी रहने में बाधक माना है। उन्होंने अहङ्कार को महाभयङ्कर सर्प की उपमा दी है और कहा है कि जब तक शरीर में इस सर्प का थोड़ा सा भी विष रहेगा तब तक वह मनुष्य को नीरोगी नहीं रहने देगा।¹⁷ इसका एकमात्र उपचार उन्होंने 'विज्ञान' को ही माना है। इस अहङ्कार रूपी शत्रु को ज्ञान रूपी महाखड्ग से छिन्न किया जा सकता है।¹⁸ अतः अहङ्कार का नाश अत्यावश्यक है जो ज्ञान से ही होगा और 'गुरु विन ज्ञान कहाँ?'

शुकनासोपदेश में 'विषय' की तुलना विष से की गई है। विष से जायमान मूर्च्छा तो मन्त्रोपचार अथवा जड़ी-बूटियों से दूर की जा सकती है, परन्तु विषय रूपी विष के आस्वादन से उत्पन्न मोह रूप मूर्च्छा तो मन्त्रों और जड़ी-बूटियों से भी अभेद्य है। 'राग' को नित्यस्नान से भी शुद्ध न होने वाले मल के लेप की संज्ञा दी गई है। 'राजसुख' को कभी न टूटने वाली भीषण निद्रा के सदृश बताया है।

जन्म से ही ऐश्वर्यलाभ, नवयौवन, अनुपम सौन्दर्य और अमानुषी शक्ति-यह अनर्थ की एक ऐसी शृङ्खला है, जिसकी प्रत्येक कड़ी अपने आप में सभी अवगुणों के आधान के लिए पर्याप्त है। जहाँ यह सम्पूर्ण समवाय (शृङ्खला) विद्यमान हो, वहाँ तो कहना ही क्या?¹⁹ इस अनर्थ से मुक्ति तो केवल गुरु के मार्गदर्शन से ही हो सकती है। अतः मन्त्री शुकनास ने भवबन्धन में बाँधने वाले और अनर्थ के इन कारकों के दुष्प्रभावों की विस्तृत व्याख्या करते हुए गुरु के उपदेश के महत्त्व को चन्द्रापीड के सम्मुख रखा है। यह चन्द्रापीड कोई भी हो सकता है- एक विद्यार्थी, नवयुवक, सत्ताधारी, बलशाली अथवा कोई भी शुभेच्छु।

गुरुपदेश द्वारा यौवनजन्य विकारों का अवबोधन

युवावस्था में शास्त्रज्ञान से निर्मल बुद्धि भी कलुषित रहती है। यौवनारम्भ में शास्त्रों का ज्ञान भी बुद्धि के लिए पर्याप्त नहीं है। धवल होते हुए भी नेत्र 'राग' की लालिमा से लाल रहते हैं और रजोगुण की प्रबलता आंधी के द्वारा सूखे पत्तों की भाँति मनुष्य को बहुत दूर तक उड़ा ले जाती है।²⁰ रजोगुण को ही

बन्धन का कारण माना गया है। 'गीता' में भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है-

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिन्मम् ॥²¹

अर्थात् हे अर्जुन! रागरूपी रजोगुण को कामना और आसक्ति से उत्पन्न जानो। वह जीव को कर्म और फल के सम्बन्ध से बाँधता है।

शुकनास के अनुसार मृगतृष्णा की भाँति मनुष्य की इन्द्रियाँ सदा विषयभोग की ओर आकृष्ट रहती हैं। कसैली वस्तुओं, जैसे- आँवला, हरड़ आदि, के ऊपर जल प्राकृतिक माधुर्य से अधिक मीठा लगने लगा है। नवयौवन में भी मनुष्य का अन्तःकरण कामक्रोधादि से कसैला होता है, ऐसे में विषयरूप जल उसे आपाततः अधिक मधुर लगने लगता है। विषयों में यह अत्यासक्ति ही मनुष्य को नष्ट कर डालती है। मनुस्मृति में इन्द्रियों के वशीभूत और धर्म से च्युत मनुष्य को अविद्वान् माना गया है। ऐसे मनुष्य नीच जन्म और बुरे-बुरे दुःखरूप जन्म को पाते हैं।²²

अज्ञान, ऐश्वर्य का दर्प, अहङ्कार, विषयाभिलाष एवं श्री, सौन्दर्य और शक्ति का मद- इन सभी को जागरित कर मनुष्य का पतन करने में 'युवावस्था' अकेले ही समर्थ होती है। यह यौवनावस्था सभी कालुष्यों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

गुरुपदेश द्वारा लक्ष्मी के दोषों का कथन

शुकनासोपदेश में लक्ष्मी में राग, वक्रता, चञ्चलता, मोहनशक्ति, मद और नैष्ठुर्य आदि अवगुणों का आख्यान किया गया है। यह रूपक द्वारा संकेतित किया गया है कि मानो समुद्र-मन्थन के समय लक्ष्मी ने क्रमशः पारिजात (कल्पवृक्ष) के पल्लवों से राग, चन्द्रमा की कोर से वक्रता, उच्चैःश्रवा नामक अश्व से चञ्चलता, कालकूट (विष) से मोहनशक्ति, मदिरा से मद और कौस्तुभमणि से निष्ठुरता- ये अवगुण विरहजन्य दुःख दूर करने के लिए, साङ्केतिक रूप में ग्रहण किए थे।²³ इस प्रकार यह लक्ष्मी स्वभावतः ही आरुण्य उत्पन्न करने वाली, कुटिल, अस्थिर, वशीकरण सामर्थ्य से युक्त, उन्मादित कर देने वाली और निर्दयी प्रवृत्ति की है। ऐसे कल्मष (दुष्ट) स्वभाव वाली यह लक्ष्मी जिसका भी वरण करती है उसे भी कलुषित बना देती है। इस लक्ष्मी की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है और मिल भी जाए तो संरक्षण कठिन है। इस प्रकार इसका 'योगक्षेम'²⁴ अत्यन्त दुष्कर है। रस्सी से बाँध दिया जाए या योद्धाओं की तलवारों के पिञ्जरे में कैद कर दिया जाए अथवा मदजल की वर्षा से अन्धाकार कर देने वाले हाथियों के घेरे में रख दिया जाए- इस प्रकार कृत किसी भी यत्न के द्वारा इसका योगक्षेम सम्भव नहीं।

परिचय, मर्यादा, रूप, कुलपरम्परा, शील, वैदग्ध्य (पाण्डित्य), शास्त्र, धर्म, सत्य, त्याग,

विशेषता, आचार का पालन, लक्षणप्रमाण- देखते ही अदृष्ट हो जाने वाली यह लक्ष्मी किसी का भी न तो विचार करती है और न ही सम्मान। यह चञ्चल लक्ष्मी कहीं भी नहीं ठहरती है। यहाँ-वहाँ परिभ्रमण करती रहती है, मानो मन्दराचल के घूमने से उत्पन्न भंवर का संस्कार इसमें आज भी विद्यमान हो। मानो कमलिनी में घूमने से कमलनाल के काँटे इसके पैरों में लगे हों, अतः कहीं भी नहीं टिकती है। सूर्य जिस प्रकार मेष, वृष, मिथुन आदि द्वादश राशियों में वर्षभर इतस्ततः संक्रमण करता है, उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास सञ्चरण करती रहती है।

यह धूर्तों का ही आश्रय लेती है। विद्वान्, गुणवान्, उदार, सज्जन, कुलीन, वीर, दानी, विनम्र और मनस्वी पुरुषों की ओर तो देखती भी नहीं है। पाताल लोक की कन्दरा (गुफा) जिस प्रकार तम अर्थात् अन्धकार से भरी होती है, उसी प्रकार यह भी तमोगुण प्रधान है। अज्ञान, आलस्य, जड़ता, निद्रा, प्रमाद, मूढता आदि तम के गुण माने गए हैं। तमोगुणी पुरुष निद्रालु और स्तम्भ के समान जडवत् होने के कारण कुछ भी जानने में असमर्थ होता है।²⁵

अल्पसाहसी पुरुषों को जिस प्रकार पिशाचिनी अपनी बहुपुरुष परिमित ऊँचाई दिखाकर भयोन्मत्त कर देती है, उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी अल्पबुद्धि पुरुषों को उन्नति दिखाकर उसे पाने की लालसा में उन्मत्त बना देती है। यह सदैव विरुद्धधर्मसमन्वित चरित्र प्रदर्शित करती है, यथा- समुद्रमन्थन के समय जल में उत्पन्न होकर भी प्यास (लालच) बढ़ाती है, अमृत की सहोदरा होती हुई भी जड़ता उत्पन्न करती है अर्थात् धन का अहङ्कार उत्पन्न करके मानव को जड़ = सदसद्विवेकशून्य बना देती है। धूल के समान निर्मल को भी मलिन कर देती है अर्थात् शुद्ध हृदय को भी रजोगुणी (अहङ्कारादि दोषों से युक्त) बना देती है।

लक्ष्मी के कालुष्यों का प्रभाव

पूर्वोक्त वर्णन से लक्ष्मी की कलुषता स्पष्ट है। स्वभाव से ही कलुषित लक्ष्मी अपनी छाप छोड़े बगैर कैसे रह सकती है? अर्थात् अपने सान्निध्य से यह विमल को भी कलुषित कर देती है। शुकनासोपदेश में इसे दीपशिखा (दीपक की लौ) के सदृश बताया गया है जो सदा काजल जैसे काले कर्म को ही उगलती है।²⁶ यह तृष्णाओं को तृप्त नहीं करती है, अपितु उसे और बढ़ाती ही है। इसके सिञ्चन से तृष्णा रूपी बेल उत्तरोत्तर संवर्धित ही होती है। हरिणों को जिस प्रकार व्याध का गीत आकर्षित करता है उसी प्रकार यह (लक्ष्मी) इन्द्रियों को अपनी ओर खींच कर जाल में फँसा देती है। यह ऐसी धूमलेखा है जो सच्चरित्र को उसी प्रकार ढक देती है जैसे धुँआ चित्र को आच्छादित कर देता है।²⁷ इसके प्रभाव से मोह, धनाभिमान, दुराचार, क्रोध, विषय, भ्रूविकार, काम, लोकनिन्दा, छल और कपट का विवर्धन होता है और सद्ब्यवहार, दया-दाक्षिण्य, साधुभाव, धर्माचरण, शास्त्रज्ञान, सद्गुणों

का नाश हो जाता है। शुकनास ने इसे शास्त्र रूपी नेत्रों के लिए तिमिरान्ध रोग कहा है।²⁸ तिमिर रोग (रतौंधी) से दर्शन-शक्ति विनष्ट हो जाती है। इसी प्रकार यह लक्ष्मी भी वेद-वेदान्त-स्मृति आदि शास्त्रों के ज्ञान पर अपने क्लृप्त प्रभावों (काम, क्रोध, मोह आदि) का ऐसा पर्दा डाल देती है कि हमारी विवेकशक्ति उस अन्धरे में पथभ्रष्ट हो जाती है। काम, क्रोध तथा लोभ- ये तीनों आत्मा का नाश कर देते हैं।²⁹

लक्ष्मीमद से शासकवर्ग में विकृति

शुकनासोपदेश में लक्ष्मी के मद से राजाओं में उत्पन्न होने वाले जिन विकारों का वर्णन किया गया है, वे आज भी प्रासङ्गिक हैं। राजा एक शासक हुआ करता था जो प्रजा के पालन का उत्तरदायित्व वहन करता था। आज जनता के लिए जनता द्वारा ही चुने हुए राजनेता इस कार्यभार को वहन करते हैं। ये सत्ताधारी नेता ही आज 'राजा' के सम्मान को प्राप्त करते हैं और मन्त्री शुकनास का यह उपदेश इन पर भी यथावत् ही चरितार्थ होता है। राजा या सत्ताधारी ही नहीं प्रत्येक लक्ष्मी का कृपापात्र इस उपदेश का पात्र है, क्योंकि यह लक्ष्मी अपने कृपापात्र प्रत्येक व्यक्ति में विकार उत्पन्न कर ही देती है।

यह लक्ष्मी राजाओं का आश्रय प्राप्त कर उन्हें विह्वल कर देती है। धन का लोभ, विषयासक्ति, शब्द-स्पर्शादि विषयों के रसास्वादन की इच्छा और व्याकुल मन के कारण वे अधीर हो उठते हैं। लक्ष्मी उन्हें सभी अविनयों का अधिष्ठान बना देती है। उदारता, क्षमा, सत्यवादिता, दया आदि सभी गुणों को नष्ट कर अज्ञान के पाश में बाँध देती है। इस कारण वे जरागमन (वृद्धावस्था) के स्मरण से विस्मृत हो जाते हैं। जयघोष के कलरव के कारण उन्हें सद्वचन सुनायी नहीं देते हैं। लक्ष्मी के सम्पर्क में आते ही राजा लोग इस प्रकार चञ्चल हो उठते हैं मानो किसी मन्त्रशक्ति ने उन्हें वश में कर लिया हो अथवा धन के अहङ्कार की अग्नि में झुलसने से छटपटा रहे हों। लक्ष्मी के सम्पर्क से वे केकड़े की भाँति टेढ़ी-मेढ़ी अर्थात् कुटिल चाल चलने लगते हैं।³⁰ वास्तव में आज भी सत्ता पाने के लिए राजनेता छटपटाते रहते हैं और कुटिल चाल चलते रहते हैं। राजनीति तो भ्रष्टाचार और कुटिल नीतियों का पर्याय ही बन गई है। धन का लालच उन्हें नई-नई भ्रष्ट नीतियाँ स्वतः ही सिखा देता है।

'सप्तपर्ण' नामक वृक्ष जिस प्रकार अपने पुष्परज (पराग) के विकार से अपने आसन्नवर्ती जनों के सिर में दर्द उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार ये राजा लोग अपने रजोगुणी विकारों (काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, असूया, अहङ्कार, ईर्ष्या और मत्सर)³¹ से उत्पन्न अवज्ञासूचक नेत्रों से समीपस्थ जनों को दुःखी कर देते हैं। अपने बन्धुजनों को भी नहीं पहचान पाते हैं और उत्कृष्ट मन्त्रणाओं के द्वारा भी अपने कर्तव्यों को नहीं समझ पाते हैं। दूसरों का तेज उन्हें उसी प्रकार सहन नहीं है जिस प्रकार लाख के आभूषण उष्मा नहीं सह पाते हैं। आज के सत्ताधारियों को भी प्रबल प्रतिपक्षी के प्रतापानल से अपनी स्थिति के

डावाँडोल होने का भय सताता रहता है। ये आज के सत्ताधारी आभूषण के समान ही हैं जिनका 'चरित्र' जरा-सी सत्य रूपी आँच से पिघलकर जनता के सामने आ जाता है। अतः ये हमेशा सच्चाई उजागर होने के भय से भयभीत रहते हैं। अहङ्कारवश किसी भी उपदेश को हृदयङ्गम नहीं करते हैं। तृष्णा (लालसा) के विष से मोहित होने के कारण ये राजा लोग हर वस्तु में सुवर्ण को ही देखते हैं। मद्यपान के कारण उग्र स्वभाव वाले ये राजा दूसरों से प्रेरित होकर विनाश कार्य में लग जाते हैं। मद्यपान आज भी युवाओं, सत्ताधारियों, धनिकों और यहाँ तक कि निम्न वर्ग के लोगों के बीच फैला हुआ विकार है। नशे के परिणाम आज हम सभी भली-भाँति जानते हैं। नशा किस प्रकार मनुष्य को नष्ट कर डालता है- इसे समझने के लिए विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। आज इसके दुष्परिणाम हम देख भी रहे हैं और यथास्थान पढ़ भी रहे हैं। मद्यपान से व्यक्ति अपने शरीर का ही नहीं दूसरों का भी अहित कर डालता है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने भी कहा है- 'शराब आदमी का शरीर ही नहीं आत्मा का भी नाश करती है।'¹²

अहङ्कार के वशीभूत होकर अनुचित दण्ड-प्रयोग के द्वारा राजा दूरस्थ कुलीन लोगों पर भी चोट पहुँचाते हैं और असामयिक खिले हुए पुष्प की भाँति मनोहर होने पर भी लोगों के विनाश के हेतु होते हैं।¹² 'दण्ड' के उचित प्रयोग हेतु शासक को विवेकी एवं तेजस्वी होना आवश्यक है। इसे कोई अविद्वान् और अधर्मात्मा शासक धारण नहीं कर सकता है और यदि धारण कर भी ले तो यह 'दण्ड' कुलसहित उस अविवेकी राजा का नाश कर देता है।¹³ शास्त्रों में 'दण्ड' की इस प्रकार की अपार महिमा का वर्णन मिलता है। 'दण्ड' के अनुचित प्रयोग से राजा दूसरों का ही नहीं अपना भी अहित कर डालता है। वे तिमिरान्ध (रतौंधी) रोग की भाँति दूर तक देखने में असमर्थ होते हैं अर्थात् सम्पत्ति और अधिकार का मद उन्हें दूरगामी परिणाम को सोचकर कार्य करने में असमर्थ बना देता है। रात-दिन बढ़ते हुए पाप से ही उनकी देह फूलती जाती है। ऐसी अवस्था में अनेक व्यसन उन्हें अपना शिकार बना लेते हैं और वे उत्तरोत्तर पतन को प्राप्त होते जाते हैं, किन्तु फिर भी उन्हें अपना अपकर्ष दिखाई नहीं देता है। जैसे दीमक के वल्मीक (बाँबी) पर उगे तृण से गिरी जल की बूँद नीचे गिर जाने पर (मिट्टी सूखी होने के कारण) दिखाई नहीं देती है, उस जलबिन्दु के समान ही राजाओं को अपने पतन का अबबोध नहीं होता है।¹⁴

गुरुपदेश के अभाव में धन-सम्पत्ति से दुर्दशा

एक ओर जहाँ राजा अथवा धनिक लक्ष्मी के मोह में फँस जाते हैं वहीं दूसरी ओर धूर्त लोग भी उन्हें घेर लेते हैं। स्वार्थसिद्धि में लगे ये गिद्ध राजाओं की मति भ्रष्ट कर देते हैं और उन्हें अपनी बातों की वञ्चना से ठगते हैं। यथा-जुआ खेलना विनोद है, शिकार (प्राणिहिंसा) व्यायाम है, मद्यपान विलास है, गुरुवचनों की अवहेलना स्वाधीनता है, धृष्टता धारण करना सहनशीलता है- इत्यादि प्रकार की वाणी की वञ्चनाओं से वे अवगुणों को भी गुणों की श्रेणी में रखकर शासकवर्ग की ऐसी प्रशंसा की झड़ी लगा

देते हैं मानो किसी देवता की स्तुति कर रहे हों। अपने स्वामी को इस प्रकार का अहितकारी उपदेश देने वाला निन्दनीय माना गया है। इसी प्रकार हितप्रद वचन कहने वाले मंत्री अथवा मित्र की बात नहीं सुनने वाला स्वामी भी निन्दनीय है-

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं,
हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः।
सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं
नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः॥³⁵

शासकवर्ग को इस प्रकार की बातों से मूर्ख बनाने वाले वे धूर्त वञ्चक मन हों मन सब समझते हैं और उपहास भी करते हैं, किन्तु धनमद से अचेतन राजा अथवा सुनने वाला व्यक्ति इस उपहास को समझ नहीं पाता और अपने आप को वैसा ही मानने लग जाता है। झूठा यशोगान उनको अच्छा लगने लगता है। ये अपने सेवकों से अपनी प्रशंसा सुनने के इच्छुक बन जाते हैं और अज्ञानतावश उन वञ्चनाओं (बातों) को सत्य मानकर अभिमान करने लगते हैं। वे अपने आपको देवता का अवतार समझने लग जाते हैं। स्वयं को देव समझने की धारणा उनकी मति भ्रष्ट कर देती है और इस प्रकार वे अपने आपमें कभी चतुर्भुजी विष्णु तो कभी तृतीय नेत्रधारी (भाललोचन) शिव की कल्पना करने लग जाते हैं।³⁶ इस कारण दर्शन देने को भी वे अनुग्रह, दृष्टिपात को उपकार, सम्भाषण को पारितोषिक, आज्ञा देने को वरदान और स्पर्श करने को पवित्र कर देना- मानने लगते हैं। इसी मिथ्या घमण्ड में वे न तो देवों को प्रणाम करते हैं और न ही गुरुजनों का सम्मान करते हैं। वे विद्वानों का उपहास करते हैं, वृद्धों के उपदेश को अनर्थक प्रलाप समझते हैं और हितैषियों पर क्रुद्ध हो जाते हैं। उनका गुणगान करने वाला ही उनकी दृष्टि में हितैषी है और वे उसी का अभिवादन करते हैं, उसी के सान्निध्य में रहते हैं, उसे ही विश्वासपात्र समझते हैं, उसी का सम्मान करते हैं, उसी पर धन बरसाते हैं, उसी को दान देते हैं और उसी की बात सुनते हैं। यहाँ तक कि नितान्त क्रूर प्रकृति वाले पुरोहितों एवं सलाहकारों को ही वे अपना गुरु समझते हैं। सहस्रों राजाओं द्वारा भोग कर परित्यक्त लक्ष्मी में ही उनकी आसक्ति रहती है। सहज प्रेम रखने वाले भ्रातृगणों का मूलोच्छेद कर देने में तत्परता दिखाते हैं। इस प्रकार लम्पटों द्वारा बेवकूफ बनाए गए ये लोग उपहास के पात्र बन जाते हैं। ऐसे विवेकहीन राजा अथवा धनी व्यक्ति इन लम्पटों के लिए अवाञ्छित लाभ प्राप्त करने के साधन होते हैं, जिन्हें ये मूर्ख बनाकर स्वार्थसिद्ध करते हैं। भर्तृहरि ने भी कहा है कि विवेक से पतित हुए प्राणियों का पतन सैकड़ों प्रकार से होता है - 'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।'³⁷

गुरु के उपदेश का माहात्म्य

कादम्बरी में मन्त्री शुकनास ने गुरु के उपदेश को समस्त मैल के प्रक्षालन में समर्थ जलरहित

स्नान कहा है। शरीर का मैल तो जल के स्नान से दूर हो जाता है, किन्तु मानसिक विकारों का प्रक्षालन तो गुरु-उपदेश रूपी जल से ही हो सकता है। जल को अमृत के समान माना गया है- 'जलम् अमृतम्', किन्तु गुरुवाणी तो इस अमृत जल से भी अधिक प्रभावशाली है। जल जीवन है, किन्तु गुरुवाणी जीवन का मार्ग है। गुरु-शिक्षा से मनुष्य जरारहित वृद्धत्व को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि वृद्धावस्था में केशों का श्वेत होना आदि शारीरिक विकार हैं, किन्तु गुरु के उपदेश से मनुष्य तरुण अवस्था में ही ज्ञान का सागर बन जाता है और वृद्धजनों के समान ही सम्मान को प्राप्त होता है। बिना किसी शारीरिक विकृति के ही वह अधिक उम्र के लोगों द्वारा अर्जित अनुभवों के समान ज्ञाननिधि बन जाता है। वृद्धावस्था अनुभवों और ज्ञान का सञ्चय है। यह सञ्चय मनुष्य गुरु की कृपा से युवावस्था में ही प्राप्त कर लेता है। महर्षि मनु का यह वचन ध्यातव्य है-

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।

यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवा स्थविरं विदुः॥³⁸

अर्थात् बाल सफेद हो जाने से व्यक्ति वृद्ध (बड़ा) नहीं माना जाता है, अपितु युवा व्यक्ति भी यदि ज्ञानी है तो वह बड़ा माना गया है। निष्कर्षतः ज्ञानवृद्ध वयोवृद्ध से श्रेष्ठ होता है। यही सारांश धम्मपद के इस अंश में भी द्रष्टव्य है-

न तेन थेशो ह्योति येनस्स पलितं शिरसो।

परिपक्वो वयो तस्स मोघजिण्णो ति बुच्चति॥

(धम्मपद 19.5)

शिर के बाल पकने से कोई स्थविर नहीं होता, केवल उसकी आयु परिपक्व हो गई है, वह तो तुच्छ वृद्ध कहा जाता है।

महाकवि कालिदास ने भी कहा है कि ज्ञानवृद्ध लोगों के विषय में आयु समीक्षा का विषय नहीं होती। ज्ञान में ज्येष्ठ होने पर आयु की ज्येष्ठता का कोई महत्त्व नहीं होता है- 'न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते'³⁹

यह गुरूपदेश चर्बी रहित गुरुता (गौरव) प्रदान करता है और स्वर्णनिर्मित नहीं होते हुए भी यह अतिसुन्दर कर्णाभरण है, क्योंकि सद्वचनों को सुनने से ही कानों की शोभा मानी जाती है। गुरु का उपदेश प्रदोषकालीन चन्द्रमा के समान है जो अत्यन्त मलिन दोषों के अन्धकार को भी दूर कर देता है। वृद्धत्व जिस प्रकार केशों को निर्मल करता हुआ श्वेत कर देता है उसी प्रकार गुरु की शिक्षा भी दोषों को निर्मल करती हुई गुणों में परिणत कर देती है। शुक्नासोपदेश में गुरुवचन को 'प्रकाश' की सञ्ज्ञा दी गई है।⁴⁰ यह ऐसा प्रकाश है जो प्रकाश के स्रोत सूर्य और शीतल आनन्द किरण चन्द्रादि ज्योतियों से भी बढ़कर है। संसार की प्रत्येक वस्तु का ज्ञान इन ज्योतिपुञ्जों से सम्भव है, किन्तु अज्ञान के अन्धकार में

छिपे हुए विषय का ज्ञान तो इनसे भी अभेद्य है। ऐसे प्रत्येक विषय का साक्षात्कार गुरु के उपदेश से ही सम्भव है। यह गुरु ज्ञान बिना उद्वेग का जागरण है। इस जागरण में किसी भी प्रकार की बेचैनी और थकान का अनुभव नहीं होता है। गुरु की दी हुई शिक्षा मनुष्य को विषयों से बचाने के लिए सदा ही जागरूक बनाए रखती है।

गुरुपदेश का काल और पात्र

गुरु के उपदेश की महत्ता इसी में है कि उस उपदेश को ग्रहण करने वाला उचित पात्र (शिष्य) भी हो। महर्षि पतञ्जलि ने गुरु को 'छत्र' की संज्ञा दी है। जिस प्रकार छत्र (छाता) गर्मी और वर्षादि से बचाता है, उसी प्रकार गुरु शिष्य के अज्ञान का निवारण करता है। छाता भी तभी मनुष्य का आच्छादन कर सकता है जबकि उस छाते के दण्ड को उचित तरीके से धारण किया जा सके। अतः 'छत्र' अर्थात् गुरु की आज्ञापालन (दण्डधारण) करने का जिसका स्वभाव हो वही 'छात्र' कहलाने का अधिकारी है। छत्र से ही 'छात्र' बना है।⁴¹ छात्र अर्थात् शिष्य में वे गुण होने चाहिए जो विद्वानों से उनकी बुद्धि में निहित ज्ञान को ग्रहण कर लें।

'कादम्बरी' में शुक्रनास ने चन्द्रापीड से स्वयं कहा है कि उसने यह उपदेश चन्द्रापीड के गुणों से प्रसन्न होकर ही दिया है।⁴² उपदेश के साथ-साथ उसे ग्रहण करने के लिए सुयोग्य होना भी अनिवार्य है अन्यथा इसका औचित्य नहीं रहता है। अयोग्य मनुष्य के कान में गुरुज्ञान लाभदायक होने पर भी कष्ट को आमन्त्रित करता है। जैसे जल निर्मल होता हुआ भी अनुचित स्थान कर्ण (कान) के भीतर प्रविष्ट हो जाने पर कर्णशूल का कारण बनता है। महाकवि भारवि ने भी हितकारी वचनों का मधुर होना दुर्लभ ही बताया है- 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः'⁴³। यही लाभप्रद गुरु-ज्ञान योग्य पुरुष के कान में पहुँचने पर उसी प्रकार मुख की शोभा को बढ़ाता है जिस प्रकार शङ्ख के आभरण गज की शोभा बढ़ाते हैं।

'शुद्ध हृदय' पर ही उपदेश अपना गुण प्रकट करते हैं। चन्द्रमा की किरणें उसी स्फटिकमणि पर भलीभाँति पड़ती हैं जो निर्मल हो। अतः गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान को दृढ़ करने के लिए दर्प, हिंसा आदि का त्याग, आचरण में शुद्धि आदि के द्वारा 'शुद्ध हृदय' को आवश्यक माना गया है।

'युवावस्था' गुरुपदेश के लिए स्वर्णिम समय है। विषयरस के आस्वादन से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए ही 'यौवनारम्भ' (गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पूर्व) में यह उपदेश उचित है, क्योंकि कामबाण के प्रहार से जर्जरित हृदय में से तो यह उपदेश छलनी में से नीर की भाँति बहकर निकल जाता है। सांसारिकता में फँसे व्यक्ति पर गुरु-ज्ञान का प्रभाव नहीं पड़ता। जैसे कुम्हार मिट्टी से बनाए हुए कच्चे घड़े को तो जैसी शकल देना चाहता है वैसी दे सकता है, किन्तु घड़े को पकाये जाने के पश्चात् उसकी आकृति में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता, उसी प्रकार गुरु का उपदेश भी प्रारम्भिक अवस्था में ही मानव को सुसंस्कारों से सज्जित कर सकता है, प्रौढ़ अवस्था में नहीं। युवावस्था के सुसंस्कार यावज्जीवन

कायम रहते हैं, किन्तु प्रौढ़ावस्था के संस्कार क्षणिक होते हैं।⁴⁴ शिष्य की पात्रता के लिए उसमें 'विनय' का आधान होना आवश्यक है- 'विनयाद् याति पात्रताम्'।⁴⁵ कुल अथवा ज्ञान भी दुष्ट प्रकृति के मनुष्य को विनयी नहीं बना सकता- 'स्वभावो दुरतिक्रमः'। इसे अनेक उदाहरणों से समझा जा सकता है, यथा- क्या चन्दन की लकड़ी से उत्पन्न अग्नि जलाती नहीं है? क्या शैत्य प्रकृति वाले जल से भी बडवानल (समुद्र की अग्नि) अधिक दाहक नहीं होती है? स्पष्ट है यद्यपि चन्दन शीतल होता है, परन्तु उसमें लगी आग तो शीतलता नहीं पहुँचाती, और यद्यपि जल अग्निशामक है, परन्तु बडवानल तो ज्वारभाटा के रूप में विनाशकारी ही होता है। अग्नि का स्वभाव है- दाहकता (जलाना)। अग्नि यदि शीतल प्रकृति वाले चन्दन की लकड़ी में प्रवेश कर जाए अथवा जल का संस्पर्श प्राप्त कर ले तो भी उसका स्वभाव परिवर्तित नहीं हो सकता, वह दाहकताशक्ति को नहीं छोड़ेगी। इसी प्रकार अविनय प्रकृति का मनुष्य चाहे उच्च कुल वाला हो अथवा प्रकाण्ड विद्वान् हो, इससे उसके स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं आता। विनयता रूपी गुण के अभाव में मनुष्य का स्वभाव समुचित उपायों से भी बदला नहीं जा सकता- 'अतीत्य ही गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते'। अभिवादनशील और सेवाभावी व्यक्ति विनय होता है। ऐसे शिष्य से प्रभावित होकर गुरु की स्वतः ही शिक्षा देने की इच्छा जागती है। इन गुणों से रहित व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अतः सभी शास्त्रों में शिष्य का अभिवादनशील और सेवाभावी होना आवश्यक माना गया है। मनुस्मृति में अभिवादनशील और नित्य वृद्धजनों की सेवा करने वाले व्यक्ति में आयु, विद्या, यश और बल की वृद्धि होने का सन्दर्भ प्राप्त होता है-

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्॥

सेवाभावी व्यक्ति गुरु में निहित ज्ञान को उसी प्रकार प्राप्त कर लेता है जिस प्रकार वह कुदाली से खोदता हुआ पानी को प्राप्त कर लेता है-

यथा खनन् खनित्रेण नरो वायीधिगच्छति।

तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥

ज्ञानेषु की गुरु में 'श्रद्धा' और 'आस्था' होना भी 'पात्रता' के लिए आवश्यक है। श्रद्धायुक्त होने पर ही ज्ञान मिलता है- 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'। गुरु और शास्त्र के वचनों की सत्यता और हितकारिता में दृढ़ विश्वास का नाम ही श्रद्धा है-

शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यवधारणम्।

सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तूपलभ्यते॥⁴⁶

भगवान् श्री कृष्ण ने भी श्रद्धायुक्त पुरुष को अपना अतिशय प्रिय भक्त माना है- 'श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।'⁴⁹

इस प्रकार गुरु-शिष्यों के मध्य पवित्र सम्बन्धों की महती आवश्यकता है। गुरु और शिष्य दोनों के अभिन्न सम्बन्ध को समझना चाहिए, तभी शिक्षा के मर्म को समझा जा सकता है। इसी का दूसरा नाम 'उपनिषद्' है। श्रद्धापूर्वक गुरुमुख से निरन्तर अधिगत विद्या (शिक्षा) ही मानव समाज को उपकृत कर सकती है। सही मायने में आज ऐसे शिक्षक और शिक्षार्थी जिस महाविद्यालय में हों वही शिक्षा-महाविद्यालय कहलाने के अधिकारी हैं।

निष्कर्ष

'कादम्बरी' में मन्त्री शुकनास के माध्यम से चन्द्रापीड को जो उपदेश दिया गया है, वह कल्याण के अभिनिवेशी प्रत्येक व्यक्ति के लिए मङ्गलायन है। हर वह व्यक्ति जो अपना उत्कर्ष चाहता है, कल्याण चाहता है, गुरु के महत्त्व को समझना चाहता है, उसे कादम्बरी का यह अंश अवश्य पढ़ना चाहिए। गुरु-माहात्म्य इसमें विवेचित है और यह 'कादम्बरी' का 'शुकनासोपदेश' नामक अंश स्वयं गुरु का उपदेश है। अतः किसी भी पहलू से देखें यह उत्कृष्ट अंश हमारे सभी प्रश्नों का समाधान भी करता है और हमारे ज्ञान के क्षेत्र को विस्तार भी प्रदान करता है। गुरु की महिमा उनकी शिक्षाओं में निहित है। ये शिक्षाएँ युवाओं, राजाओं अथवा देश का सञ्चालन करने वालों, धनिकों, ऐश्वर्यसम्पन्न मनुष्यों, अमानुषी शक्तिमान् जनों, अनुपम सौन्दर्य के धनी व्यक्तियों, लक्ष्य-प्राप्ति हेतु उद्यमी लोगों के लिए सोने पर सुहागा के समान कार्य करती हैं। साथ ही उन्हें विभिन्न दोषों से भी बचाती हैं। पूर्व में युवावस्था के विकारों का वर्णन किया जा चुका है। प्रत्येक युवा को इनसे बचने की चेष्टा करनी चाहिए। यौवनजन्य इन दोषों से बचने के लिए गुरु द्वारा पथ प्रदर्शन अत्यन्त आवश्यक है जो गुरु-महिमा का प्रायोगिक निदर्शन है। इसी से मनुष्य की लोकयात्रा सफल हो सकती है।

शासकवर्ग के लिए तो यह गुरु का उपदेश नितान्त आवश्यक है, क्योंकि भय से लोग प्रतिध्वनि के सदृश उनके वचनों का अनुसरण ही करते हैं, मार्गदर्शन नहीं। उन्हें उपदेश देने का साहस वही कर सकता है जो निर्भीक, प्रभावशाली एवं दृढ़निश्चयी हो और ऐसा व्यक्तित्व विरल होता है। इसके अतिरिक्त प्रबल अभिमान के कारण वे किसी की सुनते ही नहीं हैं और सुनते भी हैं तो गज के समान निमीलित नेत्रों से अवज्ञापूर्वक। उनका ऐसा आचरण हितोपदेश देने वाले गुरुजनों को खेद पहुँचाता है। इतना ही नहीं वे मिथ्याभिमान से उन्मादित हो जाते हैं और दूसरी ओर राजलक्ष्मी उन्हें राजसत्ता रूपी विष चढ़ाकर भोगविलास रूपी तन्द्रा में जकड़ लेती है। अतः उन्हें गुरुपदेश का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए ताकि वे सत्ता के मद में विवेकहीन होकर अनर्थ को निमन्त्रण न दें।

वस्तुतः तो गुरु के उपदेश का महत्त्व एवं औचित्य शुकनास द्वारा युवराज चन्द्रापीड को कहे गए इन निर्देशों में ही निहित है- '.....लोग तुम पर हँसे नहीं, साधुनजन निन्दा न करें, गुरुजन धिक्कार न दें, मित्र उपालम्भ न दें, विद्वान् शोक न करें, कामीजन तुम्हारी बुराई न करें, चतुर ठग न सकें, भुजङ्ग

(लम्पट) अपना भक्षण न बना लें, भृत्यगण लूटें नहीं, धूर्त छल न सकें, स्त्रियाँ लुभा न सकें, लक्ष्मी तुम्हारी विडम्बना न करे, अहङ्कार नचाये नहीं, काम प्रमादी न बना दे, विषय कुपथ पर न ले जाये, राग अपनी ओर न खींच सके और सुख अपने अधीन न कर ले.....।⁵⁰

एक गुरु का शिष्य के प्रति दिया गया यह निर्देश प्रत्येक कल्याण के अभिलाषी के लिए है जिससे कि उसकी दुरवस्था न हो जाए और एक सदगुरु का अभिलाष भी यही होता है। गुरु की निर्मल शिक्षाओं से व्यक्ति के अन्तःकरण का प्रक्षालन हो जाता है और वह ऐसा हो जाता है मानों स्नान के बाद अङ्गराग एवं अलङ्करण आदि से पवित्र होता हुआ चमचमा उठा हो। गुरु तत्त्व की सत्ता और गुरु के उपदेश का औचित्य अब और अधिक व्याख्या की अपेक्षा नहीं करता है, क्योंकि जिसे इसमें सन्देह है, उसके लिए 'कादम्बरी' का 'शुकनासोपदेश' सङ्गक अंश ही प्रत्युत्तर के रूप में पर्याप्त है। गुरु तो ज्ञान (भारती) का सागर है जिसमें से शिष्य जितना भी ले ले कम है और गुरु कितना भी दे दे कभी रिक्त नहीं होता है, क्योंकि सत्पात्र को विद्यादान से विद्या बढ़ती है।⁵¹ वस्तुतः तो 'हमारे जीवन में गुरु का क्या महत्त्व है?' इसका उत्तर तो हमारे अन्तर् में ही विद्यमान है। विमल हृदय व्यक्ति इसका आत्मालोचन कर सकता है।

सन्दर्भ: -

1. श्री शंकराचार्य, (स्वामी संवित् सोमगिरि, संवित् साधनायन, अर्बुदाचल, 1987), पृ. 46-47
2. 'गृ शब्दे' धातु, 'कृग्रोरुच्च' (उणादि सूत्र 1.24) से 'उ' प्रत्यय होकर बना 'गुरु' शब्द।
3. शृणुष्वावहितो विद्वन्धन्यमया समुदीर्यते।
तदेतच्छ्रवणात्सद्यो भवबन्धाद्धिमोक्ष्यसे ॥ - विवेक-चूडामणि, (श्री शंकराचार्य), श्लोक, 70
4. 'आज्ञा गुरुणां ह्यविचारणीया'।- रघुवंश (कालिदास), 14.46
5. बृहदारण्यक उपनिषद् 1.3.28
6. अज्ञान से उत्पन्न भ्रान्त भावनाओं को और बन्धन की प्रतीति को हटाना मात्र ही साधना है।
7. वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥ - मनुस्मृति, 2.136
8. भगवद् गीता, 4.38
9. यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ - गीता, 2.7
10. गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥ - महाभारत
11. सप्तम शताब्दी में संस्कृत के महाकवि बाणभट्ट द्वारा रचित गद्यकाव्य।
12. प्रसिद्ध वाक्य

13. केवलं च निसर्गत एवाभानुद्येमरत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम् । -कादम्बरी (बाणभट्ट, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 2002), पृ.215
14. अपरिणामोपशमो दारुणो लक्ष्मीमदः ।- वही, पृ. 215
15. कष्टमनञ्जनवर्तिसाध्यमपरमैश्वर्यतिमिरान्धत्वम् । - वही, पृ. 215
16. अशिशिरोपचारहार्योऽतितीव्रो दर्पदाहज्वरोष्मा । - वही, पृ.216
17. ब्रह्मानन्दनिधिर्महाबलवताहङ्कारघोराहिना,
संवेष्ट्यात्मनि रक्ष्यते गुणमयैश्चण्डैस्त्रिभिर्मस्तकैः ।
विज्ञानाल्पमहासिना द्युतिमता विच्छिद्य शीर्षत्रयं,
निर्मूल्याहिमिमं निधिं सुखकरं धीरोऽनुभोक्तुं क्षमः ॥
यावद्वा यत्किञ्चिद्विषदोषस्फूर्तिरस्ति चेद्देहे ।
कथमारोग्याय भवेत्तद्वदहन्तापि योगिनो मुक्त्यै ॥ - विवेक- चूडामणि, श्लोक सं. 303-04
18. तस्मादहङ्कारमिमं स्वशत्रुं, भोक्तुर्गले कण्टकवत्प्रतीतम् ।
विच्छिद्य विज्ञानमहासिना स्फुटं, भुङ्क्वात्मसाम्राज्यसुखं यथेष्टम् ॥ - वही, श्लोक सं. 308
19. गर्भेश्वरत्वमभिनवयौवनत्वमप्रतिमरूपत्वममानुषशक्तित्वं चेति महतीयं खल्वनर्थपरम्परा सर्वा । अविनयाना-
मेकैकमप्येषामायतनम्, किमुत समवायः ।- कादम्बरी, पृ. 216
20. यौवनारम्भे च प्रायः शास्त्रजलप्रक्षालननिर्मलापि कालुष्यमुपयाति बुद्धिः । अनुञ्चितधवलतापि सरागैव भवति
यूनां दृष्टिः । अपहरति च वाल्येव शुष्कपत्रं समुद्भूतरजोभ्रान्तिरतिदूरमात्मेच्छया यौवनसमये पुरुषं प्रकृतिः । -
वही, पृ.216
21. गीता, 14.7
22. इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च ।
पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥ -मनुस्मृति, 12.52
23. इयं हि खड्गमण्डलोत्पलवनविभ्रमभ्रमरी लक्ष्मीः क्षीरसागरात्पारिजातपल्लवेभ्यो रागम्, इन्दुशकलादे-
कान्तवक्रताम्, उच्चैःश्रवसश्चञ्चलताम्, कालकूटान्मोहनशक्तिम्, मदिराया मदम्, कौस्तुभमणेर्नैष्ठुर्यम्,
इत्येतानि सहवास-परिचयवशाद्विरहविनोदचिह्नानि गृहीत्वैवोद्गता । -कादम्बरी, पृ. 219
24. अप्राप्त की प्राप्ति का नाम 'योग' है । प्राप्त वस्तु की रक्षा का नाम 'क्षेम' है ।
25. अज्ञानमालस्यजडत्वनिद्राप्रमादमूढत्वमुखास्तमोगुणाः ।
एतैः प्रयुक्तो न हि वेत्ति किञ्चिन्निद्रालुवत्स्तम्भवदेव तिष्ठति ॥ - विवेक-चूडामणि, श्लोक, 118
26. यथा-यथा चेयं चपला दीप्यते तथा तथा वीपशिखेव कज्जलमलिनमेव कर्म केवलमुद्भवति ।-कादम्बरी, पृ.222
27. परामर्शधूमलेखा सच्चरितचित्राणाम् । -वही, पृ. 223
28. तिमिरोद्गतिः शास्त्रदृष्टीनाम् । - वही, पृ. 223
29. त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ - गीता, 16.21

30. कुलीरा इव तिर्यक्परिभ्रमन्ति । -कादम्बरी, पृ. 225
31. कामः क्रोधो लोभदम्भाद्यसूयाहङ्करेर्ष्यामत्सराद्यास्तु घोराः ।
धर्मा एते राजसाः पुम्प्रवृत्तिर्यस्मादेशा तद्रजो बन्धहेतुः ॥ - विवेक- चूडामणि, श्लोक 114
32. अकालकुसुमप्रसवा इव मनोहराकृतयोऽपि लोकविनाशहेतवः । - कादम्बरी, पृ. 226
33. दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ - मनुस्मृति, 7.28
34. तदवस्थाश्च व्यसनशतसंख्यतामुपगता वल्मीकतृणाग्रावस्थिता जलबिन्दव इव पतितमप्यात्मानं
नावगच्छन्ति । -कादम्बरी, पृ. 227
35. किरातार्जुनीयम् (भारवि), 1.5
36. मनसा देवताध्यारोपणविप्रतारणादसद्भूतसंभावनोपहताश्चान्तःप्रविष्टापरभुजद्वयमिवात्मबाहुयुगलं
संभावयन्ति । त्वगन्तरिततृतीयलोचनं स्वललाटमाशङ्कन्ते । - कादम्बरी, पृ. 228
37. नीतिशतक (भर्तृहरि), श्लोक सं. 10
38. मनुस्मृति, 2.156
39. कुमारसम्भव (कालिदास), 5.16
40. अतीतज्योतिरालोकः । - कादम्बरी, पृ. 218
41. गुरुश्छत्रं । गुरुणा शिष्यश्छत्रवच्छाद्यः । शिष्येण च गुरुश्छत्रवत्परिपाल्यः । छत्रधारणं शीलं यस्य सः छात्रः ।
- 'छत्रादिभ्यो णः' (4.4.62) सूत्र पर व्याकरणमहाभाष्य (पतञ्जलि)
42. तथापि भवद्गुणसंतोषो मामेवं मुखरीकृतवान् । - कादम्बरी, पृ. 231
43. किरातार्जुनीयम्, प्रथमसर्ग, श्लोक सं. 4
44. (क) यत्रवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत् । - हितोपदेश, मित्रलाभ प्रकरण, श्लोक 8
(ख) अकारणं च भवति दुष्प्रकृतेरन्वयः श्रुतं वाविनयस्य । - कादम्बरी, पृ. 218
45. हितोपदेश, श्लोक 6
46. मनुस्मृति, 2.121
47. मनुस्मृति, 2.218
48. विवेक- चूडामणि, श्लोक 26
49. गीता, 12.20
50. तदेवं 'प्रयाति' कुटिलकष्टचेष्टासहस्रदारुणे.....नापहियसे सुखेन । - कादम्बरी, पृ.230
51. अपूर्वः कोऽपि कोशोऽयं दृश्यते तव भारति ।
व्ययतो वृद्धिमायाति क्षयमायाति सञ्चयात् ॥

-शोधच्छात्र, विजुअल आर्ट विभाज, मोहनलाल सुख्राडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)

गुरु गुण लिख्या न जाय

श्री देवेन्द्रनाथ मोदी

जीवन जीने के गुरु सिखाकर मोक्षमार्ग की ओर जो ले जाए वह गुरु है। गुरु की विशेषताओं को लेखक ने विभिन्न स्रोतों से प्रस्तुत किया है। -सम्पादक

मनुष्य अपने जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव देखता है। आशा-निराशा के द्वन्द्वों में फंसा रहता है। अनेक संकल्पों-विकल्पों के झूले में झूलता रहता है। वह कुछ समझ नहीं पाता कि क्या उचित है और क्या अनुचित? वह क्या करे, कहाँ जाए? ऐसी स्थिति में उसे किसी ऐसे पूर्ण पुरुष की तलाश रहती है जो उसके इस संताप को शीतलता प्रदान कर सही मार्ग बता सके। वह पूर्ण पुरुष है 'गुरु'। गुरु ही जीवन के तमोगुण और रजोगुण को कम करके सत्त्वगुण की ओर ले जाने में सहायता करता है। गुरु अर्थात् 'गुरु' सिखाने वाला- जो जीवन जीने के गुरु सिखा कर मोक्ष का मार्ग बताये वही है गुरु।

भौतिक प्रगति के क्षेत्र में तो मानव ने विज्ञान के माध्यम से काफी प्रगति करली है तथा अधिकता के लिए प्रयत्नशील भी है, किन्तु जान नहीं पा रहा है कि उसके जीवन का लक्ष्य क्या है, ध्येय क्या है, उद्देश्य क्या है? इस द्वन्द्व में उसे एक मार्गदर्शक, प्रज्ञावान और अनुभवी पूर्ण पुरुष की आवश्यकता होती है जो उसे सही राह बता सके, सच्चा लक्ष्य दिखा सके, सच्चा विवेक जगा सके। वह पुरुष है 'सद्गुरु'।

महासती श्री मुदित प्रभा जी म. सा ने GURU शब्द को निम्नानुसार परिभाषित किया है-

G=Good Sense (अच्छी सोच देने वाले)

U= Understanding (हर्ष व शोक के समय अच्छी समझ देने वाले)

R=Reborn (नए व अच्छे संस्कारों को जन्म देने वाले)

U= Union (संघ को शक्ति देने वाले प्रेरक)

अन्तस् के तमस को मिटाने के लिए, अज्ञान के अन्धकार को मिटाने के लिए सद्गुरु की आवश्यकता होती है। वही अज्ञान-तिमिर को मिटाने में सक्षम है। कहा भी है-

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया।

चक्षुस्त्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥

(अज्ञानरूपी अन्धकार को मिटाकर ज्ञानरूपी अंजनशलाका से बुद्धि-विवेक के अन्तःचक्षु को खोलने वाले गुरुदेव को सादर वन्दन, शतशः नमन।)

पूज्य गुरुदेव से अलौकिक ज्ञानप्रकाश को प्राप्त करने के पश्चात् हम जान पाते हैं अपनी नादानियों को, झुटियों को, दोषों को, भ्रांतियों को और फिर उनकी शुद्धि हेतु तत्पर होते हैं। ज्ञान के प्रकाश में, सत्य के आलोक में हमारी जीवन धारा वास्तविक लक्ष्य की ओर अग्रसर होने लगती है। हमें सद्चिद् आनन्द का स्वरूप ज्ञात होने लगता है। सत्य के प्रकाश से हमारा जीवन चमकने लगता है। कोई भ्रान्ति नहीं रह पाती, कोई भटकाव नहीं रह पाता, कोई बाधा नहीं टिक पाती। ऐसा अनुपम ज्ञान का आलोक हमें प्राप्त होता है- पूज्य गुरुदेव की कृपा से।

श्रमण संस्कृति के अनुसार आचार्य, उपाध्याय तथा साधु-साध्वीगण सद्गुरु कहलाते हैं। इन तीन पदों का अपना-अपना विशिष्ट स्थान है। गुरुपद बन्दनीय-पूजनीय होने से णमोकार महामंत्र में तीन बार प्रकारान्तर से नमन किया गया है-

संत कबीर ने गुरु महिमा का बखान सुन्दर, सरस तथा प्रभावकरूप में इस प्रकार चर्चित संतवानी पद में किया है-

गुरु गोविन्द ढोऊ खड़े, काके लाग हूँ पाय।

बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय ॥

गुरु वह जंजीर है जिसकी अंतिम कड़ी परमात्मा से जुड़ी है।

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव की उक्ति को सार्थक करते हुए गुरु ही एक ऐसा सूत्रधार है जो जीवन के संपूर्ण दर्शन से हमारा साक्षात्कार कराता है। परमात्मा को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न कर उस जिज्ञासा का समाधान बताता है तब पूर्ण होती है जीवन-यात्रा।

गुरु एक ऐसा विशेषज्ञ होता है जो हमारे मन और आत्मा का नियंत्रण और नियमन करता है, जिससे हमारा उत्तरोत्तर आत्मविकास होता जाता है। गुरु ही हमारे जीवन का केन्द्र बिन्दु है, हमारे जीवन की पूर्णता है, गुरु को पाने के लिए, गुरु ज्ञान का रस-पान करने के लिए हमारे हृदय के पात्र में विद्यमान काम, क्रोध, लोभ, मोह और माया की गंदगी को साफ करना होगा, निर्मल करना होगा। कर्म, उपासना व ज्ञान क्रियाओं की पूर्णता पर ही गुरु ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

गुरु के प्रति हमारे मन में अटूट श्रद्धा, अनन्य भक्ति एवं विश्वास होना चाहिये। गुरु के गुणों के प्रति हमारा सहज समर्पण होना चाहिए, क्योंकि गुरु गुण गरिमा-महिमा का कोई पार नहीं है, अंत नहीं है, सीमा नहीं है। गुरु ही हमारे मन, बुद्धि व चित्त को समता में लाने का ज्ञान देकर हमें अहंकार से बचाते हैं।

इस बात को प्रकट करने के लिए ही कहा है-

“सात समुद्र की मसि करै, लेखनी सब वन जाय।

सब धरती कागद करै, गुरु गुण लिख्या न जाय ॥”

कितनी असीम श्रद्धा है महात्मा कबीर की गुरु गुणों के प्रति, कितनी निष्ठा है, कितनी भक्ति है गुरुदेव

के प्रति । वस्तुतः गुरुदेव के गुणों एवं उपकारों का वर्णन करना सम्भव ही नहीं है ।

गुरु कृपा से ही निर्मल और विकार रहित ज्ञान की प्राप्ति संभव है । संत तुलसीदास जी ने कहा है- “गुरु के चरणों के नखों में से निकलने वाली ज्योति अन्तर्हृदय का अंधकार दूर करने के लिए पर्याप्त है ।” इस असार संसार में जिसका कोई सद्गुरु नहीं वाकई में उसका कोई सच्चा हितैषी भी नहीं है । सभी प्रकार से सम्पन्न होते हुए भी वह विपन्नावस्था में अनाथ के समान है । गुरुदेव की कृपा से ही मनुष्य शान्ति का अधिकारी होता है और पूर्णता को प्राप्त करता है ।

परम पूजनीय प्रतिपल स्मरणीय आचार्य भगवन्त श्री हस्तीमल जी म.सा. मेरे आराध्य गुरुदेव हैं । गुरुदेव का अमर व्यक्तित्व एवं कृतित्व सबके मानस को असीम प्रेरणा प्रदान करता है, आत्मबल प्रदान करता है । जन-जन में आत्मशक्ति का विकास करता है । उन्हीं श्री के मुखारविन्द से उद्बोधित ‘गुरु’ की महत्ता “नमो पुरिसवरगंधहृत्थीण” महाग्रंथ में अग्रानुसार वर्णित की गई है- “देव का अवलम्बन परोक्ष रहता है और गुरु का अवलम्बन प्रत्यक्ष । कदाचित् ही कोई भाग्यशाली ऐसे नर रत्न संसार में होंगे, जिन्हें देव के रूप में और गुरु के रूप में अर्थात् दोनों ही रूपों में एक ही आराध्य मिला हो । देव और गुरु एक ही मिलें, यह चतुर्थ आरक में ही संभव है । तीर्थंकर भगवान् महावीर में दोनों रूप विद्यमान थे । वे देव भी थे और गुरु भी थे । लेकिन हमारे देव अलग हैं और गुरु अलग । हमारे लिए देव प्रत्यक्ष नहीं हैं, परन्तु गुरु प्रत्यक्ष हैं । इसलिए यदि कोई मानव अपना हित चाहता है तो उस मानव को सद्गुरु की आराधना करनी चाहिए ।”

आगे गुरुदेव फरमाते हैं- “जीवन में गुरु ही सबसे बड़े चिकित्सक हैं । कोई भी अन्तर-समस्या आती है तो उस समस्या को हल करने का काम और मन के रोग का निवारण करने का काम गुरु करता है । कभी क्षोभ आ गया, कभी उत्तेजना आ गई, कभी मोह ने घेर लिया, कभी अहंकार ने, कभी लोभ ने, कभी मान ने, और कभी मत्सर ने आकर घेर लिया तो इनसे बचने का उपाय गुरु ही बता सकता है ।”

स्पष्ट है, गुरुदेव की कृपा से ही मनुष्य शान्ति का अधिकारी होता है और पूर्णतया को प्राप्त करता है । गुरु के ऋण से मुक्त होने के लिए सत्शिष्यों का इतना ही कर्तव्य है कि वे विशुद्ध भाव से अपना सब कुछ और शरीर भी गुरुदेव की सेवा में समर्पित कर दें ।

-‘हृकम’, 5/A/1, सुभाष नगर, पाल्खोड़, जोधपुर (राज.)



जैन परम्परा में गुरु का वैशिष्ट्य

श्री मनोहरलाल जैन

गुरु की महत्ता वैदिक एवं श्रमण दोनों परम्पराओं में मान्य है। लेखक ने वैदिक परम्परा से श्रमण परम्परा के गुरु-तत्त्व को दो आधार पर पृथक् किया है। एक तो यह है कि वैदिक परम्परा में गुरु को व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है वहाँ वह जैन परम्परा में गुणों के आधार पर स्थापित है। दूसरा यह है कि वैदिक परम्परा में 'गुरु बिन ज्ञान नहीं' की मान्यता है वहाँ जैन परम्परा में 'स्वयंबुद्ध' एवं 'प्रत्येकबुद्ध' गुरु के बिना भी बोधि प्राप्त करने वाले स्वीकार किए गए हैं।-सम्पादक

आर्य संस्कृति की दो धाराओं 'श्रमण' एवं 'वैदिक' परम्परा में गुरु को समान रूप से महत्त्व दिया गया है। इसी कारण कहा गया है कि गुरु बिन ज्ञान नहीं। भक्तिकालीन एवं निर्गुण उपासक कतिपय कवियों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "शीघ्र कटाये गुरु मिले तो भी संस्तो जाण।"

वैदिक परम्परा से प्रभावित चिन्तन धारा में गुरु को प्रधानता तो दी है, साथ ही व्यक्ति विशेष को ही गुरु पद पर प्रतिष्ठित किया गया है। श्रमण-परम्परा में गुरु को किसी व्यक्ति विशेष में प्रतिष्ठित कर सीमित नहीं किया गया है, अपितु पंच महाव्रतधारी जितने भी संत-सतियाँ हैं वे सब गुरु पद पर स्थापित किये गये हैं। इस अपेक्षा से हमने अपने आराध्य देव अरिहन्त प्रभु को भी प्रथम गुरु मान्य किया है। महामंत्र के पाँचों पदों में सिद्ध भगवान् अरूपी होने से शेष को गुरुपद के रूप में स्वीकार किया गया है। इसका प्रमुख कारण यह भी है कि महामंत्र के पदों पर प्रतिष्ठित होने के लिये प्रथम पायदान साधु पद ही है। इस अपेक्षा से अरिहन्त भगवान्, आचार्य, उपाध्याय को भी गुरु पद में सम्मिलित किया गया है। जब अरिहन्तो महदेवो का पाठ बोलते हैं उसमें हम पंच महाव्रतधारी, समिति-गुप्ति आदि गुणों से परिपूर्ण को ही अपना गुरु मान्य करते हैं। इसमें किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं जोड़ा जा सकता।

वैदिक तथा श्रमण परम्परा में गुरुपद को अति महत्त्वपूर्ण मानने के उपरान्त भी श्रमण-परम्परा में कतिपय मौलिक भिन्नताएँ हैं। श्रमण परम्परा में कोई गुरु पद पर तभी प्रतिष्ठित होता है जब वह पंचमहाव्रत आदि गुणों को धारण कर लेता है तथा भगवान की आज्ञा में विचरण करता है। सभी पंच महाव्रतधारी संत-सतियाँ जी को गुरु रूप में मान्यता दी गई है। इस प्रकार एक में अनेक व अनेक में एक का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। यदि ऐसा नहीं किया गया तो व्यक्ति में गुणपूजा का भाव लुप्त होकर व्यक्तिनिष्ठ स्थान ले लेगी, जो अनर्थ का कारण बनेगी। यद्यपि आज स्थानकवासी समाज में भी

व्यक्तिपूजा ने शनैः शनैः स्थान ग्रहण कर लिया है, तथापि आशा की एकमात्र किरण यही शेष है कि कोई भी खुलकर सिद्धान्त रूप से इसे मान्यता नहीं दे रहे हैं।

गुरु के बिना ज्ञान नहीं हो सकता, ऐसी श्रमण-परम्परा में अनिवार्य मान्यता नहीं है। हमारे यहाँ ज्ञान प्राप्तकर्ता तीन श्रेणियों में हैं। एक तो स्वयंबुद्ध जिनको परिपक्वता आने पर स्वतः ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह उत्कृष्ट स्थिति है जो तीर्थंकर भगवन्तों में लागू होती है। दूसरी स्थिति प्रत्येक बुद्ध की है जिनमें किसी घटना विशेष के कारण आत्मबुद्धि स्थायीरूप से जागृत हो जाती है, जैसे नमिराजर्षि आदि। श्मशान वैराग्य तो हम सभी को जागृत हो जाता है, फिर भी उसमें स्थायित्व का अभाव होने से प्रत्येकबुद्ध श्रेणी में नहीं पहुँच पाते हैं। तीसरे बुद्ध बोधित होते हैं, जिन्हें ज्ञान प्राप्त करने के लिये गुरु की आवश्यकता होती है। इसीलिये मान्यता प्रचलित हो गई है कि गुरु बिना ज्ञान नहीं। यह भी सत्य है कि इस पंचम काल में गुरु के बिना उद्धार नहीं है।

आज सच्चे गुरु का अभाव दिन-प्रतिदिन अनुभव किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में आचार्य हस्ती की चर्या को आधार मानकर गुरु चयन किया जाए तो हम धोखा नहीं खा सकेंगे। इसलिये सर्वोत्तम गुरु और सर्वोत्तम शिष्य की व्याख्या को आत्मसात् करना हो तो आचार्य हस्ती के जीवन का आलोडन बार-बार करना होगा।

- 74, महावीर मार्ग, धार (म.प्र.)



दिशाहीन युवा और आध्यात्मिक गुरु

श्री पदमचन्द्र गांधी (थांवल्ला वाले)

युवा पीढ़ी सदगुरु के अभाव में दिग्भ्रान्त है। उसे सदगुरु की पहचान भी नहीं है। उसकी अन्धी दौड़ में प्रकाश की नितान्त आवश्यकता है। वह प्रकाश आध्यात्मिक सन्तस्वरूप गुरुओं से ही प्राप्त हो सकता है। ऐसे गुरु के प्रति श्रद्धा समर्पित होकर युवा अपने जीवन को एक सार्थक दिशा प्रदान कर सकता है। -सम्पादक

दिशाहीनता आज के युवाओं का आम सच है। देश के बहुसंख्यक युवा इस समस्या से घिरे हुए हैं। जीवन की राहों पर उनके पांव बहक रहे हैं, भटक रहे हैं तथा फिसलने लगे हैं। वे जो कर रहे हैं, उसके अंजाम या मंजिल का उन्हें न तो पता है और न ही इसके बारे में उन्हें सोचने की फुर्सत है। बस जिज्ञासा, कुतुहल, ख्वाहिश, शौक या फैशन के नाम पर उन्होंने टेढ़ी-मेढ़ी राहों को चुना है, या फिर तनाव, हताशा, निराशा और कुण्ठा ने जबरन उन्हें इन रास्तों पर धकेल दिया है। मीडिया, टी.वी., फिल्में और आसपास का माहौल उन्हें इसके लिए प्रेरित कर रहा है। सामाजिक वातावरण भी दिशाविहीनता के लिए काफी हद तक जिम्मेदार है।

आज युवाओं में जिस नशे का जोर है उसमें शराब, सिगरेट, चरस, गांजा, अफीम, तम्बाकू आदि को कोई स्थान नहीं है। ये सब तो गुजरे जमाने की ओल्ड फैशन की चीजें हैं। सिगरेट, शराब तो आज सॉफ्ट आइटम कहे जाते हैं। आज का नया शगल जिसे युवा अपने तनाव को दूर करने का साधन बना रहे हैं वे हैं- पब, नाइट क्लब, कॉफी रेस्तराँ, जहाँ उन्हें मिलता है, चिल्ड वॉटर, एनर्जी ड्रिंक्स, बेसिरपैर वाले हंसी मजाक, अपने में डूबो देने वाला नया संगीत, डांस और शर्ट्स। शर्ट्स अर्थात् नसों के जरिये ली जाने वाली हेराइन या कोकीन।

साइबर कैफे, संचार माध्यम एवं इन्टरनेट साधनों का बहुत सदुपयोग हो रहा है, लेकिन जिन्दगी से भटके युवक-युवतियाँ इसका दुरुपयोग कम नहीं कर रहे हैं। साइबर कैफे उनके जीवन में ज़हर घोलने की बड़ी भूमिका निभाते हैं। वर्ष 2006 में छत्तीसगढ़-रायपुर का एक प्रकरण समाचार पत्रों में प्रकाशित हुआ, जहाँ 150 साइबर कैफे पंजीकृत पाये गये, जहाँ पर समाचार संवाददाताओं और जानकारों की राय में अधिकतर साइबर कैफे पहुँचने वाले युवक-युवतियाँ चेंटिंग के बहाने पोर्न साइटों को जरूर खंगालते हैं। आज का आंकड़ा कितना होगा जहाँ पर 24 घंटे ऐसी साइटें चलती हैं। एक प्रश्न चिह्न है।

ऐसी दिशाहीनता के लिए दोषी कौन? क्या केवल ये युवक-युवतियाँ अथवा परिवार या समाज,

जहाँ ये पल रहे हैं या बड़े हो रहे हैं? क्या केवल युवा पीढ़ी को दोष देकर अपने कर्तव्यों की इतिश्री कर लेनी चाहिए या फिर समाज को, परिवार को अपने दायित्व निभाने के लिए कमर कसनी चाहिए। जहाँ तक बात अपनी है तो स्पष्ट है कि हम विचारशील कहे जाने वाले सामाजिक माहौल को प्रेरणादायक बनाने में नाकाम रहे हैं अथवा इस सम्बन्ध में कुछ किया भी है तो बहुत थोड़ा है।

आज आवश्यकता है ऐसे आध्यात्मिक गुरुओं की जिनका प्रेरक एवं सम्यक् व्यक्तित्व युवाओं को सन्मार्ग एवं सदउद्देश्य हेतु चल पड़ने हेतु प्रेरित कर सके। गुरु ही एक दिशा सूचक यंत्र है जो जीवन नैया को गंतव्य स्थान तक पहुँचाता है। सदगुरु ही हमारी प्रेरणा के स्रोत रहे हैं जिन्होंने डूबते को बचाया है, गिरते हुए को उठाया है, युवाओं का जीवन संवारा है। इतिहास साक्षी है कि खूंखार डाकू एवं क्रिमिनल इनकी शरण में आकर अपने जीवन को धन्य कर गए। ऐसे उदाहरण मौजूद हैं— महावीर ने अर्जुनमाली को संवारा, अभिमानी इन्द्रभूति को परम विनयी एवं गणधर बनाया। वीर लोंकाशाह, महात्मा गांधी, आचार्य भगवन्त पूज्य श्री हस्तीमल जी म.सा. आदि अनेक महान सन्त मुनियों ने युवकों को प्रेरणा देकर उनके जीवन को सन्मार्ग पर लगाया। वाल्मीकि एक डाकू था, लेकिन नारद ऋषि ने उन्हें रामायण का रचयिता बनाया। कुख्यात डाकू नरवीर को आचार्य यशोभद्र सूरिजी ने शान्ति का पाठ पढ़ाया, जिससे उसका हृदय परिवर्तन हुआ। बुद्ध की शरण में सम्राट् अशोक ने कलिंग युद्ध के बाद स्वयं अहिंसक बनकर सम्पूर्ण परिवार को धर्ममय बना दिया। राजा प्रदेशी का जीवन कितना असंस्कारी, अनगढ़ और हिंसामय था। एक बार केशीस्वामी का समागम हुआ तो उनका पापमय जीवन पवित्र बन गया। ऐसा होता है आध्यात्मिक गुरुओं का असर।

आज के इस पंचम आरे में तीर्थंकर, केवली भगवन्त एवं मनःपर्याय ज्ञानी कोई नहीं है। आज अगर कोई आधार है तो जिनवाणी या आगमवाणी का मंथन कर समझाने वाले गुरु भगवन्त हैं। आज आध्यात्मिक संत ही हमारे जीते जागते तीर्थंकर हैं। हमारा जीवन एक नौका के समान है जो क्रोध, मान, माया, लोभ, व्यसन, कुसंगत, दुराचरण आदि चट्टानों से टकराती रहती है। गुरु भगवन्त आकाशदीप बनकर हमें सूचित करते हैं तथा आगाह करते हैं “हे आत्माओं! आप इस राह पर न जाना! यदि कषायों की चट्टानों से टकरा गए तो भव-भव बिगाड़ लगे।” ऐसे गुरुदेव हमें सावधान करते हुए रक्षक एवं प्रहरी का कार्य करते हैं।

प्रश्न उठता है कि हमारे आध्यात्मिक गुरु कैसे हों? किस तरह उन्हें पहचाना जाय? युवा पीढ़ी का एक सूत्र है— “परखो, स्वीकार करो एवं अपनाओ।” आज का युवा भटका हुआ अवश्य है, लेकिन बुरा नहीं है, उसे मोड़ा जा सकता है उसे प्यार, सहानुभूति, प्रेरणा तथा तार्किक समझाइश की जरूरत है। उसे सन्तों के पास लाने की जरूरत है। क्योंकि गुरु तो वह है जो जीने की कला सिखाए, समस्याओं का धैर्य से समाधान निकालने की विद्या में पारंगत बनाए। सार्थक यौवन को महकाने के लिए ऐसे गुरु आवश्यक हैं जो पाँच समिति, तीन गुप्ति का पालन करें। पंच महाव्रती, छः काया के प्रतिपाल तथा 27 गुणों के धारी राग-द्वेष को जीतने वाले तथा जिनाज्ञा में विचरण करने वाले हों। ऐसे गुरुओं का गंडे, ताबीज, अंगूठी, लॉकेट या रक्षा पोटली से कोई

सम्बन्ध नहीं होता, मंदिर-मस्जिद के झगड़ों से इनका कोई वास्ता नहीं होता। ऐसे गुरु स्वयं अपना परिशोधन कर स्वयं की अंतश्चेतना जगाते हुए दूसरों को कुंठाओं एवं कुचक्रों में फंसे नहीं देते। उनकी नकारात्मक सोच सकारात्मक कर देते हैं।

आज युवा गुरु को पहचान नहीं पा रहे हैं। वे सही जानकारी के अभाव में इधर-उधर भटक रहे हैं। युवा को चाहिए कि वह सच्चे गुरु की पहचान समझें, स्वीकार करने से पूर्व उन्हें टटोले, निश्चित रूप से वे गुरु आपके अपने सिद्ध होंगे। विवेकानन्द ने परमहंस को ढूँढा। आचार्य पूज्य धर्मदासजी महाराज साहब को गुरु की खोज के लिए जंगलों एवं पर्वतों में प्रयास करना पड़ा। हमारे गुरु की साधना एवं समाचारी उच्च कोटि की है।

आध्यात्मिक गुरु आज की आवश्यकता है। युवा पीढ़ी को सन्मार्ग पर सदगुरु ही ला सकते हैं, क्योंकि इनके 'गुरुत्व' का आभामण्डल प्रभावशाली होता है। उनकी कथनी एवं करनी में अन्तर नहीं होता, ऐसी ही प्रतिभा के धनी आचार्यप्रवर पूज्य की हीराचन्द्र जी महाराज हैं जिनके आह्वान पर युवा पीढ़ी व्यसन-मुक्ति के लिए प्रत्याख्यान हेतु उमड़ पड़ती है, जिनके पावन चरणों में नियमव्रतों का अम्बार लगा दिया जाता है। ये ऐसे गुरु हैं जो सत्कर्म करने का सार्वभौम संदेश देते हैं। आध्यात्मिक गुरु संदेश देते हैं- "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।" अर्थात् उठो, जागो और रुको नहीं, जब तक कि जीवन के लक्ष्य तक नहीं पहुँच जाओ। ऐसे गुरु युवाओं के आदर्श होते हैं जिनमें जीवन के आदर्शों की चरम गुणवत्ता झलकती है।

आज के अधिकांश युवा कागज की नाव के सहारे महासागर को पार करना चाहते हैं, दिखावें में विश्वास करते हैं, नजर नींव की तरफ न जाकर कंगूरे पर जाती है। वे ऐसे गुरु को ढूँढने का प्रयास करते हैं जो उनके स्वार्थों की पूर्ति कर सकें। सब कुछ तैयार करके 'गुणवत्ता' की घूंट पिला दें, जिससे सभी कार्य सिद्ध हो जायें। ऐसी मानसिकता के व्यक्ति धर्म के मर्म को नहीं जानते। गुरु की सच्ची महिमा को नहीं पहचानते। लेकिन गुरु तो एक सांचा है जिसमें युवा स्वयं ढल सके एवं संवर सके।

आज युवाओं में श्रद्धा, समर्पण एवं आस्था की कमी है, उन्हें आज ही परिणाम चाहिए, कल का धीरज उनमें नहीं है। ऐसे में वे गुरु के पास आना ही नहीं चाहते, यदि आते हैं तो नहीं के बराबर। लेकिन गुरु में तो 'गुरुत्वाकर्षण' बल होता है। अपने प्रभाव से प्रभावित कर लेते हैं तथा आध्यात्मिकता जागृत कर देते हैं। आध्यात्मिकता वह है जिसमें व्यक्ति की भावनाओं का स्तर ऊँचा उठे अर्थात् उसका अन्तरंग और उसकी मनोभावना विकसित हो। यदि भावनाएँ ऊँची हैं तो व्यक्तित्व उच्च होगा। आध्यात्मिक गुरु गुलाब की तरह खिलना एवं महकना सिखाते हैं, चन्दन की तरह शीतलता हमारे जीवन में भरते हैं। हमारे भीतर दीपक की तरह आलोकित भावनाओं की ज्योति जगाते हैं तथा जीवात्मा को विकसित करते हैं। गुरु कुशल कारीगर तथा कुम्भकार की तरह होते हैं जो 'कुम्भ' का निर्माण करते हैं। मिट्टी से बना वही कुम्भ लोगों को शीतल जल प्रदान करता है। सच्चा गुरु वही होता है, जो स्वयं वीतरागता को अपनाता है तथा दूसरों को सुगमता की राह दिखाता है जिससे अन्य लोग भी अपना जीवन धन्य कर सकें। अतः युवा पीढ़ी स्वयं चयन करे कि उसे किस तरह के गुरु

की शरण में रहना चाहिए।

एक छोटा सा विद्यार्थी जिसके न माँ थी, न पिता, जिसके पास न मकान था न जायदाद, लेकिन उसके भीतर गुरु की आध्यात्मिकता थी, दृढ़ मनोबल एवं विश्वास था। उसने गरीबों की सेवा में प्यार देखा, सेवा के लिए अपने आपको समर्पित कर दिया एवं वह 'कागासा' जापान का गांधी बन गया। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को गढ़ा, गुरु रामदास ने शिवाजी को गढ़ा। द्रोणाचार्य के मना करने पर भी अगाध श्रद्धा एवं समर्पण द्वारा एकलव्य अच्छा एवं निपुण धनुर्धर बन गया। यह श्रद्धा एवं समर्पण से ही संभव हुआ।

आध्यात्मिकता की कुंजी श्रद्धा है, सफलता की जननी श्रद्धा है। श्रद्धा गुरु के प्रति होनी चाहिए, यह कहाँ से कहाँ ले जाती है इसकी महिमा अपरम्पार है। ऐसे ही गुरुभगवन्त आचार्य हस्ती हुए हैं जिनके नाम से ही कार्य सिद्ध हो जाते हैं। श्री कृष्ण गीता में कहते हैं— श्रद्धावान् मनुष्य को ज्ञान प्राप्त होता है तथा विवेकहीन संशययुक्त मनुष्य परमार्थ पथ से भ्रष्ट होकर भटकता रहता है। न इसके लिए लोक रहता है न परलोक (भगवद्गीता 4/39-40)। लेकिन आज हमारी श्रद्धा लूली-लंगड़ी हो गयी है। गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा एवं समर्पण भावना में कमी हो रही है। गीता में कहा गया है कि गुरु वाक्य को 'ब्रह्म वाक्य' मानकर उसके प्रति दृढ़ श्रद्धा, उसके निर्देशों के अनुसार जीवन की हर क्रिया-पद्धति का निर्धारण हमें करना चाहिए। जब एक बार श्रद्धा आरोपित कर गुरु मान लिया तो किन्तु-परन्तु नहीं होना चाहिए। जो व्यक्ति समस्त कर्मों का परमात्मा में श्रद्धा के साथ अर्पण तथा विवेक द्वारा समस्त संशयों का नाश कर लेता है वह उन्मुक्त पुरुष कभी कर्म-बन्धन में नहीं बन्धता। वह सदैव सुखी तथा प्रसन्न मन वाला रहता है। श्रद्धा का आरोपण प्रगाढ़ हो जैसे पूर्णिया श्रावक का सामायिक के प्रति, परदेशी राजा का गुरु के प्रति, मीरा का कृष्ण के प्रति, हनुमान का राम के प्रति।

यदि युवा पीढ़ी के भटकाव को रोकना है, यदि वह अपना जीवन संवारना चाहती है, आध्यात्मिकता की राह पर चल कर अपने जीवन का कल्याण कर आत्मशांति को प्राप्त करना चाहती है तो उसे सद्गुरु की शरण में आना ही पड़ेगा, क्योंकि गुरु के पास ही ऐसी शक्ति है जो उनके सोये हुए चैतन्य को जागृत कर सकती है। अतः युवाओं को ऐसे गुरु के समीप जाना चाहिए, उनसे साक्षात्कार करना चाहिए, क्योंकि उनके पास हर मर्ज की दवा है। बिगड़े हुए जीवन को या भटके हुए जीवन को गुरु की शरण ही सुधार सकती है।

-25, बैंक कॉलोनी, महेश नगर, विस्तार 'बी' गोपालपुर बाईपास, जयपुर-302001



युवा पीढ़ी को आध्यात्मिक गुरु की आवश्यकता

श्रीमती कमला सुराणा

सुसंस्कार विहीन युवापीढ़ी को जीवन-मूल्यों के प्रति सचेत करने एवं जीवन का सम्यक् निर्माण करने हेतु आध्यात्मिक गुरु की नितान्त आवश्यकता है। व्यावहारिक शिक्षा जहाँ आजीविका के लिए उपयोगी है वहाँ आध्यात्मिक शिक्षा जीवन को सरस बनाने के साथ सम्यक् दिशा प्रदान करती है। प्रस्तुत आलेख इसी प्रकार के चिन्तन से ओतप्रोत है।

-सम्पादक

चमक-दमक के चक्कर में, युवा पीढ़ी भ्रमित हो गई।

आत्म-गुणों को भूल, संसार भ्रम में पड़ गई।

सवैरे-सवैरे समाचार पत्र की प्रतीक्षा करते हैं। हाथ में लेते ही मुख पृष्ठ पर राजनेताओं के भ्रष्टाचार, लूट-खसोट, मार-पीट, चोरी, हत्या, आत्म-हत्या, बलात्कार आदि की घटनाएँ पढ़कर माथा ठनक जाता है। विज्ञापन ऐसे भद्दे कि युवतियों को अल्प-वस्त्रों में दिखाया जाता है। ऐसे चित्र देखकर युवा पीढ़ी जो अपरिपक्व है आकर्षित हो जाती है। भौतिकवाद इतना बढ़ गया है कि किसी भी व्यक्ति को परस्पर शंका समाधान करने का समय ही नहीं है। यहाँ तक कि माता-पिता भी बच्चों की सम्भाल नहीं लेते हैं। ऐसे समय में आत्म-रक्षा और विकृतियों को रोकने के लिए आध्यात्मिक गुरु की अत्यधिक आवश्यकता है, ताकि उन्हें मार्ग-दर्शन मिल सके।

रहे-सहे संस्कार पाश्चात्य लहर से लुप्त होते जा रहे हैं। अंग्रेजी भाषा के प्रभाव से हिन्दी, संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का प्रभाव कम होता जा रहा है। युवा पीढ़ी में हिन्दी और संस्कृत भाषा से अलगवाव पैदा हो रहा है, क्योंकि व्यावहारिक शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है, इसलिए मातृ और शास्त्रीय भाषाएँ प्राणहीन हो रही हैं। जबकि हमारे शास्त्र और ग्रन्थ इन्हीं भाषाओं में उपलब्ध हैं। सदियों से संजोई हुई अमूल्य निधि को आध्यात्मिक गुरु ही बचा सकते हैं। हाय-हेलो का चलन हवा की तरह बढ़ रहा है। हाय! तो दुःख का सूचक है। 'जय जिनेन्द्र' बोलना नव-पीढ़ी को रास नहीं आता है, यह शब्द तो पिछड़ेपन का चिह्न बन गया है। परिधान ने तो लज्जा को ताक पर रख दिया है। अंग-प्रदर्शन आधुनिकता और सुन्दरता की पहचान बन गई है। समय इतना उल्टा आया है कि लड़के तो पूरे अंगों को ढककर दुपट्टा भी गले में डाल लेते हैं, लेकिन युवतियों की चुन्नियाँ हवा में उड़ गई हैं। कम सन्तान यानी एक या दो सन्तान होने के कारण बच्चों की गलत-सही सभी मांगें पूरी की जाती हैं। कोई भी युवा वर्ग

ऐसा न होगा जिसके पास मोबाइल नहीं है। मोबाइल होना बुरा नहीं है, पर वे उसका आवश्यकतानुसार प्रयोग नहीं करते हैं। घंटों-घंटों मित्रों और सहेलियों से बातें करने में पैसा और समय दोनों का अपव्यय हो रहा है।

सह-शिक्षा से भी समाज में विसंगतियाँ आई हैं। युवा वर्ग अपनी इच्छा से बिना सोचे समझे आपस में विवाह सम्बन्ध बांध लेते हैं। अधिकतर ऐसे सम्बन्ध टूटते देखे गए हैं।

भोजन की सात्विकता में घुन लग गया है। सब मंगल कार्य होटलों में होते हैं। घर का आंगन मुँह ताकता है। रोटी-साग अच्छे नहीं लगते हैं। बाहर के व्यंजनों ने पैर पसार लिए हैं। बाहर के भोजन में न जाने ऐसी सामग्रियाँ काम लेते हैं जिससे मोटापा बढ़ जाता है। केक का चलन भी अधिक बढ़ गया है जिसमें अधिकतर अण्डे डाले जाते हैं। यह हमारा खान-पान नहीं है। राजस्थानी कहावत है-“जैसा खाओ अन्न वैसा होगा मन”।

दिनों-दिन युवा पीढ़ी गर्त में जा रही है। गुटखा, मद्य-पान एवं अन्य नशीली वस्तुओं का प्रेत लग गया है। इन नशीली वस्तुओं से कैंसर, रक्त-चाप आदि बीमारियाँ लग जाती हैं, धीरे-धीरे शरीर निढाल सा होता जाता है। यह प्रेत तो आध्यात्मिक गुरु ही निकाल सकते हैं।

आचार्य श्री हीराचन्द्र जी म.सा. का सन्देश है-“व्यसन मुक्त हो सारा देश” समय से छूटा हुआ नारा है और अनेक युवाओं ने इस नारे से लाभ उठाया है।

विज्ञान का युग है। भौतिकवाद बढ़ गया है। बच्चे हों या युवा पीढ़ी, टी.वी. देखने में अपने जीवन का अधिक समय नष्ट कर देते हैं। कोई ऐसा सीरियल न होगा जिसमें मार-धाड़ और बन्दूकें न चली हों। इसी कारण आजकल आत्म-हत्याएँ और हत्याओं ने उग्र रूप धारण कर लिया है। युवा पीढ़ी स्वार्थ में डूब रही है, कर्तव्य विमूढ़ हो रही है।

आदर्शवाद, यथार्थवाद और समाजवाद सब दब गए।

स्वार्थवाद, हमवाद और अहंवाद में पड़ गए।।

इस समय राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त की अति सुन्दर पंक्तियाँ याद आती हैं-

“हम कौन थे? क्या हो गए, क्या होंगे अभी,

आओ, विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।”

“वे धर्म पर करते निछावर, तृण सम्मान शरीर थे।”

आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. आध्यात्मिक गुरु थे। उनकी माताजी रूपादेवी जी ने पिता के न रहने पर पुत्र को ऐसी आध्यात्मिक शिक्षा दी जिससे जैन समाज और विश्व समाज दैदीप्यमान हैं। ऐसे सन्त विरले ही होते हैं।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जी की मां पुतली बाई उनकी प्रथम गुरु थी। गांधी जी के विलायत

जाने से पहले जैन गुरु के पास ले जाकर मद्य-मांस आदि न खाने की शपथ दिलवाई थी।

वीर शिवाजी की माँ जीजाबाई ने अपने वीर पुत्र को ऐसे सुसंस्कार दिए जिससे उनका जीवन हमारे लिए प्रेरणात्मक और आदर्श बन गया। शिवाजी ने कल्याण पर आक्रमण कर दिया। वे विजयी हुए। विजयी ही नहीं आत्मविजयी भी हुए। उनके सेनापति आबाजी कल्याण के सूबेदार, सुलतान अहमद की पुत्र-वधू 'गौहर बानू' को निसहाय अवस्था में शिवाजी की रानी बनाने के लिए उनके महल में ले आए। गौहर बानू अद्वितीय सुन्दरी के साथ गुणवती भी थी। महान् शिवाजी ने गौहर बानू को अपने राजसिंहासन पर बिठाकर 'मां' से सम्बोधित किया। आबाजी को फटकारा। तुमने इतना नीच कर्म अपने स्वार्थ वश क्यों किया? आबाजी को क्षमा मांगनी पड़ी। शिवाजी ने पूरी जनता को इकट्ठा कर गौहर बानू को प्रणाम से सम्मानित किया।

युवा पीढ़ी में संवेदना और करुणा की कमी होती जा रही है। दर्शनशास्त्री 'रूसो' का मानना था कि बच्चों को अस्पताल और अनाथ-आश्रम ले जाया जाय, जिससे उनमें संवेदना और करुणा जागे। बचपन से ऐसे सुसंस्कार देकर आध्यात्मिक गुरु ही युवा पीढ़ी को सुपथगामी बना सकते हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि युवा पीढ़ी को आदर्श बनाने के लिए, उच्च स्तर के आध्यात्मिक गुरु की महती आवश्यकता है, ताकि वे उन्हें जीवन में आत्म-गुणों और मानव मूल्यों के प्रति सजग कर सकें। विद्यालयों में व्यावहारिक हिन्दी, अंग्रेजी, गणित, विज्ञान, सामाजिक ज्ञान आदि व्यावहारिक विषय पढ़ाए जाते हैं। इन्हीं विषयों के साथ आध्यात्मिक एवं नैतिक शिक्षा देकर युवा पीढ़ी का उत्थान कर सकते हैं। उन्हें सही दिशा दिखाकर भटकने से बचा सकते हैं। आध्यात्मिक पुट देकर नई पीढ़ी को ऐसा ढाला जाए कि वह समाज, देश और विश्व के लिए कल्याणकारी बने।

युवा पीढ़ी देश की आकांक्षा है

समाज का सिरमौर है

ज्ञान पुञ्ज है

शक्ति का भंडार है

साहस है, उमंग है, ढालने की आवश्यकता है

आध्यात्मिक गुरु का आश्रय मिल जाए तो बेड़ा पार है।

-ई-123, नेहरु पार्क, जोधपुर-342003 (राज.)



आचार्य श्री हस्ती में गुरु तत्त्व

डॉ. मंजुला बम्ब

गुरु की विशेषताओं से ओतप्रोत आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज उच्चकोटि के साधक सन्त होने के साथ जन-जन के मार्गदर्शक एवं हितैषी थे। आचार्य हस्ती में गुरु तत्त्व का प्रतिपादन डॉ. मंजुला जी ने इस आलेख में कुशलता से किया है। -सम्पादक

जैन धर्म के तीन आराध्य तत्त्वों में देव तत्त्व के पश्चात् सर्वाधिक पूजनीय 'गुरु' तत्त्व है। विश्व के सभी धर्मों एवं संस्कृतियों में 'गुरु' को महिमा मण्डित किया गया है। अरिहंत या तीर्थंकर प्रत्येक काल में प्रत्यक्ष विद्यमान नहीं होते। उनकी अनुपस्थिति में उनका प्रतिनिधित्व करने वाला गुरु ही होता है। देव की पहचान कराने वाला गुरु ही होता है। गुरु पद की महिमा का बखान करते हुए एक आचार्य ने कहा है-

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया ।

चक्षुःखण्डीलितं येन, तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥

अर्थात् अज्ञानरूपी अन्धेरे के कारण अंधे बनै हुए लोगों की आँखें जिन्होंने ज्ञानरूपी अंजन आंजने की सलाई से खोल दी, उनश्री गुरु को मेरा नमस्कार हो।

कबीर ने गुरु को गोविन्द से भी बड़ा बताया है। क्योंकि गुरु ही वह माध्यम है, जिससे गोविन्द की पहचान होती है। सच्चा गुरु वह है जिसने जगत् से नाता तोड़कर परमात्मा में शुभ ध्यान लगा लिया है, जो क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायों का त्यागी है तथा जो क्षमा रस से ओत-प्रोत है।

गुरु मार्गदर्शक होते हैं। अज्ञानतावश संसार में भटकते हुए मनुष्यों को ध्येय तक पहुँचने के लिये धर्म की सही राह गुरु ही बताते हैं। वे ही धर्म का स्वरूप समझाते हैं, धर्माचरण की प्रेरणा देते हैं तथा धर्माचरण के दौरान जो विघ्न बाधाएँ या कठिनाइयाँ आती हैं, उन्हें दूर करने के उपाय भी बताते हैं। वे कष्ट से घबराये हुये, अनिष्ट संयोग और इष्ट वियोग से चिन्तित और शोक-मग्न व्यक्ति को धैर्यपूर्वक सहन करने की प्रेरणा भी देते हैं तथा निराश और निरुत्साह व्यक्ति का उत्साह बढ़ाते हैं। उसमें साहस की शक्ति भर देते हैं।

आचार्य हस्ती धर्म और अध्यात्म के विषय में, समाज, संस्कृति और नीति के विषय में जिज्ञासु व्यक्तियों की शंकाओं के समाधान कर उन्हें धर्मानुप्राणित मार्गदर्शन देते थे। इस प्रकार वे स्व-पर कल्याण का, परोपकार का, उत्तरदायित्व निभाते थे। वे प्रत्येक विषय में जो भी प्रेरणा, निर्देश, उपदेश या मार्गदर्शन देते वह सब अहिंसा-सत्यादि शुद्ध नीतियुक्त धर्म का पुट लिए हुए होता था।

गुरुहस्ती प्रतिभावान, शास्त्रज्ञ, लोकव्यवहार के ज्ञाता, निर्लोभी, उपशमपरिणामी, आगे की बात को

पहले ही जान लेने वाले, जन-मन को आकर्षित करने वाले, परनिन्दा से रहित, गुणनिधान, मधुर शब्दों से धर्म-कथा करने वाले, शुद्ध आचरण वाले, उपदेशक, धर्ममार्ग-प्रभावक, विद्वानों द्वारा प्रशंसित, लोकरीति मर्मज्ञ, मृदुस्वभावी, निःस्पृह तथा साधुप्रवरों के सभी गुणों से युक्त थे। वास्तव में गुरु हस्ती की महिमा अवर्णनीय है। आपने अपने जीवन में आध्यात्मिक एवं वैचारिक मूल्यों को पूर्ण आत्मसात् कर प्रत्येक पल सजगता के साथ आत्मशुद्धि के मार्ग पर चलते हुए दूसरों को भी उसी मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। उस महासाधक में रागादि युक्त कामना एवं ग्रन्थि नहीं थी। न ही साधना का अभिमान था। वे क्रोधादि कषाय विजयी एवं जितेन्द्रिय थे। उनके जीवन में शान्ति के स्पष्ट दर्शन होते थे।

वे अनुशासनप्रिय थे। स्वयं गुरु चरणों के कठोर अनुशासन में रहकर उन्होंने शिक्षा और संस्कारों की निधि प्राप्त की थी। इसलिए एक सैनिक की भांति न केवल स्वयं अनुशासित जीवन जीते थे, अपितु दूसरों को भी अनुशासन की प्रेरणा देते थे। वाणी से कम, व्यवहार से अधिक उनका जीवन अनुशासन की जीती जागती तस्वीर था।

‘विज्जा विनयसम्पन्ने’ का शास्त्रीय आदर्श उनके जीवन के कण-कण में मुखरित था। विद्या के साथ विनय, विनय के साथ विवेक, विवेक के साथ वाग्मिता, व्यवहारपटुता आदि अनेक दिव्य, भव्य गुण आपश्री के रोम-रोम में थे। उनकी प्रतिभा बड़ी विलक्षण थी। भगवान् महावीर यदि आज होते तो अपने इन गुण तत्त्वों से सम्पन्न शिष्य को आसुपन्ने-दीधपन्ने अर्थात् आशुप्रज्ञ-दीर्घप्रज्ञ आदि कहकर सम्बोधित करते। ‘अपने लक्ष्य की ओर चले चलो’ यही गुरु हस्ती के जीवन का मूल मंत्र था।

‘गुरु’ शब्द का सामान्य अर्थ होता है भारी, अर्थात् जो अज्ञानान्धकार मिटाने की जिम्मेदारी के भार से युक्त हो, अथवा सदगुणों के भार के गौरव से युक्त हो। गुरु शब्द में दो अक्षर हैं- ‘गु’ और ‘रु’। इन दोनों अक्षरों को भिन्न-भिन्न दो शब्द मानकर दोनों का समासयुक्त शब्द बनाया गया है - गुरु। भारतीय संस्कृति के उन्नायकों ने गुरु शब्द का विशेष अर्थ इस प्रकार किया है-

‘गु’ शब्दस्त्वन्धकारे ‘रु’ शब्दस्तन्निरोधकः।

अन्धकार-निरोधत्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥

अर्थात् ‘गु’ शब्द का अर्थ है अन्धकार और ‘रु’ शब्द का अर्थ है निरोधक। दोनों शब्दों का मिला हुआ अर्थ हुआ अन्धकार का निरोधक। अर्थात् गुरु वह है जो शिष्य के अज्ञानान्धकार को मिटा दे। भवान्धकार का निरोधक होने से ही कोई व्यक्ति गुरु कहला सकता है।

प्रश्न यह है कि इस भवान्धकार को कौन मिटा सकता है। जो स्वयं यथार्थ ज्ञान से प्रकाशमान हो, वही दूसरों को प्रकाश देकर उनके अज्ञानतिमिर को मिटा सकता है। जिसमें ज्ञान का प्रकाश नहीं है, जो स्वयं काम, क्रोध, मद, मोह, मत्सर आदि दुर्गुणों का शिकार बना हुआ है वह दूसरों के अज्ञान, मोह आदि को कैसे मिटा सकता है? जैसे प्रदीप स्व-पर प्रकाशक होता है इसी प्रकार गुरु भी स्व-पर प्रकाशक होता है। जिस प्रकार प्रदीप स्वयं ज्योतिर्मान होकर ही अन्य को ज्योति प्रदान करता है, अदृश्य या अव्यक्त पदार्थों को आलोकित करता

है, इसी प्रकार गुरु हस्ती स्वयं ज्ञान और चारित्र से ज्योतिर्मान थे और अन्य को भी ज्ञान और चारित्र की ज्योति प्रदान करने के साथ-साथ हर समय हित शिक्षाएँ देते ही रहते थे।

एक बार जयपुर में आचार्यश्री रामनिवास बाग से गुजर रहे थे। साथ में श्री मानचन्द्र जी म.सा. (अब उपाध्यायप्रवर) थे। उस समय शेर गरज रहा था। आचार्य भगवन्त ने पूछा- 'क्या बोलता है?' श्री मानचन्द्र जी म.सा. ने कहा कि - 'बाबजी, शेर गरज रहा है।' गुरुदेव बोले- "मैं हूँ, मैं हूँ कहकर बता रहा है कि मैं पिंजरे में पड़ा हूँ। इसलिए मेरी शक्ति काम नहीं कर रही है। यह आत्मा भी शरीर रूपी पिंजरे में रही हुई है। आत्मा भी समय-समय पर हुंकारती है-मैं हूँ अर्थात् मैं अनन्त ज्ञान से सम्पन्न हूँ। मैं अनन्त दर्शन से सम्पन्न हूँ आदि-आदि।"

इस तरह एक बार भगवन्त जयपुर के सुबोध कॉलेज प्रांगण में खड़े थे। पास में पत्थर गढ़ने वाले व्यक्ति पत्थर गढ़ रहे थे। पत्थर गढ़ते हुए कारीगर पानी छींट रहा था। गुरुदेव ने पूछा 'यह क्या कर रहा है?' उपाध्यायप्रवर पंडित रत्न श्री मानचन्द्र जी म.सा. ने कहा कि काम कर रहा है। गुरुदेव ने कहा कि पत्थर पर पानी डालकर नरम कर रहा है। पत्थर कोमल हो तो ही गढ़ा जायेगा। वे हर समय जीवन निर्माण की बातें बताया करते थे। उनकी छोटी-छोटी बातों में भी बड़ी-बड़ी शिक्षाएँ होती थीं। वे कुशल शिल्पाचारी थे।

आपश्री ने अपना सम्पूर्ण जीवन स्व-पर कल्याण में ही समर्पित किया। इसी कारण आपश्री के सम्पर्क में आने वाला कोई भी व्यक्ति खाली नहीं लौटता था। सामायिक, स्वाध्याय, ध्यान, मौन, नैतिक उत्थान, कुव्यसन-त्याग आदि जीवन जीने की कला आपसे प्राप्त होती थी। आपश्री स्वयं ध्यान-मौन के साधक, अप्रमत्त जीवन यापन करने वाले, आकर्षक व्यक्तित्व के धनी, असीम आत्मशक्ति के पुंज, युगद्रष्टा, इतिहासमार्तण्ड, सामायिक-स्वाध्याय प्रणेता एवं चतुर्विध संघ के सफल अनुशासक सिद्ध हुए।

इसलिए गुरु का उत्तरदायित्वमूलक लक्षण बताते हुए कहा गया है- **गुणाति धर्म शिष्यं प्रतीति गुरुः।**

अर्थात् जो शिष्य को उसका धर्म बताता है, सिखाता है, वह गुरु है। कुमारप्रबन्ध में भी गुरु का उत्तरदायित्वमूलक अर्थ बताया गया है - सत्त्वेभ्यः सर्वशास्त्रार्थदेशको गुरुच्यते। जो एकान्त हितबुद्धि से प्रेरित होकर जिज्ञासु जीवों को सभी शास्त्रों का सच्चा अर्थ समझाता है वही गुरु कहलाता है। आपकी उच्चकोटि की निर्मल संयम-साधना, विद्वत्ता, सूझबूझ, समन्वयशीलता, गुणियों के प्रति प्रमोदभाव आदि अनेक गुणों के कारण आपको श्रमणसंघ के आचार्य पूज्य श्री आत्माराम जी म.सा. ने 'पुरिसवरगंधहत्थी' जैसे शब्दों से सम्मानित किया। आप सुयोग्य शिष्य थे, जो अपने गुरु के हृदय में निवास करते थे।

गुरुदेव का ज्ञान अगाध था। आगम, थोकड़े, इतिहास, संस्कृत, प्राकृत, तन्त्र-मन्त्र चाहे जिस विषय पर उनसे चर्चा की जा सकती थी। तत्त्वचिन्तक श्री प्रमोदमुनि जी म.सा. ने फरमाया- सवाईमाधोपुर के सन् 1990 के चातुर्मासोपरान्त हम पाली पहुँचे। गुरुदेव ने फरमाया कि महेन्द्र मुनि जी और गौतममुनि जी एक घण्टा पाठ सुनाते हैं, अब तू भी एक घण्टा सुनाया कर। मैं अब पढ़ नहीं सकता इसलिए तुम मुझे निरन्तर सुनाते रहो। वृद्धावस्था में भी भगवन्त की स्वाध्याय एवं जिनवाणी के प्रति कैसी निष्ठा। स्वयं वाचन नहीं कर सकते तो

सन्तों से सुनते। भगवन्त ने हम सन्तों को भी खूब पढ़ाया। स्वस्थ रहते हुए एक भी दिन का अवकाश नहीं। 1 दिसम्बर 1992 को जलगाँव से विहार यात्रा प्रारम्भ हुई। कभी हमको विलम्ब हो जाता, तो उपालम्भ मिलता, परन्तु भगवन्त ने कभी भी देरी नहीं की। दशवैकालिक सूत्र और संस्कृत का अभ्यास प्रारम्भ करवाया। भगवन्त प्रेरणा करते कभी थकते नहीं थे। वे सारणा, वारणा धारणा-करते। हमें जागरूक रहने की शिक्षा देते। आचार्य दीप के समान होते हैं “दीवसमा आयरिया।” वे स्वयं के जीवन को प्रकाशित करते हुए दूसरे के जीवन को प्रकाशित करते हैं। गुरुदेव बोलते या नहीं, उनका आचार बोलता था। आचार स्वयं प्रेरणा करता है।

संघ के प्रति समर्पण और स्वाध्याय के प्रचार-प्रसार के प्रति निरन्तर प्रयास आज भी हमें प्रेरणा दे रहा है। वीरपुत्र घेवरचन्द जी महाराज कहते थे- हस्ती गुरु की कथा पहिचान ‘सामायिक-स्वाध्याय महान्।’

आचार्य श्री हस्ती चतुर्विध संघ की मुकुटमणि थे। वे व्यक्ति नहीं, संस्था नहीं, आचार्य नहीं, अपितु युग पुरुष थे। उन्होंने युग की परिस्थितियों को देखा, समझा और पाटा। अपने गुरुत्व को बखूबी निभाया। आप स्वयं बहुत विशिष्ट दर्जे के साहित्यकार थे और अपने शिष्य शिष्याओं में भी यही गुण देखना चाहते थे। साध्वीप्रमुखा, शासनप्रभाविका श्री मैनासुन्दरी जी म.सा. ने बताया कि होगी कोई 40 से 45 वर्ष पुरानी बात। गुरु भगवन्त ने उनसे पूछा कि महासती मैनाजी दिन को आप जो पढ़ती हैं क्या रात्रि को सोते समय उसका स्मरण आपको होता है। उन्होंने कहा- हाँ भगवन्! मुझे दिन की पठित बातें रात को बहुत याद आती हैं। गुरुदेव ने उनको प्रेरणा दी कि उसे सुबह उठते ही नित्यकर्म से निवृत्त होकर लिख लिया करना। और उन्होंने गुरु आज्ञा का अक्षरशः पालन किया। उन्होंने बतलाया कि आज मैं जो कुछ हूँ- चतुर्विध संघ के समक्ष हूँ। यह सब मेरी नहीं उस घड़ने वाले महापुरुष की अनूठी कृपा दृष्टि का फल है।

वास्तव में गुरु शिष्य का जन्मदाता नहीं, परन्तु माता-पिता से भी बढ़कर निर्माणकर्ता होता है। वह जीवन जीना सिखाता है। यही कारण है कि माता-पिता की अपेक्षा भी गुरु के प्रति शिष्य विशेष ऋणी है। अलेक्जेंडर मेसीडोन ने भी इस बात का समर्थन करते हुए कहा कि “जीवन देने के लिए मैं अपने पिता का ऋणी हूँ, लेकिन उससे भी बढ़कर गुरु का ऋणी हूँ जिन्होंने मुझे अच्छी तरह जीवन जीना सिखाया।”

गुरु जीवन का महान कलाकार होता है। जैसे भौंडे, भद्दे, टेढे-मेढे खुरदरे पत्थर को लेकर मूर्तिकार अपनी छैनी एवं औजारों से उसे काट छीलकर सुन्दर देवमूर्ति बना देता है जो भविष्य में पूजनीय बन जाती है वैसे ही गुरु असंस्कृत, अनघड, अप्रशिक्षित शिष्य को अपनी वाणी और मन से प्रदत्त शिक्षा द्वारा घड़कर सुन्दर स्वच्छ सुसंस्कृत प्रशिक्षित जीवन का रूप दे देता है। इसीलिए तिलोक काव्य संग्रह में गुरु को शिष्य के जीवन का सुधारक, निर्माणकर्ता एवं परम उपकारी बताया है।

जैसे कपड़ा को थान दरजी बेतत आन
खंड-खंड करे जाण देत सो सुधारी हैं
काष्ठ को ज्यों सूत्रधार, हेम को कसे सुनार
माटी को ज्यों कुम्भकार पात्र करे त्यारी हैं।

धरती के किरसान, लोह के लुहार जान
शिलावट शिला आन, घाट घडे भारी हैं।
कहत त्रिलोक रिख सुधारे ज्यों गुरु सीख
गुरु उपकारी नित लीजे बलिहारी हैं।

भावार्थ स्पष्ट है कि जैसे दर्जी कपड़े का थान लेकर पहले नाप लेता है, फिर काटकर सिलाई करता है। इस प्रकार कपड़े को सुधारता है। जैसे काष्ठ को काट छीलकर बढई अच्छी वस्तुएं बनाता है। सुनार सोने को काट पीटकर गहने बनाता है। कुम्हार मिट्टी को सान-गूंदकर बर्तन बनाता है। किसान भूमि को समतल करता है। लुहार लोहे को तथा सिलावट शिला को काट छीलकर अनेक रूप देता है। वैसे ही पितृ हृदय को लेकर उपकारी गुरु शिष्य को अनुशासन, प्रशिक्षण, भूल सुधार आदि से घडता है, उसे तैयार करता है। उसी प्रकार आपश्री ने अपनी संत-सती सम्पदा के जीवन-निर्माण में सर्वोत्कृष्ट प्रशिक्षण देने में कोई कसर नहीं छोड़ी, जो कि आज सब कुछ हमारे सम्मुख है। उनका संस्कारित परिवार अद्भुत है।

गुरुदेव ने शिक्षा की अनिवार्यता को महत्त्व प्रदान करते हुए फरमाया कि जीवन में शिक्षा के अभाव में साधना अपूर्ण मानी गई है। शिक्षा का वही महत्त्व है जो शरीर में प्राण, मन व आत्मा का है। जीवन में चमक-दमक, गति-प्रगति, व्यवहार-विचार सब शिक्षा से ही सुन्दर होते हैं। संसार की सब उपलब्धियों में शिक्षा सबसे बढकर है। दीक्षा के साथ अनिवार्य है। यही कारण है कि आज शिष्य-शिष्याओं एवं श्रावक-श्राविकाओं को स्वाध्याय-साधना रूप शिक्षा का अनमोल खजाना मिला है।

संवत् 2041 के जोधपुर चातुर्मास में क्षमापना के उपलक्ष्य में युवाचार्य महाप्रज्ञ रेनबो हाउस पधारे तब उन्होंने कहा था कि लोग कहते हैं कि आप अल्पभाषी हैं, कम बोलते हैं। पर कहां हैं आप अल्पभाषी? आप बोलते हैं, बहुत बोलते हैं, आपका जीवन बोलता है, संयम बोलता है, आप में निहित गुरुत्व बोलता है।

आप संघ में रहे तब भी एवं बाहर रहे तब भी सभी महापुरुषों का आपके प्रति समान आदर का भाव रहता था। आचार्य श्री आत्माराम जी म.सा. का आपके प्रति पूर्ण आदरभाव था। आचार्य श्री आनन्दऋषि जी म.सा. समय-समय पर समस्या का समाधान मंगाते थे। आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म.सा. स्वयं को साहित्य के क्षेत्र में लगाने में आपका उपकार मानते थे। प्रवर्तक श्री पन्नालाल जी म.सा. आपको विचारक एवं सहायक मानते थे और प्रत्येक स्थिति में साथ रहे आचार्य श्री जवाहरलाल जी म.सा. ने आपको सिद्धान्तवादी एवं आचारनिष्ठ माना।

आपश्री गुणप्रशंसक तथा गुणग्राहक रहे, किन्तु पर-निन्दा से सदैव दूर रहे और जीवन-पर्यन्त इसी की प्रेरणा की। आप प्रचार के पक्षधर थे, किन्तु आचार को गौण करके प्रचार के पक्ष में नहीं रहे। जिनके मन में गुरु बसते हैं, वे शिष्य धन्य हैं, पर जो गुरु के मन में रहते हैं, जिनकी प्रशंसा शोभा गुरु करते हैं, वे उनसे भी धन्य-धन्य हैं। आपने संघ के संगठन, संचालन, संरक्षण, संवर्धन, अनुशासन एवं सर्वतोमुखी विकास व अभ्युत्थान हेतु जीवन समर्पित कर दिया।

आचार्यप्रवर सेवा-शुश्रूषा करने में सदैव तत्पर रहते थे और इसमें प्रमोद अनुभव करते थे। आप न केवल सम्प्रदाय के संतों की, अपितु इतर सम्प्रदाय के संतों की सेवा भी निष्पक्ष भाव से करते थे। पूज्य आचार्य जयमल जी म.सा. की सम्प्रदाय के वयोवृद्ध स्वामी जी श्री चौथमल जी म.सा. के संधाराकाल में आपने जो सेवा का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह विरल है। अपने स्वयं के परिवार के संतों में स्वामी जी श्री भोजराज जी म.सा., शान्तमूर्ति श्री अमरचन्द्र जी म.सा., बाबाजी श्री सुजानमल जी म.सा. प्रसिद्धभजनी श्री माणकमुनि जी म.सा. आदि सन्तों की अंतिम इच्छानुसार उनकी सेवा में रहकर आपने सेवाभाव को मूर्तरूप दिया। कुचेरा में स्थिरवास विराजित स्वामी श्री रावतमल जी म.सा. की सेवा हेतु दो सन्तों को उनके पास भेजकर आपने दो सम्प्रदायों के मधुरसम्बन्धों को एक कदम आगे बढ़ाया।

आपमें अन्य गुणों के साथ अपने सिद्धान्त पर हिमालय की तरह अडिग रहने का गुण अन्य लोगों के लिए प्रेरणास्पद रहा। आपने सिद्धान्तों से कभी समझौता नहीं किया। हमने अरिहन्तों को नहीं देखा, सिद्धों को नहीं देखा, परन्तु आचार्य भगवन्त में हमने अरिहन्तों एवं सिद्धों को प्रतिबिम्बित होते देखा है। महापुरुष किसी एक व्यक्ति, परिवार या सम्प्रदाय के नहीं होते, वे तो सभी के होते हैं, यह बात आचार्य भगवन्त पर लागू होती है। वे सबके थे और सबके लिए थे।

इसी प्रकार गुरु हस्ती ने माता-पिता एवं अभिभावक के समान शिष्यों को आध्यात्मिक बल प्रदान किया तथा उन्हें अध्यात्म विद्या के क-ख-ग से प्रारम्भ करके उच्च कोटि के अध्यात्म ग्रन्थों को पढ़ने, समझने और जीवन में उतारने का प्रशिक्षण दिया। आचार्य हस्ती ने उपाध्याय प्रवर श्री मानचन्द्र जी म.सा. को बड़ी दीक्षा के बाद कहा- 'मेरे को अप्रमत्त भाव में रहकर बतलाना।' हर समय उनकी शिक्षा रहती थी। वे हर समय माता-पिता की तरह सीख देते ही रहते थे। गुरु शिष्य की भूलों को क्षम्य मानकर धीरे-धीरे वात्सल्य पूर्वक उसकी भूलें बताकर सुधारते थे। उसे अपने सान्निध्य में रखकर उसके खान-पान, शयन, वस्त्र, औषध, उपचार आदि का पूरा ध्यान रखते थे। इस प्रकार से आचार्यप्रवर इन्द्रिय-विजय, कषाय-विजय एवं आवश्यकताओं पर संयम, आदतों पर नियन्त्रण एवं स्वेच्छा से शरीर और मन पर कंट्रोल करने का प्रशिक्षण इस प्रकार से देते थे कि अनुशासन में रहना भारभूत नहीं मालूम होता था। गुरु के द्वारा दी गई ताड़ना, उपालम्भ या फटकार शिष्य को औषध की तरह रुचिकर और हितकर लगती है।

इस प्रकार मैं आपकी कौन-कौनसी विशेषता पर प्रकाश डालूँ! लेखनी से आपके गुणों को अंकित करना संभव नहीं। क्या कभी विराट् समुद्र को नहीं सी अंजलि में भरा जा सकता है। वे चतुर्विध संघ के जीवन-निर्माण में सदैव सजग रहे। वे स्व एवं संघहित में ही मृत्युंजय बनकर हमें व चतुर्विध संघ को धन्य-धन्य कर गए।

-3, रामसिंह रोड, होटल मेस्स पैलेस के पास, टॉक रोड, जयपुर-302004 (राज.)



सद्गुरु एवं उनके सान्निध्य का लाभ

श्री पवनकुमार जैन

सद्गुरु की आगमिक एवं व्यावहारिक विशेषताओं के निरूपण के साथ प्रस्तुत आलेख में लेखक ने उन बिन्दुओं को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है, जिनसे कोई यह सीख सके कि उसे सद्गुरु के सान्निध्य का लाभ किस प्रकार लेना है। -सम्पादक

भारतीय परम्परा में गुरु का महत्वपूर्ण स्थान है। संसार में ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो गुरु या मार्गदर्शक के बिना सहज रूप से पूर्ण हो जाए। गुरु भारतीय संस्कृति का केन्द्र बिन्दु है। जैसे तराजू के दोनों पलड़े डण्डी से बंधे होते हैं और डण्डी के बीच मुठिया होती है वह केन्द्र का कार्य करती है, उसी प्रकार 'गुरु' हमारी संस्कृति के मुख्य तीन तत्त्वों- देव, गुरु और धर्म के मध्य में रहकर केन्द्र का कार्य करता है। गुरु से ही देव और धर्म का स्वरूप जाना जा सकता है। यदि सच्चे गुरु केन्द्र में न हों तो फिर जीव देव और धर्म के सच्चे स्वरूप को जानने से वंचित रह जाता है।

संसार में या व्यावहारिक जीवन में सफलता अर्जित करनी है तो मात्र पुस्तकें पढ़ने से सफलता नहीं मिलती। इसके लिए जो व्यक्ति उस कार्य को सफल कर चुका है उसकी सलाह या मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है।

गुरु का अर्थ- गुरु शब्द में 'गु' अंधकार का द्योतक है और 'रु' प्रकाश का। अतः जो हमें अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाए, वह गुरु है इसी प्रकार जो तत्त्व ज्ञान को प्रकट कर शिव (मोक्ष) के साथ अभिन्न सम्बन्ध करा देता है, वह गुरु है। कल्याण (योगांक) पृष्ठ 545 पर भी बताया है-

गृणाति उपदिशति धर्ममिति गुरुः ।

गिरति ज्ञानमिति गुरुः ।

यद्वा भीर्यते स्तूयते देवगन्धर्वादिभिरिति गुरुः ।

अर्थात् जो धर्म का उपदेश दे, अज्ञानरूपी तम का विनाश कर ज्ञान रूपी ज्योति से जो प्रकाश करे, देव गन्धर्वादि से जो स्तुत्य हो, उन्हीं साक्षात् देव की संज्ञा 'गुरु' है।

जैन आगमों में गुरु के लिए आचार्य, बुद्ध, धर्माचार्य, उपाध्याय आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। अभयदेवसूरि ने भगवतीसूत्र की वृत्ति में लिखा है- 'आ मर्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्यन्ते सेव्यन्ते जिनशासनार्थोपदेशकतया तदाकांक्षिमिरित्याचार्याः।' अर्थात् जो जिनेन्द्र

द्वारा प्ररूपित आगमज्ञान को हृदयगम कर उसे आत्मसात् करने की उत्कण्ठा वाले शिष्यों द्वारा विनयादिपूर्ण मर्यादापूर्वक सेवित हो उसे आचार्य कहते हैं। इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने कहा है- 'आचरन्ति तस्माद् व्रतानीत्याचार्यः' अर्थात् जिसके निमित्त से व्रतों का आचरण करता है, वह आचार्य कहलाता है। इसी प्रकार गुरुतत्त्वविनिश्चय (1.5) में भी बताया है-

जह दीवो अप्पाणं परं च दीवेइ दित्तिगुणजोगा ।

तह श्यणत्तयजोगा, गुरु वि मोहंधयारहरो ॥

अर्थात् जिस प्रकार दीपक स्वयं एवं दूसरे को अपने दीप्तिगुण से प्रकाशित करता है, उसी प्रकार गुरु भी रत्नत्रय के योग से मोहान्धकार का हरण करता है।

गुरु के लक्षण- जीवन के विकास के लिए सद्गुरु का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। सद्गुरु के अभाव में व्यक्ति कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो, लेकिन वह विकास की चरम सीमा को प्राप्त नहीं कर सकता है। प्रश्न उपस्थित होता है कि सद्गुरु की पहचान क्या, उसके क्या लक्षण हैं, जिन्हें देखकर जाना जा सके कि यह सद्गुरु है या असद्गुरु। भगवतीसूत्र में सद्गुरु के लक्षणों को बताते हुए कहा गया है-

सूतत्थविउ लक्खण जुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य ।

गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं वाएअ आयरियो ॥

(भगवतीसूत्र, अभयदेववृत्ति 1.1.1, मंगलाचरण)

अर्थात् जो सूत्र और अर्थ दोनों का ज्ञाता हो, उत्कृष्ट कोटि के लक्षणों से युक्त हो, संघ के लिए मेढि के समान हो, जो अपने गण, गच्छ अथवा संघ को सभी प्रकार के सन्तापों से पूर्णतः विमुक्त रखने में सक्षम हो तथा जो अपने शिष्यों को आगमों की गूढ अर्थ सहित वाचना देता हो, वही आचार्य कहलाने योग्य है। इसी प्रकार आगमकारों ने आचार्य के छत्तीस गुणों का आवश्यक सूत्र में स्पष्ट निर्देश किया है-

पंचिंदिय संवरणो तह णवविह बंधचेर-गुत्तिघरो ।

चउव्विह कसायमुक्को इअ अद्धारस गुणेहि संजुत्तो ॥1 ॥

पंच महव्वय जुत्तो, पंच विहायारपालणसमत्थो ।

पंच समिओ तिगुत्तो, छत्तीसगुणो गुरु मज्झं ॥2 ॥

अर्थात् पाँच इन्द्रियों पर संयम, नव गुप्तियों के साथ ब्रह्मचर्य का पालन, क्रोध आदि चार कषायों पर विजय, अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों का पूर्ण पालन, ज्ञानाचार आदि पाँच आचारों का पालन, ईर्या समिति आदि पाँच समिति तथा मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति का आराधन, ये छत्तीस गुण जिस आचार्य में होते हैं, वही नमस्कार सूत्र के तीसरे पद में वंदन करने योग्य है।

इन गुणों के अतिरिक्त आचार्य, साधु, मुनि के मूलगुण एवं उत्तरगुण की विवेचना भी मिलती है: जो चारित्र रूपी वृक्ष के मूल (जड़) के समान हो वे मूलगुण एवं जो मूलगुणों की रक्षा के लिए चारि

रूपी वृक्ष की शाखा, प्रशाखा के समान गुण हों, वे उत्तरगुण कहलाते हैं। श्वेताम्बर मान्यता में सामान्यतया साधु के पाँच मूलगुण (अहिंसा आदि पाँच महाव्रत) एवं बाईस उत्तरगुण प्रतिपादित हैं। 22 उत्तरगुण हैं- 1-5. इन्द्रिय-दमन, 6-9. कषाय-निवारण, 10. भाव के सच्चे, 11. करण के सच्चे, 12. योग के सच्चे, 13. क्षमावान, 14. वैराग्यवान, 15. मन-समाधारणता (वश में करना), 16. वचन-समाधारणता, 17. काय-समाधारणता, 18. ज्ञान सम्पन्नता 19. दर्शन सम्पन्नता, 20. चारित्र सम्पन्नता, 21. वेयणासमा अहियासणया- वेदना को समता से अधिसहन करना, 22. माणंतिय अहियासणया- मारणंतिक कष्ट को भी अधि सहना। इसी प्रकार श्री भगवतीसूत्र के 12 वें शतक के पहले उद्देशक में 'तीन जागरणा' के वर्णन में मूलगुण एवं उत्तरगुण का विवेचन मिलता है, वहाँ चरणसत्तरि (मूलगुण) के 70 भेद हैं-

वय-समणयउम्, संजम-वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ।

पाणाइतीय तव, कोह-णिग्गहाइ चरणमेयं॥

अर्थात् 5 महाव्रत, 10 यतिधर्म, 17 प्रकार का संयम, 10 प्रकार की वैयावच्च, ब्रह्मचर्य की 9 वाड़, 3 रत्न (ज्ञान-दर्शन-चारित्र), 12 प्रकार का तप, 4 कषाय का निग्रह, ये सभी मिला कर चरणसत्तरि के 70 भेद हुए। इसी प्रकार करणसत्तरि (उत्तरगुण)के 70 भेद हैं -

पिंडविशोही समिई, भावणा-पडिमा इंदिय-णिग्गहो य।

पडिलेहण-गुत्तीओ, अकिग्गहं चव करणं तु॥

अर्थात् 4 प्रकार की पिण्ड-विशुद्धि, 5 समिति, 12 भावना, 12 भिक्षु-प्रतिमा, 5 इन्द्रियों का निरोध, 25 प्रकार की पडिलेहणा, 3 गुप्ति, 4 अभिग्रह, ये सभी मिला कर 70 भेद हुए। इसी प्रकार जैन सिद्धान्त बोल संग्रह (भाग 1) में साधुओं के लिए पाँच महाव्रत मूलगुण हैं तथा श्रावकों के लिए पाँच अणुव्रत मूलगुण हैं। गुरुत्वविनिश्चय के अनुसार भी पाँच ही मूलगुण हैं, किन्तु उत्तरगुण 103 गिनाये हैं। उत्तरगुणों में 42 पिण्डविशुद्धि, 8 समिति, 25 भावना, 12 तप, 12 प्रतिमा और 4 अभिग्रह हैं। यहाँ समिति में ही तीन गुप्ति का समावेश कर लिया है, इसीलिए समिति के 8 भेद बताए हैं। लेकिन दिगम्बर-परम्परा में साधु के 28 मूलगुण इस प्रकार वर्णित हैं- पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय-निग्रह, छह आवश्यक, केशलौच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तघर्षण, स्थितभोजन, एकभक्त एवं उत्तरगुणों की संख्या अधिक है।

उपर्युक्त गुणों से सम्बद्ध एवं कुछ सामान्य गुण सद्गुरु में होते हैं, जिन्हें हम देखकर जान सकते हैं कि यह सद्गुरु है, यथा-

(1) सर्वतोभावेन समर्पण- सद्गुरु सदैव तीर्थंकर की आज्ञा में तत्पर रहते हैं, तीर्थंकर की आज्ञा के सामने वे कभी अपना छंद नहीं रखते हैं, क्योंकि 'आज्ञा में अपील नहीं और समर्पण में सवाल नहीं' यही सद्गुरु जीवन का मूल मंत्र होता है। 'आणाए मामगं धम्मं' अर्थात् तीर्थंकर की आज्ञा ही मेरा धर्म है। इस

सिद्धांत पर चलते हुए ये अपना सर्वस्व तीर्थंकर के चरणों में अर्पण कर देते हैं। क्योंकि जो साधक हमेशा तीर्थंकर की आज्ञा में रहता हो और कोई भी कार्य उनकी आज्ञा से बाहर नहीं करता हो, तीर्थंकर द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलता हो वही शीघ्र कर्मों को जीत कर मोक्ष प्राप्त करता है। मानी व्यक्ति का कभी कल्याण नहीं होता है। जो तीर्थंकर के प्रति समर्पित होते हैं उनका ही कल्याण होता है। अतः कवि कहता है -

‘मैं भी हूँ कुछ’ सोचना नहीं, मैं ना कुछ ना चीज हूँ।
गुरु मुझे धर्म क्षेत्र (में) बोये, क्या मैं ऐसा बीज हूँ।
सड़ा गला बोया न जाता, चतुर होते हैं किसान॥

(2) भेदविज्ञान के ज्ञाता- शरीर को आत्मा से अलग मानना अध्यात्म योगी का प्रमुख लक्षण है। शरीर आदि समस्त बाह्य वस्तुओं से अपने को अलग करके आत्मस्वरूप में ही रमण करना अध्यात्म योग है। अध्यात्म योग की ऐसी साधना सद्गुरु करते हैं। वे ‘मुणिणो सया जागरन्ति’ आगम वाक्य को चरितार्थ करते हैं। प्रत्येक परिस्थिति में वे अपनी साधना में लीन रहते हैं। आत्मा को शरीर से भिन्न मानना साधक का प्रमुख लक्षण है। यदि कदाचित् शरीर में असाता उत्पन्न हो जाती है तो वे यही चिन्तन करते हैं कि ‘पीड़ा शरीर को हो रही है, मैं तो शरीर से भिन्न हूँ, मेरा रोग-शोक से कोई संबंध नहीं, मैं तो सच्चिदानंद हूँ।’ अर्थात् यह शरीर मेरा साथी नहीं है। मेरा साथी तो आत्मा है और आत्मा शरीर से अलग है, अतः जो दुःख हो रहा है वह शरीर को हो रहा है। आत्मा को कोई मार नहीं सकता है वह तो अजर, अमर और अविनाशी है। इसलिए सद्गुरु शारीरिक कष्टों की परवाह नहीं करते हैं। वे ‘सव्वभूयप्पभूयस्स’ अर्थात् सभी प्राणियों को आत्मवत् समझते हैं इसलिए किसी भी जीव की हिंसा की प्रेरणा नहीं देते।

(3) अप्रमत्त साधक- ‘अलं कुलस्स पमाएणं’ अर्थात् प्रज्ञाशील साधक अपनी साधना में किंचित् मात्र भी प्रमाद नहीं करता। आचारांग की यह सूक्ति सद्गुरु के जीवन में आत्मसात् होती है। सद्गुरु की दिनचर्या सूर्योदय से बहुत समय पूर्व ही प्रारम्भ हो जाती है। प्रवचन आदि कार्यों के बाद जब भी समय मिलता है, वे आत्म-चिन्तन में रत रहते हैं। प्रमाद वृत्ति से वे सदैव दूर रहते हैं। उनका मानना होता है कि प्रमाद व्यक्ति को पतन के गर्त में ले जाता है। इसलिए ‘समयं गोयम! मा पमायए’ के अनुसार अपनी दिनचर्या व्यतीत करते हैं। उनका मानना है कि ‘ठिओ परं ठावइस्साभि त्ति अज्झाइयव्वं’ अर्थात् यदि मैं धर्म में स्थिर होऊँगा तो दूसरों को भी धर्म में स्थिर कर सकूँगा, अतः वे अप्रमत्त भावों से अपनी साधना करते हैं। साथ ही शिष्यों की सारणा, वारणा व धारणा करते हुए, उन्हें आगम शिक्षा से संस्कारित एवं आचरण से उन्नत बनाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। उनकी दिनचर्या पूर्णतया पुरुषार्थमय होती है। कभी पुरुषार्थ में शिथिलता नहीं आने देते हैं, कारण उनके जीवन में कोई अहं नहीं होता है, क्योंकि जब साधना एकांत आत्म-कल्याण हेतु की जाती है तो वह साधना उच्चकोटि की होती है और जो साधक ऐसी साधना करता है वह भी उच्चकोटि का साधक होता है। अप्रमत्तता, निर्भयता, निरभिमानता,

निस्पृहता, मितभाषिता, गुणवानों के प्रति प्रमोद-भावना, प्राणिमात्र के प्रति करुणा आदि अनेक गुण सद्गुरु की साधना में चार-चांद लगा देते हैं। आत्म-जागृति के साथ विषय-कषायों, मान-प्रतिष्ठा की चाहना आदि जो साधना के दुर्गुण हैं, उनसे सद्गुरु कोसों दूर रहते हैं। 'भारंडपक्खी व चरेऽप्पमत्ते' के अनुसार साधुचर्या के पालन में वे सदैव जागृत रहते हैं और 'आयुद्धं सम्मं समणुवासेज्जासि' अर्थात् अपने आत्महित के लिए सम्यक् प्रकार से प्रयत्नशील बने रहते हैं।

(4) निस्पृहता- उत्तराध्ययन सूत्र का अग्रांकित वाक्य सद्गुरु के ऊपर पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है - 'निम्ममो निरंहकारो, निस्संगो चत्तगारवो' अर्थात् सद्गुरु ममत्व और अंहकार रहित तो हैं ही, साथ ही निस्संग और गारव के परित्यागी हैं। वे सदैव लोकैषणा से दूर रहते हैं। सांसारिक डिग्री या मेरे नाम के आगे कोई पदवी लगे, लोग मेरी जयकार करें इत्यादि दुर्गुण उनके जीवन में नहीं होते हैं। उनकी भावना होती है कि साधुता की पदवी रहते हुए आराधकपने में आयुष्य का बंध हो जाये तो मुक्ति फिर ज्यादा दूर नहीं, क्योंकि जब साधु की पदवी प्राप्त करली तो बाकी सारी पदवियाँ बेकार हैं। अतः कहा भी है -

अकिंचन अनगार होता, माया मद नहीं चाहिए।

साधु का पद पा लिया तो और क्या पद चाहिए ?

साधु की पदवी है मोटी, साधुता छोटी न जान ॥

अतः जो आनन्द की अनुभूति निस्पृहता से होती है वह लोकैषणा की पूर्ति में नहीं है। अतः वे सदैव एक सच्चे साधक की भांति साधुता की सुरक्षा में तत्पर रहते हैं। मेरा नाम संसार में अमर रहे, लोग मुझे वर्षों तक याद रखे, इसलिए नाम के लिए संयम को दूषित कर लोगों को राजी कर देना ऐसी प्रवृत्तियाँ उनके जीवन से कोसों दूर हैं, क्योंकि वे मानते हैं-

नाम जब तीर्थंकरों के भी अमर ना रह सके।

मेश नाम अमर रहेगा, क्या कोई यह कह सका।

नामवारी की चाहना को दिल से अपने दे निकाल ॥

(5) सहनशीलता- सद्गुरु विपरीत और प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना सदा शांत और प्रसन्न रहकर करते हैं। ये कष्टसहिष्णु होते हैं। स्वेच्छा से अनुकूलता का त्याग और प्रतिकूलता को समभाव से सहन करना उनकी अनूठी विशेषता होती है। वे उपसर्ग और परीषहों को अपनी साधना की कसौटी मानते हैं एवं सदैव इस पर खरा उतरने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। क्योंकि सद्गुरु 'देहदुक्खं महाफलं' को सदैव ध्यान में रखते हैं। वे उपसर्ग-परीषह को समभाव से सहन कर इन्हें कर्मों के कर्जे को उतारने का सुन्दर मौका मानते हैं।

(6) गुणग्राहकता- सद्गुरु के पास कोई भी व्यक्ति आता है चाहे वह बालक हो, जवान हो या वृद्ध, धनवान हो या गरीब, प्रमुख हो या सामान्य, सभी के साथ, हमेशा आत्मीयता का व्यवहार करते हैं। वे कभी भी किसी की उपेक्षा नहीं करते हैं। इतना ही नहीं आने वाले व्यक्ति के सामान्य गुणों का

आदरपूर्वक सम्मान कर, प्रशंसा कर उनके उत्साह में और गुणों में अभिवृद्धि करते हैं। वे गुणवानों की प्रशंसा करते हैं चाहे वह किसी भी संघ या सम्प्रदाय से जुड़ा हुआ हो। सद्गुरु की दृष्टि सदैव गुणों की तरफ ही रहती है। क्योंकि शक्कर चींटियों को आमंत्रण नहीं देती है वे तो बिना बुलाये ही शक्कर के पास आ जाती हैं। इसी तरह गुण पिपासु भी गुणीजन के पास अपने आप आ जाते हैं। सद्गुरु गुण-प्रशंसक व गुण-ग्राहक होते हैं तथा परनिंदा से सदैव दूर रहते हैं।

(7) सरलता- कथनी-करनी में एकरूपता सद्गुरु का विशिष्ट गुण होता है। साधक में सरलता का गुण है या नहीं, उसकी कसौटी ही उसकी कथनी करनी की एकरूपता है। वे उतना ही कहते हैं जितना कि वे कर पाते हैं। साथ ही सभी को प्रेरणा करते हैं कि कथनी और करणी में विसंवाद नहीं होना चाहिए। क्योंकि इससे सरलता रूपी गुण का विनाश होता है। 'आयगुत्ते सया वीरे जाया मायाइ जावए' अर्थात् जो आत्म गुप्त है, संयमी जीवन में सदा रमता है, वह अप्रमत्त साधक होता है। साथ ही आचारांग सूत्र में साधु के तीन लक्षण बताये हैं - ऋजुकृत, नियाग-प्रतिपन्न, अमायी। प्रथम लक्षण का अर्थ है सरलता अर्थात् जो सरल हो, जिसका मन, वाणी-कपट रहित हो तथा जिसकी कथनी-करनी में समानता हो वह ऋजुकृत है। 'धम्मो सुद्धस्स चिड्डइ' उत्तराध्ययन सूत्र के इस वाक्य के अनुसार धर्म शुद्ध हृदय में ही ठहरता है। शुद्ध हृदय के लिए सरलता आवश्यक है। अतः सरलता साधुता का मुख्य लक्षण है। निश्चलता और सरलता सद्गुरु के स्वाभाविक गुण हैं। जितना ऊंचा उनका व्यक्तित्व होता है उतना ही सरल उनका जीवन होता है। बालक सी सरलता, संयम पालन में कठोरता, माया रहित जीवन, ये तीनों गुण सद्गुरु में होते हैं, क्योंकि -

मान में अकड़ा रहेगा, विनयी नहीं बन पायेगा।

पात्र ही नहीं पास में, तो खीर किसमें खायेगा।

छोटा हूँ वामन शिष्य हूँ, खुल्ले दिल से कर ऐलान ॥

(8) असांप्रदायिकता- सद्गुरु सम्प्रदाय को एक व्यवस्था मानते हैं। सम्प्रदाय तो चतुर्विध संघ के ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप के संरक्षण और संवर्धन हेतु प्रचलित हैं। लेकिन सब का कार्य जिनशासन की सुरक्षा का है। अतः वे चतुर्विध संघ को यही उपदेश देते हैं कि अन्य सम्प्रदाय वालों के साथ पर का व्यवहार करना या उनसे द्वेष रखना अच्छा नहीं है। हम सभी को अपना साधर्मि भाई समझें! वर्तमान में धार्मिक जगत् में सम्प्रदायवाद के पोषण को अत्यधिक महत्त्व दिया जाने लगा है, किन्तु आज भी सद्गुरु इसके विपरीत उदार व असांप्रदायिक भावों को महत्त्व देते हैं। क्योंकि सद्गुरु के हृदय में प्राणिमात्र के प्रति करुणा, दया की भावना होती है। 'सत्त्वेषु मैत्री' आपके जीवन का ध्येय है। जिस प्रकार भगवान् महावीर स्वामी ने सभी जीवों की रक्षा के लिए प्रवचन फरमाया, उसी प्रकार संसार के प्राणिमात्र के विकास हेतु सद्गुरु की वाणी से अमृत झरता है। दीन-दुःखियों एवं अज्ञानियों को देख कर उनका हृदय दया से भीग जाता है।

(9) जीधन-निर्माता- वर्तमान समय में तीर्थंकर नहीं, गणधर नहीं, केवली नहीं, पूर्वधर नहीं इसलिए चतुर्विध संघ का भार सद्गुरु पर रहता है। सद्गुरु को परम पिता कहा है। जन्म देने वाला पिता होता है, लेकिन सद्गुरु कल्याण का मार्ग दिखाता है, इसलिए उन्हें भी परम पिता कहा है। सद्गुरु अर्थात् आचार्य के आगमों में छत्तीस गुण बताये गये हैं। गुणों को ही पूजा का कारण माना गया है। गुणों की महत्ता है। आचार्य नाम की जाति भी है। डाकोत भी अपने आपको आचार्य कहते हैं। नाम मात्र से आचार्य-उपाध्याय तो कई हैं, लेकिन वे भाव से पूज्य नहीं होते।

तीन प्रकार के आचार्य होते हैं - कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य। आचार्य में कलाचार्य के रूप में लोगों को धर्म से जोड़ने की अद्भुत कला होती है। इसके कारण लोग अपनी शंकाओं, जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त करने हेतु सद्गुरु के चरणों में आते हैं। इनके संसर्ग में जो आता है, उसे ये उन्नति के पथ पर बढ़ाते हैं। सद्गुरु शिल्पाचारी के रूप में कई व्यक्तियों के जीवन का निर्माण करते हैं। धर्माचार्य चतुर्विध संघ को कुशलतापूर्वक संभालते हैं।

(10) प्राप्त शक्तियों का सदुपयोग- स्वस्थ जीवन की दो धारा है - लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक धारा के अन्तर्गत रहने वाले जीवन को हम व्यावहारिक जीवन कह सकते हैं। लोकोत्तर जीवन जीने वाले के लिए आध्यात्मिक जीवन धारा का प्रयोग किया जा सकता है।

संसार में जन्म लेने वाला प्रत्येक प्राणी, जीवन को सर्वांगीण सफल बना ले, असम्भव है। विरले ही व्यक्ति अपने जीवन को ऊँचा बनाने में सफल होते हैं। व्यावहारिक व आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में यही बात है। प्रत्येक व्यक्ति में जीवन को सफल या निष्फल बनाने के लिए तीन शक्तियाँ होती हैं। इन्हीं शक्तियों से व्यक्ति अपने जीवन का सुखद निर्माण कर सकता है और दुःखद भी। वे तीन शक्तियाँ हैं - विद्या, धन और सत्ता, जो प्रत्येक व्यक्ति को अल्प या अधिक मात्रा में अवश्य मिलती हैं। पवित्र और महान् आत्माएँ इन तीनों शक्तियों का सदुपयोग करके जीवन को यशस्वी बना लेती हैं। ऐसी आत्मा होती है- सद्गुरु। वे अपना जीवन स्व-पर के कल्याण में ही समर्पित कर देते हैं।

(11) अनुशासन प्रिय- सद्गुरु अनुशासन को बहुत महत्त्व देते हैं, पर साथ ही उनका मानना है कि पहले स्वानुशासन फिर परानुशासन करना चाहिए। अनुशासन का अर्थ स्वयं का स्वयं पर अनुशासन। सीमा (अनुशासन) में रह कर प्रत्येक व्यक्ति अपना आत्मोत्थान कर सकता है। अनुशासन आत्म प्रगति का प्राण है। अनुशासन साधना का परिधान है। आत्म-लक्ष्य-प्राप्ति की सफलता का यह पहला मंत्र है। अनुशासन किसी भी प्रमाद का बंध नहीं, बल्कि पापों का नाश करने वाला तंत्र है। अनुशासन से ही गुणों का विकास होता है। अतः सद्गुरु एक कुशल प्रशासक के रूप में स्वयं अनुशासन में रहते हैं और चतुर्विध संघ को अनुशासन में रखते हैं।

सद्गुरु के सान्निध्य का लाभ कैसे लें?

उपर्युक्त वर्णित गुण जिन आचार्य या साधु में होते हैं, वे सद्गुरु कहलाते हैं। ऐसे सद्गुरु के

सान्निध्य का लाभ कैसे लिया जाए या उनकी संगति से अपना कल्याण कैसे हो, क्योंकि प्रायः सभी धर्मों में अपने गुरु को वन्दन करने की प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति सामान्य रूप से सर्वत्र प्रचलित है साथ ही सभी दर्शनों में गुरु वन्दन का महत्त्व बताया है। जैन आगमों में भी गुरुओं की संगति के अभाव में सम्यग्दृष्टि आत्मा का भी पतन हो जाता है। इसका प्रमाण ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र में नन्दनमणिहार का वर्णन है। उसने व्रत ग्रहण करने के बाद लम्बे समय तक संतों (गुरु) की संगति नहीं की। इससे वह अपने व्रतों और समकित से च्युत हो मिथ्यादृष्टि होकर तिर्यच गति में चला गया। गुरु वन्दन से जीवन को दिशा मिलती है और दिशा से दशा बदलती है। गुरुवन्दन से जिनवाणी सुनने को मिलती है। सुनने से ज्ञान होता है... इसी प्रकार इसका अन्तिम फल मोक्ष बताया है। उत्तराध्ययन सूत्र का 19वाँ अध्ययन इस बात का साक्षी है कि मात्र सद्गुरु दर्शन से ही मृगापुत्र को बोध प्राप्त हो गया था, मृगापुत्र ने सद्गुरु की न तो वाणी सुनी, न शंका-समाधान किया, मात्र दूरतः दर्शन से ही उनके जीवन लक्ष्य बदल गया।

अहं तत्थ अइच्छंतं, पासइ सम्मण-संजयं।

तव-णियम-संजमधरं, सीलह्वं गुण-आगरं ॥5॥

भावार्थ - इसके बाद राजकुमार ने नगर अवलोकन करते हुए तप, नियम और संयम को धारण करने वाले अठारह हजार शील के अंग रूप गुणों के धारक ज्ञानादि गुणों के भण्डार एक श्रमण संयत (जैन साधु) को राज-मार्ग पर जाते हुए देखा।

तं पेहइ मियापुत्ते, दिङ्गीए अणिमिस्साए उ।

कहिंमण्णेरिसं स्रवं, दिङ्गपुत्वं मए पुरा ॥6॥

भावार्थ - मृगापुत्र उस मुनि को अनिमेष-दृष्टि से देखने लगा और मन में सोचने लगा कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार का रूप मैंने पहले कहीं अवश्य देखा है।

साहुरस्स दरिसणे तरस्स, अज्झवस्साणम्मि-सोहणे।

मोहं गयस्स संतरस्स, जाइसरणं समुप्पणं ॥7॥

भावार्थ - उस साधु को देखने पर मोहनीय (चारित्र मोहनीय) कर्म के उपशांत (देश-उपशम) होने पर तथा अध्यवसायों (ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होने वाले आन्तरिक परिणामों) की विशुद्धि होने से मृगापुत्र को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया।

देवलोगचुओ संतो, माणुसं भवमागओ।

अण्णिणाणे-समुप्पण्णे, जाइं सरइ-पुराणियं ॥8॥

भावार्थ - संज्ञिज्ञान-जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर वह मृगापुत्र अपने पूर्व-जन्म को स्मरण करने लगा कि मैं देवलोक से च्यव कर मनुष्य भव में आया हूँ।

जाइसरणे समुप्पण्णे, मियापुत्ते महिङ्गिए।

सरइ पोराणियं जाइं, सामण्णं च पुराकयं ॥9॥

भावार्थ - जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न होने पर महाक्रुद्धि वाला वह भृगापुत्र अपने पूर्व-जन्म को और पूर्व-जन्म में पालन किये हुए साधुपन का स्मरण करने लगा।

साधुपने का स्मरण होते ही उन्हें विषयों से विरक्ति हो गई और माता-पिता से संयम की आज्ञा लेकर संयम ग्रहण कर लिया। मात्र दर्शन से ही कुछ पलों में जीवन का लक्ष्य बदल गया। भोगों की विरासत विरक्ति में बदल गई। जहाँ संसार की वृद्धि हो रही थी वहीं कुछ पलों में संसार-मुक्ति का उपक्रम शुरु हो गया। अतः गुरु-वन्दन का महत्त्व अवर्णनीय है। लेकिन प्रायः आज यह देखा जाता है कि इस परम्परा का मात्र निर्वहन हो रहा है। गुरु के पास जाते समय जो अहो भाव/पूज्य भाव हमारे अन्तर में होना चाहिए, उसकी रिक्तता हमारे व्यवहार में देखी जा रही है। उसी रिक्तता के कारण हम सद्गुरु की संगति का पूरा लाभ नहीं उठा सकते हैं। गुरु के पास जाते समय जो अहोभाव होना चाहिए उस अहोभाव को उत्पन्न करने के लिए महापुरुषों ने चार सूत्र दिए हैं- 1. जिज्ञासा 2. नम्रता 3. शिष्यत्व 4. समर्पण।

1. जिज्ञासा- जिज्ञासा का अर्थ है- जि-जिनेश्वर के ज्ञा-ज्ञान की सु-सूचना अर्थात् जिससे जिनेश्वर के ज्ञान की सूचना हो उसे जिज्ञासा कहते हैं। गुरु चरण का हमें पूरा लाभ लेना है तो हमें जीव-अजीव, पुण्य-पाप आदि के सम्बन्ध में, संसार की विचित्रता के सम्बन्ध में जैसे एक प्राणी सुखी तो दूसरा दुःखी क्यों है....इत्यादि कई प्रकार की जिज्ञासाएं हो सकती हैं। इन जिज्ञासाओं का गुरु चरणों में समाधान प्राप्त करें। समाधान से समाधि प्राप्त होती है, जिज्ञासा के कारण अधिक से अधिक समय गुरु चरणों में व्यतीत होगा। उस समय में महापुरुषों के विशुद्ध पुद्गलों से जो शांति का अनुभव होगा वह अकथनीय है, जिज्ञासा के लिए चिन्तन आवश्यक है। ज्यों-ज्यों हमारा चिन्तन बढ़ेगा, त्यों-त्यों जिज्ञासा जगेगी, जिज्ञासा के समाधान के लिए गुरु-सान्निध्य को प्राप्त करना होगा। अतः गुरु-सान्निध्य का पूरा लाभ लेना है तो हमें जिज्ञासा होना चाहिए। अनेक बार देखा गया है कि वास्तविक रूप में कुछ नहीं होता है, पर मानव-मन मात्र भ्रमण के कारण दुःखी होता है और मन ही मन कुंठित होता रहता है। लेकिन जिज्ञासा होने पर गुरु चरण में जिज्ञासा रखने पर जो समाधान प्राप्त होगा उससे अलौकिक शांति की अनुभूति होगी। मानव को जहाँ एक बार आत्म-शांति का अनुभव होता है वहाँ उसका बार-बार जाने का मन होता है। अतः जब भी गुरु चरण में जाएं जिज्ञासा के साथ जाएं। स्वाध्याय के पांच भेदों में जिज्ञासा (प्रतिपृच्छना) तीसरा भेद है, इसका फल भगवान् ने उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 29 में इस प्रकार बताया है-

पडिपुच्छणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

प्रश्न - हे भगवन्! प्रतिपृच्छना से जीव को क्या लाभ होता है?

पडिपुच्छणयाए णं सुतत्थतदुभयाइं विसोहेइ, कंखाओहणिज्जं कम्मं वोच्छिंदइ ॥20 ॥

उत्तर - प्रतिपृच्छना से जीव सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ दोनों को विशुद्ध करता है और कांक्षा-मोहनीय कर्म को विच्छिन्न-नाश कर देता है।

2. नम्रता- नम्रता अर्थात् विनय। विनय का अर्थ है - वि-विकास, न-नवीन, य-याद (ज्ञान) अर्थात् जिसके माध्यम से नवीन रूप में ज्ञान (याद/स्मृति) सहित विकास होता है उसे विनय कहते हैं। जिज्ञासा का समाधान जीव को स्व में स्थिर करता है और समाधान कर्ता के प्रति मन में नम्रता का भाव उत्पन्न होता है। विनय वह गुण है जिसकी तुलना में अन्य गुणों का कोई मूल्य नहीं है। महापुरुषों ने फरमाया है कि जिसके जीवन में विनय है उसने कुछ भी प्राप्त नहीं करते हुए भी जीवन में सब कुछ प्राप्त कर लिया है और जिसके जीवन में विनय नहीं है उसने सब कुछ प्राप्त कर के भी जीवन में कुछ भी प्राप्त नहीं किया है। कहा भी है बड़ों की नजर ही दौलत है। गुरुकृपा प्राप्त करने वाला सब कुछ पा जाता है। विनयी की परिभाषा भगवान् ने उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 1 में इस प्रकार बताई है-

आणाणिद्वेसकरे, गुरुणमुववायकारे ।

इंगियागारसंपण्णे, से विणीए ति वुच्चइ ॥2॥

भावार्थ - गुरु आज्ञा को स्वीकार करने वाला, गुरुजनों के समीप रहने वाला, इंगित और आकार से गुरु के भाव को समझने वाला साधु विनीत कहा जाता है। यह नियम हम गृहस्थों के लिए भी लागू होता है। यह गुण हममें होंगे तभी हम विनयी की श्रेणी में होंगे। गुरु के प्रति सदैव विनयी रहें और साथ ही 14 प्रकार की वस्तुओं को निर्दोषरीति से दान देकर गुरु की सेवा का लाभ लें। भगवान् ने सेवा का फल उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 29 में इस प्रकार फरमाया है-

वेयावच्छेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

प्रश्न - हे भगवन्! वैयावृत्त्य करने से जीव को क्या लाभ होता है?

वेयावच्छेणं तित्थयरे-णामगोयं कम्मं पिबंधइ ॥43॥

उत्तर - वैयावृत्त्य करने से तीर्थकर नाम-गोत्र कर्म का बन्ध करता है।

वैयावृत्त्य का अर्थ है - निःस्वार्थ भाव से गुणिजनों तथा स्थविर आदि मुनियों की आहार आदि से यथोचित सेवा करना। आचार्य आदि दस की उत्कृष्ट भाव से सेवाभक्ति - वैयावृत्त्य करता हुआ जीव उत्कृष्ट रसायन आने पर तीर्थकर नामगोत्र कर्म का उपार्जन करता है। यह तो सेवा का उत्कृष्ट फल है साथ ही सेवा से अन्य लाभ होते हैं, इस बात को इसी अध्ययन में भगवान् ने इस प्रकार बताया है-

गुरुसाहम्मियसुस्सुसणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

प्रश्न - हे भगवन्! गुरुजनों तथा साधर्मियों की सेवा शुश्रूषा करने से जीव को क्या लाभ होता है?

गुरुसाहम्मिय-सुस्सुसणयाए णं विणयपडिवत्तिं जणयइ, विणयपडिवण्णे य णं जीवे अणच्छासायणसीले णेरइय-तिरिक्ख-जोणिय-मणुस्स-देव-दुग्गईओ णिरुंभइ, वण्णसंजलण-भत्ति-बहु-माणयाए मणुस्सदेवसुग्गईओ पिबंधइ, सिद्धिसोग्गइं च विसोहेइ, पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ, अण्णे य बहवे जीवा विणइत्ता भवइ ॥4॥

उत्तर - गुरुजनों की तथा साधर्मियों की सेवा शुश्रूषा करने से विनय प्रतिपत्ति अर्थात् विनय की प्राप्ति होती है। विनय को प्राप्त हुआ जीव सम्यक्त्वादि का नाश करने वाली आशातना का त्याग कर देता है, फिर वह जीव नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव सम्बन्धी दुर्गतियों का निरोध कर देता है। गुरुजनों का गुणकीर्तन, प्रशंसा, भक्ति-बहुमान करने से मनुष्य और देवों में उत्तम ऐश्वर्य आदि सम्पन्न शुभ-गति का बन्ध करता है। सिद्धि सुगति-मोक्ष के कारणभूत ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप मोक्ष-मार्ग की विशुद्धि करता है। विनय-मूलक प्रशस्त सभी उत्तम कार्यों को सिद्ध कर लेता है और दूसरे बहुत-से जीवों को विनयवान बनाता है अर्थात् उसे देखकर बहुत से जीव विनयवान बनते हैं। अतः विनय आत्मा के लिए कल्याण रूप है।

जिसके प्रति हमारे मन में नम्रता है, पूज्य भाव है, उसी के सामने मन की जिज्ञासा रखते हैं। महापुरुषों ने फरमाया है कि मन की बात उसी के सामने कहनी चाहिए जिसमें तीन गुण हों- 1. जो तुम्हारी बात को ध्यान से सुने, 2. जो तुम्हें गलत नहीं समझे और 3. जो तुम्हें सही सलाह/समाधान दे। यह तीनों गुण गुरु में होते हैं, लेकिन जब तक हमारा उनके प्रति नम्र भाव नहीं होगा तब तक हम संकोच करेंगे। अतः जिज्ञासा के समाधान के लिए समाधानकर्ता के प्रति पूर्णतः नम्रभाव होना चाहिए। आगमकारों ने भी उत्तराध्ययन सूत्र के पहले अध्ययन में विनय का फल बताते हुए कहा है-

णच्चा णमइ मेहावी, लोए किच्ची से जायए।

हवइ किच्चाणं सएणं, भूयाणं जगई जहा ॥45 ॥

भावार्थ - विनय के स्वरूप को जान कर बुद्धिमान् व्यक्ति नम्र बनता है, लोक में उसकी कीर्ति होती है और जिस प्रकार पृथ्वी सब प्राणियों के लिए आधार रूप है, उसी प्रकार वह भी सभी शुभ अनुष्ठानों एवं सद्गुणों का आधार रूप होता है।

3. शिष्यत्व- साधु हमारे गुरु हैं यह तो सर्वविदित है अर्थात् जैन संतों को हमारे धर्म-गुरु के रूप में समाज में स्थान प्राप्त है, लेकिन हम उनके शिष्य हैं या नहीं, यह चिन्तन का विषय है। क्योंकि शिष्यत्व (शिष्यपने का भाव) की व्याख्या करेंगे तो शि-शिक्षा (ज्ञान), ष-संतोष, य-याचक, त-तरलता (सरलता), व-विनय अर्थात् जिसके मन में सदैव ज्ञान पाने की ललक हो, संसार वृत्तियों में संतोष हो, गुरु से सदैव नवीन ज्ञान देने की याचना करता हो, जीवन में तरलता (सरलता) हो, आचरण में विनय हो- जिसमें ये पाँच गुण पाये जाते हैं वह शिष्यत्व भाव से युक्त है और जिसमें शिष्यत्व गुण पाया जाता है वही शिष्य है। सोचने का विषय यह है कि क्या ये गुण हममें पाये जाते हैं? क्या हमें हमारे गुरुओं के शिष्य के रूप में मान्यता प्राप्त है या अन्य किसी दूसरे रूप में....। क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन ग्यारह में शिष्य के आठ गुण इस प्रकार बताए हैं-

अह अद्धहिं ठाणेहिं, सिक्खासीलेत्ति वुच्चइ।

अहस्सिरे सया दंते, ण य मम्ममुदाहरे ॥4 ॥

णासीले ण विसीले, ण सिया अइलोतुए।

अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीले ति बुच्चइ ॥5 ॥

भावार्थ - आठ स्थानों से यह आत्मा शिक्षाशील (शिक्षा के योग्य) कहा जाता है, अधिक नहीं हंसने वाला, इन्द्रियों का दमन करने वाला और मर्म वचन न कहने वाला, सर्वतः चारित्र की विराधना न करने वाला (चारित्र धर्म का पालन करने वाला सदाचारी), देशतः भी चारित्र की विराधना नहीं करने वाला अर्थात् ब्रतों का निरतिचार पालन करने वाला और जो अतिशय लोलुप नहीं है तथा जो क्रोध-रहित और सत्यानुरागी (सत्यनिष्ठ) है, वह शिक्षाशील कहा जाता है।

क्या हममें ये गुण हैं? यदि हममें ये गुण नहीं हैं तो हमें प्रयास करना चाहिए कि इन गुणों का हममें सद्भाव हो जिससे हम सच्चे शिष्यत्व को प्राप्त कर सकें। जब तक हम में सच्चा शिष्यत्व नहीं होगा तब तक हममें पूर्णतया नम्रता नहीं आ सकती है और नम्रता के अभाव में जिज्ञासाओं का उचित समाधान नहीं होता है।

गुरु महाराज हमारी गलतियों के लिए कभी हमें उपालम्भ दें और हममें नम्रता भाव नहीं है तो शायद हमारे विचार ऊँचे-नीचे हो सकते हैं, लेकिन जो नम्र होगा उसके विचार ऊँचे-नीचे नहीं होंगे। भगवान् ने उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन एक में भी कहा है-

अणुसासिओ ण कुप्पिज्जा, खंति सेविज्ज पंडि।

खुद्धेहि सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए ॥9 ॥

भावार्थ - यदि कभी गुरु महाराज कठोर वचनों से शिक्षा दें, तो भी बुद्धिमान् विनीत शिष्य को क्रोध नहीं करना चाहिए, किन्तु क्षमा - सहनशीलता धारण करनी चाहिए। दुःशील क्षुद्र व्यक्तियों के अर्थात् द्रव्य बाल और भाव बाल व्यक्तियों के साथ संसर्ग-परिचय नहीं करना चाहिए और हास्य तथा क्रीड़ा का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। अतः जब भी संत चरणों में जाने का सुयोग प्राप्त हो तब शिष्यत्व भाव के साथ ही श्री चरणों में जाना चाहिए। जिसमें शिष्यत्व होगा उसमें लघुता होगी और लघुता से ही प्रभुता मिलेगी कहा भी है-

लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर।

कीड़ी सो मिसरी चुगै, हाथी के सिर धूर ॥

यदि हमें मुक्ति को प्राप्त करना है तो जीवन में लघुता लानी ही होगी। जिस शिष्य में लघुता, नम्रता है उस शिष्य पर गुरु पूरी कृपा करता है, क्योंकि विनयी शिष्य के लिए भगवान् ने उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन एक में गुरु को आदेश दिया है-

एवं विणयजुत्तस्स, सुयं अत्थं च तदुत्तरं।

पुच्छमाणस्स सीसस्स, वागरिज्ज जहासुयं ॥23 ॥

भावार्थ- गुरु महाराज को चाहिए कि इस प्रकार विनय से युक्त शिष्य के पूछने पर सूत्र, अर्थ और सूत्र-

अर्थ दोनों जैसा गुरु महाराज से सुना हो उसी प्रकार कहे। अतः गुरु अपना सम्पूर्ण ज्ञान विनीत शिष्य को उदार भाव से दे।

4. समर्पण- अन्तिम महत्त्वपूर्ण और उपर्युक्त तीन सूत्रों का आधार है- समर्पण। समर्पण शब्द की व्याख्या करें तो स-समान, म-मन (इच्छा), र-रहित, प-प्राथमिक, ण-णाण (ज्ञान) अर्थात् ज्ञान (समझ) पूर्वक प्राथमिक रूप से इच्छा रहित होना ही समर्पण है। हमारे पूज्य के प्रति सर्वसमर्पण होना चाहिए। अंध-समर्पण तो आज बहुतों में देखा जा सकता है, लेकिन सम्यक् समर्पण बहुत कम देखा जाता है। सच्चे समर्पण की पहली शर्त है ज्ञान (समझ पूर्वक) सहित समर्पण होना चाहिए, कुछ का ज्ञान सहित समर्पण हो सकता है, लेकिन जो हमारे अनुकूल हो वह स्वीकार है, जो हमारे प्रतिकूल है उसे हम अस्वीकार कर देते हैं, अतः ऐसा समर्पण भी पूर्ण समर्पण नहीं है। अतः समर्पण की दूसरी शर्त है समान रूप से अर्थात् सभी भावों में सभी परिस्थितियों में समर्पण होना चाहिए, तभी समर्पण को वास्तविक समर्पण कहा जायेगा। अतः हमारा भी गुरु के प्रति सर्वतोभावेन समर्पण होना चाहिए। समर्पण ही विकास के द्वार खोलता है या यूँ कहें कि उन्नति की प्रथम सीढ़ी समर्पण है।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णित चार सूत्र भाव रूप हैं। वैसे तो जैन दर्शन का मूलाधार भाव ही है, लेकिन जब भावों के साथ-साथ द्रव्य और मिल जाता है तो वह भाव व्यवहार में प्रेरणास्पद बन जाता है। अतः इन चार भाव सूत्रों के साथ द्रव्य रूप जो पाँच अभिगम हैं उनका भी पूर्णतया गुरु चरणों में जाते समय पालन करना है, वे इस प्रकार हैं- 1. सचित्त त्याग 2. अचित्त विवेक 3. उत्तरासंग 4. कर जोड़ (हाथ जोड़ना/वंदना) 5. मन की एकाग्रता। अतः इन पाँचों का पालन करना चाहिए/ध्यान रखना चाहिए।

उपसंहार- गुरु के पास जब भी जायें तब उपर्युक्त चार भाव सूत्रों के साथ द्रव्य रूप पाँच अभिगम का पूर्णतया पालन हो तो निश्चय ही वह गुरु-सान्निध्य हमारे भव-भ्रमण के दुःख को मिटाने वाला होगा। गुरु के सान्निध्य से हम क्या कुछ प्राप्त नहीं कर सकते हैं। कहा है-

गुरु बिना ज्ञान न उपजै, गुरु बिना मिलै न मोक्ष।

गुरु बिना लखै न सत्य को, गुरु बिना मिटे न दोष॥

-द्वारा श्री नोरतमल जी जैन (नाहर), जिम्स मेडिकल, सनातन स्कूल के पास, ब्यावर-305901



अभी चलना है बाकी.....

मधुरव्याख्यानी श्री गौतममुनि जी म. सा.

गुरु ने राह दिखाई, अभी चलना है बाकी,
राही तुम भूल न जाना, अभी मंजिल है बाकी।

गुरु ने.....

मधुर व्यवहार हो अपना, मधुरता हो वचन में,
टूटे ना दिल किसी का, बसे वो प्रेम मन में।
क्षमा का पाठ पढ़ा है, अभी सहना है बाकी ॥

गुरु ने.....

नहीं दे दोष किसी को, यदि विपदा भी आए,
किये जो कर्म मैंने, उदय वो आज आए।
खेल कर्मों का समझें, अभी बचना है बाकी ॥

गुरु ने.....

जन्म-जन्मों से भटके, आत्म-हित को न समझा,
मार्ग सच्चा भुलाकर, रहा पर में ही उलझा।
आज सद्बोध मिला है, सफल होना है बाकी ॥

गुरु ने.....

जहाँ ना जन्म-मृत्यु, जहाँ ना कष्ट-क्रंदन,
चलो उस पार चेतन, जहाँ ना कर्म-बंधन।
प्रभु 'गौतम' से कहते, अभी तिरना है बाकी ॥

गुरु ने.....

10 जनवरी 2011

जिनवाणी

171

श्रमण-जीवन खण्ड

श्रमण-धर्म है सबसे न्याय,
जो धारे उतरे भव-पार।
संयम जीवन सुख की रवान,
ज्ञान-क्रिया से ही कल्याण ॥

साधु रहे तीन विषों से सावधान

आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म.सा.

श्रमण-जीवन में आत्म-शोधनपूर्वक सजगता के साथ साधना में आगे बढ़ा जाता है तथा बाधक निमित्तों से दूर रहना होता है। आचार्य हस्ती ने दशवैकालिक सूत्र के आधार पर श्रमण को 1. विभूषा, 2. स्त्री-संसर्ग और 3. प्रणीतरस भोजन इन तीन विषों से दूर रहने की प्रभावी प्रेरणा की है, क्योंकि साधनाशील जीवन में ये तीनों बाधक एवं घातक हैं। यह प्रेरणा प्रत्येक साधु-साध्वी की साधना में हितकर है। -सम्पादक

साधक की साधना जिन कारणों से पुष्ट हो वही अमृत और जिन बातों से साधना क्षीण हो, नष्ट हो, वही साधना का विष है। जीवन-प्रेमी सदा विष से बचना चाहता है, अन्यथा उसे जीवन से हाथ धोना पड़े। इसी प्रकार साधक के संयम-जीवन के लिये भी कुछ हलाहल विष है। साधक थोड़ी सी गफलत कर जाय तो उसका संयम-जीवन दूषित और अंत में नष्ट-भ्रष्ट हो सकता है। संसार की विभिन्न साधनाओं में जैन साधक की साधना अपना विशिष्ट स्थान रखती है। जैन साधक केवल त्याग की ऊँची प्रतिज्ञा लेकर या वेष बदलकर ही नहीं रहता, वइ इन्द्रिय और कषायों का मुंडन कर साधना में ज्ञानपूर्वक तन, मन एवं वाणी को कसता है। वह निरारंभ और अपरिग्रही होकर पूर्ण वीतरागता की ओर आगे बढ़ता है। उसके साधक जीवन में पहली शर्त सदाचार सम्पन्न होना और दूसरी शर्त आरम्भ-परिग्रह के फंदे से बचे रहना है। जैन साधु दोनों शर्तों को पूर्ण रूप से निभाता है और जरा भी कहीं खलना न हो जाय इसके लिये सदा जागरूक रहता है। सच्चा साधक विषय-कषाय को जीतने की साधना करता है और जरा भी गलती हुई तो स्वयं ही अपना आलोचक बनकर शुद्धि करता है। शास्त्र में स्पष्ट कहा है कि जो व्यक्ति साधक बनकर भी निद्रा में व्यस्त रहता है और खा-पीकर सुख से सोया पड़ा रहता है, शास्त्र की भाषा में वह पाप श्रमण है।

जे केई पठवइ निदासीले पगामसो ।

भुच्चा पिच्चा सुहं सुवइ पावसमणेति वुच्चइ ॥

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 17, गाथा-3,

इस गिरावट का कारण प्रमाद है। इसलिये संयमी को प्रमाद से बचने का खास ध्यान दिलाया गया है।

आज हम लोग जब व्रत लेते हैं तो बड़े उमंग और उत्साह से मार्ग ग्रहण करते हैं। परन्तु दीक्षित

होने के पश्चात् कुछ ही दिनों में लक्ष्य भूल जाते हैं। परम दयालु वीतराग भगवन्त ने कहा है कि संयम-जीवन सुरक्षित रखना हो तो तीन प्रकार के विष से सदा बचें- 1. विभूषा- शरीर व वस्त्रादि की शोभा, 2. स्त्री संसर्ग और 3. प्रणीत रस-भोजन। आत्म-साधक पुरुष के लिये ये तीनों तालपुट विष हैं-

विभूषा इत्थि-संसग्गो पणीयस्सओयणं।

नस्सत्तगवेस्सिस्स, विसं तालउडं जहा ॥

-दशवैकालिक, अध्ययन 8, गाथा-57

साधना का प्रथम विष 'विभूषा' है। विभूषा से भोग-रुचि और कामियों को आकर्षण होता है। ब्रह्मचारी के लिये कहा है कि वह विभूषानुवादी नहीं बने। शरीर और वस्त्रादि की सजावट करने वाला स्त्रीजनों के लिये प्रार्थनीय होता है। स्त्रियाँ उसके पास प्रसन्नता से आर्यंगी और प्रेम से बातें करेंगी। उनके प्रेमालाप को देखकर लोगों में शंका होगी कि यह साधक कैसा है, जो स्त्रियों से बातें करता है। इसके अतिरिक्त मन की आकुलता से समय पर रोग की उत्पत्ति होगी व संयम-जीवन से भी भ्रष्ट हो सकता है।

अतः परीषह नहीं सह सकने और शासन की हीलना, लघुता आदि कारणों से वस्त्रादि धोना पड़े तो संयमी साधक को चाहिये कि उसमें भोगी व्यक्ति की तरह दिखावे का रूप नहीं करे। विभूषा के लिए हाथ, मुँह, पैर धोना, बाल संवारना, नख बनाना, चोलपट्टे पर अच्छे लगे वैसे सल डालना आदि सभी कार्य विभूषा है। निर्मल चमकीले वस्त्र, कड़पदार मुँहपत्ती, आंख पर बढ़िया रंगीन चश्मा और हाथ में रंगीन छड़ी इस प्रकार चटकीले वेष से बने-ठने रहना, संयमी जीवन के लिए दूषण है। लोक में अपवाद और जिनाज्ञा का भंग है। सदाचारी गृहस्थ और विद्यार्थी के लिये भी तेल, साबुन, अंजन, क्रीम, पाउडर आदि निषिद्ध माने गये हैं। तब पूज्य संयमी साधु के लिये तो उनका उपयोग हो ही कैसे सकता है?

श्री दशवैकालिक सूत्र में संयम के अठारह स्थान कहे हैं। उन अठारह में से किसी एक से खलित होने पर भी निर्ग्रन्थता से भ्रष्ट कहा गया है। उनमें विभूषा भी एक स्थान है। शास्त्रकार कहते हैं- "जो मैथुन से उपरत है उसका विभूषा से क्या काम है?"

मेहुणा उवसंतस्स किं विभूसाए कारियं ॥

-दशवैकालिक, अध्ययन 6, गाथा 65

यह भोगियों का शृंगार एवं भूषण है, पर भोग-त्यागी मुनि के लिये दूषण है। विभूषा से शरीर का सौन्दर्य बढ़ता है, इन्द्रियों में उत्तेजन आता है और सुन्दरता के कारण स्त्री पुरुषों का आकर्षण केन्द्र बन जाता है। फलस्वरूप स्वयं में देहाभिमान जाग्रत हो जाता है। विभूषा मोहभाव को जाग्रत कर साधक को प्रमत्त बनाती और सुगति मार्ग में अवरोध करती है। देखिये दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि- "जो श्रमण सुख का स्वादी और साता सुख के लिये आकुल है, अधिक सोने वाला और शरीर

आदि को पुनःपुनः पखालने वाला है, उसको सुगति प्राप्त होना दुर्लभ है।”

सुहृत्सायगस्स समणस्स सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।
उत्तोलणा-पहोअस्स दुल्लहा सुगई तारिसगस्स ॥

-दशवैकालिक, अध्ययन 4, गाथा 26

अतः साधक को ब्रह्म रक्षा के लिये सदा सादे रूप में रहना चाहिये।

विभूषा के निमित्त जीव विराधना करते हुए भिक्षु चिकने कर्म बांधता है और फिर उस कर्मभार से संसार-सागर में गिर जाता है।

विभूसा वतियं भिक्खू कम्मं बंधइ चिककणं ।
संसार-सायरे धोरे जेणं पडइ वुरुत्तरे ॥

दशवैकालिक 6, गाथा 26

मुमुक्षु श्रमणों को चाहिये कि शरीरादि की बाह्य विभूषा छोड़कर ज्ञानादि गुण चमकाने वाली भाव-विभूषा को ग्रहण करके लोक और लोकोत्तर दोनों को गौरवशाली बनावें।

हम देखते हैं कि कुछ संत-सतीजन युगधर्म के प्रवाह में आत्म-धर्म एवं आज्ञा धर्म को भूल रहे हैं। कदाचित् वे समझ रहे होंगे कि उज्ज्वल वेशभूषा से धर्म की प्रभावना होती है, बड़े-बड़े नेता अधिकारी लोगों से सहज ही मिलना होता है, पर उनको समझना चाहिए कि प्रभावना त्याग, तप और विद्वत्ता से होती है। महात्मा गाँधी अर्द्धनग्न दशा में भी देश-विदेश के आकर्षण-केन्द्र बने हुए थे। उनका आत्मबल और त्याग ही प्रभावना का कारण था। उनके अर्द्धनग्न वेष और खादी के कपड़ों में भी बड़े-बड़े साहब झुका करते थे। हम श्रमणों को तो लोगों के वन्दन की भी अपेक्षा नहीं हैं। फिर दूसरों को अच्छा लगेगा या नहीं, इसकी परवाह क्यों की जाये?

नीति में भी 6 कारणों से व्रतधारियों का पतन बताया है:-

ताम्बूलं देहसत्कारः स्त्री कथेन्द्रियपोषणम् ।
नृपसेवा, दिवानिद्रा, यतीनां पतनानि षट् ॥

1. ताम्बूल, 2. शरीर का सत्कार, 3. स्त्री-कथा, 4. इन्द्रिय-पोषण, 5. राज-सेवा, 6. दिवानिद्रा-ये छह यतियों के पतन में हेतु है। इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है- “विभूषा का त्याग करे, ब्रह्मचर्य में रमण करने वाला भिक्षु शृंगार व शोभा के लिए शरीर का मंडन भी नहीं करे-

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीरपरिमंडणं ।
बंभचेररओ भिक्खू, सिगारत्थं न धारए ॥

-उत्तराध्ययन, 16, गाथा 9

साधना का दूसरा ज़हर है- स्त्री-संस्पर्श। ब्रह्मचारी पुरुष के लिये जितना स्त्री-संस्पर्श वर्जनीय है, उतना सती साध्वी नारी के लिये पुरुष का संग और सहवास भी वर्जन योग्य है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के

नियमों में स्त्री वाले घर में रहना, एक साथ बैठना, स्त्रियों में कथा करना, सराग दृष्टि से देखना, स्त्रियों के रूप सौंदर्य और वेशभूषा की कथा करना, विकारी शब्द सुनना, पूर्व क्रीड़ा का स्मरण करना आदि के त्यागरूप नियम स्त्री-पुरुष के संसर्ग की सीमा निर्धारित करते हैं। कल्याणार्थी का सत्संग, सभा और प्रवचन करने के अतिरिक्त जितना शक्य हो, स्त्री-संग से बचते रहना चाहिये। स्त्रियों में बैठकर भजन गाना, सिखाना, पढ़ाना या धर्म-उपदेश के नाम से अमर्यादित बैठे रहना हितकर नहीं है।

दशवैकालिक सूत्र के आठवें आचार प्रणिधि अध्याय में कहा है कि “मुर्गे के बच्चे को जैसे बिल्ली से सदा भय बना रहता है, इसी प्रकार ब्रह्मचारी को भी सदा स्त्री के देह से भय रहना चाहिये।”

इसी शास्त्र में कहा है कि चित्रमय भित्ति अथवा अलंकृत नारी को कभी नहीं देखे। कदाचित् कभी दृष्टि गिर ही जाय तो जैसे सूर्य को देखकर नजर खींच ली जाती है वैसे ही दृष्टि को खींच लो। फिर कहते हैं-

जिसके हाथ पैर टूट गये और नाक काट ली गयी हो वैसी शतायु वृद्धा हो तब भी संयमी पुरुष नारी का संग न करे।

किसी बुद्धिवादी शिष्य ने पूछा- “महाराज! इतने कठोर नियमों के बंधनों में बांधने की अपेक्षा तो शिष्य का ज्ञानभाव ही ऐसा क्यों न जागृत कर दिया जाय कि कहीं जाओ और किसी के संग रहो जैसी शंका करने की आवश्यकता ही नहीं रहे। जब योग्य समझकर शिष्य बना लिया, तब फिर इतना अविश्वास क्यों? धर्म का पालन तो मन से होगा, बाहर से दबाव से उन्हें कहाँ तक रखोगे?”

उत्तर देते हुए गुरु ने कहा- “ठीक है, ज्ञानभाव जागृत करने का प्रयत्न किया जाता है और उसके लिये निरंतर शास्त्र-वाचन और चिन्तन से प्रेरणा दी जाती है। फिर भी सबका क्षयोपशम समान नहीं होता। सिंह गुफा वासी मुनि की तरह उसमें दुर्बल मनोबल वाले साधक भी होते हैं। परम त्यागी मुनि नंदीषेण की तरह कभी ज्ञानी भी मोह के चक्र में आ जाते हैं। इसलिये अंतरंग की तरह कुछ बाह्य नियम भी सुरक्षा और व्यवहार के लिये आवश्यक माने गये हैं। जितेन्द्रिय ज्ञानी के लिये भी व्यवस्था की दृष्टि से उन बाह्य नियमों का पालन आवश्यक होता है। कहा भी है- “स्त्रियों के रूप को नहीं देखना, नहीं चाहना, नहीं सोचना और कीर्तन नहीं करना, यह आर्यजनों के ध्यानयोग्य व्यवहार ब्रह्मव्रती के लिए सदा हितकर होता है।”

जितेन्द्रिय साधक तीन गुप्तियों से गुप्त होकर सुसज्जित देवियों के द्वारा भी विचलित नहीं होता, इतना उसमें सामर्थ्य है, फिर भी वीतराग प्रभु ने एकान्त हितकर मानकर मुनियों के लिये विविक्त एकान्तवास प्रशस्त कहा है-

विविक्तवासा ऋणीणं पसत्थो ॥ - उत्तरा. 32.16

मनुष्य की मनःस्थिति सदा एक सी नहीं रही। न मालूम किस समय मोह का उदय हो जाय और ज्ञान की पतवार हाथ से छूट जाय, इसलिए संयमी स्त्री-पुरुष को सदा अप्रमत्त एवं विषयसंग से दूर रहना

चाहिए।

साधक स्वयं में निर्दोष रहे तब भी संगदोष से जनमन में अविश्वास का कारण बन सकता है। इसलिए नीति में कहा है-

“यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम्।”

उत्तराध्ययन सूत्र में बतलाया गया है कि लोहकार की शाला, खान, दो घर की सन्धि और राजमार्ग में कहीं भी अकेला साधक, नारी के साथ न खड़ा रहे और न बात ही करे। शास्त्राज्ञा की अवहेलना करने वाले कभी-कभी अच्छे-अच्छे विद्वान भी ठगे जाते हैं। भगवान महावीर ने साधक के ज्ञानभाव को जगाकर, अशुचि भावना से उसके मन में विषयों के प्रति घृणा उत्पन्न की, तन की नश्वरता से वैराग्य उत्पन्न किया और आत्मज्ञान से बाह्य रंगरूप की ओर उपरति बढ़ाई। इतना सब करके भी उन्होंने साधक को ज्ञान भाव के नाम से असुरक्षित नहीं छोड़ा। स्थूलभद्र और सेठ सुदर्शन के आदर्श की तरह उनके सामने रथनेमि एवं सिंह गुफावासी मुनि के उदाहरण भी थे।

एकान्त में स्त्री का निमित्त पाकर ही रथनेमि जैसे विशिष्ट त्यागी भी विचलित हो गये। अतः शास्त्रकार ने स्पष्ट कहा है कि जहाँ विकारी वातावरण हो, स्त्री-पुरुषों के कलह कोलाहल कर्णगोचर हों, स्त्रियों का बार-बार आना जाना हो वहाँ मत ठहरो। “विवित्ता य भवे सिज्जा” साधक के लिये निर्दोष एकान्त शय्या होनी चाहिये। आज के सघन आबादी वाले नगरों में जहाँ धरों के बीच उपाश्रय होता है, पूर्ण शान्तता नहीं रहती। बहुत से उपाश्रयों के सामने गृहस्थ के खाने-पीने एवं सोने बैठने के स्थान खुले दिखते हैं। सचमुच आज के वसतिवास में इन दोषों से बचना कठिन हो गया है।

फिर भी संयमधारियों को आत्म-रक्षण करना है तो धर्म-स्थान में सेवा के नाम पर स्त्रियों को बिठाना अनावश्यक संसर्ग है। प्रवचन और शास्त्रकथा के अतिरिक्त साधुओं के यहाँ स्त्रियों के अधिक समय तक रहने से ज्ञान-ध्यान में विक्षेप और चंचलता का कारण होता है।

कुछ लोगों का खयाल है कि स्त्रियों को समझाने से काफी काम हो सकता है, कारण कि सारा परिवार ही उनसे प्रभावित रहता है। अतः साधुओं को उन्हें बोध देना आवश्यक है। ठीक है, उनकी भावुकता और धर्म परायणता योग्य मार्गदर्शन पाकर अवश्य काम कर सकती है, किन्तु साधकों को ध्यान रखना चाहिये कि हमको लेने के कहीं देने न पड़ जाय। वे ज्ञान देने के बदले कहीं अपना ज्ञान न गंवा बैठें। इसलिये आवश्यक शिक्षा और उपदेश भी प्रवचन के समय ही देना चाहिये। एकान्त या व्यक्तिगत शिक्षा तो सर्वथा ही अकल्याणकर है।

साधुओं को ज्ञान-ध्यान में बाधा न हो, इसलिये जिज्ञासा वाली माताओं को भी अपना अभ्यास सतियों के पास ही करना चाहिये! कोई खास शंका-स्थल हो या किसी विशेष को समझना हो तो व्याख्यान चौपी के पश्चात् समझ लेना, पर असमय में अमर्यादित बैठे रहना उचित नहीं। स्त्री-संसर्ग से संयम का तेज क्षीण होता है, इसलिये आत्मार्थी के लिये यह हलाहल विष है।

प्रणीत रस-भोजन साधना का तीसरा विष है। संयमी पुरुष 6 कारणों से आहार करता है, जैसे-1. क्षुधा-निवारण, 2. वैयावृत्य, 3. ईर्या शोधन, 4. संयम-निर्वाह, 5. प्राणधारण और 6. धर्म-चिन्ता। साधक स्वाद के लिये नहीं खाता, बल बढ़ाने या रंग रूप के लिये भी नहीं खाता। 'संजम-भार-वहणटूठयाए अक्खो वंजण-वण-लेवाणुभूयं' संयम भार को वहन करने के लिये संयमी ऐसा भोजन करे जैसे चाक की नाभि में तेल और घाव पर लेप लगाया जाता है। स्निग्ध, भारी एवं विकार-वर्धक आहार नहीं करे, क्योंकि प्रमाण से अधिक रस के भोजन सेवन से शरीर में उत्तेजना बढ़ती है और दर्प युक्त को काम आ घेरता है, जैसे स्वाद फल वाले वृक्ष को पक्षी आ घेरते हैं। ब्रह्मचारी को नित्य दुग्ध आदि सरस भोजन नहीं करना, कदाचित् प्रणीत रस का भोजन हो जाय तो जप-तप शास्त्राभ्यास या सेवा से सार निकालना चाहिए। शास्त्र में कहा है- "जो दूध, दही, घी आदि विगय का बार-बार सेवन करता और तपस्या के समय अरति करता है, खेद मानता है उसे पाप श्रमण समझना चाहिए।" तरुण साधुओं को बिना कारण प्रहर दिन पहिले नहीं खाना चाहिए और शक्ति अनुसार पर्व तिथियों पर व्रत-साधन का ध्यान रखना चाहिये। मानी हुई बात है कि भोजन का विचार और साधना पर भी बड़ा असर पड़ता है। वैदिक परम्परा में भी कहा है कि "युक्ताहार-विहारस्य योगो भवति दुःखहा।" उसी का योगसाधन दुःखनाशक बनता है जो उचित आहार-विहार वाला है।

अनादि अविद्या का प्रभाव है कि प्राणी राम का साधन सिखाने पर भी नहीं करता और काम की ओर बिना शिक्षा भी दौड़ता है। कहा भी है न:-

रहिमन् राम न उर बसे, रहत विषय लपटाय।

पशु खर खात सवादसों, गुड गुलियाइ खाय॥

इस प्रकार विषयों में बलात् मन के जाने का प्रधान कारण विकृत आहार है। विगइ और महाविगइ नाम रखने के पीछे भी उनका गुणधर्म रहा हुआ है। दूध, दही, घृत आदि को विकार-वर्धक मानकर जहाँ विगइ कहा है वहाँ मधु, मद्य एवं मांस आदि को महाविगइ कहा है। संयमी मुनि के विशेषण में शास्त्रकार ने "अन्ताहारे, पन्ताहारे, अरसाहारे, विरसाहारे, लुहाहारे, तुच्छाहारे" पद कहे हैं। साधक मुनि का भोजन प्रधानता से सरसाहार नहीं होता। अन्य मर्तों के साधक भी ब्रह्मचर्य की साधना के लिये फल, फूल, सिवार आदि से निर्वाह करना उचित मानते हैं। उत्तेजक आहार वहाँ भी अग्राह्य माना है।

भर्तृहरि जैसे प्रसिद्ध योगी जो नीति के पारायण और काम कला के पूर्ण अनुभवी थे, ने नीतिशतक, वैराग्यशतक और शृंगारशतक की रचना की। मनोहर रूपा नारी को संसार तरु का फल मानने वाले जब उसकी असलियत समझ गये तो धिक्कार देते हुए निकले और वैराग्य रंग में रंग कर जब विषय से विमुख हुए तो ब्रह्मचारी के आहार-विहार का विचार किया।

सरस आहार से बलवीर्य की वृद्धि होती है और इन्द्रिय एवं मन में उत्तेजना आती है। इसलिये शास्त्र में भी कहा है कि प्रणीत आहार करने वाले ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शंका होगी, कांक्षा होगी,

संयोग पाकर चारित्र का भेद होगा, अथवा उन्माद प्राप्त कर लेगा। मानसिक उत्तेजना की अधिकता में कभी दीर्घकाल का रोग हो जायेगा और केवली के धर्म से भ्रष्ट हो जायेगा। इसलिये साधु-साध्वी को चाहिये कि प्रणीत आहार नहीं करें। रुक्ष और सादा भोजन भी प्रमाण से अधिक करना अहितकर है। जैसे कि कहा है- परिमाण से अधिक आहार नहीं करने वाला निर्ग्रन्थ होता है।

शास्त्र में चार कारणों से मैथुन संज्ञा का उदय बतलाया है। प्रथम-वेद का उदय, दूसरा रक्त मांस की वृद्धि, तीसरा स्त्री आदि काम के साधन देखना, सुनना और चौथा काम-भोग की कथा करना। इनमें रक्त-मांस की अनावश्यक वृद्धि भी विकार का कारण मानी गई है। अतः रक्त-मांस की वृद्धि को संतुलित रखने के लिए आहार का नियन्त्रण आवश्यक है।

शास्त्र में मुनियों को अन्तजीवी, पंतजीवी, लूहजीवी तुच्छजीवी, उपसन्तजीवी, पसन्तजीवी आदि विशेषणों से वर्णित किया है। प्रान्त, रुक्ष और निस्सार भोजन से वे उपशान्त एवं प्रशान्त जीवन वाले होते हैं। उनका अन्तःकरण निर्मल और क्रोध आदि विकारों के उपशम से शान्त होता है।

काम की अग्नि, भोग की सामग्री से शान्त होने की अपेक्षा अधिक प्रज्वलित होती है। तृणभक्षी प्राणी भी वासना में विफल होकर प्राण गंवा बैठते हैं तो फिर मधुरान्न भोजी मानव की तो बात ही क्या है? जीवनभर सुवर्ण, पुष्पा, पृथ्वी के सुमनों का चयन करने वाली पिंगला की प्रीति में मातृ प्रेम को भी तुकराने वाले महाराज भर्तृहरि जब उसकी असलियत समझ गये तो यह कहते हुए निकले कि 'धिक तां च तं च मदनं च, इमां च मां च' धिक्कार हो पिंगला को और उस हस्तिपाल को, कामदेव को, इस वेश्या को और मुझको भी धिक्कार है।

ब्रह्मचर्य व्रत की पंचम भावना में संयमी साधु के लिये दूध, दही, घी, मक्खन, गुड़, तेल, शर्करा, मधु, मद्य और मांसादि विगय से रहित आहार ग्राह्य बताया है। वह भी बहुत नहीं, नित्य नहीं और शाकभाजी की बहुलता वाला भी ग्रहण नहीं करे।

इस प्रकार से समझा जा सकता है कि संयमी के लिये आहार-शुद्धि का कितना गंभीर विचार किया गया है। प्राचीन समय के संत लम्बा तप नहीं करने की स्थिति में रूखी रोटी और छाछ पर वर्षों बिता दिया करते, कई विगय के त्यागी होते। आहार शुद्धि से उनकी साधना में ब्रह्मचर्य का तेज भी चमका करता था। कभी कोई उपद्रव वाले स्थान में भी ठहरा देता तो उनके ब्रह्म तेज से मिथ्यात्वी देव-देवी भी उनके चरणों में आ झुकते। दशाश्रुतस्कंध सूत्र में स्पष्ट कहा है-

“अप्पाहारस्स, दंतस्स, देवा दंसेइ ताइणो।”

अर्थात् “अल्पाहारी जितेन्द्रिय मुनि के देव भी दर्शन करता है।” वीर पुत्र श्रमणों को अपना ब्रह्म तेज यदि अक्षुण्ण रखना है तो अवश्य ही उन्हें आहार-विहार पर आवश्यक नियन्त्रण रखना होगा।

-जिनवाणी, जनवरी-2003 से साभार



सामायिक से समता का अभ्यास

आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म. सा.

सामायिक श्रमण-श्रमणी का प्रथम चरित्र है तथा श्रावक-श्राविका के लिए एक शिक्षाव्रत। सामायिक-साधना जीवन में समत्व के अभ्यास की साधना है। आचार्यप्रवर ने अपने प्रवचन में सामायिक-साधना पर जो प्रवचन फरमाया है वह श्रावक-श्राविका के लिए तो उपयोगी है ही, श्रमण-श्रमणियों के लिए भी इसकी उपादेयता है, क्योंकि सामायिक में आर्त एवं रौद्र ध्यान का त्याग किया जाता है तथा समस्त सावद्य क्रियाओं से बचकर समता में रहने की साधना की जाती है। -सम्पादक

आत्म-स्वभाव में रमण करने वाले सिद्ध भगवंतों, आत्मिक गुणों का विकास करने वाले अरिहंत भगवन्तों, साधना से गुणों की ओर बढ़ने वाले संत भगवंतों को कोटिशः वन्दन।

आत्म-स्वरूप की ओर उन्मुख करने वाली साधना का नाम 'सामायिक' है। सामायिक साधना की ओर चरण बढ़ाने से पूर्व इसकी पृष्ठभूमि को समझ लेना उचित लगता है। जैसे- वट वृक्ष ऊपर में जितना विशाल दिखता है, भीतर में उतना ही दूर तक फैला हुआ होता है, जड़े जितनी गहरी, वृक्ष उतना ही विशाल। इसी तरह मनुष्य की आस्था, श्रद्धा, मान्यता, विचारधारा जितनी दृढ़ होगी, आचार का वटवृक्ष तथा सदगुणों के फल-फूल उतने ही अधिक लगेंगे। समय आने पर वटवृक्ष के पत्ते जरूर झड़ते हैं, पर तनों से बहती रसधारा उसे फिर हरा-भरा कर देती है, इसी तरह विपत्तियाँ या प्रतिकूलताएँ मनस्वी मनुष्यों का कुछ नहीं बिगाड़ सकती, किन्तु समभाव से उन्हें सहन करने पर वे उनके व्यक्तित्व में चार चाँद लगा देती हैं। इस प्रकार सदगुणों के मूल को सींचने वाली साधना सामायिक है।

जैसे आकाश सभी द्रव्यों का, पृथ्वी सभी जीवों का, दया सभी धर्मों का आधार है, वैसे ही सामायिक सभी गुणों का भाजन है, आधार है। समता के सहारे ही जीव में सभी गुण या धर्म टिकते हैं। जैसे-अंधेरे में बड़े-बड़े सुनसान महल और किले अटपटे और डरावने लगते हैं वैसे ही आत्मिक भाव, आत्म-विकास के बिना ये ऐश्वर्य और वैभव भी ईर्ष्या, द्वेष एवं लड़ाई के साधन बन जाते हैं। तीर्थंकर भगवान महावीर, गौतम बुद्ध और चक्रवर्ती भरत आदि महापुरुषों के पास रमणियाँ, राजपुत्र, अतुल सम्पत्ति, सुन्दर भव्य भवन, एकछत्र राज्य आदि मन बहलाने के बड़े-बड़े साधन थे, किन्तु उन्हें ये सब अटपटे एवं डरावने लगे और एक दिन वे इन वैभव-विलासों को छोड़, ममत्व को तोड़, आत्मविकास के उज्ज्वल पथ सामायिक या समता भाव की ओर बढ़ चले। आगमवचन सत्य है कि सामायिक व्रत स्वीकार न करने पर श्रावक को अपने जीवन के लक्ष्य का

भान नहीं होता। कहा है- जे के वि गया मोक्खं, जे वि य गच्छंति जे गमिस्संति। ते सव्वे सामाइयप्पहावेण मुणेयव्वं।

वस्तुतः चिंता, शोक, विपत्ति और अभाव के निवारण के लिये कितना ही धन-वैभव और सुख-साधन जुटा लें, भौतिक विद्या पढ़ लें, बौद्धिक विकास कर लें, वैज्ञानिक आविष्कार कर लें, जल-थल-नभ पर आधिपत्य जमा लें अथवा इन सबसे ऊपर उठकर कान छिदवा लें, शिर:मुंडा लें, धुणी रमा लें, गेरुएँ या श्वेत वस्त्र धारण कर लें, वस्त्र मात्र को छोड़ दें, किन्तु जब तक हृदय में समभाव का उदय नहीं होगा तब तक समस्याओं का समाधान न हुआ है और न ही होगा। सामायिक की साधना इन सब समस्याओं का सम्यक् समाधान करती है।

यह तो आप जानते हैं कि यह संसार समरस नहीं है। यहाँ शीत, उष्ण, दिन-रात, कठोर-कोमल, सुख-दुःख एवं जन्म-मरण का भी जोड़ा है। सर्वत्र न सुख है, न दुःख, फिर भी मनुष्य सुख की प्राप्ति, सुख की वृद्धि वाली लालसाएँ पोषित करने की सोच में प्रयत्नशील रहता है। वैसे मनुष्य की सामान्य इच्छाएँ शरीर स्वस्थ हो, साथी अनुकूल हो, हर कार्य में पटुता हो, बुद्धि तीक्ष्ण हो, प्रवचन या वार्तालाप की शैली आकर्षक व मिठास भरी हो, इन सबके अतिरिक्त यदि तत्त्व का ज्ञान भी हो तो सोने में सुहागा ही कहेंगे। इन अनेक कामनाओं की पूर्ति होना या मिलना पुण्यशीलता का परिचायक है। पर इच्छाओं के साथ परिस्थितियाँ भी घेरा किये रहती हैं, वे प्रतिरोध करती हैं, अतः वह पद-पद पर दुःखी होने लगता है। जन्म के साथ रोग का, धन के साथ सात भय का, पद-योग्यता के साथ ईर्ष्या व मनोमालिन्य का कारण जुड़ा है। अतः साधारण व्यक्ति को यह जीवन दुःखों का घर प्रतीत होता है। लेकिन सामायिक की साधना वाले साधक के लिये यह जीवन खेल है। जैसे- बालक क्रीड़ा, विनोद तथा भावी जीवन की तैयारी के लिये खेल खेलते हैं। कल-कारखाना, खेती, व्यापार, उद्योग धंधे प्रारम्भ करने से पूर्व बारीकी से जानकारी का प्रशिक्षण रुचि सहित लेते हैं, फिर भी छोटी से बड़ी तक अगणित समस्याएँ प्रतिदिन आती हैं और उनको सुलझाना पड़ता है। सुलझाते हैं, उस समय निराशा के क्षण भी आते हैं। सोचते हैं- ऐसा खेल खेलते कितने जन्म, कितने युग, कितनी परिस्थितियाँ, पात्र और क्षेत्र बदल गये, लेकिन यह खेल अभी तक चल रहा है। यही चिंतन का मूल विषय है। इस खेल को कहाँ तक खेलते रहने की कामना है? या इस पर विराम लगाना है। यदि विराम लगाना है तो दिशा बदलिये, दशा अपने आप बदल जायेगी। इतनी समता से खेलिए कि जन्म ही नहीं लेना पड़े। निश्चय के साथ-आत्मा का विकास, पूर्णता तथा लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु शेष जीवन का खेल खेलने के लिये सहनशीलता में गति कीजिये। गतिशीलता के लिये सामायिक आवश्यक है। सामायिक का सतत अभ्यास हर समस्या का हल निकालता है। सामायिक की साधना वाला विपरीत परिस्थितियों में भी समभाव तथा सहनशीलता का आश्रय लेकर प्रसन्नतापूर्वक कर्तव्य पथ पर दृढ़ रहता है।

सामायिक का फल तभी मिल सकता है जब सामायिक व्रत निरन्तर किया जाय। यह नहीं कि

सामायिक 1-2 दिन की, फिर छोड़ दी, 8-10 दिन बाद की और फिर महीने भर तक खूटी पर टाँग दी। जिस प्रकार उद्योग धंधा, शिक्षा, रसोई, वृक्ष को लगन के साथ मेहनत करने पर वर्षों सींचने, खाद डालने पर वह फलदायी बनता है। इसी तरह प्रतिदिन समभाव के अभ्यास से विषम भावनाओं का जंग-कचरा-जाला और ज़हर समाप्त होता है। यदि सामायिक का फल पाना चाहते हो तो शिक्षाव्रत से शिक्षा लें कि जो दुःख एवं असमाधि के कारण हैं उन उपाधियों से मुक्त होना है। साधना उन्हीं की सुफल होगी जो समस्त परिस्थितियों में समभाव पर दृढ़ रहते हैं। समता जबरदस्ती लायी जाने वाली चित्त की अवस्था नहीं है, सामायिक सही समझ का परिणाम है। सामायिक के साधक को इस भ्रम से भी बचना चाहिये कि सामायिक/ प्रतिक्रमण वाला कैसा भी पाप करे, उसका पाप छूमंतर हो जाता है। ऐसी सोच सामायिक का मूल्य घटाने वाली है। मात्र निर्जरा अथवा कर्मक्षय के लिये सामायिक आचार का पालन करना है। दशवैकालिक अध्ययन-9 की गाथा 3-4 संकेत कर सावधान कर रही है- “नो इहलोगड्ड्याए आयारमहिद्विज्जा” इस लोक, परलोक एवं सुख समृद्धि, कीर्ति, प्रशंसा आदि की दृष्टि से धर्माचरण नहीं करें। अतः दोषों को टाल, सावद्य प्रवृत्ति से पृथक् हो, निरवद्य प्रवृत्ति के वातावरण में विधि सहित नियमित रूप से साधनापूर्वक सामायिक की आराधना की जाय। सामायिक के साधक को सावद्य प्रवृत्तियों के प्रेरक-कुसंग, कुसम्पर्क, कुसाहित्य-कुदृश्यप्रेक्षण, दुश्चिंतन, दुर्व्यसन, दुर्ध्यान आदि दुष्प्रवृत्तियों से सतत बचते रहना चाहिये। निंदा, प्रशंसा, मान-अपमान एवं सर्व संयोग-वियोग को क्षणिक मान “इदमपि गमिष्यति” (यह भी चला जाएगा) के सूत्र पर आचरण वाला ही स्थितप्रज्ञ समभावी साधक होता है।

सामायिक की साधना केवल धर्मस्थान एवं 48 मिनट तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु इतनी विराट् हो कि जीवन की छोटी-बड़ी प्रत्येक क्रिया, प्रवृत्ति एवं व्यवहार के माध्यम से अन्यों को भी आकर्षित करे, प्रभाव दिखावे। जैसे- सूर्य का प्रकाश, चन्द्रमा की शीतलता, बादलों का पानी, शुद्ध वायु, अग्नि की उष्णता किसी एक क्षेत्र या व्यक्ति के अधिकार की बपौती नहीं है। वैसे ही साधना का प्रकाश किसी एक क्षेत्र या व्यक्ति तक सीमित नहीं, अपितु सर्वव्यापक है। धर्मस्थान में समता और बाहर निकलते ही विषमता। यह सच्चे सामायिक साधक का व्यवहार नहीं। उसे प्रतिकूल परिस्थिति में भी सहनशीलता बढ़ाकर दृढ़ता से सम्यक् व्यवहार करना चाहिए। यदि धर्मस्थान में भी अभ्यास कच्चा रहा, समता की उपासना नहीं कर सका, निद्रा, विषय, कषाय, विषमता को हटा न सका, मन-वाणी-काया को नहीं साध सका तो द्रव्य सामायिक भी भाव सामायिक के लक्ष्य से कोसों दूर है। वास्तविक भान पाने वाले के लिये सामायिक के शब्दों की व्याख्या व अर्थ को भी समझें- वास्तव में सामायिक का अर्थ और उद्देश्य प्राणिमात्र को आत्मवत् समझते हुए समत्व का व्यवहार करना है। सम=समभाव, सर्वत्र, आत्मवत् प्रवृत्ति, आय=लाभ, जिस प्रवृत्ति से, क्रिया से समभाव का लाभ हो, वृद्धि हो, वही सामायिक है। राग-द्वेष के प्रसंगों में मध्यस्थ (सम) रहना, विषम न होना सामायिक है।

समस्त जीवों पर मैत्री रखना साम है और उसकी आय सामायिक है। कई आचार्य ज्ञान-दर्शन-चारित्र

को सम कहते हैं। भगवती सूत्र में भी आत्मा को ही सामायिक कहा है-‘आया खलु सामाइए।’ मोक्षाभिमुखी प्रवृत्ति सामायिक है। गुरुदेव हस्ती के अनुसार दण्ड से अदण्ड में लाने वाली क्रिया का नाम सामायिक है। श्रेष्ठ आचरण को भी सामायिक कहा है। अपने आप में सम हो जाना ही सामायिक है। तत्त्वार्थ टीका के अनुसार- सामायिक एक आध्यात्मिक साधना है। यह बाह्य वैभव, आडम्बर या प्रदर्शन की वस्तु नहीं। गुरुदेव का चिन्तन रहा कि सामायिक में स्वाध्याय आवश्यक है। बिना स्वाध्याय के सामायिक शुद्ध नहीं हो सकती। शास्त्रकारों ने सामायिक को मोक्ष-प्राप्ति का प्रमुख अंग बताया है। उचित समय पर आवश्यक कर्तव्य को भी सामायिक कहते हैं।

उक्त विभिन्न दृष्टिकोणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि सामायिक साधना मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करने वाली बहुआयामी सद्प्रवृत्ति है। सामायिक साधना वाला सामायिक काल में साधु की जीवन-चर्या से साक्षात्कार कर लेता है। इसकी साधना वाला नारकी एवं तिर्यञ्च गति के ताला लगाकर देव गति व मोक्ष गति को प्राप्त करता है।

सामायिक को हम पहले समझें, फिर स्वीकार करें, तो फिर सामायिक करनी नहीं पड़ेगी, स्वतः हो जायेगी। सामायिक सूत्र छह काय के जीवों को अपने समान समझने का रहस्य है। यह सूत्र पाँच इन्द्रियों और छठे मन रूपी छकड़ी के प्रपंच से मुक्त होने का उपाय है। सामायिक का पहला लक्षण आर्त-रौद्र का त्याग है। दूसरा लक्षण सावद्य योगों का त्याग है। पाप और सांप को कभी छोटा नहीं समझना चाहिये। ये दोनों “अण थोवं वण थोवं” के समान हैं। ऋण, व्रण, अग्नि, कषाय एवं बीज जैसे वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं वैसे ही छोटा पाप भी बढ़ते-बढ़ते पर्वताकार हो जाता है। सामायिक का तीसरा लक्षण सर्वेन्द्रिय संयम बताया है। इन्द्रियों के विषय ठग के समान हैं, जैसे-ठग प्रारम्भ में थोड़ा लोभ दिखाकर किसी भोले प्राणी को बुरी तरह मूंड लेता है, उसी तरह इन्द्रियों के लुभावने, मनोरम विषयों के बारे में समझना चाहिये। सामायिक साधना में आत्मशुद्धि का तत्त्व ही अधिक होता है। सर्वप्रथम ‘करेमि भंते! सामाइयं’ से समत्व की प्रतिज्ञा होती है, पश्चात् ‘सावज्जं जोगं पच्चक्खामि’ से निंदनीय वर्णनीय पापों का त्याग होता है तथा इसके पश्चात् आत्मशुद्धि के संदर्भ में ‘पडिक्कमामि, निंदामि गरिहामि तथा ‘अप्पाणं वोसिरामि’ करते हैं, ये चारों साधना रूप शोधन के प्रतीक हैं।

समता के अभाव में की गई सारी साधना प्राण शून्य देह का भार ढोने के समान है। मात्र कपड़े बदलकर, आसन बिछाकर घण्टे भर बैठ जाना, कुछ माला जप, कुछ भजन आदि बोल लेना सामायिक की वास्तविक साधना न होकर आचार्य भगवंत (आचार्य हस्ती) के शब्दों में दस्तूर की सामायिक है। इस औपचारिकता वाली परिपाटी से हटकर गुरुदेव ने सामायिक के साथ ज्ञान साधना (स्वाध्याय) को जोड़ा-फलस्वरूप जो परिणाम आए वे आपके सामने हैं- आज शास्त्रधारी स्वाध्यायियों की विशाल सेना पर्युषण पर्वाधिराज में संत-सतियों से वंचित क्षेत्रों में समय दान के साथ सेवाएँ दे रही है। उनकी दूरदर्शिता वाली सोच ने स्वाध्याय के प्रति जो रुचि, लगन, उत्साह का अंकुर प्रस्फुटित किया है वह आज सभी परम्पराओं में मूर्तरूप हो

चुका है। संकल्प, आदत, स्वभाव और संस्कार के क्रम से मानव जीवन को ध्येय की ओर ले जाने में शिक्षाव्रत बहुत ही सहायक बनते हैं।

भारतीय संस्कृति में मंत्र-जप-ध्यान आदि श्रेष्ठ कार्यों के लिये पूर्व तथा उत्तर दिशा उत्तम मानी गई है। स्थानांग सूत्र एवं विशेषावश्यक भाष्य में भी शास्त्र, स्वाध्याय एवं दीक्षा प्रदान तथा सामायिक, प्रतिक्रमण आदि 13 श्रेष्ठ कार्य एवं धर्म क्रियाएँ पूर्व या उत्तर दिशा की ओर बैठकर करने का विधान है। पूर्व दिशा जहाँ उदय पथ, प्रगति एवं क्रान्ति की सूचक है, वहाँ उत्तर दिशा दृढ़ता व स्थिरता की सूचक है। दिशा का ध्यान रखते हुए सामायिक में सिद्धासन, पद्मासन या पर्यकासन से बैठना चाहिये। मेरुदण्ड सीधा, स्फूर्तिमान तथा मन एवं इन्द्रियाँ अडोल रहें, ऐसा प्रयास अपेक्षित है। निरन्तर और विधिपूर्वक की गई क्रिया ही सफलता की सूचक है। भगवान महावीर का सिद्धान्त ही 'कडे माणे कडे' है। अतः वीतरागता का ध्येय बनाकर साधना के समरांगण में कूद पड़ो। क्या कभी दीपक ने ऐसा रोना रोया कि मेरे पास इतने टन तेल हो, इतने किलो रूई हो, इतना बड़ा आकार हो, तब ही मैं अपनी पूरी शक्ति लगाकर इतने अंधकार से लड़कर पूर्ण प्रकाश कर सकूँगा। दीपक को ऐसे निकम्मे, बेकार शेखचिल्लियों के से मनसूबे बांधने की फुरसत नहीं है। आप सब दीपक से शिक्षा लेकर शिक्षाव्रतों का प्रश्रय लेकर गुणवर्धन का लक्ष्य रखें।

तीर्थेश प्रभु महावीर ने दिशा के साथ भाषा का जो अनमोल स्वरूप दिया वह भी स्तुत्य है। जनसाधारण के मध्य सहज-सरल बोले जाने वाली समझ में आने वाली अर्द्धमागधी भाषा में आगम वागरणा का सूत्र दिया। आज हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि सामायिक साधना देश के किसी भी कोने में हो रही हो या धर्मी भक्त-जन विदेशों में कर रहे हों, उन सबकी भाषा व विधि एक जैसी है। जैन धर्म के साधकों में एकरूपता वाली सामायिक साधना की यह अनूठी मिशाल विशिष्ट पहचान की द्योतक है।

जैन आगमों में सामायिक को छः आवश्यकों में पहला आवश्यक कहा है। ग्यारह अंगों के ज्ञान में (सामाइयमाइयाहिं एकारस अंगाइं) कहकर सामायिक को ज्ञान का सबसे पहला अंग कहा है। श्रावक के शिक्षाव्रतों में भी इसे पहला शिक्षाव्रत कहा है। श्रावक का धर्म अगार है, पाँच अणुव्रतों को स्वीकार कर श्रावक ने महापाप का त्याग किया, हिंसा आदि आस्रवों का आंशिक त्याग किया, तीन गुणव्रतों के द्वारा क्षेत्र की सीमा करने के साथ, उपभोग-परिभोग की वस्तुओं का परिमाण कर अनर्थ के पाप छोड़े, किन्तु इन सबके बावजूद इस त्याग वृत्ति में स्थायित्व तभी आयेगा, जब वह आत्मस्वरूप का 'भेदविज्ञान' कराने वाली सामायिक की आराधना करे, इसीलिये शिक्षाव्रत का उपदेश है। आचार्य हरिभद्र ने- "साधुधर्माभ्यासः शिक्षा" अथवा "पुनःपुन परिशीलनम् अभ्यासः शिक्षा" शिक्षा का अर्थ करते हुए कहा- जो सद्धर्म की शिक्षा दे, ध्येय की प्राप्ति में विशेष सहायक हो और जिसका बार-बार पालन किया जाय उसे शिक्षाव्रत कहते हैं।

सामायिक की दो प्रमुख शिक्षाएँ हैं-

1. पर प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदलना।

2. समागत प्रतिकूलता को हँसते-हँसते सहन कर लेना।

ये दोनों शक्तियाँ समभाव की पराकाष्ठा पर लब्ध होती हैं अर्थात् सामायिक की सम्यक् साधना करने वाले साधक को प्राप्त होती हैं। जब आप विधि सहित सामायिक की साधना करेंगे तभी इसकी प्राप्ति होगी। आपको सामायिक करते-करते कितने वर्ष हो गये हैं? लेकिन आप सामायिक को कितना समझ पाते हैं? संख्या में सैकड़ों-हजारों सामायिक हो गई हैं। लेकिन सामायिक का स्वरूप क्या है, उसकी विधि क्या है? इसकी आराधना में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की शुद्धता कितनी रही है? क्या आपके कुछ ध्यान में आया है? सन्त-सतीगण जब भी सामायिक की प्रेरणा करते हैं तो उनके प्रति श्रद्धा और विनय होने से आप सामायिक कर लेते हैं। कई वर्षों से कर भी रहे हैं और उस सामायिक को स्मरण-भजन-स्वाध्याय के माध्यम से पूरा कर, सामायिक हो गई, ऐसी सन्तुष्टि कर लेते हैं। किन्तु समता की गहराई में जाकर अनुप्रेक्षा के माध्यम से सार निकालने का काम नहीं करते। सामायिक समता का वह सरोवर है, जिसके पास बैठने वाला भी शीतलता का अनुभव करता है, मानसिक शांति के आभास की प्रतीति करता है। सामायिक करने वाला बोले या न बोले, पास बैठने वालों को अनुभव हो कि हमें भी ऐसी ही शांति चाहिये।

वीतराग, सर्वज्ञ, सामायिक साधक भगवन्तों के चरणों में बैठने वाले अपना वैर विरोध तक भूल जाते हैं। यह तभी संभव है, जब इसका मर्म समझकर शुद्धि सहित सामायिक की जाय। शास्त्र का वचन है-“ते साहुणो जे समयं चरंति” अर्थात् साधु वे हैं- जो क्षमा, सहनशीलता, समता का आचरण करते हैं। विश्व के किसी भी देश और प्रान्त में- चाहे अमेरिका, इंगलैण्ड, कर्नाटक, महाराष्ट्र हो, किसी भी वेष में- भगवा कपड़ा, लंगोटी, श्वेत वस्त्र, ननता लिये हो, किसी भी मत या पंथ में- चाहे शैव, रामानुज, बौद्ध, जैन, पारसी हो, किसी भी अवस्था में- बाल, युवा या वृद्ध हो, किसी भी वर्ण में- चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय, ओसवाल, पोरवाल हो; उन सबकी पहचान, परख, कसौटी मात्र एक है कि-वे सब समता के सागर हों।

समता को प्राप्त करने के लिये सामायिक की साधना आवश्यक है। सामायिक की सम्यक् आराधना के लिए चार शुद्धियाँ बताई गई हैं- जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के नाम से जानी जाती हैं। उनको क्रम से समझना, जानना, उपयोग पूर्वक आचरित करना, साधक के लिये आवश्यक है।

द्रव्यशुद्धि-

सामायिक की आराधना में द्रव्यतः साधन औदारिक शरीर है, जो आपको मिला हुआ है। शरीर की शुद्धि का अर्थ नहा-धोकर उसे साफ-सुथरा, सजावट कर रखना नहीं, अपितु सभ्यता एवं विवेक के साथ बैठना, स्थिर रखना, अनावश्यक हलन-चलन नहीं करना है। इससे काया के कुआसन आदि 12 दोष टाले जाते हैं। द्रव्य का दूसरा आशय है- बाहरी पदार्थ अर्थात् नीचे पहनने का चोल पट्टा, धोती, लूंगी, ओढ़ने का दुपट्टा, चदर, कम्बल आदि। जहाँ तक हो सके- पेन्ट, पाजामा, सिले हुए ऐसे वस्त्र जिनका प्रतिलेखन सहजता से नहीं हो सके, काम में नहीं लेना चाहिये। बैठका, मुँहपत्ती, पूंजनी, माला, पुस्तक आदि सामायिक के द्रव्य

साधन हैं। आसन, वस्त्र आदि उपकरण अल्पारम्भी हों। वे कोमल, रोएँदार, गुदगुदे एवं रंग बिरंगे न होकर स्वच्छ सादे होने चाहिये। मुँहपत्ती गोटेवाली, कसीदे वाली न हो तथा गंदी, फटी, बेडौल और बिना नाप की भी नहीं होनी चाहिये। इसी तरह माला भी चाँदी की न हो, खुशबूदार चंदन की महक वाली न हो, जिससे मन बहक जाय। कारण कि द्रव्य मन पर बाहर के द्रव्यों का असर जल्दी होता है, अतः सामायिक में द्रव्य शुद्धि पर भी बल दिया है।

भगवान महावीर के शासन में घी-तेल-धान्य आदि के व्यापारी, मालाकर, प्रजापति आदि कई जाति के श्रावक साधना करने वाले थे। संसार की वेशभूषा में सामायिक करने पर, चिकने कपड़ों की गंध आने पर साधक का मन व्यापार की ओर जा सकता है, धान्य वाले की जेब में धान रहने पर संघट्टा हो सकता है, मालाकार की जेब में फूल रह सकता है, अतः सांसारिक वेश-भूषा हटाकर एकसी सादा वेशभूषा की बात कही गई है। जिससे धार्मिकता की यूनिफार्म नजर आये। जैसे- आरक्षी दल में सेना की, पाठशाला में विद्यार्थी की, चिकित्सालय में चिकित्सक एवं नर्सिंग स्टाफ की, कोर्ट में वकील की वेशभूषा उनकी कार्य पद्धति का स्वरूप दिखाती है। इसी प्रकार साधना-आराधना करने वाले सामायिक के साधक की भी एकसी वेशभूषा गरीब-अमीर का, राजा-महाराजा का, सेठ-साहूकार का, ऊँच-नीच का भेद मिटाकर, भक्ति की भावना बढ़ाकर, समता में सहायक होती है। इस वेशभूषा में साधना करने से परिवार के सदस्य, बाहर से आये मेहमान और किसी प्रयोजन से मिलने वाले दूसरे भाई भी आपको वेशभूषा में देख विक्षेप नहीं करेंगे तथा यदि आप साधकों के बीच सामायिक की वेशभूषा में साधना करते हुए निद्राधीन होकर प्रमाद में जाने लगे, उत्तेजना में आकर तेज बोलने लगे अथवा व्यापार या आरम्भ-सम्भारम्भ की बात करने लगे तो साथी-सहयोगी आपको सावचेत कर देंगे। भाईसाहब! अभी आप सामायिक में हैं, क्या कर रहे हैं? क्या बोल रहे हैं, कैसे नींद ले रहे हैं, क्यों प्रमाद कर रहे हैं? इस जागरण में यह द्रव्य वेश भूषा निमित्त बनेगी।

द्रव्य शुद्धि भाव शुद्धि का कारण है। सुमुख-दुर्मुख की बात सुनकर भावों से भयंकर युद्ध करने वाले राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को मुण्डित मस्तक ने, नरक में जाने वाले अध्यवसायों से हटाकर विशुद्धतम अध्यवसाय में पहुँचा कर केवलज्ञान प्राप्त करा दिया था। रजोहरण और मुखवस्त्रिका के उपकरण देखकर आर्द्रकुमार को अनार्य देश में भी जाति-स्मरण ज्ञान हो गया था। साधु की यही वेशभूषा और चर्या देखकर, राजमहलों में बैठा मृगापुत्र जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त कर साधु बनने को उद्यत हो गया था। द्रव्य-उपकरण विश्वास का कारण है। ऐसा तीर्थंकर भगवान महावीर ने अपनी अन्तिम वाणी उत्तराध्ययन के 23 वें अध्याय की 32 वीं गाथा में केशी गौतम के संवाद में समाधान करते हुए कही- 'लोगे लिंगपयोगणं।' अर्थात् लोक व्यवहार में व्रत का रक्षण करने के लिये लिंग अर्थात् वेश-भूषा विश्वास का कारण है। सामायिक साधक की इस वेशभूषा को देखकर अन्य धर्मो मुस्लिम आततायी भी साधक को स्थान देते हैं, सम्मान देते हैं, यहाँ तक कि छापा मारने (रेड) निरीक्षण करने आये दल के एवं सी.बी.आई. पुलिस के अधिकारी भी बिना निरीक्षण किये लौट जाते हैं। तीसरी बात

यह है कि वेशभूषा साधना-समता में सहयोगी बनती है। जैसे- घोड़ी पर बैठा दूल्हा भी 100 गालियाँ सहन कर लेता है, साधक का वेष पहने हुआ बहुरूपिया भी सोने की मोहरें ग्रहण नहीं करता, महावीर एवं बुद्ध का नाटक करने वाला भी अनेक विपरीतताएँ सहन करता है, इसी तरह मैं भी अभी भगवान महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति स्वीकार कर समता की साधना करने बैठा हूँ, अतः मुझे भी 18 पापों से दूर रहना है, ऐसी मन में दृढ़ता आती है।

जब आप यात्रा की, शयन की, शादी की, खेलने की, व्यायाम की, इन सबकी वेशभूषा अलग रखते हैं तो साधना की वेश-भूषा में लापरवाही क्यों? इन सब पर शायद आपका चिंतन चल सकता है- महाराज इतने बंधन लगायेंगे तो सामायिक करना ही छोड़ देंगे। पर भाई! घर के, दुकान के, मिलने-जुलने के आवश्यक कार्यों को छोड़कर जब आप साधना के लिये समय ही निकालते हैं तो आधा या पाव फल प्राप्त करने के बजाय, आप उसका पूर्ण लाभ उठा सकें, इस हेतु द्रव्य-स्वरूप की शुद्धि की बात की जा रही है।

यदि समता भाव प्रारम्भ में न भी आ पाये, तब भी द्रव्य सामायिक लाभदायक है। कारण कि उतने समय तक बाहर के हिंसा, झूठ आदि पाप से आप बच गये। दूसरे, देखने वालों में भी श्रद्धा-प्रतिष्ठा भी जमी। भावरूप लाख नहीं मिले तब भी द्रव्य रूप हजार अच्छे हैं। महल नहीं मिला तो फुटपाथ की बजाय झोंपड़ी भी अच्छी लगती है।

क्षेत्र शुद्धि-

किस स्थान पर बैठकर सामायिक की साधना करनी चाहिये? शास्त्र में श्रावक की साधना के लिये स्वतंत्र पौषधशाला का उल्लेख मिलता है। आनन्द, शंख पुष्कलि आदि श्रावक आत्मगुणों के पोषण के लिये पौषधशाला में सामायिक करते थे। सभी के लिये ऐसी अनुकूलता संभव नहीं है, उस स्थिति में जहाँ कोलाहल न हो, आरम्भ-समारम्भ एवं विकार का वातावरण न हो, चित्त में चंचलता नहीं आवे, ऐसे समभाव में सहायक क्षेत्र को उपादेय माना गया है। इसे स्थानक, उपाश्रय, सामायिक-स्वाध्याय भवन, साधना-आराधना स्थल किसी भी नाम से कहा जा सकता है। आज ये स्थल भी 10-20 चित्र लगाने से, दानदाताओं की नामावली से, सावद्य व्यवहार में काम लेने से, साधना में सहायक नहीं रहे हैं, तो घर-बंगलों की स्थिति भी अलग तरह की है। वहाँ डाइनिंग रूम, ड्राइंग रूम, किचन, बाथरूम, बेडरूम ये सब तो मिल सकते हैं, गार्डन व गैरेज, कर्मचारियों के रूम भी मिल जायेंगे, लेकिन साधना-आराधना का कक्ष (प्रेयर रूम) नहीं मिलता। जब आत्मशांति के लिये अमीरों के यहाँ ऐसे कक्ष नहीं मिलते, तो सामान्य स्थिति वालों के पास आवास की न तो बड़ी जगह होती है, न ही धन दौलत। अतः वे अपने घर में अलग से साधना कक्ष बनाने की स्थिति वाले नहीं होते। इसका कारण? साधना के प्रति श्रद्धा नहीं जगी है। कर्नाटक की ओर विहार करते हमने ऐसे सामान्य स्थिति वाले घर भी देखे हैं- जहाँ मात्र रसोई के अलावा दो कमरे हैं, फिर भी वे एक हाथ जितनी जगह में शिवलिंग स्थापित कर भक्ति करते देखे गये हैं। सामान्य साधकों के लिये सार्वजनिक एकान्त स्थान सामायिक/ पौषध की साधना के लिए मिलते हैं। आज कहीं-कहीं पर साधना-आराधना का लक्ष्य हटाकर साज-सज्जा से युक्त चित्रकारी वाले

दानदाताओं के नाम से भरी हुई दीवारों वाले स्थानक बनाये जा रहे हैं, जो साधना के लिए उचित नहीं हैं। धर्मस्थान परिग्रह का स्थान नहीं बनना चाहिये। कारण कि क्षेत्र भी समता की साधना में सहयोगी होता है। एक-एक क्षेत्र का ऐसा प्रभाव है कि वहाँ गाय और बैल जैसे जानवर भी शेर का मुकाबला करते हैं। मात्र टीले पर बैठने से छोटे बालक भी ज्ञानियों, अनुभवियों जैसा न्याय कर देते हैं। साधक जहाँ साधना करते हैं वहाँ शेर, हिरण भी वैर भूलकर एक साथ बैठते हैं, इसके विपरीत लबान जैसे क्षेत्र में श्रवण जैसे भक्त को भी माता-पिता से श्रमदान मांगने की कुमति जग जाती है।

आचार्य भगवंत (पूज्य हस्तीमल जी महाराज) के श्री चरणों में जोधपुर से आगोलाई जाने का प्रसंग बना। एक स्थान पर जहाँ सैनिकों का बारूद रखा हुआ था, बम आदि विस्फोटक पदार्थ थे वहाँ उनकी सुरक्षा हेतु अग्नि का समारम्भ तो दूर, धूम्रपान भी निषिद्ध था। हमारे भीतर भी कषायों का बम और विषयों का बारूद भरा हुआ है। अतः घर में आरम्भ-समारम्भ वाले स्थान से बचकर विशुद्ध क्षेत्र जहाँ चित्त में चंचलता नहीं आती हो, विषय विकार नहीं जगते हों, कोलाहल से मन चञ्चल नहीं बनता हो, ऐसे समभाव के क्षेत्र उपादेय हैं, ऐसे स्थान पर सामायिक करनी चाहिये, कारण कि-समभाव की साधना करने वाले साधक को समाधि में सहायक क्षेत्र की आवश्यकता रहती है, जैसे- जब तक निर्भय होकर उड़ना नहीं आता, चिड़िया एवं कबूतर के बच्चे को घोंसलें में रखा जाता है, लालटेन की लौ को काँच लगाकर रक्षण किया जाता है, ब्रह्मचर्य पालन हेतु नवबाड़ से उसका रक्षण किया जाता है, अमूल्य रत्नों को तिजोरी में रखा जाता है, रोगी को निरोग करने के लिये पथ्य का पालन करवाया जाता है और विद्यार्थी भी चौराहे पर बैठने के बजाय एकान्त में बैठकर विद्यार्जन करता है, इसी तरह समभाव की साधना करने वाले साधक को निरवद्य, शान्त स्थान में रहना आवश्यक है।

सुना है, जिसे साँप डस गया हो, उसे मन्त्रोपचार एवं औषधियों से निर्विष बनाये जाने के बाद भी जब बादल आते हैं तो विष जोर पकड़ता है, व्यक्ति में पागलपन उत्पन्न होता है, कभी वह मूर्च्छित भी हो जाता है, वैसे ही गृहस्थी के घर में पारिवारिक जनों के संग में अर्थात् आरम्भ और विषय-कषाय के स्थान में सामायिक करने वाले साधक के मन में विषय विकार जगते हैं, मोह जगता है और वह भी समभाव से अस्थिर हो पागलपन करने लग जाता है, अतः क्षेत्र-शुद्धि आवश्यक कही गई है।

शान्त, एकान्त स्थान से शास्त्रकारों का अभिप्राय है कि धर्म का बीज, हृदय का खेत, बोने वाले सद्गुरु एवं स्वाध्याय की खाद, इतना होने पर भी यदि समभाव का अंकुर नहीं लगता है तो यही समझना चाहिये कि हृदय के खेत की भूमि अर्थात् साधना का क्षेत्र विपरीत है। आगमों के अन्तर्गत सामायिक की साधना को श्रेष्ठतम साधनाओं में माना है। महिमा बताते हुए कहा है-

दिवसे दिवसे लक्खं देइ, सुवण्णस्स खंडियं एगो।

एगो पुण साम्माइयं, करेइ न पहुप्पए तस्स॥

लक्ष मुद्राओं का दान एक सामायिक की समानता नहीं कर सकता।

काल शुद्धि-

दशवैकालिक अध्ययन 5 उद्देशक 2 गाथा 4 में- 'काले कालं समायरे' वाक्य है जिसका आशय है कि जिस समय जो कार्य करणीय हो, उसी समय में उस कार्य को सम्पन्न करें। अतः साधक को योग्य समय का विचार करके ही सामायिक की साधना करनी चाहिये। ऐसी ही सामायिक निर्विघ्न सम्पन्न होती है। कई महाशय उचित-अनुचित समय का विचार किये बिना सामायिक करने बैठ जाते हैं। फल यह होता है कि उनका मन अपेक्षित शांति की अनुभूति नहीं कर पाता। संकल्प-विकल्प की उधेड़बुन में उनकी सामायिक-साधना गुड़-गोबर हो जाती है। जहाँ तक हो सके सामायिक-साधना सूर्योदय से पूर्व या पश्चात् के समय में किये जाने की भावना रखें। वैसे सामायिक-साधना के लिये कोई काल बुरा नहीं है, सद् कार्यों के लिये हर समय शुभ है।

भगवान महावीर ने निशीथ सूत्र 10.37 के माध्यम से साधुओं के लिये कथन किया है- "जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा णच्चा न गवेसइ न गवेसंतं वा साइज्जइ.....आवज्जइ चउम्मासियं परिहारठाणं अणुग्घाइयं।" यदि कोई साधु, बीमार साधु की सेवा, सार संभाल को छोड़, किसी अन्य कार्य में लग जाए तो उसको गुरु चौमासी का प्रायश्चित्त आता है। जब साधु के लिये ग्लान-वृद्ध रोगी की सेवा का विधान है तब सांसारिक मनुष्य का दायित्व तो परिवार के प्रति और भी अधिक है। वह वृद्ध, असहाय, रोगी आदि की सेवा कर उपकार से उन्नत होने का लक्ष्य रखे। अतः गृहस्थ सेवा आदि का समय टाल कर ही सामायिक करे। बीमार को छोड़ सामायिक करना उचित नहीं। वृद्ध, रोगी अपनी आवश्यकता से पुकारता रहे, और आप कहो कि मैं सामायिक में हूँ, सेवा के समय ऐसी साधना में आपकी समता व सहनशीलता कितनी सुरक्षित रह सकेगी, विचारणीय है। सर्वप्रथम आपका उत्तरदायित्व है कि परिवार व वृद्ध को संभालें, यदि आपके नियम ही है तो अन्य व्यवस्था कर ही सामायिक करें। काल शुद्धि से तात्पर्य यह है कि जिस समय में अन्य कोई विशिष्ट कार्य नहीं हो एवं आप स्वभाव में, शान्तता से आत्मभावों में रमण कर सकें, साधना के लिये वही काल श्रेष्ठ है।

भाव शुद्धि-

मन-वचन-काया की शुद्धता बनी रहना ही भाव शुद्धि है। मन की चंचलता, वाणी की चपलता, कायिक असंयतता को उपयोग सहित तजकर भावशुद्धि के समीपस्थ स्थित होना है, ऐसे ही महापुरुषों का जीवन आकर्षण का चुम्बकीय केन्द्र होता है- पूज्य गुरुदेव के बारे में कहे शब्द- "मनस्येकं, वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्" कितने सटीक हैं। "मन-वचन-कर्म तीनों में एकता रखने वाले महात्मा से सब प्रभावित होते हैं।"

हम शुद्धि को मन, वचन एवं काया की अपेक्षा भी समझें।

(1) मनःशुद्धि- मन की गति विचित्र है, मन ही मनुष्यों के कर्म-बंध और मोक्ष का कारण है। संत लोगों का काम उचित-अनुचित का ध्यान दिलाकर सर्चलाइट दिखाना है। बुद्धिवादी लोग कहते हैं कि मन में अशांति के समय सामायिक नहीं करनी चाहिए। ऐसा तर्क करने वालों को ध्यान देना चाहिये कि दवा, रोग की स्थिति में ही

ली जाती है, वैसे ही राग और विकारों की दशा में शान्ति व मुक्ति (छुटकारा) पाने के लिये सामायिक की आराधना आवश्यक है। मन के बाहर जाने का सबसे बड़ा कारण राग है, इसलिये इसे कम करो, राग कम करने का उपाय भी है- “बाहरी पदार्थों को अपना मानना छोड़ दीजिये।” आप में से कौन-कौन ऐसा साहस वाला है, जिनका मन पर नियंत्रण है? जिनका मन नियन्त्रित है, उनकी इन्द्रियाँ विषयों में आकर्षित नहीं होती। मन यदि सधा हुआ है तो आपको जैसा जितना मिलेगा, उसी में संतोष कर लोगे। मात्र तन और वाणी से तो क्रिया होती रहे और मन कहीं अन्यत्र भटकता रहे तो उसे द्रव्य क्रिया समझिये। मानसिक दुर्बलता से ही मनुष्य सांसारिक पदार्थों की ओर खिंचता है, गाँठ बांधकर रखिए। अस्थिर मन से सामायिक व्रत की बराबर साधना नहीं होती। जिनके मन के विकार निकल गये, गुरुदेव ने उनको श्रमण व सुमन कहा है। मन के विकारों का वेग सबसे तीव्रतम होता है। वैज्ञानिकों के अनुसार एक सैकण्ड में प्रकाश की गति 1,80,000 मील, विद्युत की 2,88,000 व विचारों की गति 22,65, 120 मील तक है। इस मन को पाँचों इन्द्रियों का राजा कहकर सम्बोधित किया गया है। यह आकर्षण-विकर्षण, इष्ट-अनिष्ट, योग्य-अयोग्य, कार्य-अकार्य में भेद समझे बिना उनमें लिप्त या रचा-पचा रहता है।

लोभ और अज्ञान मानसिक चंचलता को बढ़ाने वाले हैं। इस चंचलता को घटाने के लिये मन की दिशा को बदलने के लिये एकाग्रता से सामायिक कीजिये। मन बदल जाता है तो जीवन बदलते देर नहीं लगती। मन-वचन-काय योग की शुभ प्रवृत्ति से शुभ कर्मों का बंध होता है। सामायिक और स्वाध्याय की ललक व अभ्यास विषम भावों से हटाकर मन को समभाव की सरिता में अवगाहन का अवसर प्रदान करते हैं। देव, गुरु एवं धर्म की अविनय आशातना नहीं करते हुए भक्तिभाव पूर्वक यदि सामायिक की साधना की जायेगी तो अवश्य ही मन की शुद्धता बढ़ती जाएगी।

(2) वचन शुद्धि- मन एक गुप्त एवं परोक्ष शक्ति है, परन्तु वचन शक्ति तो प्रकट है। उस पर प्रत्यक्ष अंकुश लगाकर हिताहित परिणाम का विचार कर ही बोलना चाहिए। वाणी का संयम, तन का संयम, मन का संयम ही हमारी आत्मशुद्धि में सहायक होता है। गुरुदेव के शब्दों में- “विचार की भूमिका पर ही आचार के सुन्दर महल का निर्माण होता है।” अतः साधक का कर्तव्य है कि वह सामायिक काल में सामायिक व्रत की स्मृति रख वचन को गुप्त रखने का पूरा विवेक रखे- वचनों को गुप्त रखने का आशय- “कुवयण, सहसाकारे, सच्छंदं, कलहं च। विगहा, विहासोऽसुद्धं निरवेक्खो मुणमुणा दोसा दस” से है। क्रोध-मान-माया-लोभ के वशीभूत हो अतिशयोक्तिपूर्ण, चापलूसी भरे, दीन व विपरीत अप्रियकारी वचनों का वर्जन कर स्वाध्याय में रत रहेंगे, तो वचन शुद्धि बनी रह सकेगी। तन का संयम रोग से और वाणी का संयम कलह से बचाता है। संसार की समस्त वस्तुएँ बनने पर विनष्ट हो जाती हैं, किन्तु उत्तम जीवन एक बार बना लिया तो वह विनष्ट नहीं होता। इसके लिये शारीरिक और वाचिक संयम आवश्यक है। यदि इन दोनों पर संयम कर लिया तो मन आसानी से साधना की ओर उन्मुख हो जायेगा। मौन साधना, कम बोलना, आवश्यकता होने पर थोड़े शब्दों में नाप तोलकर

शिष्टता के साथ भाव प्रकट करना ये सब वचन शुद्धि के सहायक कारण हैं। ज्यादा कार्य करने वाला हमेशा कम बोलने वाला ही होगा। आप भी परिमित एवं हितकारी सुभाषित वचनों का आश्रय लेकर दाक्षिण्य भावी बनें, ऐसी मंगल भावना है।

(3) कायशुद्धि- कायशुद्धि से तात्पर्य शारीरिक शुद्धि से नहीं, अपितु कायिक संयम से है। आसन विजय, दृष्टि विजय और मन विजय- ये तीनों प्रकार की साधनाएँ सामायिक में आवश्यक हैं। सामायिक में उचित व स्थिर आसन से बैठने से एकाग्रता का वर्धन होता है। उठने-बैठने, खड़े होने व हाथ पैर को अनावश्यक हिलाने-डुलाने जैसी प्रवृत्ति सामायिक के समय में नहीं हो। इसके लिए काया के 12 दोषों को टालने का खयाल रखना अपेक्षित है। बाह्य आचरण ही आन्तरिक शुद्धि का दर्पण है। स्थानांगसूत्र के तृतीय ठाणा में प्रभु ने स्पष्ट कहा है- “मणसुप्पणिहाणे, वयसुप्पणिहाणे, कायसुप्पणिहाणे” - हर मनुष्य के पास मन-वचन और काया के सुप्रणिधान की तीन निधियाँ हैं- जो नवनिधियों की दाता हैं। फिर भी मानव अपनी क्षमता पर विश्वास नहीं कर रहा। तन योग से, मनोयोग से और वाणी योग से सामायिक की साधना की जाए तो अनन्त-अनन्त कर्म समाप्त हो सकते हैं। आप सब मात्र सुनकर ही नहीं रह जाएं, अपितु कुछ कर सकने का, आगे बढ़ने का भी संकल्प करें। सामायिक की साधना का चरम एवं परम लक्ष्य रखें। इससे मन भी अदण्ड बन जायेगा। वचन भी अदण्ड बन जायेगा और काया भी अदण्ड बन जायेगी।

सामायिक का मूल लक्ष्य विषय कषाय घटाकर समभाव की प्राप्ति है। ज्ञान पूर्वक समता भाव किसी वेश, क्षेत्र और समय में आ सकते हैं। यथा-भरत चक्रवर्ती को अनित्य भावना से आरिसा भवन में केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इलायची कुमार को डोरी पर नाचते विकार भाव नष्ट होकर समता स्वभाव की प्राप्ति हो गई। घाणी पीले जाते हुए भी द्वेष-क्रोध का दावानल लगाने की बजाय पूर्ण समभाव की प्राप्ति हो गई। तात्पर्य यह है कि विशिष्ट भाव वाले साधकों के लिये द्रव्य, क्षेत्र और काल की बाहरी शुद्धि आवश्यक नहीं है। लेकिन सामान्य साधकों के लिये समता भाव की प्राप्ति हेतु भाव शुद्धि के लिये ही द्रव्य-क्षेत्र-काल की शुद्धि आवश्यक मानी गई है। कारण कि हर व्यक्ति स्थूलिभद्र की तरह वेश्या के आकर्षक आंगन रूप क्षेत्र, षट्स भोजन रूप द्रव्य के मिलने पर शील रूप स्वभाव में स्थिर नहीं रह सकता है। उन्होंने समभाव की पूर्णता को, उसके शिखर को पा लिया था। यदि समभाव की प्राप्ति नहीं हुई हो तो व्यक्ति कितना ही तीव्र तप करे, जप करे, कितनी ही क्रिया पाले, मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। सामायिक के बिना न कभी मोक्ष हुआ है, न वर्तमान में हो रहा है और न ही भविष्य में होगा।

आप तो मन बदलने के लिये, कथाओं को जीतने के लिये सामायिक साधना में रत रहने का अभीष्ट लक्ष्य रखिये। एक दिन मंजिल तक पहुँचने में अवश्य समर्थ होंगे....इन्हीं मंगल भावों के साथ।



श्रमण की प्रमुख विशेषताएँ

आचार्य श्री विजयरज जी म. सा.

आगम में वर्णित श्रमण की विभिन्न विशेषताओं को आचार्य श्री ने इस आलेख में 24 लक्षणों के रूप में सुन्दर रीति से प्रस्तुत किया है। एक प्रकार से श्रमण के सम्बन्ध में आगमों का निचोड़ इस आलेख में आ गया है। -सम्पादक

जीवन के दो रूप हैं- एक बाह्य तथा दूसरा आन्तरिक। बाह्य रूप पहचाना जाता है, नाम, रूप-रंग, आकार-प्रकार, वेशभूषा, अलंकरण इत्यादि से। आन्तरिक रूप पहचाना जाता है, व्यक्तित्व से। व्यक्तित्व का निर्माण शुभ-विचार, आचार और व्यवहार से होता है। श्रमण जीवन का आन्तरिक रूप उसके दिव्य गुणों से पहचाना जाता है। “लोगे लिंग पओयणं” यह लिंग अथवा वेशभूषा लोक प्रतीति के लिए होती है। आम व्यक्ति श्रमण की वेशभूषा से श्रमण को पहचानता है। पहली पहचान व्यक्ति का वेश-परिवेश है तो आगे की पहचान उसके उदात्त गुण हैं।

श्रमण कौन है? इस प्रश्न का उत्तर हमें प्रश्नव्याकरण सूत्र से मिलता है “समे य जे सव्वपाणभूएसु से हु समणे” जो समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखता है, वस्तुतः वही श्रमण है। समत्व और श्रमणत्व दूध और मलाई की तरह परस्पर अनुबन्धित हैं। हम यहाँ श्रमण के चौबीस लक्षणों पर विचार करेंगे।

श्रमण का पहला लक्षण है-‘अणारम्भो।’ आरम्भ यानी सभी प्रकार की हिंसा से मुक्त। श्रमणत्व का सम्बन्ध समत्व से है और समत्वशील श्रमण किसी भी तरह की हिंसा-पापारम्भ नहीं कर सकता, करा नहीं सकता और करते हुए का अनुमोदन नहीं कर सकता। उसका आदर्श होता है-“वयं च वित्तिं लब्धामो ण य कोइ उवहम्मइ।” हम श्रमण जीवनोपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति इस प्रकार करेंगे कि जिससे किसी को भी कष्ट न हो, क्योंकि सुख का भोगी दुःख का भागीदार होता है। अपने सुख के लिए अगर हमने किसी को कष्ट पहुँचाया तो यह उसको कष्ट नहीं, स्वयं को कष्ट पहुँचाने के समान है। आचारांग सूत्र में प्रभु फरमाते हैं-

तुमं सि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मण्णसि ।

तुमं सि नाम तं चेव जं अऊजावेयव्वं ति मण्णसि ।

तुमं सि नाम तं चेव जं परियावेयव्वं ति मण्णसि ।

जिसे तू मारना, शासित करना और परिताप देना चाहता है, वह और कोई नहीं, तू ही है, क्योंकि स्वरूप

दृष्टि से सभी जीव समान हैं। यह अद्वैत भावना ही श्रमण के अहिंसक या अनारम्भक होने की मूलाधार है। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है ॥

श्रमण का दूसरा लक्षण है- 'अपरिग्रहो।' किसी भी प्रकार का संग्रह या ममत्व न रखने वाला श्रमण होता है। श्रमण अधिक मिलने पर संग्रह न करे, क्योंकि संग्रह संघर्ष का कारण बनता है। सूत्रकृतांग सूत्र में कहा है-"परिग्रह-निविट्टाणं वेरं तेसिं पवड्ढइ" जो संग्रहवृत्ति में फँसे हैं, वे संसार में अपने प्रति वैर ही बढ़ाते हैं और फिर "आरम्भपूर्वको परिग्रहः" परिग्रह बिना आरम्भ और हिंसा के नहीं होता। हिंसा और परिग्रह का कार्य-कारण सम्बन्ध है। श्रमण के लिए प्रभु दशवैकालिक सूत्र में फरमाते हैं-"जो सदा संग्रह की भावना रखता है, वह श्रमण नहीं; श्रमण के वेश में गृहस्थ ही होता है" इसलिए श्रमण को अपरिग्रह भावना से संवृत होकर लोक में विचरण करना चाहिए। इच्छामुक्ति की साधना श्रमण जीवन की विशिष्ट साधना है, जो अपरिग्रही बनने से पूर्ण होती है। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है ॥

श्रमण का तीसरा लक्षण है- 'इरियासमिण्ण' चलना जीवन व्यवहार की आवश्यक क्रिया है। इस क्रिया को श्रमण जागरूकता पूर्वक सम्पन्न करता है। प्रश्न पूछा गया-'कहं चरे?' अर्थात् कैसे चलें, जिससे पाप कर्म का बंधन न हो। इसका उत्तर दिया गया-'जयं जरे' अर्थात् जागरूकता के साथ चलें। जागरूकता ही अप्रमत्तता की प्रतीक है। आचारांग में कहा है-"जे पमत्ते गुणट्ठिण्ण से हु दंडेत्ति पवुच्चइ" जो विषयासक्त है, वह निश्चय ही जीवों को दण्ड (पीड़ा) देने वाला है। श्रमण जागरूक होता है इसलिए वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र की विशुद्धता से चले अथवा उसके लिए प्रयत्नशील रहे। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है।

श्रमण का चौथा लक्षण है- 'भासासमिण्ण' श्रमण बोलते समय सत्य-असत्य, निर्दोष-सदोष, सावद्य-निरवद्य वचनों का पूर्ण विवेक रखकर बोले। हिंसा-द्वेष-क्लेश एवं निश्चयात्मक वचन न बोले। आचारांग सूत्र में कहा-"अणु-वीइभासी से निग्गंथे" जो विचारपूर्वक बोलता है, वही सच्चा निर्ग्रन्थ-श्रमण है। इसी तरह "वइज्ज बुद्धे हियमाणुलोमिय" बुद्धिमान ऐसी भाषा बोले जो हितकारी हो और अनुलोम हो यानी सभी को प्रियकारी हो। आत्मवान श्रमण दृष्ट-अनुभूत, परिमित, संदेहरहित, परिपूर्ण (अधूरी, कटी-छँटी बात नहीं) और स्पष्ट वाणी का प्रयोग करे, क्योंकि भाषा ही भावों का दर्पण होती है, किन्तु यह ध्यान रहे कि वह वाणी वाचालता से रहित हो तथा दूसरों को उद्विग्न करने वाली न हो। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है ॥

श्रमण का पाँचवाँ लक्षण है- "एसणासमिण्ण" आहार, वस्त्र पात्रादि ग्रहण करने तथा उनका उपयोग करने में निर्दोषता का विवेक रखे। "आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं" श्रमण आहार की इच्छा करे, क्योंकि आहार शरीर का आधार है। किन्तु वह आहार कैसा हो? वह आहार मित और एषणीय हो। एषणीय आहार जीवन यात्रा और संयमयात्रा में सहयोगी होता है। परिमित और एषणीय आहार से न किसी प्रकार का विभ्रम पैदा होता है और न धर्म की भ्रंशना। दशवैकालिक सूत्र में कहा है-"महुगारसमा बुद्धा, जे भवंति

अणिस्सिया” अर्थात् आत्मद्रष्टा श्रमण मधुकर के समान होते हैं। वे कहीं किसी एक वस्तु या व्यक्ति से प्रतिबद्ध नहीं होते। जहाँ रस-गुण यानी जीवन-निर्वाह के लिए एषणीय आहार मिलता है, वहीं से ग्रहण कर लेते हैं। बृहत्कल्प भाष्य की 1331 वीं गाथा में कहा है-

अप्पाहारस्स न इंदियाइं विसएस्सु संपत्तन्ति ।

नेव विलम्भइ तवस्सा, रस्सिएस्सु न सज्जए यावि ॥

जो अल्पाहारी होता है, उसकी इन्द्रियाँ विषयभोग की ओर नहीं दौड़तीं, तप का प्रसंग आने पर वह क्लान्त नहीं होता और न ही सरस आहार में आसक्त होता है। इसी तरह निशीथभाष्य 4154 में कहा है-

मोक्ख पस्साहण हेउ, पाणादि तप्पस्साहणो देहो ।

देहदूठा आहारो लेण तु कालो अणुण्णाओ ॥

वैसे ज्ञानादि मोक्ष के साधन हैं, परन्तु उन ज्ञानादि को साधने में देह ही सहायक है। देह का साधन आहार है, अतः श्रमण साधक को समयानुकूल आहार करने की अनुज्ञा दी गई है। परन्तु सच्चा साधक “नाइमत्त पाणभोयण- भोई से णिग्गंथे” (आचारांग) आवश्यकता से अधिक भोजन नहीं करता है। ऐसा ब्रह्मचर्य का साधक सच्चा श्रमण निर्ग्रन्थ है। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान् है!!

श्रमण का छठा लक्षण है-“आयाणभंडनिक्खेवणासमिए।” श्रमण अपनी निश्रा में रहे हुए वस्त्र-पात्रादि उपकरणों को लेने, रखने, उठाने में पूर्ण विवेक रखे, क्योंकि “विवेगे धम्ममाहु” प्रभु ने विवेक में ही धर्म कहा है। अयतना से रखना, उठाना, लेना-देना आदि जीव-विराधना के साथ आत्मविराधना का भी कारण बन सकता है। श्रमण की हर क्रिया अहिंसा को केन्द्र में रखकर होती है। दैनंदिन व्यवहार में अहिंसा का दीप प्रज्वलित रहना चाहिए, ताकि जीव विराधना से बचा जा सके। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है।

श्रमण का सातवाँ लक्षण है-“उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणपरिद्धावणिया-समिए।” अर्थात् श्रमण उच्चारदि परिष्ठापन योग्य वस्तुओं के परिष्ठापन में विवेक रखे। अविवेक से किया गया कार्य अशोभनीय होता ही है, और जिनशासन की अवहेलना करने वाला भी बन जाता है। अतः श्रमण को शुद्धाचार का पालक, पोषक एवं संरक्षक बनकर अपनी हर प्रवृत्ति को संयम की परिधि में ही सम्पन्न करना चाहिए। “अप्पा हु खलु सययं रक्खिअव्वो” अपनी आत्मा को पापों से सतत बचाये रखना चाहिए। कहा गया है- “भावे य असंजमोसत्थं” भावदृष्टि से संसार में असंयम ही सबसे बड़ा शस्त्र है। संयम अशस्त्र है और असंयम शस्त्र है। जो एक असंयम से बचता है वह सारे शस्त्रों से बच जाता है। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है ॥

श्रमण का आठवाँ लक्षण है-“मणसमिए” श्रमण अपने मन को सदा शुभ भावों में प्रवृत्त रखे।

ध्यान, मौन, स्वाध्यायादि से मन शुभ भावों में रमण करता है। दशवैकालिक चूर्णि में कहा है- “मणसंजमो णाम अकुसलमणनिरोहो, कुसलमणउदीरणं वा” अर्थात् अकुशल मन का निरोध और कुशल मन का प्रवर्तन ही मन का संयम है। उत्तराध्ययन सूत्र के तेईसवें अध्ययन में केशीश्रमण से गौतम स्वामी कहते हैं-

मणो साहसिओ भीमो, दुदुठस्सो परिधावड्ढ।

तं सम्मं तु णिणिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कथंणं ॥

यह मन बड़ा साहसिक, भयंकर और दुष्ट घोड़ा है, जो बड़ी तेजी से चारों ओर दौड़ रहा है। मैं धर्मशिक्षा रूपी लगाम से उसे अच्छी तरह वश में किए हुए हूँ। धर्मशिक्षा की लगाम लगाये बिना मन संयम में प्रवृत्त नहीं हो सकता, इस सत्य को समझने वाला श्रमण मनसमित होता है। आचारांग में कहा है- “मणं परिजाणइ से णिण्णंथे” जो अपने मन को अच्छी तरह परखना जानता है, वही सच्चा निर्ग्रथ श्रमण होता है। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है ॥

श्रमण का नौवाँ लक्षण है- “वयसमिए” वचन संयम में प्रवृत्त रहने वाला श्रमण होता है। ऐसा श्रमण कभी हास्य-भय-द्वेष-क्लेशकारी वचन नहीं बोलता और बोलने से पहले “अणुविचिंतितया वियागरे” सोच-विचार कर बोलता है। बोलने से पहले सोचना समझदारी है और बोलने के बाद सोचना नासमझी है। हित-मित-मृदु और विचारपूर्वक बोलना न केवल वाणी का संयम है, बल्कि वाणी का विनय भी है। ऐसा वचन संयम और वाणी विनय श्रमण अपने जीवन में धारण करते हैं। “नाइवलं वएज्जा” सूत्रकृतांग में साधक के लिए कहा गया है कि वह असमय में न बोले, क्योंकि असमय में एवं अधिक बोलना वाचालता है और वाचालता सत्य वचन का विघात करने वाली है। वचन समिति से समित श्रमण निरवद्य बोलकर जिनशासन की महती प्रभावना करता है। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है ॥

श्रमण का दसवाँ लक्षण है- “कायसमिए” श्रमण काया की प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाये, उन्हें असंयमकारी प्रवृत्तियों में न लगाये, बल्कि तप-संयम में अपनी काया को समर्पित कर दे। आचारांग में कहा है- “एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरणं” साधक आत्म को शरीर से पृथक् जानकर भोगलिप्त शरीर को धुन डाले। “कसेहिं अप्पाणं जरेहिं अप्पाणं” अपनी काया को कृश करे, अपनी काया को जीर्ण करे। तन-मन को हल्का करे, भोगवृत्ति को जर्जर करे। इस आगम-आज्ञा को सन्मुख रखकर श्रमण काया के ममत्व का व्युत्सर्ग करे और इस काया को तप में लगाए। कहा है-

बलं थामं च पेहाए, सद्धम्मारोग्गमप्पणो।

खेत्तं कालं च विण्णाय, तहप्पाणं निजुंजए ॥

अर्थात् अपना बल, दृढ़ता, श्रद्धा, आरोग्य तथा क्षेत्र-काल को देखकर साधक अपनी आत्मा को तपश्चर्या में लगाए। यही काय-संयम इंद्रियों की दासता से मुक्ति दिलाता है। हे श्रमण! इस अर्थ में सचमुच में तू महान है ॥

श्रमण का ग्यारहवाँ लक्षण है- “मणगुत्ते” अशुभ मन का निरोध करना श्रमण की मनोगुप्ति है। मनोगुप्ति से ही अशुभताओं का वर्जन होता है और चित्त की निर्मलता प्राप्त होती है। दशाश्रुतस्कंध के अनुसार “णेमचित्तं समादाय, भुज्जो लोयंसि जायइ” निर्मल चित्त वाला श्रमण संसार में पुनः पुनः जन्म नहीं लेता और निर्मल चित्त वाला ही ध्यान की सही स्थिति को प्राप्त करता है। दशाश्रुतस्कंध 5/1 के अनुसार “ओयं चित्तं समादाय, ज्ञाणं समुप्पज्जइ। धम्मे हिओ अविमणे, णिव्वाणमभिगच्छइ॥” चित्तवृत्ति के निर्मल होने पर ही ध्यान की सही अवस्था प्राप्त होती है। जो बिना किसी विमनस्कता के निर्मल मन से धर्म में स्थित है, वह निर्वाण को प्राप्त करता है। मनोगुप्त श्रमण के संकल्प-विकल्पों के आँधी-तूफान थम जाते हैं और निराकुलता में आनन्दानुभूति होने लगती है। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है।

श्रमण का बारहवाँ लक्षण है- “वयगुत्ते” अशुभ वचनों का निरोध करने वाला श्रमण है। वचनगुप्ति से निर्विचारता का विकास होता है। निर्विचारता से निर्विकारता बढ़ती है और वीतरागता निकट होती है। बोलने वाला कभी-कभी बोलकर अनेक प्रकार की उलझनें बढ़ा लेता है, जबकि वचनगुप्ति रखकर मौनी उन प्राप्त उलझनों को सुलझा लेता है। बोलना समस्या है तो मौन रखना समाधान है। स्थानांग सूत्र में कहा है- “इमाइं छ अवयणाइं नो वदित्तए-अलीगवयणे, हीलियवयणे, खिसितवयणे, फरुसवयणे, गारत्थिय वयणे, विउसवित्तं वा पुणो उदीरित्तए (स्थानांग 6/3) छह तरह के वचन, नहीं बोलने चाहिए- असत्य वचन, तिरस्कार युक्त वचन, झिड़कते हुए वचन, कठोर वचन, साधारण मानवों की तरह अविचार पूर्ण वचन और शांत हो चुके कलह को फिर से भड़काने वाले वचन। श्रमण इस तरह के वचनों को न बोले। ऐसा श्रमण वचन गुप्ति की साधना करता है। विचारपूर्वक सुंदर और परिमित शब्द बोलने वाला सज्जनों में प्रशंसा प्राप्त करता है। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है।

श्रमण का तेरहवाँ लक्षण है- “कायगुत्ते” अशुभ कायिक प्रवृत्तियों का निरोध करने वाला श्रमण होता है। अपनी काया जब-जब भी पाप-प्रवृत्ति की ओर अभिमुख हो, तब श्रमण उस काया का संगोपन करते हैं। सूत्रकृतांग में कहा है-

जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे।

एवं पावाइं मेहावी, अज्जयेण समाहरे॥

कछुआ जिस प्रकार अपने अंगों को अंदर में समेट कर खतरे से बाहर हो जाता है, वैसे ही मेधावी श्रमण भी अध्यात्म योग के द्वारा अन्तर्मुखी होकर अपने को पाप-प्रवृत्तियों से सुरक्षित रखे। भगवती में कहा है- “भोगी भोगे परिच्चयमाणे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ” अर्थात् भोग का सामर्थ्य होने पर भी जो कायिक भोगों का परित्याग करता है, वह कर्मों की महती निर्जरा करता है। उसे मुक्ति रूप महाफल की प्राप्ति होती है। “देहदुक्खं महाफलं” की आदर्श अवधारणा को सन्मुख रखकर श्रमण अपने देह के दुःखों को समभाव से भोगकर मोक्ष रूपी महाफल की प्राप्ति करते हैं। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है।

श्रमण का चौदहवाँ लक्षण है- 'चाई' अर्थात् त्यागी। श्रमण का जीवन त्याग का मूर्त रूप होता है। वे कष्टों में घबराते नहीं। धैर्य से उन कष्टों को सहन कर अपने त्याग-पथ पर आगे बढ़ते हैं। श्रमण जीवन विवशता, परवशता या परतन्त्रता से ग्रहण नहीं किया जाता। श्रमण का त्याग स्ववश और स्वतन्त्रता के साथ होता है। दशवैकालिक सूत्र के दूसरे अध्ययन में कहा गया है- "अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ।" जो पराधीनता के कारण विषय भोगों का उपभोग नहीं कर पाते, उन्हें त्यागी नहीं कहा जा सकता। फिर त्यागी कौन? इस सवाल का जवाब इससे अगली गाथा में दिया गया-

जे य कंते पिण्णो भोए, लच्छे वि पिण्णिकुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ ॥

जो मनोहर और प्रिय भोगों के उपलब्ध होने पर भी स्वाधीनता से यानी स्वेच्छापूर्वक उन्हें पीठ दिखा देता है- त्याग देता है; वस्तुतः वही त्यागी कहलाता है। श्रमण ऐसे ही त्यागी होते हैं। आचारांग में कहा है- "तं परिणाय मेहावी, इयाणि णो जमहं पुव्वमकासि पमाएणं" मेधावी श्रमण आत्मज्ञान के द्वारा यह निश्चय कर लेता है कि मैंने पूर्व जीवन में प्रमादवश जो कुछ भूलें की हैं, वे अब कभी नहीं करूँगा। इस प्रतिज्ञा के साथ श्रमण आजीवन चलते हैं और जीवनयात्रा में आने वाले अनुकूल-प्रतिकूल कष्ट-संकट-प्रसंगों में धैर्य धारण करते हैं, क्योंकि वे श्रमण "अंतरं च खलु इमं संपेहाए धीरो मुहुत्तमवि णो पमायए" अर्थात् अनन्त जीवन-प्रवाह में मानव-जीवन को बीच का एक सुअवसर जानकर धैर्य गुण सम्पन्न होकर वे श्रमण मुहूर्त भर के लिए भी प्रमाद नहीं करते। प्रमाद के त्यागी श्रमण ही सच्चे श्रमण कहलाते हैं। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है।

श्रमण का पन्द्रहवाँ लक्षण है- 'लज्जू'। श्रमण लज्जावान होता है। कल्याण के इच्छुक साधक लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य में स्वयं को प्रतिष्ठित करते हैं। पाप के प्रति सलज्ज श्रमण दुःख से बचता है और अव्याबाध सुख को प्राप्त करता है। आचारांग में कहा है- "लज्जमाणा पुढो पासे" हे श्रमण, तू उन व्यक्तियों को देख जो अधर्म करते हुए भी लज्जित नहीं होते। निर्लज्ज व्यक्ति दम्भी होते हैं। आचारांग निर्युक्ति में कहा है- "न हु कइत्वे समणो" जो दम्भी है, वह श्रमण नहीं हो सकता। श्रमण निर्दम्भ होते हैं। वे कभी अपनी क्रियाओं का न दम्भ करते हैं, न प्रदर्शन। वे सरल, विनम्र और लज्जावान होते हैं। वे ज्ञानपूर्वक अपनी साधना और संयम में रत रहते हैं। ऐसे श्रमण भावश्रमण कहलाते हैं। उत्तराध्ययन निर्युक्ति में उक्त है- "नाणी संजम सहिओ, नायव्वो भावओ समणो।" हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है।

श्रमण का सोलहवाँ लक्षण है- 'धण्णे' अर्थात् संयम साधना में कृतार्थता-धन्यता का अनुभव करने वाला श्रमण होता है। जीवन में कषायों का शमन इन्द्रियों का दमन, विषयों का वमन होता है, तब ही संयम में रमण होता है। सूत्र आचारांग में कहा है- "एस वीरे पसंसिए जे ण णिवज्जइ आराहणाए" जो अपनी साधना में उद्विग्न नहीं होता, वही वीर श्रमण प्रशंसित होता है। सकारात्मक चिन्तन ही असन्तुष्टि और

असमाधि का समाधान बनता है। उत्तराध्ययन में इसी सत्य की पुष्टि करते हुए कहा गया-

अज्जेवाहं न लब्भामो, अवि त्ताभे सुए सिया।

जो एवं पडिसंचिक्खे, अत्ताभो तं न तज्जए ॥

“आज नहीं मिला तो क्या हुआ? कल मिल जायेगा” जो यह विचार कर लेता है, वह कभी अलाभ के कारण अशांत नहीं होता। सदैव इस सकारात्मक सोच के साथ जीने का अभ्यासी श्रमण आचारांग में कहे अनुसार दुःख के क्षणों में घबराता नहीं। “सहियो दुक्खमत्ताए पुट्ठो नो झंझाए” अर्थात् सत्य की साधना को समर्पित श्रमण सब ओर से दुःखों में धिरा होकर भी घबराता नहीं है, विचलित नहीं होता है। सदैव अपनी संयम-साधना में धन्यता का अनुभव करता है। धन्यता-अनुभूति संतुष्टि का पथ है। इसके लिए दशवैकालिक सूत्र में कहा है- “संतोसपाहनरए स पुज्जो” जो संतोष के पथ पर चलता है और संतोष भावों में रमण करता है, वही पूज्य श्रमण है। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है।

श्रमण का सतरहवाँ लक्षण है- “खंतिरखमे” समर्थ होते हुए भी श्रमण क्षमाशील होते हैं। सच्ची क्षमा आन्तरिक शान्ति के बिना नहीं हो सकती। श्रमण शान्ति के देवता होते हैं। उनकी भावक्षमा, भाषा-क्षमा और भंगिमा-क्षमा नदी के प्रवाह की तरह बहती है। आचारांग में कहा है- “भूएहिं न विरुज्जेज्जा” श्रमण किसी भी जीव के साथ वैर-विरोध न करे। वैर से वैर, विरोध से विरोध इस तरह बढ़ते हैं, जैसे आग से आग बढ़ती है। आग तब बुझती है जब उसका खाना उसे नहीं मिलता है, अथवा उसके प्रतिपक्षी तत्त्व पानी-रेत आदि उसे प्राप्त होते हैं, तो वह बुझ जाती है। जिस श्रमण पुष्प से क्षमा की महक नहीं आती वह श्रमण वेश में कागज का फूल होता है। क्षमा से ही श्रमण श्रमणत्व की गरिमा से खिलता है। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है।

श्रमण का अठारहवाँ लक्षण है- “जिइंदिए” श्रमण इन्द्रियों का विजेता होता है। बहिर्मुखी इन्द्रियाँ संसार की ओर भागती हैं और “खाणी अणत्थाण उ कामभोगा” ये कामभोग अनन्त दुःखों की खान हैं, यह उसे समझ में नहीं आता। अगर इन्द्रिय-निग्रह न हो तो मनोनिग्रह नहीं हो सकता और मनो-निग्रह के बिना साधना में स्थिरता प्राप्त नहीं होती। आगम कहते हैं- “एगप्पा अजिए सतु” स्वयं की अविजित-असंयत आत्मा ही स्वयं का एक शत्रु है। बहिरात्मा को अन्तरात्मा की ओर अभिमुख करने के लिए इन्द्रिय संयम आवश्यक है, दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा 285 में कहा है-

सद्वेसु अ रूवेसु अ गंधेसु रसेसु तह य फासेसु।

न वि रज्जइ न वि दुस्सइ, एसा खलु इंदिय अप्पणिही ॥

शब्द, रूप, गंध और स्पर्श में जिसका चित्त न तो अनुरक्त होता है और न द्वेष करता है; उसी का इन्द्रिय निग्रह प्रशस्त होता है। श्रमण इन्द्रिय विषयों पर संकल्पपूर्वक नियमन करता है तथा परिणामदर्शी बनकर जीता है। आचारांग में कहा गया है- “आयंकदंसी न करेइ पाव” जो इन्द्रिय-विषयों के आसेवन से उत्पन्न होने वाले

आतंक को देखता है वह पापों से दूर रहता है। आतंकदर्शी कोई पाप नहीं करता। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है।

श्रमण का उन्नीसवाँ लक्षण है- 'सोहिए।' श्रमण मन को शुद्ध, पवित्र और सरल बनाने वाला होता है। मानसिक पवित्रता और शुद्धता बिना सरलता के नहीं आती। उत्तराध्ययन में कहा है- "सोही उज्जुभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ" ऋजु अर्थात् सरल आत्मा की विशुद्धि होती है और विशुद्ध आत्मा में ही धर्म ठहरता है। श्रमण धर्म हो या श्रावक धर्म, दोनों प्रकार के धर्म सरलता से प्रतिष्ठित होते हैं। हृदय की वक्रता ही बुद्धि में जड़ता पैदा करती है और जिनकी बुद्धि जड़ और हृदय वक्र होता है, वे धर्म के पात्र नहीं होते। श्रमण शुद्ध होता है, सरल होता है। वह किसी पाप-अपराध-स्खलना को छुपाता नहीं है। छद्मस्थ अवस्था में गुण-दोषों का हो जाना संभव है, किन्तु सरल हृदय श्रमण उसकी आलोचना, निंदा, गर्हा करके अपनी आत्मा को उन पापों तथा दुष्कृत्यों से अलग करता है। उत्तराध्ययन में कहा है- "अविसंवायणसम्पन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ" दम्भरहित, अविसंवादी आत्मा ही धर्म का सच्चा आराधक है। श्रमण की साधना में स्थिरता, प्रगतिशीलता एवं विशुद्धता कब आती है? जब वह सरलतापूर्वक अपने जीवन में जागरूक रहता है। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है।

श्रमण का बीसवाँ लक्षण है- 'अनियाणे।' पौद्गलिक (भौतिक) सुखों की प्राप्ति के लिए कभी निदान यानी फलाशंसा न करने वाला श्रमण होता है। उत्तराध्ययन में कहा है- "सायासोकखेसु रज्जमाणा विरज्जइ" वस्तुतः धर्म पर श्रद्धा होने पर श्रमण साता और सुख की आसक्ति से विरक्त हो जाता है। इस विरक्ति में कभी न्यूनता आ जाये तो प्रभु फरमाते हैं- "सव्वे कामा दुहावहा" सभी काम-भोग अन्ततः दुःखावह ही होते हैं। इस चिन्तन को सन्मुख रखकर ही श्रमण किसी भी तरह की फलाशंसा न करे। फलाशंसा के चक्रव्यूह में उलझने वाले श्रमण की दृष्टि प्रवृत्ति पर नहीं, परिणाम पर टिकी रहती है, जबकि श्रमण को निष्काम भाव से अपनी प्रवृत्ति के लिए समर्पित रहना चाहिए। शास्त्रकार कहते हैं- "कामे पत्थेमाणा अकामा जंति दुगाइं" कामनाओं की पूर्ति की लालसा में प्राणी एक दिन उन्हें बिना भोगे दुर्गति में चला जाता है। फलाशंसा दुष्पूर नदी के समान है। श्रमण अनासक्त होकर जीता है। वह मिट्टी के सूखे गोले के समान कहीं भी चिपकता नहीं। उत्तराध्ययन में कहा- "विरत्ता हु न लगंति जहा से सुक्कगोलए" अर्थात् मिट्टी के सूखे गोले के समान साधक विरक्त होता है। वह कहीं भी चिपकता नहीं है और न उसके रागरहित भावों से कर्मबंधन ही होता है। आचारांग में कहा है- "तुमं चेव सल्लमाहट्टु" अर्थात् निदान तेरे लिए शल्य यानी कांटा है। इस कांटे को उत्पन्न ही न होने दे। जो इस कांटे से मुक्त है, वह सुखी है। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है।

श्रमण का इक्कीसवाँ लक्षण है- 'अप्पुस्सुए' पौद्गलिक वस्तुओं के प्रति उत्सुकता न रखने वाला श्रमण होता है। आन्तरिक सदगुणों का जितना विकास होता है, उतना आत्मिक आह्लाद बढ़ता जाता है। फिर बाहरी कुतूहल/कौतुकता की ओर उत्सुकता घटती जाती है। राग का त्याग श्रमणत्व का अलंकार है।

औपपातिक सूत्र में कहा है-

धम्मं णं आइक्खमाणा तुब्भे उवसमं आइक्खह ।
उवसमं आइक्खमाणा विवेगं आइक्खह ॥

शिष्य कहता है- प्रभो! आपने धैर्य का उपदेश देते हुए उपशम का उपदेश दिया और उपशम का उपदेश देते हुए विवेक का उपदेश दिया, अर्थात् धर्म का सार उपशम यानी समभाव है और समभाव का सार है विवेक। विवेक से उत्सुकता पर नियन्त्रण लगता है। दशवैकालिक में कहा है-

वियाणिया अप्पगमप्पएणं ।
जो रागदोसेहिं सम्मो से पुज्जो ॥

जो अपने से अपने को जानकर रागद्वेष के प्रसंगों में सम रहता है, वही पूज्य साधक होता है। आचारांग में भी यही बात आई है- “पुरिसा! अताणमेव अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमुच्चसि” हे साधक! तू अपने आपका ही निग्रह कर। स्वयं के निग्रह से ही तू दुःख से विमुक्त हो सकेगा। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है।

श्रमण का बावीसवाँ लक्षण है- ‘अबहिल्लेसे’ अपनी लेश्याओं को अशुभता की ओर नहीं जाने देने वाला श्रमण होता है। भावों की अशुभता असंयम है और असंयम श्रमणत्व का विघातक शस्त्र है। आचारांग निर्युक्ति में कहा है- “भावे अ असंजमो सत्थं” भावदृष्टि से संसार में असंयम ही सबसे बड़ा शस्त्र है। अशुभ लेश्या आत्मपतन एवं आत्मशक्तियों के आच्छादन का कारण है। श्रमण अपनी लेश्याओं के शुभत्व की ओर स्थिर रहता है। “अप्पा हु खलु सययं रक्खिअव्वो” अपनी आत्मा को पापों से सतत बचाये रखना चाहिए। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है।

श्रमण का तेईसवाँ लक्षण है- ‘सुसामण्णरए’ दस प्रकार के यतिधर्म में रमण करने वाला श्रमण होता है।

पहला यति धर्म है- खंति! क्रोध को जीते बिना क्षमा की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए श्रमण क्रोधजयी होता है।

दूसरा यतिधर्म है- मुत्ति! जो श्रमण कामनाओं को पारकर जाता है, वस्तुतः वही मुक्त श्रमण है।

तीसरा यतिधर्म है- अज्जवे! श्रमण ऋजुधर्मा होता है।

चौथा यतिधर्म है- मद्दवे! श्रमण मृदुता गुण से सम्पन्न होता है।

पाँचवा यतिधर्म है- लाघवे! श्रमण लघुता गुण से सम्पन्न होता है।

छठा यतिधर्म है- सच्चे! श्रमण सत्य को समर्पित होता है।

सातवाँ यतिधर्म है- संजमे! श्रमण का मन-इन्द्रियों से संयमी होता है।

आठवाँ यतिधर्म है- तवे! श्रमण तपःपूत होता है।

नौवाँ यतिधर्म है- चेइए! श्रमण ज्ञानयुक्त होता है।

दसवाँ यतिधर्म है- बंधचेरवासे! श्रमण ब्रह्मचर्य से पवित्र होता है।

इस प्रकार के यतिधर्मों से श्रमण सुसम्पन्न होता है। हे श्रमण! इस अर्थ में तू सचमुच में महान है।

श्रमण का चौबीसवाँ लक्षण है- 'दंते' श्रमण क्रोधादि कषायों का तथा बहिरात्मा का दमन करने वाला होता है। उत्तराध्ययन में कहा गया है-

वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य।

माहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं, वहेहिं य ॥

वध और बंधनों से दूसरे मेरा दमन करें, इससे तो अच्छा यही है कि मैं स्वयं ही संयम और तप के द्वारा अपना दमन कर लूँ। श्रमण इसी प्रकार का चिन्तन करता है। और भी-

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा ह्नु खलु दुइमो।

अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥

श्रमण सोचता है कि मुझे अपने आप पर नियंत्रण रखना चाहिए, क्योंकि यही सबसे कठिन कार्य है। जो अपने पर नियंत्रण रखता है, वह इस लोक तथा परलोक दोनों में सुखी होता है।



श्रमणाचार परिचायक कतिपय पारिभाषिक शब्द

उपाध्याय श्री रमेशमुनि जी शास्त्री

प्रस्तुत आलेख में उपाध्याय श्री ने श्रमणाचार से सम्बद्ध श्रमण, चारित्र, सामायिक, छेदोपस्थापनीय, आवश्यक आदि विभिन्न शब्दों की विवेचना की है। इससे श्रमण-जीवन से सम्बद्ध विभिन्न पहलुओं का बोध हो सकेगा। -सम्पादक

श्रमण संस्कृति वह संस्कृति है, जो आस्था और व्यवस्था के दृष्टिकोण से शिरसि शेखरायमाण स्थान पर अतिशय रूप से शोभायमान है। सम्यक् श्रम-साधना पर आधारित स्वावलम्बन एवं सद्गुण प्रधान श्रद्धा श्रमण संस्कृति का निर्दोष लक्षण है। प्रस्तुत संस्कृति से अनुप्राणित और अनुप्रीणित प्रत्येक सत्प्राणी अपने पौरुष के माध्यम से स्वयं कर्म-कर्ता है और स्वयं कृतधर्म के फल का भोक्ता है। इस परिप्रेक्ष्य में उसको किसी सत्ता अथवा शक्ति के कृपा-भाव की आकांक्षा कदापि नहीं रहती है। किसी के भी कृपा-भाव का आकांक्षी होने पर उसे स्वावलम्बी बनने में व्यवधान समुत्पन्न होता है। श्रमण सर्वदा सर्वथा रूप से स्वाधीन होता है। वह समझपूर्वक अपनी श्रम-साधना के आधार पर उत्तरोत्तर आत्मिक विकास को उपलब्ध करता है। अतः यह पूर्णतः सिद्ध है कि श्रमण स्वयमेव पुरुषार्थ का सम्पादन कर स्व-पर के कल्याण में नित्यशः प्रवृत्त होता है।

यह एक सत्यपूर्ण कथ्य है कि स्वाधीनता प्रधान सम्यक् आस्था की अपनी सर्वांग व्यवस्था भी होती है। इस व्यवस्था में किसी सत्ता किं वा शक्ति की वन्दना अथवा पर्युपासना करने का कोई विधान एवं प्रावधान नहीं होता है। आत्म-गुणों का सश्रद्ध स्मरण करना तथा उन्हें जान और पहिचान कर उनकी वन्दना एवं उपासना करना उसे सम्पूर्णतः अभिप्रेत रहा है। इस प्रक्रिया से अध्यात्म-साधक अपने अन्तरंग में प्रतिष्ठित आत्मिक-शक्ति अथवा सत्ता के गुणों का जागरण और उज्जागरण करता है। श्रमण-चर्या का आत्म-विकास त्रिविध चरण में सम्पन्न होता है। जो पञ्चपद परमेष्ठी में 'गुरुपद' के रूप में प्रतिष्ठित है और वे साधु पद, उपाध्याय पद एवं आचार्य पद के रूप में उपास्य हैं। इनकी वन्दना करने से साधक के आत्म-विकास की स्वयमेव वन्दना है।

यह स्पष्ट है कि गुरुपद में प्रथम पद के रूप में 'साधुपद' आत्मिक-विकास की प्राथमिक प्रयोगशाला है। साधु सर्वप्रथम जागतिक जीवन की भूमिका से सर्वथा-विरक्त होकर अपनी साधना सम्पन्न करता है। साधु अर्थात् श्रमण की आचार-संहिता से सम्बन्धित बहुविध शब्दावली है। शब्द स्वयं में एक शक्ति है और अभिव्यक्ति उस शक्ति का परिणाम है। श्रमण-चर्या का प्रत्येक शब्द वस्तुतः अपनी अर्थ-सम्पदा की अपेक्षा से अतीव-विशिष्ट है। उस आर्थिक गौरव और वैशिष्ट्य की अपनी परिभाषा है। उसी शब्दावलि से सन्दर्भित कतिपय शब्दों की परिभाषा को परि-स्पष्ट करना वस्तुतः मेरा व्यक्तिगत विनम्रता पुरस्सर अभिप्रेत है।

शब्दावलि को अकारादिक्रम से प्रस्तुत कर पाना इसलिये संभव नहीं है कि यहाँ शब्दकोष की रूपरेखा नहीं है, किन्तु अनिवार्य और प्रासंगिक शब्दों का अर्थ एवं आशय प्रस्तुत है।

1. **श्रमण**- जो संयम-साधना और तप आराधना में व्रत रूप श्रम करता है, वह श्रमण है। यह श्रमण शब्द की निरुक्ति है, जो उसकी उत्तम कार्य-जन्य प्रशस्तता और यशस्विता का परिज्ञापक है। श्लोक शब्द का वाच्य अर्थ भी ऐसा ही है। वह यश-कीर्ति का सूचक है। श्रमण को सर्वजन का अतिथि कहा गया है। जिसके भिक्षादि हेतु आगमन की कोई तिथि नहीं होती है, उसे अतिथि कहा जाता है।² श्रमण इसी श्रेणी के अन्तर्गत है।
2. **चारित्र**- जीव का स्वभाव में चरणशील और रमणशील रहना 'चारित्र' है। जब आत्मा स्व-भाव में स्थित है, तब परभाव का स्वतः त्याग हो जाता है। चारित्र विधिमूलक विधा है। उसी का निषेध अर्थात् प्रतिषेध मूलक रूप वैभाविक परिणति का किंवा समग्र सावद्य-योगों का परित्याग है। जब अध्यात्म-साधक चारित्राधना में दीक्षित होता है, संयम-साधना में प्रवृत्त होता है तब वह "मैं सर्व सावद्य योगों का त्याग करता हूँ" यह जो अर्थ गौरव से अन्वित भाषा है, वह परभाव से स्वभाव में आने का आख्यान है।
3. **सामायिक**⁴- व्याकरण के दृष्टिकोण से सम, आय एवं इक प्रत्यय-पूर्वक 'सामायिक' शब्द का गठन हुआ है। यह व्याकरण की तद्धित प्रक्रिया के अन्तर्गत समाहित है। 'सम' शब्द का अर्थ भी समत्व, समभाव अथवा आत्मस्वरूप है। आय का अर्थ 'प्राप्ति' है। जिस साधना की प्रक्रिया से विभावगत आत्मा स्वभाव में आती है। कर्मगत घनीभूत आवरणों से आच्छन्न आत्मा जब अपना विशुद्ध स्वरूप प्राप्त करती है, तब वह सामायिक है। सामायिक-साधना के व्यावहारिक रूप में पञ्चविध महाव्रत का मन, वचन, काय द्वारा, कृत, कारित और अनुमोदित के रूप में पालन किया जाता है। नवदीक्षित श्रमण जीवन पर्यन्त इनके पालन हेतु प्रतिज्ञाबद्ध होता है, कृत संकल्प हो जाता है।
4. **छेदोपस्थापनीय**- इस शब्द में 'छेद' और 'उपस्थापनीय' इन दोनों का योग है। व्याकरण के अनुसार यह 'चाहिए' वाचक 'अनीयर्' प्रत्यय के योग से गठित शब्द है। सातिचार और निरतिचार के रूप में इसके दो भेद हैं - साधुत्व अर्थात् संयम के मूल गुणों में किसी प्रकार का विघात अथवा छेद-भंग होने पर जब उसको पुनरपि दीक्षा दी जाती है, तो वह सातिचार छेदोपस्थापनीय नामक चारित्र है। निरतिचार में दोष का कोई स्थान नहीं है। इत्वरिक सामायिक के अनन्तर जब कुछ काल पश्चात् उसमें महाव्रतों का आरोपण किया जाता है, उसे दीक्षा दी जाती है, वह निरतिचार छेदापस्थापनीय है।
5. **आवश्यक**- इसके मूल में 'अवश्य' शब्द है, जिसे किये बिना नहीं रहा जा सकता। अन्य शब्दों में, जो अपरिहार्य हैं, अतिशय रूप से अनिवार्य हैं, अवश्य करने योग्य धार्मिक अनुष्ठान का विधायक होने से इसे 'आवश्यक' कहा जाता है।⁵ जो गुणों को आत्मवशागत बनाता है, आत्मा में सदगुणों को सन्निहित करता है, निष्पादित करता है, वह आवश्यक है।⁶ इन्द्रिय एवं कषाय आदि भावशत्रु जिसके द्वारा जीते जाते

हैं, जिसके स्वीकरण से वश में किये जाते हैं, वह 'आवश्यक' है।⁸ आवश्यक के अतिरिक्त 'आवसक' भी होता है। इसी शब्द को अधिकृत कर ऐसा कहा जा सकता है कि जो आत्मा मूलगुणों को भूल जाने से शून्यवत् है, उसे गुणों से सुवासित, सुरभित, पुनः संयोजित कर जो सुशोभित करता है वह आवसक अर्थात् आवश्यक है। 'आवश्यक' की आराधना के धरातल पर ही श्रमणत्व और श्रावकत्व प्राणवान् बनता है। आवश्यक के सामायिक, चतुर्विंशति स्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण एवं प्रत्याख्यान रूप षट् सोपानों पर पर्यटनशील अध्यात्म साधक शीघ्र ही स्वात्मा के सिद्ध स्वरूप में स्वयं को प्रतिष्ठित कर लेता है।

6. **आचार्य** - साधुचर्या का आत्म-विकास दो चरणों में सम्पन्न होता है। उनमें 'आचार्य' चरण भी है। जैन धर्म में चतुर्विंश धर्मसंघ के संचालन के लिये जो प्रणाली निर्धारित की गई थी, वह एक ऐसी सुनियोजित, सुव्यवस्थित, सुव्यवहार्य और सुस्वस्थ सांकुश एकतन्त्री परम्परा थी, जिसमें धर्म-संघ के सर्वोपरि अधिनायक आचार्य श्री के प्रति अगाध श्रद्धान और अपार विश्वास के उपरान्त भी उसमें पूर्वाग्रह के काराग्रह से उन्मुक्त चिन्तन के लिये पूर्ण रूप से अतिशय अवकाश था। 'आचार्य' शब्द आङ्. उपसर्ग पूर्वक "चर् गति-भक्षणयोः" धातु से 'ध्यण्' प्रत्यय जोड़ कर निष्पन्न होता है। जो आचार्य संहिता का निर्दोष एवं दृढ़ता से पालन करता है, वह आचार्य है।⁹ जिसने आचार के अनुरूप स्वयं को रूपायित किया है वह आचार्य है।¹⁰ मर्यादा के साथ जिनकी सेवा-भक्ति की जाती है, साधक आध्यात्मिक रहस्यों के समुद्घाटन हेतु जिसका अनुसरण करता है, वह आचार्य है। धर्म संघ में आचार्य पद की अपनी गरिमा रही, उसका अपना महत्त्व भी रहा।
7. **उपाध्याय** - साधुचर्या के द्वितीय चरण के रूप में 'उपाध्याय' पद का स्वरूप है। आचार्य पर गुरु गम्भीर उत्तरदायित्व रहा, वे दायित्वों का कर्तव्य के साथ निर्वहन करते थे। आचार्य के अतिरिक्त जो अन्य पद निर्धारित हुए थे, वे पद आचार्य को सहयोग-सहकार प्रदान करने के लिये थे, जिससे धर्मसंघ के श्रमणों एवं श्रमणियों का निर्दोषरूपेण संयम-पालन, आगामीय अध्ययन, संचरण-विचरण, वर्षावास, वस्त्र-पात्र उपकरणों की व्यवस्था, प्रवास प्रभृति में भी समीचीन दृष्टि से गतिशील रह सकी। आचार्य श्री जी अन्यान्य सप्तविध पदों में से जितनों की, जब अनिवार्य समझते थे, तब उन पदों की नियुक्ति श्री संघ की सम्मति से करते थे। पद-पूर्ति का आधार निर्वाचन नहीं, अपितु चयन और मनोनयन था। सप्त पदों में आचार्य के अनन्तर उपाध्याय का स्थान था। यह द्वितीय पद अद्वितीय रूप में रूपायित रहा।¹¹ उपाध्याय शब्द 'उप', 'अधि' उपसर्ग पूर्वक 'इड्.' अध्ययने धातु से कृदन्त के 'घञ्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। जो साधक सद्गुरु आदि गीतार्थ संयमाधिपति मुनीश्वरों की सन्निधि में रहकर आगम-साहित्य एवं धर्मग्रन्थों का शुभ योग एवं उपधान तप के अनुष्ठान के साथ स्वयं भी अध्ययन करते हैं, चतुर्विंश धर्मसंघ के सदस्यों को भी करवाते हैं, वे उपाध्याय हैं।¹² किं बहुना, पंच पदों में आचार्य के सदृश उपाध्याय का भी सश्रद्ध स्मरण एवं सभक्ति नमन किया जाता है, एतदर्थ वे भव्यात्माओं के लिये परमेष्ठी रूप हैं।

8. **रजोहरण-** श्रमण के प्रत्येक चरण में अहिंसा की प्रधानता सुनिश्चित रूप से रहती है। श्रमण-समूह के संक्षिप्त, किन्तु प्रमुख उपकरणों में 'रजोहरण' भी एक है। यह वह शब्द विशेष है, जो दो उपशब्दों से गठित है। प्रथम 'रज' है और द्वितीय 'हरण' है। यह धूल-कणों को दूर करने का उपकरण है। 'रजोहरण' का निर्माण पांच प्रकार के धागों के योग से बनता है। उनके नाम इस प्रकार से हैं¹³ -

और्णिक- ऊन से बने सूत अर्थात् धागों को और्णिक कहा जाता है।¹⁴ ऊन प्रायः भेड़ के बालों से प्राप्त होती है। यह अनेक प्रकार की होती है। ऊन के सूत से निर्मित वस्त्र अत्यंत गर्म होते हैं। सर्दियों में प्रायः ऊनी वस्त्रों को धारण करने का प्रचलन रहा है।

औष्टिक- ऊँट के बालों के धागों से निर्मित वस्त्र 'औष्टिक' कहलाते हैं। इस धागे से बने वस्त्र भी प्रयोग में आते हैं।

मृगलौमिक- हिरण के बालों से बने सूत 'मृगलौमिक' कहलाते हैं।

कौतव- कुतुपिक अर्थात् कुतुप अथवा कुश आदि घास से बना सूत 'कौतव' कहा जाता है।

किट्टिस- और्णिक आदि धागों से बनाते समय इधर-उधर बिखरे बालों का नाम 'किट्टिस' है। इनसे निर्मित अथवा और्णिक आदि सूत को दुहरा-तिहरा करके बनाया गया सूत अथवा घोड़ों आदि के बालों से बना सूत 'किट्टिस' कहलाता है। उपर्युक्त धागों से कलात्मक रूप में रजोहरण का निर्माण किया जाता है। चलते-फिरते, उठते-बैठते अथवा लेटते समय स्थान को छोटे-छोटे कृमि-कीटों जीव-जन्तुओं की रक्षार्थ रजोहरण का प्रयोग एवं उपयोग किया जाता है। विहारों में यदि किसी प्रकार के जीवों की विराधना होने की सम्भावना होती है, तब श्रमण रजोहरण के द्वारा उनकी पूर्ण रक्षा करता है।

9. **समाचारी-** यह वह विशिष्ट रूपेण क्रिया-कलाप है, जो साधु की सम्यक् चर्या के लिये मौलिक नियमों के समान आत्यन्तिक आवश्यक और अतिशय-अनिवार्य रूप सत्कर्म है। श्रमणाचार को द्विविध-विभाग में वर्गीकृत किया गया है। प्रथम व्रतात्मक आचार है और द्वितीय व्यवहारात्मक आचार है। व्रतात्मक आचार वस्तुवृत्त्या पंचविध महाव्रत है। यह श्रमण-जीवन को सर्वथा-निर्दोष एवं सम्पूर्णतः स्वावलम्बी बनाता है। इससे आत्मिक आलोक प्रदीप्त होता है। व्यवहारात्मक सदाचरण परस्पर संपूरक की स्वस्थ भूमिका का सम्यक् निर्वाह करता है। विचार जब व्यवहार के रूप में चरितार्थ होता है, तब सामाचारी का जन्म होता है। साधुचर्या की अहर्निश प्रवृत्तियाँ वस्तुतः सामाचारी के अन्तर्गत समाहित हैं। सामाचारी साधु समुदाय एवं साध्वी-समवाय किंवा संघीय-जीवन जीने की नियमावली है। आवश्यकी, नैषेधिकी, आपृच्छा, प्रति-पृच्छा, छन्दना, इच्छाकार, मिच्छाकार, तथाकार, अभ्युत्थान तथा उपसम्पदा नामक दशविधि प्रयोग-सामाचारी समास शैली से सम्प्राप्त होती है।¹⁵ इस प्रकार साधुचर्या का समुत्कर्ष दशांग सामाचारी के आधार पर निर्भर करता है। इससे उसके जीवन-उपवन में सहस्रों के सहस्र-सहस्र सुमन महकते हैं।

10. **संधारा-** यह वह प्रक्रिया है, जहाँ श्रमण मृत्यु को महोत्सव के रूप में प्रसन्नता-पुरस्सर मनाता है। संलेखना संधारे के पूर्व की भूमिका है। संलेखना के अनन्तर जो संधारा किया जाता है, उसमें अधिक विशुद्धता आविर्भूत होती है। साधक को संधारा ग्रहण करने के पूर्व संलेखना का संपालन करना अनिवार्य होता है। संलेखना के स्थान पर संलेखना शब्द भी व्यवहृत है। जिस क्रिया के द्वारा शरीर और कषाय को कृश एवं दुर्बल किया जाता है वह संलेखना है।¹⁶ शरीर को कृश करना द्रव्य संलेखना है तथा कषाय को कृश करना 'भाव-संलेखना' है। संलेखना अध्यात्म-साधक के अन्तर्मन की उच्चतम भाव-स्थिति है। यह मरण का सहर्ष स्वागत है, सादर वरण है। यह श्रमण-जीवन की उस निष्काम, निःसंग और स्थितप्रज्ञ की अवस्था में प्रवेश है। इतना ही नहीं, वह भेद विज्ञानी विशिष्ट श्रमण निराकुल अन्तःस्थिति में अपनी जागतिक-पर्याय का परित्याग कर नवीन पौद्गलिक शरीर पर्याय को ग्रहण करने की आकांक्षा को तिलांजलि देता है।
11. **प्रवचन माता-** यह वह आचार-संहिता है, जो श्रमण-जीवन के लिये वरदान रूप है। पंचविध समितियों और त्रिविध गुप्तियों को समवेत रूप से 'प्रवचन-माता' की अभिधा से अभिहित किया है।¹⁷ एवं 'समिति' का नाम संस्कार भी हुआ है।¹⁸ प्रवचन माता एवं समिति यह नामकरण भी अभिप्रेत-अभिप्राय को प्रद्योतित करता है। सर्व प्रवचन और सर्वगुप्ति की पृष्ठभूमि में तथ्यद्वय संनिहित है। प्रथम तथ्य यह है कि धर्मशासन इन्हीं से समुद्भूत हुआ है, एवं यह द्वादशांगी का सार है। द्वितीय तथ्य यह है कि श्रमण के अहिंसा, सत्य प्रभृति महाव्रतों की यह माता के समान परिपालना करती है। माता की यही अभीप्सा रहती है कि आत्मप्रिय पुत्र सन्मार्ग पर अग्रसर रहे। वह अपने चिरंजीव के संरक्षण तथा चारित्र-निर्माण के लिये नित्यशः प्रयासशील रहती है। यह माता साधक को सम्यक् प्रवृत्ति की ओर बढ़ने की सप्राण प्रेरणा देती है, उन्मार्ग पर जाने से एवं दुष्टप्रवृत्ति से रोकती है, उसके चारित्र धर्म का विकास करती है, शुभ में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति कराती है। सम्यक् प्रवृत्ति का नाम 'समिति' है और अशुभ से निवृत्ति 'गुप्ति' है। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और परिष्ठापनिका के रूप में समिति पाँच प्रकार की है। श्रमण की चर्या वस्तुतः समिति-सम्पृक्त होती है। जब उनके चरण चलते हैं, तब ईर्या समिति चरितार्थ होती है। वे जब भी बोलते हैं, तब उनके वचन यथार्थ में प्रवचन बन जाते हैं। वे जब आहार ग्रहण करते हैं, तब षट्स एकमेक होकर विरस, किन्तु सरस हो जाते हैं। वस्तु के निक्षेपण और प्रतिष्ठापन समिति-व्यवहार में उनकी चर्या निरीह-प्राणियों की विराधना से वंचित हो जाती है, सर्वथा सजग एवं प्रमाद-विमुक्त रहती है। वास्तव में उपयोग पुरस्सर सम्यक् रूपेण प्रवृत्ति करना 'समिति' है। मन, वचन एवं काय को अशुभ प्रवृत्ति से विमुख रखना 'गुप्ति' है। इतना ही नहीं, अपितु मन, वचन एवं काय इन त्रिविध योग के सत्य, असत्य, सत्यामृष एवं असत्यामृष अर्थात् व्यवहार ये चार-चार प्रकार करके स्पष्टतः समझाया है कि साधक केवल सत्यपूर्ण और व्यवहार समन्वित भाषा का प्रयोग करे, असत्य एवं सत्यामृषा भाषा कदापि अंशतः न बोले, इस प्रकार मन के चिन्तन एवं काय योग को भी पूर्णतः नियन्त्रण में रखे। समिति प्रवृत्ति रूप है, गुप्ति निवृत्ति रूप

है। समिति-गुप्तियों का मापदण्ड 'अहिंसा' है। यह त्रिविध गुप्ति एकान्ततः निवृत्ति रूप ही नहीं, प्रवृत्ति रूप भी होती है, अतएव प्रवृत्ति अंश की अपेक्षा से उन्हें समिति कहते हैं। समिति में नियमतः गुप्ति होती है, क्योंकि उसमें शुभ में प्रवृत्ति के साथ जो अशुभ से निवृत्ति रूप अंश है, वह नियमतः गुप्ति अंश ही है। श्रमण प्रवचन माताओं की आज्ञा का अक्षरशः आचरण करता है, जिससे वह कृतकृत्य हो जाता है।

12. **प्रतिक्रमण-** 'आवश्यक' आत्म-बोधि और आत्म शुद्धि का वैज्ञानिक उपक्रम है, करणीय अनुष्ठान है, श्रावकत्व एवं श्रमणत्व की आधारशिला है। श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका के लिये प्रातःकाल एवं सायंकाल करना अनिवार्य है, जो षट्त्रिंशत् रूप है।¹⁹ उाकी क्रमशः अभिधा सामायिक, चतुर्विंशति-स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान के रूप में है। इन आवश्यक अनुष्ठान द्वारा आत्मा रूप दर्पण में कर्मों की धूल को पोंछ देने पर परमात्मा रूप बिम्ब उसमें प्रतिबिम्बित हो जाता है। अध्यात्म साधक देह में रहते हुए भी विदेहत्व को साध लेता है। सामायिक आवश्यक में जिस समदर्शिता की साधना की जाती है, उसके लिये भी अहंशून्यता अनिवार्य है एवं अहंशून्यता की विधायक प्रक्रिया वन्दना है। वन्दना के अनन्तर 'प्रतिक्रमण' का क्रम है। साधक में प्रतिक्रमण ज्ञाता-द्रष्टा भावमयी साधना को वृद्धिगंत करता है। जिससे उसकी आत्मा पाप से पंकिल नहीं बनती है। प्रतिक्रमण प्रकारान्तर से प्रायश्चित्त रूप है।²⁰ यह वह अग्निस्नान है, जो आत्म-कुन्दन को दीप्तिमय बना देता है। इतना ही नहीं, श्रमण का मन, शब्द ऋतु के निर्मल जल के समान विशुद्ध हो जाता है,²¹ और वह भारण्ड पक्षी के समान अप्रमत्त होकर विचरण करता है।²² यथार्थता यह है कि प्रतिक्रमण-आराधक साधक व्रतों एवं महाव्रतों की स्वलनाओं को बन्द कर देता है, और चारित्र्य में एकरूप होकर संयम में सम्यक् रूप से संस्थित रहता है। प्रति और क्रमण इन दोनों के संयोग से 'प्रतिक्रमण' शब्द का गठन हुआ है। प्रति का अर्थ- प्रतिकूल और क्रमण का तात्पर्य 'पद निक्षेप' है। प्रतिकूल अर्थात् प्रत्यागमन, पुनः लौटना ही वस्तुतः प्रतिक्रमण है। आक्रमण में बहिरंग आग्रह है, जबकि प्रतिक्रमण में आन्तरिक अनुग्रह है। पाप से स्व में लौट कर आना 'प्रतिक्रमण' है।²³ किं बहना, प्रतिक्रमण के द्वारा श्रमण के चलित चरण सदाचरण में परिणत हो जाते हैं।

13. **गोचरी-** यह वह शब्द है, जिसका आदि रूप 'गोयर' है। गोयर का अन्य रूप 'गोयरग' भी है। इसका वाच्यार्थ भी गाय के समान भिक्षा-प्राप्त्यर्थ श्रमण करना है। गाय घास चरते समय स्वयं नितान्त जागृत रहती है। वह घास को इस प्रकार चरती है कि घास का मूलवंश सुरक्षित रह जाता है। इसी प्रकार श्रमण भी वस्तुतः मनःशास्त्र का ज्ञाता बन कर गृहस्थ के यहां पहुँचता है और उसे बिना कष्ट दिये नियमानुकूल यथायोग्य भिक्षा प्राप्त करता है। गृहस्थ पर उसके गृहीत आहार का किसी रूप से भार उत्पन्न नहीं होने देता है। वह श्रमण गृहस्वामी के अन्तर्मन को सजगता पुरस्सर पढ़ लेता है, उसके लिये अन्यान्य शुद्धियों के साथ भाव-शुद्धि सर्वोपरि है।

सारपूर्ण भाषा में यही कहा जा सकता है कि श्रमण की आचार-संहिता स्पष्टतः विशिष्ट है, उसकी

गम्भीरता किंवा अन्तःस्थल को समझने के लिये भी तत्सन्दर्भित शब्दावलि का प्रयोग और प्रयोजन जानना अनिवार्य है। इन शब्दों का अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना के माध्यम से वैज्ञानिक-विवेचन भी किया जा सकता है। जिससे शब्दों का हार्द सहस्र किरण दिनकर के स्वर्णिम-प्रकाश के सदृश अतिशय रूप से परिस्पष्ट होगा।

सन्दर्भ :-

1. भ्रमं नयतीति भ्रमणः ।
2. नास्ति तिथिर्यस्य स अतिथिः ।
3. स्वभावे चरणं-रमणं तन्मयत्वं वा चारित्रम् ।
4. सत्त्वं सावज्जं जोगं पञ्चकखामि-सर्वं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि ।
5. उपस्थापयितुं योग्यं उपस्थापनीयम् ।
6. अवश्यं कर्तव्यमित्यावश्यकम् ।
7. आ-समन्ताद् गुणानां वश्यमात्मानं करोतीत्यावश्यकम् ।
8. आ-समन्तादवस्था-वशगता भवन्ति इन्द्रिय-कषाययादि-भावशत्रवो यस्मात्तदावश्यकम् ।
9. आचरन्ति इति आचार्याः ।
10. आ मर्यादया चरति गच्छतीत्याचार्यः ।
11. क-स्थानाङ्गसूत्र-4.3.323
ख-बृहत्कल्पसूत्र, उद्देशक-4 ।
12. क-उपसमीप अधीते यस्मादसौ उपाध्यायः ।
ख-स्वयं शास्त्राण्यधीते अन्यान् अध्यापयति इति उपाध्यायः ॥
13. वालयं पञ्चविहं पण्णत्त । तं जहा-उण्णिए, उट्टिए, मियलोलिए, कोतवे, किट्टिसे । अनुयोगद्वारसूत्र, सूत्रांक-38 ।
14. ऊर्णस्येदमीर्णिकम् ।
15. क-उत्तराध्ययनसूत्र-अध्ययन-26, गाथा-2,3,4 ।
ख-स्थानाङ्गसूत्र-स्थान-10, सूत्र-102 ।
ग-अनुयोगद्वारसूत्र-आनुपूर्वीप्रकरण ।
16. क-संलिख्यतेऽनया शरीर कषायादि इति संलेखना ।-स्थानाङ्गसूत्र-स्थान 2, उद्देशक-2 वृत्ति ।
ख-ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र-1.1 वृत्ति ।
ग-तत्त्वार्थवृत्ति-7, 22 भाष्य, पृष्ठ-246 ।
घ-प्रवचनसारोद्धार, 135 ।
ङ-चारित्रसार-22 ।
17. उत्तराध्ययनसूत्र-अध्ययन-24, गाथा-2
18. स्थानाङ्गसूत्र-स्थान-10, समितिपद
19. अनुयोगद्वारसूत्र-आवश्यकप्रकरण-29
20. स्थानाङ्गसूत्र-स्थान-10, प्रायश्चित्तपद
21. सारयसलिलं व सुद्धहियए-प्रश्नव्याकरणसूत्र, संवर, सूत्र-5
22. उत्तराध्ययनसूत्र-अध्ययन-4, गाथा-6
23. उत्तराध्ययनसूत्र-अध्ययन-29, प्रश्नांक-12

आध्यात्मिक-साधना एवं श्रमणाचार

श्री रणजीत सिंह कूमट

आध्यात्मिक-साधना में साधक पर से स्व की ओर प्रयाण करता है। आत्मबोध एवं सजगता के साथ वह तप, महाव्रत, समिति एवं गुमि की साधना करता हुआ असीम आत्मिक आनन्द को प्राप्त करता है। लेखक ने महाव्रत (यम), नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार नामक योगाङ्गों को विषयासक्ति से विमुख होने में बाह्य साधना माना है, वहाँ स्वाध्याय, धारणा, ध्यान और समाधि को अन्तरंग उपाय स्वीकार किया है। वे समिति का अर्थ स्मृति या जागरूकता करते हैं -सम्पादक

श्रमण की यात्रा भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर, पर से स्व की ओर तथा अविद्या से विद्या की ओर है। गृहस्थ (श्रावक) का अधिकांश समय जीविकोपार्जन व भौतिक साधनों के अर्जन, संचय व उपभोग तथा मौज-मस्ती में लगता है और स्व को जानने का अवसर ही नहीं मिलता। भौतिक साधनों का मोह (अविद्या) त्याग कर श्रमण-जीवन में दीक्षा अध्यात्म (विद्या) में लीन हो जीवन मुक्त होने के लिये प्रयाण है।

अध्यात्म क्या है, वह कैसे जीवन-मुक्त बनाता है तथा जैन श्रमणों के लिये निर्धारित श्रमणाचार किस प्रकार इस लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक है, इस पर विवेचन करने का प्रयास किया जायेगा।

अध्यात्म का अर्थ

अध्यात्म का अर्थ कई प्रकार से किया जाता है, आत्मा में लीन होना, आत्मा से जुड़ना, अंतर्मुखी होना, स्व में स्थित होना, अंतर में झांकना आदि अध्यात्म के पर्याय माने जाते हैं, इसके विपरीत भौतिक साधनों या भौतिक जगत की चकाचौंध में लिप्त होना, बहिर्मुखी होना भौतिकता का पर्याय माना जाता है। जिन महापुरुषों ने वास्तविकता की पहचान कर ली है वे प्रतीति कर चुके हैं कि असीम आनंद की सत्ता आत्मा में ही है, न कि भौतिक साधनों में। अतः उनका लक्ष्य भौतिक साधन नहीं होते। साधना द्वारा आत्म-बोध प्राप्त करना, यही संबोधि, स्वबोध, समाधि एवं मुक्ति है। आत्मबोध ही अध्यात्म है और इसकी गहराई में जाने से आभास होता है कि मुक्त जीवन आनंदमय, तनावरहित और सरस होता है।

प्रत्येक प्राणी कभी न समाप्त होने वाली शांति, स्वतंत्रता और आनन्द चाहता है, परंतु अधिकांश लोग अपने आप को दुःख में पाते हैं और इसका मुख्य कारण है अकुशल या दूषित चित्तन व चित्त की चंचलता और उस पर कोई नियंत्रण न होना। अनियंत्रित चित्त बाह्य भौतिक जगत में उपलब्ध उपभोग-परिभोग की चीजों के संग्रह व उपभोग में व्यस्त रहता है, चाहना करता है। भविष्य के सुनहरे सपने संजोता है और कभी भूतकाल

में, तो कभी भविष्य में रमण करता है। इन्द्रियों के विषय के अनुरूप प्रेरित हो इन्द्रियों को तृप्त करने में लगा रहता है। इसी में सुख की तलाश करता है, इसे ही सुख मानकर इसका दास बन जाता है। इसी उधेड़-बुन में सारा जीवन बीत जाता है और संजोये सपने पूरे नहीं होने पर या वस्तु से बिछोह होने पर सुख के स्थान पर दुःखी होता है। शाश्वत सुख और आनंद के लिए चित्तवृत्ति को भौतिक जगत की चकाचौंध से मोड़ कर स्व में स्थित होने व स्वबोध प्राप्त करने के लिए अध्यात्म की ओर मुड़ना होगा। भौतिक वस्तुओं से विमुखता अध्यात्म की प्रथम आवश्यकता है। बिना विमुख हुए अध्यात्म की सीढ़ी चढ़ना असंभव है। गृहस्थ को छोड़ श्रमण जीवन में प्रवेश द्रव्य रूप से भौतिक वस्तुओं के त्याग का प्रथम कदम है। वस्तुओं व भौतिकता का त्याग अन्तरंग से हो, इसके लिए श्रमण-जीवन में भी कठिन परिश्रम व साधना की आवश्यकता है। मात्र गृहस्थ जीवन छोड़ने से मुक्ति मार्ग तय नहीं हो जाता, इसलिए श्रमण की आचार संहिता बहुत शोध व अनुभव के आधार पर बनाई गई है। चित्त बहुत चंचल है, इसकी वृत्ति अनियंत्रित व क्लिष्ट है। चित्त-वृत्ति निरोध को ही महर्षि पतंजलि ने 'योग' कहा है। चित्तवृत्ति पर नियंत्रण के बिना संयम शुरू नहीं होता। भगवान महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है-

एगे जिया, जिया पंच
पञ्च जीए, जिया दस,
दसहा उ जिवित्ताणं,
सब्बसत्तु जिणाम्हं

अर्थ:- एक (मन) को जीतने से (पाँच इन्द्रियों) को जीता जा सकता है और पाँच को जीतने से दस (पाँच इन्द्रियों व पाँच कर्मेन्द्रियों) को जीता जा सकता है। दस को जीतने पर सर्व शत्रुओं को जीता जा सकता है। स्पष्ट है कि मन को जीतने पर सब शत्रुओं (आत्म-बोध में बाधक शत्रुओं) को जीता जा सकता है। कहावत भी है मन के जीते जीत है, मन के हारे हार। मन को साधना ही सबसे बड़ी साधना है। मन को जीतने का विषम युद्ध ही महाभारत है। मन की अनंत इच्छाओं (कौरवों की बलशाली फौज) व पाँच इन्द्रियों (पांडवों) के बीच युद्ध है। मन की इच्छाओं पर विजय ही सच्ची है। उत्तराध्ययन सूत्र को पुनः उद्धृत करते हुए निम्न सूत्र उल्लेखनीय है-

संजोगा विपमुक्कस्स एगंतमनुपस्सओ

अर्थ:- संयोग (बाहरी वस्तुओं के मिलन व बिछोह) को छोड़ कर मात्र मन को देखो। संयोग-वियोग ही संसार है और इसमें चित्त हमेशा लगा रहता है, मन उद्वेलित रहता है और कभी शांत नहीं होता। मन में उठ रहे विचारों को अनासक्त भाव से देखने से मन की अनन्त संकल्पनाओं से मुक्ति पाकर मन को निर्विकल्प बनाया जा सकता है। निर्विकल्प और निर्विचार मन ही शांत और समाधिपूर्ण मन है जो पूर्णतः सजग और अप्रमत्त है, उस मन में कोई लोकैषणा नहीं, न ही कामना। वह पूर्णतः अनासक्त और विरक्त है।

यदि हम ध्यान से देखें तो पता लगेगा कि हम अपने शरीर को सजाने, संवारने और चुस्त बनाने तथा

इन्द्रियों के विषयों, यथा स्वाद, संगीत, मनोहारी दृश्य, काम-वासना आदि की पूर्ति में लगे रहते हैं, इसी प्रकार हमारे मस्तिष्क में कई प्रकार के आवेश होते हैं यथा क्रोध, मान, माया, लोभ, जिनके वशीभूत हो हम अनेक प्रकार के अकरणीय कार्य भी करते हैं। मन व इन्द्रियों को वश में कर आवेशों पर विजय पाकर शरीर के प्रति उदासीन हो जाएँ तब ही जितेन्द्रिय या जिन कहला सकते हैं, यही सच्ची मुक्ति है। गीता के अध्याय 4 श्लोक 19 में निम्न उद्घोषणा की है-

यस्य सर्वे सम्भारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।

नाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

अर्थ:- जिसकी संपूर्ण क्रियाएँ, मन की वासना और संकल्प से रहित हैं वह पण्डित है। वह ज्ञान को प्राप्त होकर सब कर्म सदा के लिए नष्ट कर देता है। ऐसी स्थिति वाले पुरुष को बोधस्वरूप महापुरुषों ने पण्डित कहकर संबोधित किया है, अग्नि कर्म करने वाले को नहीं।

अनासक्ति के उपाय

विषय सुख की आसक्ति से मन को विमुख कराने के लिए भोग का त्याग आवश्यक है। इसके पाँच बाहरी उपाय हैं -

1. महाव्रत- दूसरों को दुःख पहुँचाने वाली व अहित करने वाली वृत्ति यथा हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि का त्याग, इन्हें जैन दर्शन में 'महाव्रत', योग दर्शन में 'यम' तथा बौद्ध दर्शन में 'शील' कहा है। बौद्ध-दर्शन में परिग्रह के स्थान पर मद्य आदि नशीले पदार्थों के त्याग का निर्देश है।
2. नियम- इन्द्रिय, मन, बुद्धि के विकारों का त्याग कर मन को शुद्ध बनाना नियम कहा जाता है।
3. आसन- शरीर व मन की चंचलता, चपलता को त्यागने के लिए सुखपूर्वक एक स्थान पर बैठने का निर्देश है जिसे योग दर्शन में आसन कहा है तथा जैन दर्शन में सामायिक, संवर कहा है।
4. प्राणायाम- मन को स्थिर करने के लिए अप्रयत्नपूर्वक श्वास के आवागमन पर मन लगाने का निर्देश है। इससे मन को एकाग्र किया जा सकता है और फिर इच्छानुसार कहीं पर भी ले जाया जा सकता है। इसे पतंजलि योग में प्राणायाम तथा बौद्ध दर्शन में आनापानसती (आते-जाते सांस की स्मृति रखना) कहा है।
5. प्रत्याहार- इन्द्रियों व मन की वृत्तियों को जो सुख-भोग में बहिर्मुखी हो रही हैं, अंतर्मुखी कर स्व में लौटने को प्रत्याहार व जैन दर्शन में प्रतिसंलीनता कहा है।

मन को केन्द्रित करने के उपाय

इन पाँच बाहरी उपायों के अतिरिक्त अन्तरंग उपाय भी हैं। इनमें प्रमुख हैं स्वाध्याय, धारणा, ध्यान, समाधि या कायोत्सर्ग। स्वाध्याय में आध्यात्मिक पुस्तकों का अध्ययन तथा स्व का अध्ययन समाहित है। धारणा में चित्त को शरीर के किसी एक अंग पर ले जाकर उस पर मन केन्द्रित कर वहाँ पर हो रही संवेदना को देखा जाता है। धारणा में प्रकट संवेदना को लगातार देखना व मन को केन्द्रित रखना ध्यान है। जब ध्यान

संकल्प-विकल्प रहित होकर पूर्ण समता में स्थित हो जाय तो इसे समाधि कहते हैं। जब शरीर से भी मन का अलगाव हो जाय और देह से देहातीत हो जाय तो कायोत्सर्ग कहलाता है। यह अवस्था जब उच्चतम स्थिति में पहुँचती है तो कैवल्य अवस्था में पहुँच जाती है। यही मुक्ति की स्थिति है। यही स्वरूप में अवस्थित होना है।

बाहरी रोक व आचरण अस्थायी हैं तथा बाहरी आकर्षण मिलने पर आचरण से विचलित होना संभव है अतः कई तरह के नियम बनाए गए हैं और उनका पालन आवश्यक माना जाता है। श्रमणाचार इसी दृष्टि से बनाया गया है, परन्तु जब अंतर में अवस्थित हो प्रज्ञा प्राप्त कर लेते हैं तो आन्तरिक विवेक ही मार्गदर्शक बन जाता है और बाहरी दबाव या दिखावे की आवश्यकता नहीं रहती। ज्ञाता को उपदेश की आवश्यकता नहीं है।

अध्यात्मलीन हो मन जब नियंत्रण में आने लगता है तो बाहरी आचरण स्वतः निर्मल, उत्तेजनारहित और आदर्श हो जाता है। अन्तरंग शुद्ध है तो बाहरी आचरण शुद्ध हो जाता है। मन जब शुद्ध और निर्मल होता है तो मन में अनन्त करुणा व मैत्री प्रस्फुटित होती है। सब जीवों के साथ एकता की अनुभूति होती है। तब किसी जीव को कष्ट देना तो दूर, दुःखी देखना भी असह्य हो जाता है। यह करुणा ही अहिंसा है जो अन्दर से बिना किसी उपदेश के प्रस्फुटित होकर आचरण में स्थायी रूप से आती है। अब उसकी संवेदना व्यापक हो जाती है, अतः वह सोचता है कि वह यदि असत्य बोलेगा तो किसी को कष्ट होगा, किसी की वस्तु चुराएगा तो उसे कष्ट होगा तो अतः वह करुणावान व्यक्ति कैसे झूठ बोलेगा या चोरी करेगा? गहराई से देखें तो अहिंसा में ही सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह समाहित हैं। अतः अध्यात्म की ओर झुका व्यक्ति स्वतः ही महाव्रत या शील का पालक होता है।

जैन साधना में तप

जैन साधना में बारह प्रकार के तपों का प्रावधान है जिनमें से छः बाह्य हैं तथा छः आन्तरिक। (1) अनशन (उपवास), (2) ऊणोदरी (भूख से कम खाना), (3) भिक्षाचर्या (भीख लाकर ही भोजन करना, जिससे अहम् का विसर्जन हो), (4) रस-परित्याग (भोजन में रस लेना बंद करना व द्रव्यों के उपभोग पर सीमा लगाना), (5) कायक्लेश (सुखशीलता का त्याग), (6) प्रतिसंलीनता (बहिर्मुखी वृत्तियों को अंतर्मुखी बनाना) ये छह बाह्य तप माने गए हैं। ये बाह्य तप हैं, लेकिन वैराग्य के हिस्से हैं और इनकी पालना के बिना मन वश में करना कठिन है। हम भोजन व विभिन्न व्यंजनों के लिए कितने लालायित रहते हैं? रसना कुछ न कुछ चटपटा, रसीला व्यंजन तलाशती रहती है। अतः अनशन, ऊणोदरी, रसपरित्याग जैसे तप रसना पर नियंत्रण के लिए हैं। जब तक मन अंतर्मुखी न बने तब तक बाह्य तप का महत्त्व है और जैसे ही मन अंतर्मुखी बन जाता है उसका इन सब चीजों में रस ही समाप्त हो जाता है और तब तप एक बाह्यातिरेक बन जाता है। इसके विपरीत (1) प्रायश्चित्त (दोषों का शोधन करना) (2) विनय (अहम् को गलाकर वंदन भाव में आना), (3) वैयावच्च (सेवा करना), (4) स्वाध्याय, (5) ध्यान व (6) कयोत्सर्ग को आन्तरिक तप बताया है। स्वाध्याय से आगम व आसवाणी का बोध होता है। उसकी अनुभूति ध्यान में की जाती है। मन को आर्तध्यान व रौद्रध्यान त्याग कर

धर्मध्यान में लगाना होता है। ध्यान में लीन होने का मुख्य उद्देश्य है मन की भाग दौड़, चंचलता, ऊहापोह खत्म कर चित्त को शांत करना, समता को प्राप्त होना, समाधि को प्राप्त करना, समाधि शब्द 'सम+आधि' से बना है जिसका अर्थ है समता की आय और जब समता की आवक मन में हो तो मन में समाधि आती है। कायोत्सर्ग तब होता है जब मन देह के प्रति विमुक्त होकर देहातीत हो जाय। स्वाध्याय व ध्यान को साधना में इतना महत्त्व दिया है कि साधु को निर्देश है कि वह दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करे, द्वितीय प्रहर में ध्यान करे तथा तीसरे प्रहर में आहार करे। अतः जैन साधना में स्वाध्याय व ध्यान का प्रमुख स्थान है, परन्तु वर्तमान में ध्यान व कायोत्सर्ग का केवल जिक्र होता है, आचरण कम।

ध्यान की विधि

ध्यान लगा कर मन को शांत करने का सरल उपाय है- आते-जाते श्वास को देखना, उसी पर ध्यान केन्द्रित करना। जब मन एकाग्र हो जाय तो धीरे-धीरे शरीर के विभिन्न हिस्सों को देखना और वहाँ हो रही संवेदना को समता से देखना। मन की आदत है राग या द्वेष करना। जब शरीर के विभिन्न अंगों को देख रहे हैं तो वहाँ हो रही संवेदना कैसी भी हो- सुखद या दुखद या न सुखद न दुखद, सबके प्रति बिना रागद्वेष जगाये सम-भाव से देखना है और इस प्रकार मन को समता में स्थित करना है। यह अभ्यास से संभव है। अतः 'अभ्यास व वैराग्य' समता प्राप्त करने की कुंजी है।

समिति : वर्तमान में रहना

इस प्रकार मन की आदत है भूत या भविष्य में रमण करना। वह वर्तमान में टिकता ही नहीं। भूत के सुख या दुःख भरे दिनों को वह याद करेगा, अन्यथा भविष्य के सुनहरे सपने संजोयेगा या भविष्य की चिंता कर दुःखी हो जायेगा। परन्तु भूत व भविष्य को छोड़ वर्तमान को स्वीकार कर लेगा और इसी में आनंद मनायेगा तो समता व समाधि को प्राप्त कर लेगा। वर्तमान ही सबसे महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जो चला गया वह आ नहीं सकता। और जो अभी आया नहीं उस पर कोई जोर नहीं। अतः वर्तमान पर ध्यान देना, इसी में जीना व इसका लाभ उठा कर भविष्य का निर्माण करना ज्ञानवान का काम है। जो वर्तमान में नहीं जीता वह वर्तमान के सुख से तो वंचित है ही, भविष्य भी बिगाड़ रहा है। वर्तमान में जो भी कर रहे हैं उसे ध्यान से व स्मृतिपूर्वक किया जाय। इसे ही विवेक कहते हैं और दशवैकालिक सूत्र के अनुसार विवेक से (यत्नपूर्वक) कार्य करने से पाप कर्म का बंध नहीं होता, यह निम्न सूत्र से स्पष्ट है-

जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयम्मासे, जयं सए।

जयं भुंजंतो-भासंतो, पाव कम्मं न बंधइ।।

-दशवैकालिक सूत्र, 4.7

अर्थ:- यत्न से चले, यत्न से बैठे, यत्न से सोये, यत्न से खाए और यत्न से बात करे तो पाप कर्म का बंधन नहीं होता। यहाँ यत्न का अर्थ है विवेक या ध्यान से काम करना। जो भी काम यत्न से होता है वह विवेकपूर्ण होता है

और उसमें कर्ता का ध्यान पूर्णतः लगा है। उसे ध्यान है कि वह क्या कर रहा है और क्यों कर रहा है और करते वक्त जो भी सही रूप से करना है उसकी स्मृति रहती है। यह स्मृति ही बाद में बिगड़ कर 'समिति' बन गया। श्रमण के लिए पाँच समिति व तीन गुप्ति का प्रावधान है और उसका पालन श्रमणाचार का विशेष अंग है। पाँच समिति निम्न प्रकार हैं-

1. ईर्या समिति (आवागमन स्मृति पूर्वक करना)
2. भाषा समिति (भाषा ध्यानपूर्वक बोलना)
3. एषणा समिति (भिक्षा ध्यानपूर्वक लाना)
4. निक्षेपण समिति (वस्त्र, पात्र, शास्त्र आदि ध्यानपूर्वक उपयोग में लेना)
5. प्रतिष्ठापना समिति (मल-मूत्र-श्लेष्म आदि का प्रतिष्ठापन ध्यानपूर्वक करना)

प्रत्येक कार्य को ध्यानपूर्वक करना भी ध्यान की साधना के समान है। चलते वक्त ध्यानपूर्वक चलें तो साधना है और तेजी से बातें करते हुए या इधर-उधर देखते हुए चलना अविवेक है। ईर्या समिति के लिए निर्देश है कि नीचे दृष्टि रखकर, देह प्रमाण भूमि देखकर व अन्य कार्यों व विचारों से मन हटाकर ध्यान से चलना चाहिए। अनुभव करके देखें कि यदि ध्यानपूर्वक चलें तो नज़र दो गज से ज्यादा उठ ही नहीं सकती। चलते वक्त चिंतन व अन्य कोई काम न करें तो चलन स्मृतिपूर्वक यत्न से होगा और पाप का बंध भी नहीं होगा।

श्रमण के लिए पाँच महाव्रत, बारह तप, पाँच समिति एवं तीन गुप्ति का प्रावधान मुख्य है। तीन गुप्ति में मन, वचन व काया को गुप्त करने का निर्देश है अर्थात् मन को व्यर्थ में इधर-उधर जाने न दें। वचन कम से कम बोलें व जो भी बोलें किसी के लिए कष्टप्रद न बोलें। काया को भी साधना के अतिरिक्त किसी अन्य कार्य में प्रयुक्त न करें। अध्यात्म में लीन श्रमण बाह्य आचार से अधिक आन्तरिक शुद्धि में व्यस्त रहता है। आन्तरिक शुद्धि ही अंतिम लक्ष्य है और बाह्य आचार प्रारम्भिक भूमिका है जो अंतर में जाने में सहायक है।

आचार बाहरी या ऊपरी निर्देश है जो साधक के लिए प्रारम्भिक अवस्था में मार्गदर्शक, रक्षाकवच और लक्ष्यप्राप्ति में सहायक होता है। आचार को द्रव्य रूप से पालने की अपेक्षा भावपूर्वक पालना अधिक महत्त्वपूर्ण है। अपने लक्ष्य पर पहुँचने पर आचार चारित्र में परिवर्तित हो जाता है। चारित्र वह है जो स्व विवेक व प्रज्ञा से प्रकट होता है और जिसमें बाहरी निर्देश की आवश्यकता नहीं रहती। यही चारित्र 'यथाख्यात' चारित्र कहलाता है जिसका अर्थ है जो प्रकट में है वैसे ही अंतरंग में है, दिखावे के लिए कुछ भी नहीं है। वही चारित्र स्थायी चारित्र है। क्योंकि थोपा हुआ आचरण कभी भी स्वलित हो सकता है। यथाख्यात चारित्र अंतिम स्थिति है और उस पर बाहरी संस्कार या आवेश का कोई असर नहीं होने वाला है। आन्तरिक साधना से स्वतः यथाख्यात चरित्र की प्राप्ति होगी और वही स्थायी चारित्र है।

C-1703, Lake Castle, Hiranadani Garden, Powai, Mumbai-400076 (Mh.)

आदर्श श्रमण-जीवन का स्वरूप

प्रो. सागरमल जैन

एक आदर्श जैन श्रमण के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए इस आलेख में डॉ. सागरमल जी ने बौद्ध श्रमण की विशेषताओं से भी परिचित कराया है तथा जैन श्रमणाचार की कठोरता, निवृत्तिपरकता आदि के कारण उठने वाले आक्षेपों का सुन्दर एवं तार्किक निराकरण किया है। बौद्ध श्रमण-परम्परा की अपेक्षा जैन श्रमण-परम्परा की श्रेष्ठता के साथ उन्होंने समाज में नैतिक-व्यवस्था हेतु उनकी भूमिका का महत्त्व प्रतिपादित किया है।-सम्पादक

आदर्श जैन-श्रमण का स्वरूप

बुद्धिमान पुरुषों के उपदेश से अथवा अन्य किसी निमित्त से गृहस्थाश्रम को छोड़कर जो त्यागी भिक्षु सदैव ज्ञानी महापुरुषों के वचनों में लीन रहता है, उनकी आज्ञानुसार ही आचरण करता है, नित्य चित्त को समाधि में लगाता है, स्त्रियों के मोहजाल में नहीं फँसता और वमन किए हुए भोगों को फिर भोगने की इच्छा नहीं करता, वही आदर्श भिक्षु है। जो साधु ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर के उत्तम वचनों में रुचि रखते हुए सूक्ष्म तथा स्थूल- दोनों प्रकार के षट् जीवनिकायों (प्रत्येक प्राणिसमूह) को आत्मवत् मानता है, पाँच महाव्रतों का धारक होता है और पांच प्रकार के पापाचारों (मिथ्यात्व, अन्नत, प्रमाद, कषाय तथा अशुभयोग के व्यापार) से रहित होता है, वही आदर्श साधु है। जो ज्ञानी साधु, क्रोध, मान, माया और लोभ का सदैव वमन करता रहता है, ज्ञानी पुरुषों के वचनों में अपने चित्त को स्थिर लगाए रहता है और सोना, चांदी, इत्यादि धन को छोड़ देता है, वही आदर्श साधु है। जो मूढ़ता को छोड़कर अपनी दृष्टि को शुद्ध (सम्यक्दृष्टि) रखता है; मन, वचन और काय का संयम रखता है; ज्ञान, तप और संयम में रहकर तप द्वारा पूर्व संचित कर्मों का क्षय करने का प्रयत्न करता है, वही आदर्श भिक्षु है तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के आहार, पानी, खाद्य तथा स्वाद्य आदि सुन्दर पदार्थों की भिक्षा को कल या परसों के लिए संचय करके नहीं रखता और न दूसरों से रखवाता ही है, वही आदर्श भिक्षु है। जो साधु कलहकारिणी, द्वेषकारिणी तथा पीड़ाकारिणी कथा नहीं कहता, निमित्त मिलने पर भी किसी पर क्रोध नहीं करता, इन्द्रियों को निश्चल रखता है, मन को शान्त रखता है, संयम में सर्वदा लीन रहता है तथा उपशम-भाव को प्राप्त कर किसी का तिरस्कार नहीं करता, वही आदर्श भिक्षु है। जो कानों को काँटे के समान दुःख देने वाले आक्रोश वचनों, प्रहारों, और अयोग्य उपालम्भों (उलाहनों) को शान्तिपूर्वक सह लेता है, भयंकर एवं प्रचंड गर्जना के स्थानों में भी जो निर्भय रहता है और सुख तथा दुःख को समतापूर्वक भोग लेता है, वही आदर्श भिक्षु है। जो साधु मास आदि की प्रतिमा, यानी अभिग्रह स्वीकार कर श्मशान में

अत्यन्त भयंकर दृश्यों को देखकर भी नहीं डरता है, मूलगुण आदि में और तपों में रत रहता है तथा ममता से शरीर को भी वर्तमान और भविष्य के लिए नहीं चाहता है, वह भाव-भिक्षु है। जो साधु अनेक बार कायोत्सर्ग करता है, अर्थात् शरीर की ममता को छोड़कर शोभा को त्यागता है तथा गाली सुनकर, मार खाकर या कुत्ते आदि के काटने पर भी जो पृथ्वी के समान क्षमाशील, सब कुछ सह लेने वाला होता है तथा जो किसी प्रकार का निदान-नियाम नहीं करता है और कौतूहल देखने-सुनने की तीव्र इच्छा से दूर रहता है, वह मुनि भावसाधु है। फिर, शरीर से परीषहों को जीतकर जो साधु जन्ममरणरूप संसारमार्ग से अपनी आत्मा को ऊपर उठा लेता है और जन्ममरण को अत्यन्त भयंकर समझकर श्रमणाचार व तप में लगा रहता है, वही भावभिक्षु है। जो साधु हाथों से संयत है, चरणों से संयत है तथा वचनों से संयत है और इन्द्रियों से संयत है तथा जो धर्मध्यान में लगा रहने वाला और समाधियुक्त आत्मा वाला है तथा जो सूत्रार्थों को समझता है, वह भावसाधु है। जो साधु अपने वस्त्र-पात्र आदि भण्डोपकरणों में भी ममता और प्रतिबन्धरूप लोभ से रहित है तथा बिना परिचय के घरों में भिक्षा के लिए जाता है व संयम को निस्सार बनाने वाले पुलाक व निष्पुलाक-दोषों से दूर रहता है तथा खरीद, बिक्री व संचय आदि से विरत रहता है और जो सब प्रकार से संगों के मुक्त है, वह साधु भावभिक्षु है। जो साधु नहीं मिली हुई चीजों में लोलुपता नहीं रखता तथा मिले हुए रसों में आसक्ति भी नहीं रखता है और भावविशुद्ध गोचरी करता है तथा जो असंयमी-जीवन को नहीं चाहता है और जो स्थिरचित्त होकर लब्धिरूप ऋद्धि, वस्त्रादि के सत्कार तथा स्तुति आदि से पूजा की भी आशा नहीं रखता है, वह भावसाधु है। जो साधु न जाति से मत्त बनता और न रूप से तथा जो लाभ में भी मद नहीं करता एवं श्रुतज्ञान का भी अभिमान नहीं रखता है और जो सब प्रकार के गवों को छोड़कर धर्मध्यान में लगा रहता है, वह भावभिक्षु है। जो महामुनि सच्चे धर्म का ही मार्ग बताता है, जो स्वयं सद्धर्म पर स्थिर रहकर दूसरों को भी सद्धर्म पर स्थिर करता है, त्याग-मार्ग ग्रहण कर दुराचारों के चिह्नों को त्याग देता है (अर्थात् कुसाधु का संग नहीं करता) तथा किसी के साथ ठिठोली, मसखरी आदि नहीं करता, वही सच्चा भिक्षु है। (ऐसा भिक्षु क्या प्राप्त करता है?) ऐसा आदर्श भिक्षु सदैव कल्याणमार्ग में अपनी आत्मा को स्थिर रखकर नश्वर एवं अपवित्र देहावास को छोड़कर तथा जन्म-मरण के बंधनों को सर्वथा काटकर अपुनरागति मोक्ष को प्राप्त होता है।'

इसी प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र में भी 'सभिक्षु' नामक अध्ययन में आदर्श भिक्षु-जीवन का परिचय वर्णित है। जिसने विचारपूर्वक मुनि-वृत्ति अंगीकार की, जो सम्यग्दर्शनादि से युक्त, सरल, निदानरहित, संसारियों के परिचय का त्यागी, विषयों की अभिलाषा रहित और अज्ञात कुलों की गोचरी करता हुआ विचरता है, वही भिक्षु कहलाता है। राग-रहित, संयम में दृढ़तापूर्वक विचरने वाला, असंयम से निवृत्त, शास्त्रज्ञ, आत्मरक्षक, बुद्धिमान, परीषहजयी, समदर्शी, किसी भी वस्तु में मूर्च्छा नहीं करने वाला भिक्षु कहलाता है। कठोर वचन और प्रहार को जानकर समभाव से सहे, सदाचरण में प्रवृत्ति करे, सदा आत्मगुप्त रहे तथा जो अव्यग्र मन से संयममार्ग में आनेवाले कष्टों को समभाव से सहन करता है, वही भिक्षु है।

जीर्ण शय्या और आसन तथा शीत, उष्ण, डॉस, मच्छर आदि अनेक प्रकार के परीषहों के उत्पन्न होने पर अव्यग्र मन से सब कष्टों को सहन करता है, वही भिक्षु है। जो पूजा-सत्कार नहीं चाहता, वन्दना-प्रशंसा का इच्छुक नहीं है, वह संयती, सुव्रती, तपस्वी, आत्मगवेषी और सम्यग्ज्ञानी ही भिक्षु कहलाता है। जिनकी संगति से संयमी-जीवन का नाश और महामोह का बंध होता है, ऐसे स्त्री-पुरुषों की संगति को जो तपस्वी सदा के लिए छोड़ देता है तथा जो कौतूहल को प्राप्त नहीं होता, वही भिक्षु है। जो छेदन-विद्या, स्वर-विद्या, भूकम्प, अंतरिक्ष, स्वप्न-लक्षण, दंड, वास्तु, अंगविचार, पशुपक्षियों की बोली जानना, इन विद्याओं से अपनी आजीविका नहीं करता- वही भिक्षु है। जो मंत्र, जड़ी-बूटी, विविध वैद्य-प्रयोग, वमन, विरेचन, धूप्रयोग, आंख का अंजन, स्नान, आतुरता, माता-पितादि की शरण और चिकित्सा-इन सबको ज्ञान से हेय जानकर छोड़ देते हैं; क्षत्रिय, मल्ल, उग्रकुल, राजपुत्र, ब्राह्मण, भोगिक और विविध प्रकार के शिल्पी, इनकी प्रशंसा और पूजा नहीं करता, इनकी सदोषता जानकर त्याग देता है, वही भिक्षु है। जो दीक्षा लेने के बाद या पहले जिन गृहस्थों को देखा हो, परिचय हुआ हो, उनके साथ इहलौकिक-फल की प्राप्ति के लिए विशेष परिचय नहीं करता, वही भिक्षु है। जो गृहस्थ के यहाँ आहार, पानी, शय्या, आसन तथा अनेक प्रकार के खादिम होते हुए भी वह नहीं दे और इनकार कर दे, तो भी उस पर द्वेष न करे, वही निर्ग्रन्थ भिक्षु है। गृहस्थों के यहाँ से आहार-पानी और अनेक प्रकार के खादिम-स्वादिम प्राप्त करके जो बालवृद्धादि साधुओं पर अनुकम्पा करता है, मन, वचन और काया को वंश में रखता है, ओसामण, जौ का दलिया, ठंडा आहार, कांजी का पानी, जौ का पानी और नीरस आहारादि के मिलने पर जो निन्दा नहीं करता तथा प्रान्तकुल में गोचरी करता है, वही भिक्षु है। लोक में देव, मनुष्य और तिर्यच संबंधी अनेक प्रकार के महान् भयोत्पादक शब्द होते हैं, उन्हें सुनकर जो चलित नहीं होता, वही भिक्षु है। लोक में प्रचलित अनेक प्रकार के वादों को जानकर जो विद्वान् साधु आत्महित में स्थिर होकर संयम में दृढ़ रहता है और परीषहों को सहन करता है तथा सब जीवों को अपने समान देखता हुआ उपशान्त रहकर किसी का बाधक नहीं बनता, वही भिक्षु है। अशिल्पजीवी, गृहरहित, मित्र और शत्रु से रहित, जितेन्द्रिय, सर्वथा मुक्त, अल्पकषायी, अल्पाहारी, परिग्रहत्यागी होकर जो एकाकी राग-द्वेष रहित विचरता है, वही भिक्षु है।²

बौद्ध-परम्परा में आदर्श श्रमण का स्वरूप

बौद्ध-परम्परा में सुत्तनिपात और धम्मपद में आदर्श श्रमण के स्वरूप का वर्णन है। सुत्तनिपात का कथन है- संगति से भय उत्पन्न होता है और गृहस्थी से राग, इसलिए मुनि एकान्त और गृहहीन जीवन को पसन्द करता है। जो उत्पन्न पाप को उच्छिन्न कर फिर उसे होने नहीं देता, जो उत्पन्न होते पाप को बढ़ने नहीं देता, उस एकान्तचारी शान्तिपद द्रष्टा महर्षि को मुनि कहते हैं। वस्तुस्थिति का बोध कर जिसने (संसार के) बीज को नष्ट कर दिया है, जो उसकी वृद्धि के लिए तरावट नहीं पहुँचाता, जो बुरे वितकों को त्यागकर अलौकिक हो गया है, आवागमन से मुक्त उस महात्मा को मुनि कहते हैं। मुनि सभी

सांसारिक-अवस्थाओं को जानकर उनमें से किसी एक की भी आशा नहीं करता। तृष्णा और लोलुपता से रहित वह मुनि पुण्य और पाप का संचय नहीं करता, क्योंकि वह संसार से परे हो गया है। जिसने सबको अभिभूत किया है, जान लिया है, जो बुद्धिमान है, जो सब बातों में अलिप्त रहता है, जिसने सबको त्यागा है और तृष्णा का क्षय कर मुक्त हुआ है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। एकचारी, अप्रमत्त, निन्दा-प्रशंसा से अविचलित, शब्द से त्रस्त न होने वाले, सिंह की तरह किसी से भी त्रस्त न होने वाले, जाल में न फँसने वाली वायु की तरह कहीं भी न फँसने वाले, जल से अलिप्त पद्म-पत्र की तरह कहीं भी लिप्त न होने वाले, दूसरों को मार्ग दिखाने वाले, दूसरों के अनुयायी न बनने वाले उस ज्ञानीजन को मुनि कहते हैं। जो खम्भे की तरह स्थिर है, जिस पर औरों की निन्दा-प्रशंसा का प्रभाव नहीं पड़ता, जो वीतराग और संयत-इन्द्रिय है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो ऋजु और स्थिरचित्त वाला है, जो पापकर्मों से परहेज करता है और जो विषमता तथा समता का खयाल रखता है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो संयमी है और पाप नहीं करता, जो आरम्भ और मध्यम वय में संयत रहता है, जो न स्वयं चिढ़ता है और न दूसरों को चिढ़ाता है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो अग्रभाग, मध्यभाग या अवशेषभाग से भिक्षा लेता है, जिसकी जीविका दूसरों के दिए पर निर्भर है और जो दायक की निन्दा या प्रशंसा नहीं करता, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो मैथुन से विरक्त हो एकाकी विचरण करता है, जो यौवन में भी कहीं आसक्त नहीं होता और मद-प्रमाद से विरक्त तथा विप्रमुक्त है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जिसने संसार को जान लिया है, जो परमार्थदर्शी है, जो संसाररूपी बाढ़ और समुद्र को पार कर स्थिर हो गया है, उस छिन्न ग्रंथिवाले को ज्ञानीजन मुनि कहते हैं।¹

जैन-श्रमणाचार पर आक्षेप और उनका उत्तर

अहिंसा पर निर्मित जैन नैतिक-नियमों को अत्यन्त कठोर, अव्यावहारिक और अत्यधिक बौद्धिक कहकर उनकी आलोचना की गई है।

जहाँ तक अहिंसा के सिद्धांत की बात है, वह अत्यधिक बौद्धिकता पर आधारित नहीं माना जा सकता। अहिंसा का मूल करुणा, अनुकम्पा, समानता की भावना और प्रेम है, जो बौद्धिकता की अपेक्षा अनुभूति का विषय है, फिर इन पर आधारित नियम अतिबौद्धिक कैसे हो सकते हैं?

अहिंसा के आधार पर निर्मित जैन साधु-जीवन के नैतिक-नियमों की कठोरता के विषय में जो आक्षेप है, उसका परिमार्जन आवश्यक है। जहाँ तक जैन आचार-विधि के नैतिक-नियमों की कठोरता की बात है, उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। आलोचकों के इस कथन में सत्यता का अंश अवश्य है। भगवान् बुद्ध ने भी गृधनाम पर्वत पर जैन-भिक्षुओं के कठोर आचरण तथा तपस्यादि देखकर उन भिक्षुओं के सम्मुख ही इस शारीरिक-कष्ट देने की पद्धति की आलोचना की थी।

इस आक्षेप का उत्तर कठोर आचरण के मूल्य को समझे बिना नहीं दिया जा सकता, यद्यपि इस प्रयास में हम आक्षेप के मुद्दे से थोड़े दूर होंगे, लेकिन यह आवश्यक है।

जैन आचार-पद्धति के इतिहास में हमने देखा था कि मध्यवर्ती जैन-तीर्थंकरों के युग में आचरण के नियमों में इतनी कठोरता नहीं थी, लेकिन जब मनुष्य में छल और प्रवंचना की वृत्ति अधिक विकसित हो गई, तब महावीर को कठोर नियमों का विधान करना पड़ा। मनुष्य भोगों में आसक्ति रखता है और यदि उस ओर जाने के लिए थोड़ा-सा भी मार्ग मिला, तो वह भोगों में गृह्य हो आध्यात्मिक-साधना तज देता है। बुद्ध ने आचरण के कठोर नैतिक-नियम नहीं दिए, किन्तु इसका जो परिणाम बौद्ध श्रमण-संस्था पर हुआ, वह हमारे सामने है। उसी पवित्र बौद्ध-संघ की संतान के रूप में वामाचार-मार्ग जैसे अनैतिक और आचारभ्रष्ट सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ। व्यवस्थित कठोर नैतिक-नियमों के अभाव में वैदिक साधु-समाज की क्या स्थिति है, यह छिपा नहीं है। यदि जैन संघ-व्यवस्था में कठोर नैतिक-नियमों का अभाव होता, तो वह भी पतन के मार्ग में इनसे आगे निकल गई होती।

मन की चंचलवृत्ति जब छल और प्रवंचना से युक्त हो जाती है, तो उसके निरोध के लिए कठोर नैतिक-नियम आवश्यक हो जाते हैं। इन्द्रियाँ अपने विषयों की प्राप्ति के लिए बिना विवेक के प्रयत्न करती रहती हैं। यदि कठोर नैतिक-नियमों के पालन के द्वारा उन पर संयम नहीं रखा जाए, तो वे व्यक्ति का अहित कर डालती हैं।

कठोर आचार या शारीरिक-कष्ट सहने का दूसरा पहलू है- आत्मा और शरीर के एक मानने की भ्रान्ति को दूर करना। आध्यात्मिक-साधना में यह आवश्यक है कि आत्मा को शरीर से भिन्न समझा जाए। सामान्य रूप से लोग शरीर और आत्मा को पृथक् नहीं मानते और शारीरिक-पीड़ा और सुख को वास्तविक मान बैठते हैं। आत्मविकास की आचार-पद्धतियों में आत्मा को शरीर से परे माना जाना आवश्यक है। साधक कठोर नैतिक-नियमों के पालन से उत्पन्न कष्टों को इसलिए सहन करता है कि शारीरिक-कष्ट का उसकी आत्मा से कोई संबंध नहीं, वे उसकी आत्मा को सुखी-दुःखी नहीं कर सकते, इस तथ्य को समझ सके। वह कष्टों को निमंत्रण देकर इस बात की परीक्षा करता रहता है कि वह कितने अधिक रूप में शरीर और आत्मा के द्वैत की बात अपना सका है।

आचरण की कठोरता सापेक्ष है। आचरण का कौन-सा नियम कठोर है, यह नहीं कहा जा सकता। जो आचरण का नियम एक व्यक्ति को कठोर लगता है, वह दूसरे के लिए सरल हो सकता है। जैन-साधुओं का यह नियम होता है कि वे वाहन का उपयोग नहीं करते, वरन् सभी ऋतुओं में नंगे पांव पैदल चलते हैं। अब यह नियम उस व्यक्ति के लिए, जिसने गृहस्थ-जीवन में एक मील भी पैदल यात्रा नहीं की हो, कठोर होगा और उस किसान के लिए, जो रात-दिन पैदल चलता था, आसान होगा।

एक प्रकार का आचरण व्यक्ति को उस प्रकार के अभ्यास के पूर्व कठोर लगता है, लेकिन वही आचरण अभ्यास के बाद उसी व्यक्ति को सरल लगता है। जैन-साधु अपने केशों का मुण्डन नहीं करवाते, वरन् अपने हाथों से उखाड़ते हैं। नवदीक्षित साधु इसमें पीड़ा का अनुभव करते हैं, लेकिन 2-4 वर्षों के पश्चात् देखने में आता है कि उन्हें किसी प्रकार की पीड़ा का अनुभव नहीं होता। वे हँसते-हँसते

केशलुंचन कर लेते हैं। सामान्य व्यक्ति के लिए एक समय का भोजन छोड़ देना कठिन मालूम होता है, लेकिन ऐसे लोग भी देखने में आते हैं, जो 8-10 दिन तक निराहार और निर्जल रहकर भी जीवन के सामान्य क्रमों का यथावत् सम्पादन करते हैं। कठोरता का मापदंड स्थिर नहीं रखा जा सकता, वह तो व्यक्ति के साहस, अभ्यास और क्षमता पर निर्भर है।

जो लोग जैनाचार-विधि को अत्यन्त कठोर बताते हैं, उनका मापदंड अपना है। वे अभ्यास या आत्मसाहस की हीनता में ऐसा समझ बैठे हैं। वे स्वयं को उस परिस्थिति में रखने के बाद विचार करें, तो उन्हें कठिन नहीं लगेगा।

जैनाचार-विधि में श्रमण के सामान्य आचरणात्मक-सिद्धान्तों पर किए जाने वाले आक्षेपों में प्रथम आक्षेप उसकी निवृत्तिपरकता पर किया जाता है। पाश्चात्य-विचारकों ने इस वैराग्यवादी-धारणा की कटु आलोचना की है। उसे व्यक्ति की सांसारिक-परिस्थितियों से समायोजित करने की क्षमता का अभाव माना है। उनकी दृष्टि में निवृत्तिपरक आचार-व्यवस्था एक प्रकार की नैराश्यवादी-मान्यता है, जो व्यक्ति के साहस को कुंठित करती है। इसे मानव-जाति के विकास में घातक माना गया है और पलायनवादी मनोवृत्ति कहकर इसकी आलोचना की गई है।

इस आक्षेप के उत्तर के पूर्व हमें निवृत्ति के वास्तविक रूप को जानना होगा। निवृत्ति का अर्थ है- अशुभ, पापकारी या हिंसक कार्यों से दूर होना। जैन ही क्यों, किसी भी निवृत्तिपरक आचार-व्यवस्था ने कभी शुभ, अहिंसक, परोपकारी कार्यों का निषेध नहीं किया है। निवृत्ति का अर्थ संसार से या समाज से पलायन नहीं है। सामान्य विचारक को वह संसार से पलायन इसलिए दिखाई देता है कि इस जगत् में प्रवृत्ति के नाम पर जो स्वार्थ एवं स्वहित की धारणा और हिंसक-आचरण का वर्चस्व है, साधक उससे अपने को दूर कर लेता है। दूसरे, निवृत्तिपरक-आचरण साधक की सामंजस्य-क्षमता के अभाव का परिचायक नहीं है, वरन् साधक स्वयं उसे करना नहीं चाहता है, क्योंकि वह उसे विकास की सही दिशा नहीं मानता।

इसे निराशावादिता भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि साधक चरम लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है, साथ ही पूर्णता-प्राप्ति का यह लक्ष्य सहज प्राप्य नहीं है, अतएव ऐसे मार्ग के पथिक में साहस का अभाव नहीं हो सकता, वरन् उसके हृदय में तो साहस का सागर हिलोरें मारता है। वैराग्यवादी-धारणा को सामाजिक-हित में घातक मानना भी उचित नहीं, क्योंकि प्रथम तो, वैराग्य का लक्ष्य आत्म-विकास के साथ ही जन-कल्याण भी रहता है। साधक का एक काम यह भी है कि वह साधना के द्वारा जिस सत्य को प्राप्त करे, उसे उस समाज को भी बताए जिसके द्वारा अपनी शारीरिक-आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। जैन साधु के लिए यह आवश्यक है कि वह लोगों को सन्मार्ग बताए।

समाज में नैतिक-व्यवस्था बनाए रखने के लिए वे साधक प्रहरी और प्रेरणासूत्र होते हैं, जो समाज से अल्पतम लेकर नैतिक-मूल्यों को जीवित रखते हैं। इस प्रकार, श्रमण-साधक समाज-हित के

घातक नहीं हैं, वरन् वे समाज-व्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण सेवा अर्पित करते हैं। वे समाज के सामने कठोर यातनाएँ सहकर कर्त्तव्यच्युत नहीं होते हुए अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उनका जीवन 'सादा जीवन, उच्च विचार' का प्रतीक बन, समाज के प्राणियों में सद्भावना-सहयोग और परोपकार की वृत्ति जागृत करता है, वे लोगों को स्वार्थ के लिए जीना नहीं सिखाते, वरन् स्व-पर कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

यदि हम समाज में नैतिक-व्यवस्था चाहते हैं, सद्गुणों का विकास चाहते हैं, आपस में छीना-झपटी समाप्त करना चाहते हैं, तो इन निवृत्तिपरक-जीवन बिताने वाले साधकों के महत्त्व को समझना होगा।

लोग निवृत्तिपरक-जीवन जीने वाले साधकों को समाज पर भार समझते हैं। उन्हें सामाजिक-श्रम का शोषक कहा जाता है। किन्तु उन लोगों को छोड़कर, जो केवल साधुवृत्ति के नाम पर पेट पालते हैं, सच्चे साधु या साधक को समाज के श्रम का शोषक नहीं कहा जा सकता। हम अपराधों को रोकने, या धन-सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए करोड़ों रुपए व्यय करते हैं, पुलिस, चौकीदार और बड़े-बड़े न्यायाधीश रखते हैं, उन्हें सामाजिक-श्रम का शोषक नहीं कहा जाता, लेकिन जो रोटी का टुकड़ा और कपड़ा लेकर समाज में सद्गुणों के विकास के लिए प्रयास करे, उपदेश दे, लोगों को अनैतिक-आचरण से विमुख रखे और स्वयं के आचरण से आदर्श उपस्थित करे, उसे हम सामाजिक-श्रम का शोषक कहें, यह बात बुद्धिगम्य नहीं लगती। यह सबसे बड़ी मूर्खता है कि हम सदाचार के वृक्ष को लगाने वाले की अपेक्षा दुराचार की घास खोदने वाले को अधिक महत्त्व देते हैं, जिसका परिणाम स्थायी नहीं है।

श्रमणवर्ग पर एक आक्षेप यह लगाया जाता है कि सामाजिक-विकास के लिए सभी सदस्यों का सहयोग अपेक्षित होता है। यही नहीं, वरन् समाज के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य भी होता है कि वह सामाजिक-विकास में अपना भाग अदा करे, किन्तु श्रमण-वर्ग समाज के विकास में अपना योगदान नहीं देता है और सामाजिक-विकास में बाधक है। इस आक्षेप का मूल कारण यह है कि हम केवल भौतिक-विकास को ही विकास मान लेते हैं और नैतिक तथा आध्यात्मिक-विकास को भूल जाते हैं। भौतिक-विकास सामाजिक-विकास का एक अंग हो सकता है, लेकिन वह पूर्ण सामाजिक-विकास नहीं है। दूसरे, भौतिक-विकास को नैतिक और सामाजिक-विकास से अधिक मूल्यवान् भी नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में जैन साधु-वर्ग, जो नैतिक और आध्यात्मिक-विकास में सहयोग देता है, सामाजिक-विकास का बाधक नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन आचार-दर्शन में श्रमण-संस्था वैयक्तिक एवं सामाजिक-जीवन में नैतिकता की प्रहरी है। उसके मूल्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

सन्दर्भ:-

1. दशवैकालिक, अध्ययन 10
2. उत्तराध्ययन, 15.1-16
3. सुत्तनिपात 12.1-3

-निदेशक, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

श्रमण-परम्परा का वैशिष्ट्य

प्रो. दयानन्द भार्गव

श्रमण-परम्परा निवृत्ति प्रधान है, किन्तु प्रवृत्ति की निषेधक नहीं है। इसमें अशुभ से निवृत्ति एवं शुभ में अथवा संयम में प्रवृत्ति की जाती है। यह तथ्य गुप्ति एवं समिति की साधना में अन्तर्निहित है। श्रमण-परम्परा की निवृत्तिपरक दृष्टि के महत्त्व का प्रतिपादन प्रो. भार्गव साहब ने पैनी आध्यात्मिक दृष्टि से कर उसका वैदिक परम्परा से भेद भी स्पष्ट कर दिया है। निवृत्ति को आन्तरिक जागरूकता के रूप में निरूपित कर प्रो. भार्गव साहब ने श्रमण-परम्परा का महत्त्व स्थापित किया है। -सम्पादक

भारत में श्रमण-ब्राह्मण संस्कृति आज गंगा-यमुना की भाँति इस प्रकार भारतीय संस्कृति के सङ्ग में मिल चुकी हैं कि दोनों का पृथक्-पृथक् वैशिष्ट्य अङ्कित करना लगभग दुस्सम्भव सा ही हो गया है। मेरी समझ में इन दोनों का दूध-पानी की भाँति मिल जाना ठीक ही हुआ, अन्यथा भारतीय संस्कृति इतनी बहुरंगी और समृद्ध न हो पाती। श्रमण-ब्राह्मण तो ऐतिहासिक नामकरण है, दार्शनिक दृष्टि से तो निवृत्ति-प्रवृत्ति कहना ठीक होगा। बिना निवृत्ति के प्रवृत्ति और बिना प्रवृत्ति के निवृत्ति का दर्शन दुर्लभ ही है। जैन परम्परा में भी अयोग केवली तो चरम स्थिति ही है; उसके पहले योग बना ही रहता है। योग है तो प्रवृत्ति है ही।

अनेकान्त का सिद्धान्त दो विरोधी ध्रुवों के बीच समन्वय पर बल देता है। महर्षि अरविन्द के अनुसार सभी समस्यायें मूलतः दो विरोधी अवधारणाओं के बीच समन्वय स्थापित करने की समस्यायें हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच भी समन्वय स्थापित करने की समस्या को हल करने का प्रयत्न भारतीय दर्शन के इतिहास में प्रारम्भ से ही होता रहा है। जैन परम्परा में जिन-कल्पी व्यवस्था में निवृत्ति को बहुत अधिक महत्त्व दे दिया गया। वर्तमान युग में उस व्यवस्था को अव्यावहारिक मानकर स्थविर कल्प को ही व्यावहारिक माना गया। उधर दिगम्बर परम्परा में ऐसा कोई भेद नहीं और एक ही प्रकार की मुनि-चर्या का विधान है जो श्वेताम्बर परम्परा की अपेक्षा निवृत्ति पर अधिक बल देती प्रतीत होती है। वैदिक परम्परा में संन्यासी अनेक प्रकार के बताये गये हैं- हंस, परमहंस, अवधूत इत्यादि। डॉक्टर हरदत्त शर्मा ने अपने **Brahmanical Contribution to asceticism** नामक शोधग्रन्थ में इन अनेक प्रकार के संन्यासियों की चर्या का उल्लेख किया है। वहाँ भी हमें प्रवृत्ति-निवृत्ति के बलाबल का तारतम्य दृष्टिगोचर होता है।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य का मन प्रवृत्ति-निवृत्ति के द्वन्द्व में सदा से ही झूलता रहा है। कारण यह है कि मनुष्य की अनेक आवश्यकतायें ऐसी हैं- आहार, निद्रा, सुरक्षा आदि -जिनकी पूर्ति प्रवृत्ति से ही होती है। उधर

प्रवृत्ति के संघर्ष से श्रान्ति होती है तो उससे त्राण पाने के लिये मनुष्य निवृत्ति की ओर झुकता है। किन्तु मनुष्य की मूलभूत आवश्यकतायें उसे फिर प्रवृत्ति में ले जाती हैं। यह स्थिति सामान्य व्यक्ति की है। इस स्थिति को लेकर जब दार्शनिक मत निर्मित होने लगे तो प्रवृत्ति-निवृत्ति के तारतम्य को लेकर अनेक सम्प्रदाय बने और अभी भी बनते रहते हैं।

वेदों का धर्म प्रवृत्ति-प्रधान था तो उसी परम्परा में निवृत्ति-प्रधान उपनिषद् भी आये। इन दोनों की आवश्यकता को समझते हुए ज्ञान-कर्म के सन्तुलन पर भी बल दिया गया, किन्तु आचार्य शङ्कर ने ज्ञान-कर्म के विरोध को अपरिहार्य मानकर ज्ञान की उपादेयता और कर्म की हेयता बतायी तो शाङ्कर वेदान्त निवृत्ति-प्रधान हो गया और इसलिये शङ्कराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध भी कहा गया। इसे एक प्रकार से एक ब्राह्मण परम्परा के आचार्य पर श्रमण होने का आरोप समझा जा सकता है। इसके विपरीत ब्राह्मण परम्परा में ही पूर्वमीमांसा कर्म-प्रधान है। यह हम इसलिये कह रहे हैं कि ब्राह्मण श्रमण के बीच कोई व्यावर्तक विभाजक रेखा खींचने की कोशिश सत्य के बहुत निकट नहीं है।

प्रवृत्ति धर्म की अति के उदाहरण इस्लाम में मिलते हैं जहाँ बकरा-ईद पर पशुओं की बलि देना एक धार्मिक कृत्य समझा जाता है। हिन्दुओं में भी काली मां के सम्मुख पशुबलि दी जाती रही है, और अभी भी कहीं-कहीं दी जाती है। तान्त्रिकों के पञ्च मकार के सेवन की बात वाममार्ग के नाम से प्रसिद्ध है। अभिप्राय यह है कि निवृत्ति मार्गी जिसका निषेध करते रहे उसका विधान करने वाले सम्प्रदाय भी हैं। यह प्रवृत्ति की अति के उदाहरण हैं।

दूसरी ओर निवृत्ति की अति के उदाहरण के रूप में जैन दिगम्बर साधु की चर्या देखी जा सकती है जो वस्त्र का एक टुकड़ा भी शरीर पर रखना उचित नहीं समझती। श्वेताम्बर सम्प्रदाय का निवृत्ति पर इतना अधिक बल नहीं है, किन्तु श्वेताम्बरों में भी स्थानकवासियों की अपेक्षा तेरापन्थियों का झुकाव निवृत्ति की ओर अधिक है। जैन धर्म के इन सम्प्रदायों के बीच परस्पर शास्त्रार्थ भी होता रहा है। हमारा अभिप्राय उस शास्त्रार्थ में जाने का बिल्कुल नहीं है, अपितु केवल यह दिखाने का है कि किस प्रकार मानव-मन प्रवृत्ति-निवृत्ति के बलाबल के तारतम्य के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से सोचता रहा है।

गीता में श्री कृष्ण ने अर्जुन को यह समझाया कि वह युद्ध जैसी प्रखर प्रवृत्ति करते हुए भी स्थितप्रज्ञ के रूप में वह समस्त लाभ प्राप्त कर सकता है जो किसी निवृत्तिमार्गी संन्यासी को मिलते हैं। आजकल अनेक संन्यासी लोकसभा का चुनाव लड़ने जैसी प्रवृत्ति करते दिखायी देते हैं। बौद्धधर्म में मध्यम प्रतिपदा के नाम से निवृत्ति-प्रवृत्ति के बीच मध्यम मार्ग अपनाने की बात कही जाती है।

विषय का और भी अधिक विस्तार किया जा सकता है। किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि प्रवृत्ति-निवृत्ति के बीच एक अति से लेकर दूसरी अति के बीच अनेकानेक मार्ग इस देश में उत्पन्न हुए। सबका अपना-अपना तर्क है। रुचि-भेद के कारण इन मार्गों की विविधता बनी रहने वाली है। इनमें निवृत्ति की ओर झुकी परम्परा श्रमण

कहलाती है। कोई भी परम्परा निवृत्ति के महत्त्व को नकार नहीं सकती। आखिर परम्परा न केवल विधि से बनती है न केवल निषेध से। जीवन में दोनों का महत्त्व भी है। इनमें श्रमण परम्परा का वैशिष्ट्य मुख्य रूप से इस प्रकार है:-

1. प्रवृत्ति मनुष्य में सहज है, उसके सिखाने की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता प्रवृत्ति पर अङ्कुश लगाने की है। श्रमण परम्परा यही कार्य करती है। निरङ्कुश प्रवृत्ति से तो सभ्य समाज बन ही नहीं सकता।
2. हमारे जीवन का बाह्यपक्ष ही नहीं है, आन्तरिक पक्ष भी है। बाह्यपक्ष तो प्रवृत्ति का विषय है, किन्तु आन्तरिक पक्ष को निवृत्ति द्वारा ही जाना जा सकता है। अतः निवृत्ति के बिना हमारा ज्ञान अधूरा ही रह जाता है।
3. हमारी आवश्यकता केवल शारीरिक ही नहीं है। हमें दृढ़ इच्छा शक्ति तथा न्याय सङ्गत व्यवहार भी चाहिये। इसके लिये संयम चाहिये जो कि निवृत्ति का ही पर्यायवाची है। जैन परम्परा ने अहिंसा, संयम और तप के रूप में धर्म को परिभाषित किया। मूल रूप में धर्म हमें यही सिखाता है।
4. निवृत्ति का अर्थ आन्तरिक जागरूकता है। इस प्रकार की आन्तरिक जागरूकता से मनुष्य पाता है कि उसमें अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान तथा अनन्त शक्ति है। यह जान लेना मनुष्य को सब बन्धनों से मुक्त कर देता है। यह अन्तरात्मा ही जान सकता है। अन्तरात्मा अन्त में परमात्मा हो जाता है।

-1 जे-7, जीवन सुरक्षा फ्लेट्स, सेक्टर 2, विद्याधरनगर, जयपुर (राज.)



श्रमण-जीवन की महत्ता

श्री सम्पतराज चौधरी

एक साधक गृहस्थ से बढ़कर होता है श्रमण का जीवन। वह आत्म-कल्याण के साथ परकल्याण में भी तत्पर होता है। आत्म-विकास के लिए तप अथवा श्रम करने के कारण उसे श्रमण कहा जाता है। श्री चौधरी साहब ने अपने आलेख में श्रमण के तपस्वी अर्थ का विशेष महत्त्व स्थापित किया है तथा सच्चे श्रमण के साधना-शील जीवन का महत्त्व स्पष्ट किया है। -सम्पादक

साधना का मार्ग एवं फल

आचार्य कुन्दकुन्द के समकालीन आचार्य वट्टकेर ने कहा है- 'मग्गो मग्गफलं ति यदुविहं जिणसासणं समक्खदं' (मूलाचार, 202) अर्थात् महावीर भगवान् ने अपने समस्त प्रवचनों में दो बातें कही हैं- मार्ग एवं मार्ग का फल। मार्ग का अर्थ है- साधना पथ और मार्गफल का अर्थ है- साध्य। मानव को साधना पथ पर चलकर जिस ध्येय को प्राप्त करना होता है वह है- आत्मस्वरूप की प्राप्ति। यही उसका अन्तिम ध्येय है, क्योंकि आत्मस्वरूप की प्राप्ति के पश्चात् पाने योग्य कुछ भी शेष नहीं रहता है।

साधना मानव जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। साधना दो प्रकार की होती है। एक लौकिक साधना होती है और दूसरी लोकोत्तर साधना। जिस मार्ग के बारे में आचार्य ने कहा है, वह लोकोत्तर साधना है। इसे अध्यात्म-साधना भी कहते हैं। अध्यात्म-साधना भी दो प्रकार की होती है- एक देशविरति साधना और दूसरी सर्वविरति साधना। प्रथम प्रकार की साधना में व्यक्ति मर्यादाशील जीवन यापन करता हुआ भी पूर्ण हिंसादि पापों का त्याग नहीं कर सकता, फिर भी वह अर्थ और काम का सेवन करते हुए भी धर्म को ही जीवन में प्रमुख स्थान देता है। जो अर्थ और काम धर्म से च्युत करते हैं, वहाँ वह अपनी कामनाओं का संवरण कर लेता है। साधना के दूसरे मार्ग सर्वविरति में व्यक्ति गृहत्यागी बनकर मन, वचन और काय से सम्पूर्ण हिंसा, स्तेय, अदत्तग्रहण, कुशील और परिग्रह आदि पापों का त्याग कर देता है, उन पापों को अन्य से नहीं करवाता है एवं ऐसे पाप करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करता है। ऐसे गृहत्यागी साधक को जैनागमों में 'श्रमण' कहा है। श्रमण की साधना पूर्ण साधना का मार्ग है, जबकि गृहस्थ की साधना देशविरति होती है जो सर्व-विरति साधना की ओर अग्रसर होने की भूमिका है।

आस्तिक दर्शनों ने चेतन तत्त्व अर्थात् आत्मा को शरीर एवं अन्य दृश्यमान जगत् के पदार्थों से भिन्न और स्वतन्त्र माना है। शरीर में रहता हुआ चेतन तत्त्व अनन्त शक्ति सम्पन्न होकर भी कर्मों के संयोग से अपने स्वरूप को विस्मृत कर चुका है, इसीलिये यह अनेक भवों में अपने कर्मानुसार अलग-अलग पर्यायों में भ्रमण

करता हुआ निरन्तर आकुलता-व्याकुलता को सहन करता रहता है। उसे कभी स्थायी आनन्द नहीं मिल रहा है। स्थायी आनन्द के लिये भगवान् महावीर ने जो मार्ग बताया है, वह है-

नाणेण जाणइ भावे वंसणेण य सहहे ।

चरित्तेण निगिणहाइ तवेण परिभुच्छाई ॥-उत्तराध्ययन सूत्र, 28.35

अर्थात् ज्ञान के द्वारा जीवाजीवादि भावों को जानना, हेय और उपादेय को पहचानना, दर्शन से तत्व का श्रद्धान करना, चारित्र से आने वाले रागादि विकार युक्त कर्म-दलों को रोकना एवं तपस्या से पूर्व संचित कर्मों का क्षय करना, यही संक्षेप में मुक्ति-मार्ग या आत्मशुद्धि की साधना है। गृहस्थ और गृहत्यागी अणगार दोनों इसकी साधना कर सकते हैं। परन्तु गृहस्थ और अणगार की साधना में बहुत बड़ा अन्तर होता है, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। श्रमण अपनी साधना की विशिष्टताओं के कारण साधारण व्यक्तियों से बहुत ऊपर उठ जाता है। इसलिये पहले हम श्रमण के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

तप का श्रम करने वाला श्रमण

हमारे देश में आध्यात्मिक उन्नयन हेतु प्रारम्भ से ही दो धाराएँ चल रही हैं- एक श्रमणधारा और दूसरी वैदिक धारा। जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन में दीक्षित अणगार को 'श्रमण' कहा गया है। हमारी चर्चा का विषय उस श्रमणधारा से है जिसमें आत्मोन्नयन के लिये संयम और तप रूपी श्रम किया जाता है एवं जिसका सूत्रपात इस अवसर्पिणी काल में भगवान् ऋषभदेव ने किया था और जो आज तक भी भगवान् महावीर के शासनकाल में अविच्छिन्न रूप से चल रही है। प्राचीन ग्रन्थों में भगवान् महावीर को जैन मुनि नहीं, किन्तु स्थान-स्थान पर 'निगंथे नायपुत्ते' अथवा 'समणे भगवं महावीरे' के विशेषणों से पुकारा गया है। प्राकृत में आए 'समण' शब्द के संस्कृत में तीन रूपान्तर होते हैं- श्रमण, शमन और समन। जो मोक्ष के लिये श्रम करता है वह 'श्रमण'। जो कषायों का उपशमन करता है, उसे 'शमन' कहते हैं। समन का अर्थ है जो प्राणिमात्र पर समभाव रखता है। 'श्रमण' शब्द श्रम धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है आत्म-विकास के लिये श्रम करना। आचार्य रविषेण ने कहा है-

परित्यज्य नृपो राज्यं श्रमणो जायते महान् ।

तपसा प्राप्य संबधं तपो हि श्रम उच्यते ॥-पद्मचरितम्, 6.212

अर्थात् जो राजा अपने राज्य को छोड़कर तप के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं वे श्रमण कहलाते हैं, क्योंकि श्रम करे वही श्रमण और तपश्चरण ही श्रम कहा जाता है। महान् आचार्यों ने श्रमण शब्द को कई तरह से परिभाषित किया है, लेकिन उन सबका केन्द्र बिन्दु तप और संयम ही है। अनुयोगद्वार में कहा है-

तो सम्मणो जइ सुम्मणो, भावेण य जइ ण होइ पावम्मणे ।

स्यणे य जणे य सम्मो, सम्मो य माणाऽवम्मणोसु

-अनुयोगद्वार 132/सूत्रांक 599

अर्थात् जो मन से सुमन (निर्मल मन वाला) है, संकल्प से कभी पापोन्मुख नहीं होता है, स्वजन तथा

पर-जन में, मान एवं अपमान में सदा सम रहता है, वह श्रमण है। श्रमणत्व का सार है- उपशम (उवसम सारं खु सामण्णे - वृहत्कल्प भाष्य 1.135) तप से उपशम भाव की प्राप्ति होती है और विकारों के उपशम से समत्व की प्राप्ति होती है। इसीलिये भगवान् ने कहा है- 'समयाए समणो होइ' (उत्तराध्ययन सूत्र 25.32) अर्थात् समता से श्रमण होता है। प्रश्नव्याकरण सूत्र (2.5.162) में भी कहा है- 'समे य जे सव्वपाणभूएसु से हु समणो' अर्थात् जो समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखता है, वस्तुतः वही श्रमण है।

सूत्रकृतांग में श्रमण का स्वरूप बताते हुए कहा है-

“एत्थ वि सम्मणे अणिसिंसते अणिदाणे आदाणं च अतिवायं
च मुसावायं च बहिद्धं च कोहं च माणं च मायं च लोभं
च पेज्जं च दोसं च इच्चेवं जतो आदाणातो उप्पणो
पदोसहेतुं ततो तओ आदाणातो पुब्बं पडिविरते विरते
पाणाइवायाओ दंते दविए वोसट्ठकाए सम्मणे ति वच्चे।”

-सूत्रकृतांग 1.16.635

अर्थात् जो साधक अनिश्रित (शरीर आदि किसी भी पदार्थ में आसक्त या उस पर आश्रित नहीं है), अनिदान (अपने तप-संयम के फल के रूप में किसी भी प्रकार के इह-लौकिक सुख भोगाकांक्षा से रहित) है, तथा कर्मबन्ध के कारणभूत प्राणातिपात, मृषावाद, मैथुन और परिग्रह (उपलक्षण से अदत्तादान भी) से रहित है तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष नहीं करता; इस प्रकार जिन-जिन कर्मबन्ध के आदानों-कारणों से इहलोक-परलोक में आत्मा की हानि होती है तथा जो-जो आत्मा के लिये द्वेष के कारण हों, उन-उन कर्मबन्ध के कारण से पहले से ही निवृत्त है एवं जो दान्त, भव्य (द्रव्य) तथा शरीर के प्रति ममत्व से रहित है, उसे श्रमण कहना चाहिए। इन अर्थों के प्रकाश में जब हम 'श्रमण' को कसते हैं तो श्रमण का पहला लक्षण अनिश्रित बताया है, क्योंकि वह सांसारिक पदार्थ या शरीर पर आश्रित नहीं है अथवा आसक्त नहीं है- वह पर-पदार्थ पर आश्रित होकर नहीं रहता, बल्कि तप-संयम से स्वश्रम पर ही आगे बढ़ता है। श्रमण जो भी श्रम करता है, वह कर्म-क्षय के लिये ही करता है। निदान करने से कर्मक्षय नहीं होता है, इसीलिये उसे अनिदान कहा है। प्राणातिपात आदि जिन-जिन से कर्मबन्ध होता है, उनका वह शमन करता है, उनसे दूर रहता है। क्रोधादि कषायों एवं राग-द्वेष का शमन करता है। राग-द्वेष मोहादि कारणों से दूर रहकर समत्व में स्थिर रहता है।

सूत्रकृतांग में ही श्रमणों के बत्तीस योग-संग्रह अर्थात् पालन करने योग्य कृत्य बताये गये हैं, जिसमें दोषों की समर्थ आलोचना से लेकर मरण समय में संलेखना से आराधक बनने का निरूपण है। स्थानांग सूत्र (3/4/सूत्रांक 496) में कहा है- 'तिहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंधे महाणिज्जरे महपज्जवसाणे भवति' अर्थात् तीन कारणों से श्रमण की साधना का फल महानिर्जरा और उसके संसार का अंत बताया है। ये तीन कारण श्रमण के तीन मनोरथ या भावनाएँ होती हैं- 1. कब मैं अल्प या बहुश्रुत का अध्ययन करूँगा, 2. कब मैं एकल विहारी प्रतिमा को स्वीकार करूँगा एवं 3. कब मैं अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना की आराधना से युक्त होकर भक्त-

पान का परित्याग कर पादपोषण संथारा स्वीकार कर मृत्यु की आकांक्षा नहीं करता हुआ विचरूँगा।

आगम शास्त्रों में जो-जो विशिष्ट गुण अलग से माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्गन्थ के बताये हुए हैं, वे कथंचित् एकार्थक हैं, परस्पर अविनाभावी हैं। इस तरह श्रमण जीवन की महत्ता इसके अर्थ में ही निहित है।

तप में सम्पूर्ण मोक्ष मार्ग समाहित

स्थानांग सूत्र (10/16) में श्रमण धर्म इस प्रकार का कहा गया है- क्षमा, अलोभ, सरलता, मृदुता, लघुता, सत्य, संयम, तप, त्याग एवं ब्रह्मचर्यवास। इसी आगमशास्त्र (2/1/सूत्रांक 40) में कहा है- दो कारणों से संसार अटवी को पार पाया जा सकता है और वे दो मार्ग हैं- 'विज्जाए चैव, चरणेण चैव' अर्थात् विद्या और चारित्र। विद्या का अर्थ ज्ञान और चारित्र का अर्थ क्रिया से है। कहने का तात्पर्य है कि ज्ञान और क्रिया दो मोक्ष के मार्ग हैं। शास्त्रकार आगे कहते हैं- 'आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं' (सूत्रकृतांग 12/11) अर्थात् विद्या और चरण अर्थात् ज्ञान-क्रिया के समन्वय से ही मुक्ति हो सकती है। उपाध्याय यशोविजय जी ने ज्ञानसार (10/73) में कहा है कि साधु ज्ञान रूपी अमृत का पानकर और क्रिया रूपी कल्पवृक्ष के फल खाकर, समता रूपी तांबूल चखकर परम तृप्ति का अनुभव करता है। ज्ञान और क्रिया सम्यक् होनी चाहिए इसीलिये आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र के प्रारम्भ में कहा है- 'सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष-मार्गः' सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही मोक्ष मार्ग हैं, ये सब अलग-अलग नहीं वरन् मिलकर ही मार्ग है। आचार्य के अनुसार जब तक सम्यक् दर्शन नहीं होता है, तब तक सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता और जब तक सम्यक् ज्ञान नहीं होता है, तब तक सम्यक् चारित्र नहीं हो सकता। मोक्ष-साधना के मार्ग में ये तीनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के मोक्ष मार्ग अध्ययन में मोक्ष के चार मार्ग बताये हैं-

नाणं च दंसणं चैव, चरित्तं च तवो तह।

एस मग्गो ति पन्नतो, जिणेहिं वरदंसिहि ॥-उत्तराध्ययन सूत्र 28.2

अर्थात् सत्य के सम्यक्द्रष्टा जिनवरों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप- ये चार मोक्ष के मार्ग बताये हैं। यहाँ प्रभु ने चौथे मार्ग के रूप में तप को बताया है। वस्तुतः ये चारों ही एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, परन्तु प्रभु ने जो तप का मार्ग बताया है उसमें सभी का समन्वय हो जाता है। यही कारण है कि श्रम की परिभाषा में इसका अर्थ तप बताया गया है। 'सर्वेपदा हस्तिपदे निमग्नाः' -हाथी के पैर में सब के पैर समा जाते हैं। सागर के गर्भ में सभी नदियां समा जाती हैं, उसी तरह तप के आचरण में मोक्ष के सभी मार्ग समाहित हो जाते हैं। तप का जैसा व्यापक वर्णन जैन आगमों में मिलता है वैसा अन्यत्र किसी भी दर्शन में नहीं देखा गया। तप का क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसमें अनशन, स्वाध्याय, सेवा, भक्ति, प्रायश्चित्त, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि जीवन की सभी क्रियाएँ आ गई हैं। इसीलिये जैन दर्शन में श्रमण शब्द तपस्वी का ही वाचक बन गया है- 'श्राम्यतीति श्रमणा तपस्यन्तीत्यर्थः (दशवैकालिक वृत्ति 1/13 आचार्य हरिभद्र)।

जैन धर्म का इतिहास पढ़ेंगे तो पता चलेगा कि जितने भी महापुरुष हुए हैं वे तपस्या के परिणाम से हुए हैं। आदिपुरुष भगवान् ऋषभदेव ने एक हजार वर्ष तक कठोर तपस्या की एवं केवलज्ञान प्राप्त किया। अन्तिम

तीर्थंकर भगवान् महावीर ने भी बारह वर्ष और साढ़े छः माह की उग्र तपस्या करके केवलज्ञान प्राप्त किया। इसीलिये बौद्ध ग्रन्थों में भी भगवान् महावीर को 'दीघतपस्सी निगंठो' कहा है। भगवान् महावीर ने भी गौतम गणधर की तपः साधना का वर्णन करते हुए कहा है- उगतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे (भगवती सूत्र 1.1.3)- गौतम बड़े उग्र तपस्वी, दीप्ततपस्वी और एक महान् तपस्वी थे। सभी तीर्थंकर संसार त्याग कर दीक्षा लेते हैं और केवलज्ञान की प्राप्ति तक तप-साधना में रत रहते हैं। उनकी हर सिद्धि के मूल में तप ही रहता है। आज भी किसी साधना के अनुष्ठान में तप की ही भूमिका रहती है। स्वयं भगवान् महावीर ने कहा- 'तवेणं बोदाणं जणयइ' (उत्तराध्ययन सूत्र 29.26)- तप से व्यवदान होता है अर्थात् तप से आत्मा कर्मों को दूर करता है। भगवान् ने आगे बताया है- 'भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ' (उत्तराध्ययन सूत्र 30.6)- करोड़ों भवों के संचित कर्म तप से क्षीण हो जाते हैं, यही तप का फल है।

चारित्र तो तप है ही, परन्तु ज्ञान भी तप है। ज्ञान प्राप्ति तभी होती है जब आप विनय युक्त होंगे, सेवा करेंगे तब ही गुरु से ज्ञान मिलेगा। स्वाध्याय भी तप का ही अंग है। तप को आगम-शास्त्रों में विस्तृत अर्थ देकर इसके दो भेद बताये हैं- बाह्यतप और आभ्यन्तर तप। जिस तप की साधना शरीर से ज्यादा सम्बन्ध रखती हो वह बाह्य तप जैसे- उपवास, रस परित्याग, कायक्लेश, अभिग्रह, भिक्षावृत्ति आदि। जिस तप का सम्बन्ध मन से अधिक रहता है वह आभ्यन्तर तप जैसे-प्रायश्चित्त, ध्यान, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग आदि। लेकिन इन दोनों में मौलिक भेद नहीं है, ये एक दूसरे के पूरक हैं। हाँ, कोई साधक अनशन नहीं कर सकता तो वह तप के दूसरे प्रकारों की साधना कर सकता है। दशवैकालिक (8/34) में कहा गया है कि अपना शरीर, बल, मन की दृढ़ता, श्रद्धा, आरोग्य तथा क्षेत्र काल आदि का पूर्ण विचार करके ही तपश्चर्या में लगना चाहिए। ऐसा इसलिये कहा है कि तप करने में यदि संक्लेश पैदा हो तो समाधि नहीं रहेगी। कहने का तात्पर्य यही है कि आत्मशुद्धि का कौनसा साधन है जो तप में नहीं आता। संक्षेप में कहें तो त्याग वृत्ति ही तप है- दोषों का त्यागना, ममत्व बुद्धि को त्यागना, परिग्रह को त्यागना, भोगों को त्यागना, लोभ को त्यागना, क्रोध को त्यागना, मान को त्यागना, माया को त्यागना, भय को त्यागना और अन्त में सभी पाप और पुण्य को भी त्यागना। यहाँ तक कहा गया है कि श्रमण मोक्ष की भी कामना न करता हुआ अपने स्वरूप में रमण करे।

यहाँ पर यह बताना आवश्यक है कि आचार्य, उपाध्याय एवं साधु ये तीनों ही 'श्रमण' शब्द के वाच्य हैं- 'श्रमणशब्द- वाच्यानाचार्योपाध्यायसाधुंश्च' (प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति 2/4/40)। आचार्य शीलांक ने सूत्रकृतांग की टीका में कहा है- 'श्राम्यति तपसा खिद्यति इति कृत्वा श्रमणो वाच्यः'- जो भी श्रम करता है, तप करता है, तप से शरीर को खिन्न करता है, उसे श्रमण कहा जाता है।

श्रमण जीवन का सामाजिक महत्त्व

भगवान् ने जो साधना का मार्ग बताया है, क्या वह श्रमण जीवन में ही सम्भव है? ऐसा नहीं है, गृहस्थ में रहकर भी अनेक आत्माओं ने मुक्ति प्राप्त की है। सिद्धों के पन्द्रह प्रकारों में एक गृहस्थलिंग सिद्ध भी है, यानी गृहस्थ के वेष में भाव संयम प्राप्त करके सिद्ध होने वाले। अगर ऐसा है तो भगवान् ने संयम और गृहत्याग का

रास्ता क्यों चुना? 'समिच्च लोए खेयन्ने पवेइए' - समस्त लोक की पीड़ा को जानकर और जगत् को दुःख एवं पीड़ा से मुक्त करने के लिये महावीर ने संन्यास धारण किया। वे आत्म-कल्याण के साथ-साथ अपने वैयक्तिक जीवन से ऐसा आदर्श प्रतिष्ठित करना चाहते थे जिसे सम्मुख रखकर व्यक्ति अपने कल्याण और मानवता के कल्याण की दिशा में अग्रसर हो सके। प्रश्न उठता है कि लोक कल्याण के लिये श्रमणत्व की आवश्यकता क्यों है? सामान्यतया जब तक व्यक्ति अपने वैयक्तिक स्वार्थों से परिवार के साथ जुड़ा रहता है तब तक वह सम्यक् रूप से लोक कल्याण का सम्पादन नहीं कर सकता है। लोक-मंगल के लिये निजी सुखाकांक्षाओं से, स्वार्थों से, मैं और मेरेपन के भावों से ऊपर उठना आवश्यक है। ममत्व और मेरे मन के घेरे को समाप्त करना अपेक्षित है। परिग्रह में भोगों की ओर आकर्षित होकर उसके प्रवाह में बहने की सम्भावना रहती है। जितना परिग्रह उतना ही अधिक दुःख, यह नियम है। जब पदार्थों में आसक्ति रहती है तो आत्मतत्त्व से व्यक्ति दूर ही रहता है। श्रमण-जीवन में आत्म-कल्याण तो होता ही है, साथ-साथ में लोक कल्याण भी हो जाता है। ऐसे व्यक्ति विरले होते हैं जो ममत्व और भोग-लिप्सा पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। उनके लिये भोग रोग होता है। दुनियाँ के सुख उनके लिये भय है, क्योंकि वे अवनति के गर्त में धकेलते हैं। इसीलिये ऐसे व्यक्ति अणगार बन जाते हैं, उनकी अन्तर्दृष्टि जागृत हो जाती है और वे त्यागवृत्ति अपनाकर स्व-पर कल्याण के उस मार्ग पर निकल पड़ते हैं जिस पर दृढ़ आत्मशक्ति सम्पन्न पुरुष ही चल सकता है।

संतों की एक विशेषता है- निर्भयता। भय हमेशा पाप और पतन का कारण होता है। भर्तृहरि ने कहा है- भोगों में रोग का भय है, ऊँचे कुल में पतन का भय है, धन में छीने जाने का भय है, मान में दीनता का भय है, बल में शत्रु का भय है, रूप में बुढ़ापे का भय है, शास्त्र में शुष्कवाद का भय है, गुण में निन्दा का भय है एवं शरीर में काल का भय है। संसार के सभी व्यवहार और गुण किसी न किसी भय से पीड़ित हैं। केवल एक वैराग्य ही है जिसमें किसी प्रकार का भय नहीं है। साधु बाह्य और अन्तरंग परिग्रह से निवृत्त होता है, अतः उसे न संसार से भय है और न ही मृत्यु से। इसीलिये वह निर्भय होकर आत्म एवं परकल्याण में बिना भय के लगा रहता है।

श्रमण अपनी इन्हीं विशिष्टताओं के कारण मानव एवं समस्त प्राणिजगत् के दुःख निवारण में संलग्न होता है। वह आत्म-गुणों की उच्च अवस्था को प्राप्त हुई एक आदर्श मूर्ति है एवं दूसरों के लिये प्रेरणास्रोत है। वह अज्ञान में जीने वालों के लिये ज्ञान का प्रकाश स्तम्भ है। उसकी साधना आत्मा से परमात्मा बनने की साधना है। दुःखी मानव के लिये शाश्वत सुख-प्राप्ति का रास्ता एक निःस्वार्थ, निर्लोभी, निर्मोही, परोपकारी संत ही बता सकता है। संतों का समागम न केवल ज्ञान-प्राप्ति में सहायक होता है, बल्कि मन की मलिनता को भी दूर करता है। तीर्थों का फल तो समय आने पर मिल भी सकता है, परन्तु संतसमागम का फल तो तत्काल मिलता है। जैसे वृक्ष प्रचंड धूप सहन करके भी दूसरों को छाया देते हैं वैसे ही साधु दुःख सहन करके भी शरण में आये लोगों को शांति प्रदान करते हैं। संतों की जीवन-गाथा भी इसीलिये पढ़ी जाती है कि इससे मन की सोई हुई शक्ति जागृत हो जाए। "सत्संगति जड़ता नष्ट करती है, वाणी को सत्य से सींचती है, चित्त को प्रसन्नता देती है और संसार में यश फैलाती है। सत्संगति मनुष्य के लिये क्या नहीं करती?" (भर्तृहरि-नीतिशतक)

- 14 - वरदाज अपार्टमेंट, 64 - इन्द्रप्रस्थ एक्सटेंशन, दिल्ली - 110092

श्रमण-जीवन में अप्रमत्तता

श्री प्रेमचन्द कोठारी

साधक श्रमण अथवा श्रमणी अपने साधनाशील जीवन को किस प्रकार अग्रेसर कर सकते हैं, इसके सम्बन्ध में प्रेरक विचारों से ओतप्रोत है यह आलेख। -सम्पादक

जैन दर्शन में महाव्रतधारी साधक को साधु, भिक्षु, संयमी, श्रमण आदि अनेक नामों से संबोधित किया गया है। ऐसे तो व्यवहार नय की अपेक्षा से द्रव्य दीक्षा लेने पर भी उन्हें श्रमण आदि नामों से संबोधित किया जाता है, लेकिन ज्ञानीजन फरमाते हैं कि मात्र द्रव्य दीक्षा अनंत बार लेने पर भी लक्ष्य की उपलब्धि नहीं हो सकती। वास्तव में दीक्षा का, संयमी होने का लक्ष्य वीतराग अवस्था की प्राप्ति, कर्म-रहित होना तथा मोक्ष-प्राप्ति है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये श्रमण को सदा सजग एवं अप्रमत्त (भारण्ड पक्षी की भाँति) रहने की आवश्यकता है। इसी आशय को समझाते हुए निशीथभाष्य 264 में बताया है: - 'जा चिट्ठा सा सव्वा-संजम हेउं ति होति समणानं, अर्थात् श्रमणों की सभी क्रियाएँ संयम के हेतु ही होती हैं।

श्रमण की निशादिन होने वाली क्रियाएँ अर्थात् उठना, बैठना, खाना-पीना, देखना, बोलना, विहार, निहार, सोना, जागना आदि सभी में वीतराग वाणी की, वीतरागता की सुगन्ध महकनी चाहिये। यह सुगन्ध तब ही महक सकती है जबकि वह साधक निश-दिन अप्रमत्त रह कर सावधानीपूर्वक साधना करता रहे। आचारांग चूर्ण 1/3/4 में कहा गया है- 'अपमत्तस्स नत्थि भयं, गच्छतो चिट्ठतो भुज्जमाणस्स वा।' अर्थात् अप्रमत्त को चलने, खड़ा होने, खाने में कहीं भी भय नहीं है। वास्तव में प्रमादी को सब ओर से सदा भय ही रहता है जबकि अप्रमादी को कभी किसी तरह का भय नहीं रहता है। भगवान् ने आचारांग सूत्र में फरमाया है- "सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अपमत्तस्स नत्थि भयं।"

जिस साधक को साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ना है, अपना आध्यात्मिक विकास करना है, उसको प्रत्येक प्रसंग, अवस्था, घटना आदि उपस्थित होने पर पूर्ण सावधानी पूर्वक अपनी मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्ति में कर्मबन्धन से पूर्ण प्रकार से बचते हुए प्रवृत्ति करनी चाहिये। यह भूलकर भी नहीं समझना चाहिये कि मेरी इच्छा अनुसार साथी, शिष्य, गुरु, शरीर परिस्थिति मिल जाए तो मैं साधना अच्छी कर सकता हूँ। उसको तो यह समझना चाहिये कि मुझे जिस तरह का साथी, शिष्य, गुरु शरीर परिस्थिति आदि मिली है, इन सबका निर्माता भूतकाल में मैं ही था, ये सब अवस्थाएँ मेरी साधना के लिये ही उपस्थित हुई हैं, इनमें ही मुझे साधना करनी है। वास्तव में कुशल साधक प्राप्त प्रत्येक व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था आदि को अपनी साधना

का अंग ही मानता है और उसे अपनी साधना के लिये उपयोगी ही समझता है। वह किसी भी घटना को अकारण एवं अनुपयोगी न समझकर उसी से साधना कर आगे बढ़ जाता है, जैसे भगवान् महावीर-चण्डकौशिक भगवान् महावीर- गौशालक, मैतार्य अण्णार-स्वर्णकार, श्रमणोपासक महाशतक-रेवती, राजा परदेशी-सूरिकंता आदि। उक्त उदाहरणों में स्पष्ट होता है कि इन महापुरुषों को परिस्थितियाँ भले ही भिन्न-भिन्न प्राप्त हुई हों, लेकिन इनसे ही ये अपने लक्ष्य प्राप्ति में आगे बढ़ गए।

श्रमण की परिभाषाएँ आगमों, भाष्य, चूर्णि आदि अनेक स्थानों पर प्रेरक रूप में मिलती हैं, उनमें से कुछ निम्नांकित हैं:-

(1) समे य जे सव्वपाणभूतेसु से हु समणो । -प्रश्नव्याकरण 2.5

अर्थात्-जो समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखता है, वस्तुतः वही श्रमण है।

(2) नाणी संजमसहिओ नायव्वो भावओ समणो । -उत्तराध्ययन, निर्युक्ति 389

अर्थात्- जो ज्ञानपूर्वक संयम की साधना में रत (लीन) है, वही सच्चा श्रमण है।

(3) इह लोगणिरविकखो, अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्मि ।

जुत्ताहारविहारो, रहिदकसाओ हवे समणो ॥ - प्रवचनसार 3.26

अर्थात्- जो कषायरहित है, इस लोक में निरपेक्ष (किसी तरह की अपेक्षा रहित) है, परलोक में भी अप्रतिबद्ध (अनासक्त) है और विवेकपूर्वक आहार-विहार की चर्या रखता है, वही सच्चा श्रमण है।

(4) समो सव्वत्थ मणो जस्स भवति स समणो । - उत्तराध्ययन चूर्णि 2

अर्थात्- जिसका मन सर्वत्र (अनुकूल, प्रतिकूल, उतार-चढ़ाव आदि सभी प्रसंगों में) सम रहता है, वही श्रमण है।

(5) उवसमसारं खु सामणं - बृहत्कल्पभाष्य, 1.35

अर्थात्- श्रमणत्व (साधु जीवन) का सार उपशम है अर्थात् श्रमण में सदा समाधि, शांति, निर्लेपता, निर्विकारता बनी रहे।

इसी तरह के आशयों से युक्त अनेक प्रेरणास्पद सूत्र आगम साहित्य में उपलब्ध हैं।

जिसने एक भव में द्रव्य के साथ ही भाव श्रमण की भी आराधना कर ली एवं पूर्ण अप्रमत्तता, सजगता बनाये रखी, यद्यपि अप्रमत्त अवस्था सकषायी साधकों की अंतर्गृहृत से अधिक नहीं रह सकती, लेकिन स्थिति पूरी होने के बाद प्रमत्तता आने पर पुनः सावधान होकर शीघ्र ही वह अप्रमत्त होता रहे, और यदि पहले आयु नहीं बंधा हो तो प्रमत्त संयत गुणस्थान में आयु बांधने वाला अधिक से अधिक 15 भव में अवश्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। वह साधना काल में भले ही वीतरागी नहीं भी बने तो भी वीतरागता की अनुभूति अवश्य कर सकता है। जो संत बन भी गये, लेकिन भौतिक आकर्षणों में, तेरे मेरे में, सामाजिक गतिविधियों में, सांप्रदायिक उलझनों आदि में फंसे रहे तो उनकी स्थिति धोबी के श्वान की भाँति समझनी चाहिये। घर वाले तो समझे कि

हमारा परिजन साधु होकर साधना कर रहा है, अच्छे प्रवचन दे रहा है, बहुत पूछ हो रही है, लेकिन वह आत्मसाक्षी से अप्रमत्त होकर साधना नहीं कर रहा है तो स्वयं भी धोखे में है एवं संघ समाज को भी धोखा दे रहा है। घर की सुख-सुविधा भी छोड़ी एवं इस क्षेत्र में आकर काषायिक परिणतियों में ही फंसा रहे तो वह साधक अपने जीवन-काल के ये स्वर्णिम पल बर्बाद कर रहा है। प्रसंगवश स्वर्गीय लाला रणजीत सिंह कृत आलोचना का निम्नलिखित दोहा बहुत ही शिक्षाप्रद है-

कहा भयो घर छाड़ (छोड़) के, तज्यो न माया संग।

ज्यूं नाम तजी कांचली, विष न तजियो अंग॥

कुशल विद्यार्थी स्कूल या कॉलेज में प्रवेश करने के साथ ही तन्मयता से अपना अध्ययन करता रहता है, कभी भी अकस्मात् बिना सूचना के परीक्षा का प्रसंग आवे तो भी प्रथम श्रेणी व प्रथम स्थान प्राप्त कर लेता है। इस कुशल विद्यार्थी की तरह साधक को भी आत्मनिरीक्षण, स्वाध्याय, ध्यान आदि सभी क्रियाएँ पूर्ण आत्मसाक्षी से करते रहना चाहिये, ऐसे साधक का कभी भी आयुबन्ध हो या मृत्यु आ जावे, तो वह अवश्य सुगति का अतिथि बनता है। जो श्रमण सोचते हैं कि अंतिम समय का ध्यान रखकर जीवन सुधार लेंगे, वे बड़ी भारी भूल कर रहे हैं, क्योंकि सदा के अभ्यास से ही अंतिम समय सुधर सकता है।

अखण्ड बालब्रह्मचारी, सामायिक स्वाध्याय के प्रबल प्रेरक, इतिहास मार्तण्ड, संघ के सजग प्रहरी, संघ एकता में विश्वास करने वाले पूज्य आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी महाराज सा का मुझे निकट से निमाज में सेवा करने का सुअवसर मिला, जिन्होंने शायद कभी लम्बी तपस्या नहीं की होगी। उस महापुरुष ने अंतिम समय में शारीरिक वेदना होते हुए भी समभाव से वेदना सहन की, पूर्ण निस्पृहता दिखाई, तेरह दिन के उपवास हुए एवं अंतिम समय को समाधिमरण महोत्सव के रूप में संपन्न किया। यह साधना उस विभूति की कोई दो चार माह या दो चार वर्ष की नहीं थी, उन्होंने जीवन भर साधना की तब अंतिम समय सुधार पाये एवं आदर्श प्रेरणा छोड़ गये। इसी प्रकार प्रत्येक श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविकाओं को भी अपना लक्ष्य प्राप्ति का अभ्यास सदा करते रहना चाहिये।

अनुयोगद्वार सूत्र में आगमकारों ने स्पष्ट बताया है कि श्रमण को सभी प्रकार के सावद्य व्यापारों (18 पाप आदि) से निवृत्त होकर मूल गुण रूपी संयम, उत्तर गुण रूपी नियम एवं अनशन आदि बारह प्रकार के तप में सदा लीन रहना चाहिये। ऐसा साधक सच्ची सामायिक की, श्रमणत्व की साधना कर रहा है। अतः श्रमण को संयम-विरोधी सभी प्रवृत्तियों को आत्मसाक्षी से सदा के लिए तिलांजलि दे देना चाहिये।

श्रमण-जीवन में साधना के क्षेत्र में अपना विकास हो रहा है या नहीं हो रहा, इसका स्वनिरीक्षण करते रहना चाहिये। स्वनिरीक्षण हेतु कुछ मापदण्ड के बिन्दु नीचे दिये जा रहे हैं:-

1. मेरे मन में विजातीय द्रव्यों का आकर्षण प्रभाव कम होता जा रहा है या नहीं? नहीं हो रहा हो तो विजातीय द्रव्यों की क्षणभंगुरता का चिन्तन कर उनसे हटने का प्रयास करना चाहिये।

2. प्रत्येक अनुकूल प्रतिकूल प्रसंग में समभाव, आत्मशांति, समाधि आदि बढ़ रही है या नहीं ?
3. किसी भी प्रसंग में तनाव तो नहीं हो रहा है? हो रहा हो तो स्वाध्याय, ध्यान, अनुप्रेक्षा द्वारा तनाव रहित होने का प्रयास करना चाहिये।
4. दिन प्रतिदिन आत्मीय सुख बढ़ता जा रहा है या नहीं? क्योंकि भगवती सूत्र में तो बारह मास की दीक्षा वाले के सुख को सर्वार्थसिद्ध के देवों के सुख से भी बढ़कर बताया है।
5. पर के दोषों को देखकर उनसे घृणा, बुराई आदि प्रवृत्ति तो नहीं हो रही है? अगर हो रही हो तो उसके दोषों से भी शिक्षा लेना चाहिये कि यह मेरा शिक्षक है, उसको उपकारी मानें और अपने में वे दोष नहीं प्रवेश करें, इसका ध्यान रखें। उसके दोषों को माफ कर दें।
6. अपना छोटा सा दोष पर्वत जैसा लग रहा है या नहीं, उसकी पुनरावृत्ति से बच रहा हूँ या नहीं ?
7. अपनी बड़ी से बड़ी विशेषता सामान्य तिनके जैसी लग रही है या नहीं? दूसरे की छोटी सी विशेषता भी बड़ी लग रही है या नहीं, तथा उस गुण को अपने जीवन में उतारना चाहिये।
8. प्रातः व सायंकालीन प्रतिक्रमण खाली शब्दों से न करके उसमें एकमेक हो रहा हूँ या नहीं?

उपर्युक्त ऐसे अनेक मापदण्डों द्वारा अपना निरीक्षण कर अपना आध्यात्मिक विकास किया जा सकता है। यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि दूसरों की दृष्टि में अच्छा साधक दिखाई देना आसान है, लेकिन अपनी एवं वीतराग भगवान् की दृष्टि में निर्दोष नहीं बन पावे तो एक भव में ही नहीं, अनेक भवों में भी अपना कल्याण संभव नहीं है। हाँ, दूसरों का अपने द्वारा कल्याण हो सकता है।

समता रूप सामायिक को धारण करने वाले श्रमण को अनुयोगद्वारा सूत्र में बारह पदार्थों से उपमित किया है। ये बारह उपमाएँ बहुत संक्षेप में नीचे दी जा रही हैं। ये उपमाएँ वास्तव में श्रमण के जीवन का दर्पण हैं:-

उरग गिरि जलण सागर, णहतल तरुणण सम्मो य जो होई।

अमर मिय धरणि जलरुह, रवि पवण सम्मो य सो सम्मणो ॥

अर्थात्- सर्प, पहाड़, अग्नि, सागर, आकाश, वृक्ष, भ्रमर, मृग, पृथ्वी, कमल, सूर्य और पवन के समान जो होता है, वही श्रमण है।

1. जैसे सर्प अपने लिये बिल नहीं बनाता, चूहों आदि के द्वारा बनाये हुये बिल में रहता है। ऐसे ही श्रमण को अपने निवास आदि नहीं बनाना चाहिये। न प्रेरणा करनी चाहिये, अनुमोदन भी नहीं करना चाहिये।
2. जैसे पर्वत हवा आदि से कंपित नहीं होता, ऐसे ही श्रमण को भी सभी प्रकार के प्राप्त परीषहों में समभाव रखना चाहिये।
3. जैसे अग्नि में कितना भी ईंधन डाला जावे, वह तृप्त नहीं होती, इसी तरह श्रमण को ज्ञानार्जन में, तप करने में तृप्त नहीं होकर ज्ञानार्जन करना चाहिये एवं तपाराधना करनी चाहिये।
4. जैसे समुद्र अगाध जल से भरा रहता है, अपनी मर्यादा नहीं तोड़ता। इसी प्रकार श्रमण को भी भगवान् द्वारा

प्ररूपित मर्यादा नहीं तोड़नी चाहिये। क्षमा आदि दस धर्मों द्वारा जीवन को गंभीर व मर्यादित बनाये रखना चाहिये।

5. जिस प्रकार आकाश निराधार स्थित है, इसी प्रकार श्रमण को भी किसी गृहस्थ, संघ आदि पर आधारित नहीं रहकर जीवन यापन करना चाहिये।
6. जैसे वृक्ष गर्मी, ठंड, हवा आदि को सहन करता है, अपनी छाया से दूसरों को सुख पहुँचाता है, ऐसे ही श्रमण को अनुकूल प्रतिकूल परीषर्हों को सहन करना चाहिये और धर्मोपदेश द्वारा दूसरों को शांति पहुँचाना चाहिये।
7. जैसे भ्रमर फूलों से थोड़ा-थोड़ा रस लेता है, लेकिन फूल को मुरझाने नहीं देता। ठीक इसी प्रकार श्रमण भी गृहस्थ के घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार लेता है, लेकिन किसी गृहस्थ को किलामणा नहीं उपजाता है, न दूसरी बार गृहस्थ को भोजन बनाना पड़े, ऐसी परिस्थिति पैदा होने देता है।
8. जैसे सिंह को देखकर हरिण तुरन्त भाग जाता है, ठीक इसी प्रकार श्रमण को पाप स्थानों से सदा डरते एवं बचते रहना चाहिये।
9. जिस प्रकार पृथ्वी ठंड, गर्मी, छेदन, भेदन आदि सभी कष्टों को समभाव से सहन कर अपने अपकारी, उपकारी, भले-बुरे आदि सभी को समान रूप से आश्रय देती है। ठीक इसी प्रकार श्रमण अपने अपकारी, उपकारी, अपने निन्दक या प्रशंसक आदि सबका आधारभूत बन कर सबको समान रूप से शांति, क्षमा, राग-द्वेष रहित होने आदि का निःस्वार्थ भाव से उपदेश देता है।
10. जिस प्रकार कमल कीचड़ में उत्पन्न होता है एवं जल से विकसित होता है लेकिन फिर भी जल से निर्लिप्त रहता है। ठीक इसी प्रकार श्रमण को भी कामभोगों से पूर्ण निर्लिप्त रहना चाहिये। श्रमण की भी उत्पत्ति काम-भोगों से ही होती है, लेकिन दीक्षा के बाद अपना नया जन्म समझ कर काम-भोगों, पाप प्रवृत्तियों से पूर्णतः बचना चाहिये।
11. जैसे सूर्य अंधकार का नाशकर संसार के पदार्थों को प्रकाशित करता है। ठीक इसी प्रकार श्रमण को आगमिक ज्ञान रूपी प्रकाश से सम्पन्न होकर सूर्य की भाँति सांसारिक प्राणियों के अज्ञान रूपी अंधकार का नाशकर उनको वीतराग मार्ग पर बढ़ने के लिये प्रेरित करना चाहिये।
12. जैसे वायु चारों दिशाओं में अप्रतिबद्ध रूप से बहती है। ठीक इसी प्रकार श्रमण को भी किसी गृहस्थ आदि के प्रतिबन्ध में न रहकर अप्रतिबद्ध विहारी होकर धर्मोपदेश द्वारा प्राणियों का कल्याण करना चाहिये। जैसे पवन स्थिर नहीं रहता, ऐसे ही श्रमण को भी अकारण मर्यादा से अधिक एक स्थान पर नहीं ठहरना चाहिये।

विषयान्तर होकर मेरा श्रमणोपासकों एवं श्रमणोपासिकाओं से सानुरोध, सत्रिनय निवेदन है कि हमको भी अपनी पूर्ण शक्ति द्वारा आदर्श, परोपकारी, ज्ञान आचरण आदि से सम्पन्न होकर आगमकालीन

श्रावकों की तरह का जीवन यापन करना चाहिये। श्रावक भी श्रमण का उपासक है, अतः उसके जीवन में श्रमणत्व के गुण झलकने चाहिये। बारहव्रत, चौदह नियम एवं तीन मनोरथ की आराधना तो करनी ही चाहिये, लेकिन इसके अलावा भी गृहस्थ में रहते हुए अपनी शक्ति के अनुसार श्रमण के क्षमा आदि दस गुण, पांच समिति, तीन गुप्ति, दस समाचारी आदि की भी आंशिक रूप से आराधना करते रहना चाहिये। यह हमको ध्यान रखना चाहिये कि हमारा कल्याण भी श्रेष्ठ आराधना करने से ही है तथा अन्यो पर भी हमारे आचरण का गहरा प्रभाव पड़ सकता है, क्योंकि प्रभाव जीभ का नहीं जीवन का पड़ता है।

मैं इस लेख को लिखते हुए संकोच का अनुभव कर रहा हूँ, छोटे मुँह बड़ी बात वाली कहावत चरितार्थ करने जैसा अनुभव कर रहा हूँ, क्योंकि मैं सामान्य श्रावक होते हुए श्रमणों को प्रेरणा की बात कर रहा हूँ।

अंत में निवेदन है कि उपर्युक्त लेख के द्वारा किसी की अविनय, अशातना हुई हो, कोई आगम के प्रतिकूल प्ररूपणा हो गई हो तो करबद्ध सभी पाठकवृन्द से क्षमा चाहता हूँ तथा आशा करता हूँ कि श्रमण-श्रमणियाँ आदर्श एवं पारदर्शी साधना में आगे अग्रसर होंगे।

-गौतम रोड लाइन्स, बूँदी (राज.)



श्रमणों एवं श्रावकों का पारस्परिक-सम्बन्ध

न्यायाधिपति श्री जसराज चौपड़ा

गुरु एवं श्रमण के स्वरूप पर विशद प्रकाश डालने के साथ चौपड़ा सा. ने श्रमणों एवं श्रावकों के पारस्परिक कर्त्तव्यों का चिन्तनपूर्ण विश्लेषण किया है। आलेख में उनका व्यापक अध्ययन, मनन और संप्रेषण प्रतिबिम्बित हुआ है। यदि कोई मात्र इस एक आलेख को पढ़ ले तो भी गुरु, श्रमण एवं श्रावक के सम्बन्ध में उसकी समझ विकसित हो सकती है- **सम्पादक**

श्रमण एवं श्रावक का सम्बन्ध गुरु एवं शिष्य का सम्बन्ध है। परमेष्ठी एवं पुरुष का सम्बन्ध है। इनके सम्बन्धों की बात करने से पूर्व यह समझ लेना जरूरी है कि श्रमण किसे कहते हैं एवं श्रावक कौन होता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने श्रमण को परिभाषित करते हुए फरमाया है- “श्राग्यन्तीति श्रमणा तपस्यन्तीत्यर्थः” अर्थात् जो श्रम व तप करे वह श्रमण है। आचार्य रविषेण ने तप को ही श्रम कहा है। वे कहते हैं- “परित्यज्य नृपो राज्यम्, श्रमणो जायते महान्। तपसा प्राप्यसम्बन्धस्तपो हि श्रम उच्यते।” (पद्मचरित 6.2) अर्थात् राजा-महाराजा राज्य-त्याग कर तप से जुड़कर श्रमण बनने में गौरव की अनुभूति करते हैं, क्योंकि तप ही श्रम है। उत्तराध्ययन सूत्र 2.3 में कहा गया है- “समयाए समणो होइ” अर्थात् जो समता में रहे वही श्रमण है। स्थानांग सूत्र में कहा गया है- “णत्थि य से कोई वेसो, पिओय सव्वेसु जीवेसु, एण होइ समणो, एसो अन्नो वि पज्जाओ॥” अर्थात् जो किसी से द्वेष न करता हो, जिसको सभी जीव समान भाव से प्रिय हैं वह श्रमण है। आचार्य हेमचन्द्र ने ‘समण’ शब्द का निर्वचन “सम+मन” से है, जिसका अर्थ है सभी जीवों के प्रति समान मन यानी समभावी होना श्रमणता है। सम-मन से एक मकार का लोप करने से ‘समन’ हो जाता है। इसी बात को दो तरह से इस प्रकार कहा गया है- “सर्वेष्वपि जीवेषु सममनस्त्वात्” जो प्राणिमात्र के प्रति मन में समत्व का भाव रखता हो एवं “सम्यक्मणे समणे” अर्थात् जिसका मन सम्यक्त्व से ओतप्रोत हो वह श्रमण है। स्थानांग सूत्र में कहा गया है-

सो समणो जइ सुमणो, भावेण जइ ण होइ पावमणो।

सयणे अजणे य समो, समोअ माणावमाणेसु॥

-स्थानांग सूत्र 3

अर्थात् समण सुमना (सुमन वाला) होता है। वह कभी पापमना नहीं होता अर्थात् उसका मन निर्मल एवं स्वच्छ होता है, कलुषित नहीं। जो स्वजन-परजन मान-अपमान में सर्वत्र सम रहता है,

संतुलित रहता है वही समण (श्रमण) है।

प्रभु महावीर ने फरमाया है- “समयाधम्ममुदाहरे मुणी।”-सूत्रकृतांग 2.2.6 अर्थात् प्रभु के अनुसार समता में ही धर्म का निवास है तथा जो समता में रमण करे वही श्रमण है। सूत्रकृतांग सूत्र में श्रमण की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि जो आसक्ति रहित हो, किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखे, किसी प्राणी की हिंसा न करे, झूठ नहीं बोले, काम-क्रोध-मोह-लोभ-मद-राग-द्वेष-प्राणातिपात आदि पापों एवं आत्मा को पतन मार्ग पर अग्रेसित करने वाले साधनों से निवृत्त रहे, जितेन्द्रिय, शुद्ध संयमी एवं ममत्व रहित हो वह समण है। बुद्ध ने धम्मपद में कहा है- “न मुण्डकेन समणो, अक्वत्तो अलिकं भणो। इच्छालोभ-समापन्नो समणो किं भविस्सति॥” -धम्मट्ठवग्ग, 9 अर्थात् मात्र सिर मुंडाने से कोई श्रमण नहीं होता। जो इच्छाओं एवं लोभ को जीते, ब्रती एवं सत्यवादी हो वह श्रमण है। वस्तुतः श्रमण को ही प्राकृत भाषा में ‘समण’ कहा जाता है, जिसका अर्थ है श्रम करने वाला। यह श्रम सामान्य श्रमिक का श्रम नहीं है, वरन् आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में कृत श्रम है। इसका अर्थ है कि जो स्वयं के श्रम से कर्म बंधन की बेड़ियों को तोड़ता है यानी जो स्वयं को कर्ममुक्त बनाने हेतु श्रम करता है वह श्रमण है। जो ब्रस या स्थावर किसी भी जीव को परिताप, संक्लेश या पीड़ा नहीं पहुँचाता है एवं पृथ्वी की भांति सब प्रकार के परीषहों को समभावपूर्वक सहता है वह महामुनि श्रमण या श्रमणश्रेष्ठ कहलाता है। “उवेहमाणो कुसल्लेहिं संवसे अकंतदुक्खा तसथावरादुही अलूसए सव्वसहे महामुणी, तहादिसे झुस्समणे समाहिए॥” -आचारांग सूत्र 2.16। इसका तात्पर्य यह है कि श्रमण तप, त्याग, संयम, परीषह आदि की अग्नि में तपकर अर्थात् स्वयं के कठोर परिश्रम से आत्मा को मुक्तकर ‘श्रमण’ नाम को सार्थक करता है। संक्षेप में कहें तो श्रमण-श्रमणी का कठोरतम तपोमयी जीवन स्व-कल्याण के साथ समाज में आध्यात्मिकता के उत्थान, नैतिकता के निखार एवं सर्वांगीण समत्व-साधना के संचार एवं प्रसार हेतु समर्पित होता है। शब्द-विभक्ति के आधार पर कहें तो ‘श्र’ (स) श्रमशीलता, समत्व व तपाराधना का द्योतक है तो ‘म’ मनोनिग्रह, ममत्व रहितता व मनन शीलता का स्वरूप है एवं ‘ण’ णमोकार मंत्र की पंच परमेष्ठी पद की अर्हता एवं वीतरागता की साधना का द्योतक है। वस्तुतः कोई समता से श्रमण एवं ज्ञान से मुनि होता है।

समयाए समणो होइ, तवेण होइ तावसो।

णाणेण य मुणी होइ, बंभचेरेण बंभणो॥

- उत्तराध्ययन सूत्र

ऐसे ही महान् श्रमणों (साधुओं) को लक्ष्य कर नीतिकार चाणक्य कहता है- “साधूनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थभूता हि साधवः। कालेन फलते तीर्थः सद्यः साधुसमागमः॥” अर्थात् साधु दर्शन स्वयं में पुण्य उपाजन का स्रोत है, क्योंकि साधु (श्रमण) स्वयं ही तीर्थ है। तीर्थ दर्शन तो पता नहीं किस घड़ी एवं किस काल में फल प्रदान करेगा, परन्तु संत-श्रमण-दर्शन तो शीघ्र या तत्काल फलदाता होता है।

श्रमण को व्यावहारिक भाषा में हम संत कहते हैं। संत के माहात्म्य का दिग्दर्शन करने वाली दो पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत हैं-

संतहृदय नवनीत सम्माना कथा कविन्ह पै कदाहि न जाना।
जिज परिताप द्रवइ नवनीता, पर दुःख द्रवइ संत सुपुनीता ॥

अर्थात् कवियों ने अपने काव्यों में संतहृदय को नवनीत (मक्खन) के समान कोमल बताया है, पर उनका यह कथन इसलिए सही नहीं है एवं यह तुलना इसलिए गलत है क्योंकि मक्खन तो स्वयं को ताप लगे तब पिघलता है, पर संत हृदय पराये दुःख को देखकर द्रवित हो पिघल जाता है। अतएव संत हृदय नवनीत से कहीं ज्यादा कोमल एवं परदुःख कातर है। इसी तरह आचार्य समन्तभद्र श्रमणचर्या को इंगित करते हुए फरमाते हैं- “ज्ञानध्यानतपोरक्तः तपस्वी प्रशस्यते।” अर्थात् वही श्रमण प्रशंसा को प्राप्त करता है जो ज्ञानी, ध्यानी एवं तपस्वी होता है।

श्रमण की व्याख्या करने के पश्चात् श्रावक कौन होता है, इसका भी उल्लेख करना नितान्त आवश्यक है। श्रावक शब्द की विभक्ति करें तो चार अक्षरों का मेल श्रावक है अर्थात् ‘श्र’ ‘अ’ ‘व’ ‘क’। ‘श्र’ श्रद्धानिष्ठता का द्योतक है तो ‘अ’ अहिंसा एवं अपरिग्रह के गुण को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। ‘व’ विवेक एवं व्यवहारकुशलता को परिलक्षित करता है तो ‘क’ कार्यकौशल एवं कर्मनिर्जरा के प्रयत्न का द्योतक है। जिस गृहस्थ में यह गुण हो वह श्रावक होने की पात्रता अर्जित करता है। तभी कवि दौलतराम जी फरमाते हैं- “सदन निवासी तदपि उदासी तातें आश्रव छंटाछंटी।” जो व्यक्ति निवृत्त भाव से सदन या आगार में रहे तथा मन में सदैव यह भाव या छटपटाहट बनी रहे कि इस गृहस्थ के झंझटों से कब किनारा करूँ तो ऐसे श्रावक के आस्रवों की टूटन होती है एवं वह सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है। गृहकार्य करते हुए भी जिनमें निवृत्ति की छटपटाहट हो एवं मन में वैराग्यभाव के प्रति अटूट श्रद्धा हो वह घर तपोवन है। ऐसा गृहस्थ श्रावक, गृहस्थ के वेष में भी साधु के सदृश ही है। प्रभु ने अपने एवं पंच परमेष्ठी के उपासकों को श्रावक कहा है। ‘श्रावक’ अर्थात् वह व्यक्ति जो एकाग्रता से वीतराग वाणी का श्रवण करे। हेय, ज्ञेय एवं उपादेय का निर्णय करे एवं फिर उसे सम्यक् आचरण में उतारे। श्रवण का आंतरिक एवं एकाग्र होना आवश्यक है। श्रावक शब्द की विभक्ति करें तो ‘श्र’ आंतरिक एवं एकाग्र श्रवण का द्योतक है तो ‘आवक’ यानी उक्त वीतराग वाणी को हृदय में उतारे, उसे ग्रहण करे, तभी वह श्रावक बनता है। इस मनुष्य जन्मरूपी वृक्ष को यदि श्रावकत्व में ढालना है तो इससे छह फल प्राप्त करने आवश्यक हैं- “जिनेन्द्रपूजा गुरुपर्युपास्तिः सत्त्वानुकंपा, शुभपात्रदानम्। गुणानुरागः श्रुतिरागमस्य नृजन्म वृक्षस्य फलान्यमूनि ॥” इसका अर्थ है कि मनुष्य का श्रावकत्व तभी सार्थक है जब उसके हृदय मंदिर में वीतराग जिनेश्वर भगवंत सदा विराजमान रहें, वह वीतराग मार्ग के पथिक धर्मगुरुओं की सेवा एवं उपासना करने वाला हो, प्राणिमात्र के प्रति दया एवं अनुकंपा का भाव रखने वाला हो, सदैव सुपात्र दान हेतु पूरी गम्भीरता से तत्पर हो, गुणानुरागी हो एवं गुण जहां से भी प्राप्त हों

उन्हें ग्रहण करने में तत्पर हो तथा जिसका गुणीजनों के प्रति अनुराग एवं प्रमोद का भाव हो एवं जो सदैव आगम या शास्त्र-श्रवण का रसिक हो।

एक आदर्श श्रावक विवेकशील होता है। वह धर्म-श्रवण में सागर के समान गंभीर एवं धर्मश्रद्धा में पर्वत के समान अडोल, अकम्प तथा अडिग होता है। वह जिनशासन की प्रभुता तथा महत्ता के प्रति समर्पण में आकाश के समान विशाल हृदय वाला होता है एवं संघनिष्ठा और संघ-समर्पण में धरती की तरह धैर्यवान होता है। वस्तुतः सच्चा श्रावक प्राणिमात्र पर प्रेम एवं स्नेह की वर्षा करने वाला, अज्ञान व मोह के प्रति सावधान एवं अप्रमादभाव वाला होता है, वह इन्द्रिय-विषयों को संयमित करने में श्रमशील होता है, राग-द्वेष एवं कषायों के शमन में प्रयत्नरत रहता है, स्वदोष-दर्शन में विश्वास करने वाला व परदोषदर्शन से दूर रहने वाला होता है। श्रावक सदैव भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक रखने वाला सादगी एवं सरलता को जीवन में अपनाने वाला, हृदय में दया को प्रमुख स्थान देने वाला एवं हंसते-हंसते परीषहों को सहन कर क्षमाशीलता के भाव को जीवन में उतारने वाला होता है। तभी गुरु शिष्य से कहते हैं- “उज्जुदंसिणो” हे शिष्य! हे श्रावक! तू ऋजुदर्शी एवं सरलदृष्टि बनना।

श्रमण एवं श्रावक दोनों शब्दों की व्याख्या, महत्त्व एवं कर्त्तव्यों का संक्षिप्त विश्लेषण कर यह बताया गया है कि श्रमण कौन होता है एवं श्रावक किन योग्यताओं का धारक होता है। अब हम मूल विषय पर आते हैं कि इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध कैसे होने चाहिए। मैं पहले ही कह गया हूँ कि इनका सम्बन्ध गुरु-शिष्य का एवं परमेष्ठी व समर्पित उपासक का सम्बन्ध है। संस्कृत में एक सुभाषित है- ‘एतद् सर्वं गुरोर्भक्त्या’ अर्थात् सब रोगों की एक दवा है और वह है गुरुभक्ति एवं गुरुचरणों में समर्पण। परमात्मा परोक्ष है व गुरु प्रत्यक्ष हैं। वे ही ज्ञान प्रदान करते हैं। कहा है- “आचार्यात् विदधाति आचार्यवान् पुरुषो वेदा।” यानी बिना गुरु के परमात्मा का भी पता नहीं लगता है, अतः शिष्य के लिए गुरु से सम्बन्धों के प्रति आगम का कथन है- “आणाए गुरु” सदैव गुरु-आज्ञा में चलें। तभी गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं- “गुरु बिन भव निधि तरहीं न कोई। चाहे विरंचि शंकर समहोई।” आप चाहे कितने ही ज्ञानी हों, पर गुरु के सहारे के बिना भवसागर के पार नहीं उतर सकते। एक राजस्थानी कवि ने गुरु-शिष्य के सम्बन्धों पर कितना सटीक कहा है- “सद्गुरु मेरा शूरमा करे शब्द की चोट। मारे गोला प्रेम का, हरे भरम की कोट। अर्थात् मेरा सद्गुरु श्रमण ऐसा शूरवीर है कि वह तलवार या भाले का नहीं आगमोक्त वचनों की चोट करता है। वह प्रेमयुक्त प्रेरणा या फटकार बताकर भी मन के समस्त संशयों के किले को ध्वस्त कर देता है। इसका अर्थ यही है कि श्रावक को सदा अपने सद्गुरु श्रमण के प्रति श्रद्धानिष्ठ एवं समर्पित रहना चाहिए। उसमें दो गुण अति आवश्यक हैं जिनके बिना न वह सच्चा श्रावक बन सकता है न ही वह धार्मिक बन सकता है। प्रभु ने फरमाया है कि - “विवेगे धम्ममाहिण्।” विवेक में धर्म कहा है। यह धर्म विनयवान एवं विवेकशील को प्राप्त होता है। पूरा नवकार मंत्र जिसमें पंच परमेष्ठी के प्रति विनय का भाव है, उसका हर पद ‘णमो’ से अर्थात् नमन या विनय से प्रारम्भ होता है।

प्रभु ने अपनी अन्तिम देशना जो उत्तराध्ययन सूत्र के रूप में गुंफित है, का प्रथम अध्ययन शिष्य या श्रावक के विनय को समर्पित किया है। घड़ा पानी में झुके नहीं तो भर नहीं पाता, अतः गुरु से ज्ञान-प्राप्ति का प्रथम सूत्र है कि श्रावक का श्रमण के साथ व्यवहार अति विशिष्ट एवं विनययुक्त होना चाहिए। तभी शिष्य या श्रावक को लक्ष्य में रखकर कहा गया है- “जिन सेव्या तिन पाया ज्ञान।” गुरु ज्ञान उसी शिष्य को प्रदान करता है जो विनीत हो। बिना गुरु का ज्ञान शब्दज्ञान भले ही हो वह सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता। सम्यकता के अभाव में विवेक नहीं पनप सकता। सम्यक् ज्ञान के लिए आवश्यक है गुरु-भक्ति, गुरु-विनय एवं गुरु-समर्पण। तभी संस्कृत सुभाषित में कहा है- “विना गुरुभ्यो गुणवीरधीभ्यो, जानाति तत्त्वं न विचक्षणोऽपि। आकर्णदीर्घा मितलोचनोऽपि, दीपं विना पश्यति नांधकारो॥” इसका भावार्थ है गुणसागर गुरु के बिना अति विचक्षण बुद्धि वाला व्यक्ति भी तत्त्वों को नहीं जान सकता। जैसे कि कानों तक फैले हुए विशाल नेत्रों वाला व्यक्ति भी दीपक की सहायता के बिना अंधकार में नहीं देख सकता। संत तुकाराम जी कहते हैं- “सद्गुरु वांचो नी सांपडेना सोय। धरावे ते पाय आधी आधी।” सद्गुरु-श्रमण के समागम के बिना श्रावक मानव को सही मार्ग मिलना सम्भव नहीं है। सद्गुरु संत-श्रमण की संगति करने पर एवं उनसे व्यर्थ के वाद-विवाद की बजाय सच्ची ज्ञान-चर्चा करने पर ही इस राग-द्वेष व कषाययुक्त सांसारिक भुल-भुलैया से निकलने का पथ मिल सकता है।

वस्तुतः सीखने की कुशल कला का नाम ही शिष्यत्व या श्रावकत्व है। शिष्य का अर्थ ही है जो झुकने को राजी हो। जैसाकि पहले कह चुका हूँ कि वही व्यक्ति-घड़ा ज्ञानरूपी पानी से भरेगा जो गुरुज्ञान रूपी सरोवर में अपने को झुकाने में सक्षम होगा। श्रावक वही है जो ज्ञान को अपने अहंकार से अधिक महत्व दे। प्रकाश की छोटी सी किरण को पाने हेतु झुकने को राजी हो। सब कुछ पाने को गुरु चरणों में सब कुछ खोने को तत्पर हो। शिष्य या श्रावक का अर्थ ही है गुरु व श्रमणों के प्रति गहन विनम्रता। झुके बिना ज्ञान उपलब्ध ही नहीं होता। सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ अपने हृदय के द्वार से गुरुज्ञान को स्वीकार कर लेने हेतु परम प्रसन्नता के साथ तत्परता का भाव ही शिष्यत्व अथवा श्रावकत्व है। गुरु एवं शिष्य अथवा श्रमण एवं श्रावक का मिलन श्रावक के मौन तथा श्रमण के शब्द से होता है। आत्मा को गुरु (श्रमण) के समक्ष खड़ी करने से पूर्व गुरु (श्रमण) चरण को अपने हृदय की अंतरतम श्रद्धा से पखार लो। इसी से भीतर का काम-कषाय जलकर जीवन निखरेगा। गुरु के समक्ष इस प्रकार उपस्थित हों जैसे हम हैं ही नहीं। महत्वाकांक्षाओं से हृदय को खाली करो ताकि गुरु (श्रमण) उसमें कुछ भर सकें। तभी कवि कहता है- “गुरु दरश को जाइये तज माया अभिमान। ज्यों-ज्यों पग आगे धरे, त्यों-त्यों यज्ञ समान।”

यह एक अनुभूत सत्य है कि आत्म-विद्या का ज्ञान श्रमण गुरु से ही सीखा जा सकता है। करोड़ों शास्त्र पढ़ने से भी आत्मज्ञान प्राप्त करना कठिन है। एक कुशल गुरु (श्रमण) माली की तरह वासना, विकार एवं दुर्विचारों का झाड़ झंखाड़ उखाड़ कर जीवन में सद्गुणों के पौधों की रक्षा करता है एवं अपने

अनुभव, दूरदर्शिता एवं बुद्धिमत्ता के बल पर शिष्य के जीवन-उद्यान में सद्गुणों के बीज बोकर उसे सुवासित करता है! एक कुशल कुंभकार कुरूप मिट्टी जिसमें जल सोख लिया जाता है, उसके पात्र बना उन्हें अग्नि में तपाकर जल ही क्या दुग्ध-घी-अमृत संचय के योग्य बना लेता है। सद्गुरु श्रमण भी इसी तरह अनगढ़ बेडौल मानव को ज्ञान, शिक्षा, सद्बोध, तप-त्याग-व्रत-प्रत्याख्यान के संस्कारों की अग्नि में तपाकर श्रावक के रूप में जीवन जीने की कला सिखा देते हैं ताकि वह एक श्रेष्ठ स्वर्ण पात्र बनकर जीवन में सारे सद्गुणों को सुरक्षित रख सके। शोषक को पोषक बनाने की विधि गुरु ही प्रदान करता है। अतः शिष्य या श्रावक तथा गुरु एवं श्रमण की पारस्परिक व्यवहार की आधारशिला शिष्य या श्रावक का विनय-विवेक युक्त एवं श्रद्धा से सराबोर व्यवहार ही है। यही शिष्य की विनयशीलता है जिससे गुरु शिष्य को एवं श्रमण श्रावक को दुर्लभ जीवन रहस्यों से अवगत करा मोक्षमार्ग का पथिक बना पाता है। इसी तरह बड़ों एवं गुरुओं के प्रति विनयशीलता के आधार पर कुरुक्षेत्र के महाभारतीय युद्ध मैदान में बिना किसी शस्त्र का प्रयोग किए पितामह भीष्म, गुरु द्रोण एवं कृपाचार्य से धर्मराज युधिष्ठिर ने मात्र विजयी होने का आशीर्वाद ही प्राप्त नहीं किया, वरन् युद्ध के मैदान में किस विधि से उन्हें हराया जा सकता है, इसका रहस्य भी प्राप्त कर लिया एवं यही नहीं अपने मामा शल्यराज जो कर्ण के सारथी थे, उनसे भी न सिर्फ विजयी होने का आशीर्वाद प्राप्त किया वरन् युद्ध के मैदान में महावीर कर्ण को हतोत्साहित करने का वचन भी प्राप्त कर लिया। इसी से प्रेरित हो एक राजस्थानी कवि ने कितना सटीक कहा है- “गुरु कुलाल (कुंभकार) शिश कुंभ है, घड़-घड़ काढ़त खोट। अन्दर हाथ पसार के, बाहर मारत चोट॥” वस्तुतः शिष्य गुरु की एवं श्रावक श्रमण की कृति है। वे उसके निर्माता हैं।

मित्रों! आपको विदित ही है कि डाक्टरी की परीक्षा उत्तीर्ण करके भी डॉक्टरी इलाज के सच्चे एवं सार्थक नुस्खे और अनुभव प्राप्त करने के लिए डाक्टरी परीक्षा उत्तीर्ण व्यक्ति को किसी विषय-विशेषज्ञ डाक्टर के उत्तीर्ण रेजिडेंट डॉक्टर के रूप में ट्रेनिंग प्राप्त करनी पड़ती है। एल.एल.बी. की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद भी असली वकालात शुरू करने के पूर्व उस वकालात के कुशल वकील के नियंत्रण में एक साल काम कर ट्रेनिंग लेनी पड़ती है, उसी प्रकार श्रावक या शिष्य को आत्मा को परमात्मा बनाने का मार्ग जानने हेतु गुरु के सत्संग की, उसकी चरण पर्युपासना कर ज्ञान के गूढ़ तथ्यों की जानकारी प्राप्त करने की साधना भी करनी पड़ती है। गुरु (श्रमण) शिष्य (श्रावक) की छठी इन्द्रिय का दरवाजा खोल देता है। भीतर देखने वाली सुप्त आँख को जागृत कर देता है एवं इस तरह आत्मा को परमात्मा बनाने का मार्ग सुगम बना देता है। जैसी शिष्य की योग्यता, वैसी ही प्राप्ति का अनुभव उसे होता है। शिष्य की योग्यता है श्रद्धा एवं गुरु की योग्यता है अनुग्रह।

विनय के साथ विवेक भी श्रमण-श्रावक के शुभ सम्बन्धों की आधारशिला है। विवेक यानी “हेयोपादेयज्ञानं विवेकः।” मेरे लिये क्या उचित, क्या अनुचित एवं क्या ग्राह्य है एवं क्या अग्राह्य है, इस अच्छे-बुरे में फर्क जानने की विद्या का नाम है विवेक। प्रभु ने धर्म ज्ञान में नहीं विनय एवं विवेक में

बताया है अतएव विनय एवं विवेक श्रमण एवं श्रावक के सम्बन्धों की नींव के पत्थर हैं जिन पर सुदृढ़ धर्म एवं अध्यात्म का महल खड़ा किया जाता है। सच्चे चरित्र की पहचान भी प्रभु ने यही बताई है कि शुभ में प्रवृत्ति एवं अशुभ से निवृत्ति का नाम ही चरित्र है। विवेक के सम्बन्ध में कबीर फरमाते हैं कि “समझा-समझा एक है, अण समझा सब एक। समझा सो ही जानिए, जाके हृदय विवेक।” वस्तुतः ज्ञान, बुद्धि एवं हृदय का सामंजस्य ही विवेक है। बुद्धि एवं ज्ञान से समझे, परन्तु निर्णय लेते वक्त मात्र भावुकता से नहीं विवेक से काम ले वही सच्चा श्रावक है, क्योंकि भावुकतावश लिए गये निर्णय सही ही हों, यह आवश्यक नहीं है। विवेक की प्रशंसा करते हुए चाणक्य नीति कहती है- ‘विवेकिनमनुप्राप्ता गुणा यान्ति मनोज्ञताम्। सुतरां रत्नमाभाति चामीकरनियोजितम्।’ विवेकवान व्यक्ति के गुण स्वर्ण में जड़े हुए रत्न की तरह सुन्दर दिखाई देते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने विवेकशील श्रावक को सम्बोधित करके कहा है- ‘विवेकिनां विवेकस्य फलं ह्यौचित्यवर्तनम्॥’ विवेकशीलों के लिए विवेक का फल यही है कि वे सर्वत्र समय एवं आवश्यकता के अनुसार उचित व्यवहार करें। यही विवेकशीलता यानी विवेकशील व्यक्ति की पहचान है। जिस काम को करने से आपके मन में भय, शंका, लज्जा और ग्लानि का अनुभव हो ऐसा व्यवहार गुरु (श्रमण) तो क्या सामान्य जन के प्रति भी नहीं करना चाहिए। ऐसा करने वाले को मानना चाहिए कि उसका विवेक ऐसा करने से उसे रोक रहा है। जिस व्यवहार को प्रयोग में लाते आपको आनन्द, उत्साह, गौरव एवं प्रीति की अनुभूति हो तो समझ लें ऐसे व्यवहार को आपका विवेक आगे बढ़ने हेतु हरी झंडी दिखा रहा है। अतएव श्रावक का श्रमण के प्रति व्यवहार सदैव विनयनत एवं विवेक युक्त ही होना चाहिए।

श्रावक को कभी सांसारिक कामना की पूर्ति हेतु गुरु से मांगलिक या आशीर्वाद नहीं मांगना चाहिए। श्रमण-साधु का क्षेत्र वीतरागता का क्षेत्र है। सांसारिक कामना की पूर्ति श्रमणों का क्षेत्र ही नहीं है। श्रावक को चाहिए कि श्रमण से फरियाद न करे, बल्कि उसके श्री चरणों में समर्पण करे। यदि फरियाद करोगे तो असली लाभ से वंचित रह जाओगे। गुरु या श्रमण का काम है श्रावक के राग-द्वेष, विषय-कषाय एवं अहंकार को काट-छांट कर श्रावक के भीतर शुद्ध आत्मस्वरूप का प्राकट्य करे। एक अनगढ़ पत्थर में निहित मनभावन एवं पूजनीय मूर्त का प्राकट्य करे। पत्थर में यदि ज्ञान के हथौड़े व श्रद्धा की टाँकी की मार सहते वक्त चरित्र में इतनी कोमलता हो कि वह गुरु ज्ञान व श्रद्धा रूपी टाँकी-हथौड़े की मार सहकर भी टूटे नहीं तभी गुरु द्वारा शिष्य के जीवन की मनभावन मूर्त प्रकट हो पाती है। गुरु-समर्पण का महत्त्व यही है कि सिरदे व सरताज बन। अपना ‘मैं पना’ मिटाकर मुर्शिद बने। अपना तुच्छ ‘मैं पन’ गुरु-श्रमण-चरण में समर्पित कर उनके सर्वस्व का मालिक बन जाओ। मित्रों! लोहे का टुकड़ा यदि कीचड़ में पड़ा है तो जंग से जर्जर बन बिखर जायेगा। अलमारी में रखो तो भी हवा की आर्द्रता से जंग खा जायेगा। उसी लोहे के टुकड़े को पारस (सद्गुरु-श्रमण) का स्पर्श कराकर एक बार सोना बना दो फिर चाहे उसे कीचड़ में डालो, रेत में दबावो, अलमारी में रखो या खुली वर्णा के नीचे रखो वह जंग

खायेगा ही नहीं। ऐसा श्रावक (शिष्य) श्रमण (सद्गुरु) के सान्निध्य में पवित्र बन फिर दुबारा विकारों व विषयों के जाल में फंसने से कतराएगा। ऐसी होती है श्रमण एवं श्रावक के पारस्परिक सम्बन्धों की फलश्रुति।

‘चंदावेज्झयंपइण्णयं’ अर्थात् ‘चंद्रवेध्यक प्रकीर्णक’ में गुरु-शिष्य अथवा श्रमण-श्रावक के गुणों की व्याख्या करते हुए कुछ सूत्र कहे गये हैं जो उनके गुणों को दिग्दर्शित करने के साथ उनके बीच पारस्परिक व्यवहार कैसा हो, इस पर भी प्रकाश डालते हैं। वे इस प्रकार हैं-

1. सव्वत्थ लब्भेज नरो विस्संभं, सच्चयं च कित्तिं च। जो गुरुजणोवइट्ठं विज्जं विणएण जेणहेज्जा ॥६॥

अर्थात् जो श्रावक गुरुजनों द्वारा उपदिष्ट विद्या को विनयपूर्वक ग्रहण करता है वह शिष्य सर्वत्र विश्वास, प्रामाणिकता एवं कीर्ति प्राप्त करता है।

2. दुस्सिक्खिओ हु विणओ, सुलभा विज्जा विणीयस्स ॥२२॥

अर्थात् विनयगुण प्राप्त करना दुष्कर है। विनीत शिष्य या श्रावक के लिए ज्ञानार्जन सुलभ होता है।

3. दुल्लहा आयरिया विज्जाणं दायगा समत्ताणं। ववगय चउक्कसाया दुल्लहया सिक्खया सीसा ॥१४॥

सम्पूर्ण विद्याओं के प्रदाता श्रमण आचार्य दुर्लभ होते हैं। चारों कषायों से रहित शिक्षक (श्रमण) एवं शिष्य (श्रावक) भी दुर्लभ हैं।

4. पुढवी विव सव्वसहं मेरुव्व अकंपिरं ठियं धम्मे। चंदं व सोमत्तेसं आयरियं पसंसंति ॥२३॥

यानी पृथ्वी की तरह सब सहन करने वाले, पर्वत की तरह अकंपित, धर्म में स्थित, चन्द्रमा की तरह सौम्य एवं कांतियुक्त उन आचार्यों की सभी प्रशंसा करते हैं।

5. जह दीवा दीवसयं पइप्पए सो य दिप्पए दीवो। दीवसमा आयरिया दिप्पंति परं च दीवेति ॥३०॥

जैसे एक दीपक से सैकड़ों दीपक जलते हैं एवं वह दीपक स्वयं भी प्रकाशवान रहता है वैसे ही दीपक के समान आचार्य (श्रमण-श्रेष्ठ) स्वयं प्रकाशित रह दूसरों को प्रकाशित करते हैं।

6. सीयसहं उण्हसहं वायसहं खुद विवास अरइसहं। पुढवी विव सव्वसहं सीसं कुसला पसंसंति ॥३८॥

पृथ्वी की तरह सर्दी, गर्मी, वायु, भूखप्यास, अरति (प्रतिकूलता) आदि सभी कुछ सहने वाले शिष्य की सभी कुशलजन प्रशंसा करते हैं।

7. ताभेसु-अत्ताभेसु य अविवज्जो जस्स होइ मुंहवण्णो। अप्पिच्छं संतुट्ठं सीसं कुशसला पसंसंति ॥३९॥

अर्थात् लाभ एवं अलाभ में जो अविचलित (अविवर्ण) रहता हो उसकी प्रशंसा होती है।

अल्पेच्छा से संतुष्ट शिष्य की कुशलजन प्रशंसा करते हैं।

8. वयणाइं सुकडुभाइं पणयनिसिट्ठाइं विसहियच्चाइं। सीसेणाऽऽयरियाणं नीसेसं मज्जमाणेणं। 44।।

जिस प्रकार पत्नी के लिए पति के अत्यधिक कठोर वचन भी सहनीय हैं उसी प्रकार कल्याण मार्ग को खोजते शिष्य के लिए आचार्य (श्रमणश्रेष्ठ) के कठोर वचन भी सहनीय हैं।

9. विणयो मोक्खद्दारं विणयं मा हु कयाइ छडेज्जरा। 54।।

श्रावक के लिए विनय मोक्ष का द्वार है, अतः विनय व्यवहार को श्रावक कभी नहीं छोड़े।

10. जो अविणीयं विणएण जिणइ, सीत्तेण जिणइ निस्सीलं। सो जिणइ तिण्णिस्सोए पावमपावेण सो जिणइ। 55।।

जो अविनीत को विनय से, दुःशील को शील से एवं पाप को पुण्य से जीतता है, वह तीनों लोकों में विजय प्राप्त करता है।

11. जो विणओ तं नाणं, जं नाणं सो उ वुच्चइ विणओ। विणएण लहइ ताणं, नाणेण विजाणइ विणयं। 62।।

श्रावक को इंगित कर कहा गया है कि जो विनय है वही ज्ञान है और जो ज्ञान है वही विनय है। विनय से ही ज्ञान प्राप्त होता है एवं ज्ञान से ही विनय को जाना जाता है।

इस प्रकार चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक में श्रमण एवं श्रावक किन गुणों से एवं परस्पर किस प्रकार के व्यवहार से महिमा मंडित होता है यह उल्लेख किया गया है। वस्तुतः सद्गुरु के बिना सच्चा ज्ञान जो आत्मा को परमात्मा का साक्षात्कार करावे, संभव नहीं है। तभी कहा है- “गुरु बिन भवनिधि तरहिं न कोई, चाहे विरंचि शंकर सम होई।। अर्थात् शिष्य या श्रावक में जब तक सद्गुरु तत्त्व की कृपावृष्टि न हो, तब तक कोई भवसागर को नहीं तैर सकता। दिलबर (परमात्मा) दिल (हृदय) में जन्म-जन्मान्तर से छिपा है, फिर भी गुरु कृपा के बिना उसका साक्षात्कार बहुत दुष्कर है। इसी को ध्यान में रखकर श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि- “आत्म भ्रान्ति समरोग नहीं, सतगुरु वैद्य सुजान। गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ज्ञान।।” अर्थात् शिष्य या श्रावक आत्म भ्रान्ति के रोग से ग्रसित है, जिसका निदान मात्र आत्मार्थी सद्गुरु श्रमण के पास है। हर दवा तभी कारगर होती है जब पथ्य का सेवन हो। इस आत्म-भ्रान्ति के रोग का पथ्य गुरु आज्ञा में रहना है एवं उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान एवं सद्विचार ही इस आत्म-भ्रान्ति के रोग की औषधि है। शिष्य या श्रावक सदैव आज्ञांकित नहीं, आज्ञेच्छुक हो वह अधिक उचित है। आज्ञांकित आज्ञा में तो रहता है, पर उसे आज्ञा से अरुचि भी हो सकती है, जबकि जो आज्ञाकांक्षी या आज्ञेच्छुक है वह तो गुरु की इच्छा को ही अपनी इच्छा एवं गुरु रुचि को अपनी रुचि मानकर सारा जीवन गुरु चरणों में समर्पित कर देता है। इसीलिए आचारांगसूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध 4.3 में कहा है- “आणाकंखी पंडिए।” श्रमण का आज्ञाकांक्षी श्रावक पंडित कहलाता है।

जिस तरह श्रावक विनयी, विवेकशील, समर्पित एवं आज्ञाकांक्षी होना चाहिए उसी तरह सच्चे गुरु या सच्चे श्रमण के लक्षण बताते हुए कहा है कि - “आत्मज्ञान तहाँ मुनिपणुं, ते साचागुरु होय। बाकी कुलगुरु कल्पना, आत्मार्थी नहीं जोय ॥” यानी श्रमण वही है जो आत्मज्ञान का तथा पंच समिति-तीन गुप्ति एवं पंच महाव्रतों का धारक हो। शेष तो कुलगुरु हो सकते हैं, श्रमण नहीं। गुरु एवं श्रमण के लक्षणों को दिग्दर्शित करते हुए आत्मसिद्धि ग्रन्थ में कहा गया है- “आत्मज्ञान समदर्शिता विचरे उदय प्रयोग, अपूर्ववाणी, परमश्रुत, सदगुरु लक्षण योग ॥ यानी श्रमण एवं गुरु की योग्यता का धारक वही है जो आत्मज्ञानी हो, समदर्शी हो, जिसकी वाणी धीर-गंभीर हो, जो शास्त्रज्ञान में पारंगत हो एवं उपयोग सहित विचरण-विहार करे वही श्रमण है। सच्चे श्रमण की अगली पहचान बताते हुए कहा है- “सच्चे व भूता सुमना भवन्तु ॥” अर्थात् श्रमण या साधु मात्र अपनी आत्मा की ही नहीं, समस्त भव्य जीवों के कल्याण की सोच रखने वाला होता है। योगवाशिष्ठ में कहा है कि गुरु कितना ही लब्धिनिष्ठ एवं ज्ञानी हो, उसका ज्ञान श्रावकों के व शिष्यों के जीवन के तिमिर का हरण कर उसे ज्ञान रश्मियों से आलोकित करने के लिए होता है, उस ज्ञानलब्धि से किसी को शाप देकर भस्म करने के लिए नहीं।

यह आवश्यक नहीं है कि श्रमण एवं श्रावक का पारस्परिक व्यवहार सदैव मृदु ही हो। कई बार ऐसी परिस्थिति आती है कि गुरु को उपालंभ भी देना पड़ता है, पर ऐसा होता है श्रावक-श्राविका के हित को दृष्टिगत रखकर ही। महासती चन्दनबाला का एक उपालंभ महासती मृगावती के कैवल्य-प्राप्ति का कारण बन गया। तपस्वी संत के रोज भिक्षा लाने व भिक्षा में बासीभोजन मिलने पर गुरु द्वारा उपालम्भ दे पात्र में थूकना भी कुडगुरु के केवलज्ञान-प्राप्ति का आधार बन गया। देवमाया रूप साधु की फटकार एवं प्रताड़ना ही सेवाभावी नंदीषेण मुनि के जीवन को केवलज्ञान के आलोक से आलोकित कर गई। इसी तरह गुरु का एक वाक्य या एक वचन या सूत्र भी शिष्य को कल्याणमार्ग पर अग्रेसित कर देता है। पांच माह तेरह दिन में 1141 हत्याएँ करने वाला अर्जुनमालाकार प्रभु महावीर के एक सूत्र “तितिकखं परमं नच्चा” अर्थात् तितिक्षा यानी सहन करने को परम धर्म जानकर एवं उसका पालन कर मात्र छः माह की अल्प अवधि में प्रभु महावीर से पहले मोक्षगामी बन गया। ज्ञानान्तराय से ग्रसित मुनि को गुरु ने एक सूत्र दिया ‘मा रूस मा तुस’ यानी न तू रूष्ट हो एवं न ही तुष्ट हो। उसे भी शिष्य याद नहीं रख पाया व ‘मा रूस व मा तुस’ को ‘मास-तुस’ के रूप में याद रख पाया एवं जीवन भर उड़द के छिलके की कालिख हटने पर श्वेत उड़द पाया जाता है इसी सूत्र पर ध्यान केन्द्रित कर केवलज्ञान प्राप्त कर गया।

वे श्रावक जिनके परिवार से कोई पुरुष अथवा स्त्री दीक्षित हुए हैं, उन्हें चाहिए कि उनके साधुत्व ग्रहण करने के पश्चात् उनकी एकान्त में सेवा न करें न कभी घरेलू समस्याओं या सम्बन्धों के सम्बन्ध में उनसे बात करें, क्योंकि छद्मस्थ होने से साधु ऐसे संसर्ग से अथवा इस तरह की सूचनाओं से राग-द्वेष या मोह से ग्रसित हो सकते हैं। वे सेवा अवश्य करें, पर अन्य साधुओं की उपस्थिति में सेवा करें जिससे श्रमण का मोहभाव जागृत न हो पावे। यह सावधानी हर वीर परिवार जिससे दीक्षा हुई है, उन्हें बरतनी

चाहिए ताकि उन संत या महासती की संयम-यात्रा में सहयोगी की भूमिका निर्वहन हो सके।

श्रावक-श्राविका को श्रमण-श्रमणी के माता-पिता (अम्मापियरो) के विरुद्ध से सम्मानित किया गया है। हमारा बतौर श्रावक यह कर्तव्य है कि हम श्रमणों एवं महासती मण्डल के गोचरी, विहार, बीमारी में औषधि, परिचर्या आदि के प्रति सजग व जागरूक रहें ताकि श्रमणवर्ग को उनकी श्रमण चर्या की मर्यादाओं का पालन करने में कठिनाई का सामना न करना पड़े। श्रमण 42 दोष टाल कर भिक्षा ग्रहण कर सकता है, अतएव श्रावक इस बात के प्रति सावधान रहे कि श्रमणों एवं महासतीवृन्द को प्रासुक जल एवं निर्दोष गोचरी बहरावें। आधाकर्मी आहार हरगिज न बहरावे। उनके वस्त्र-पात्रों की आवश्यकता भी श्रावकों को ही पूरी करनी पड़ती है, पर इसमें साधु मर्यादा खंडित हो ऐसा व्यवहार हम कदापि न करें। श्रमण अणगार है, अतः उनके ठहरने का शय्यातर हमें ही बनना पड़ता है। उनके बैठने के पाट-पाटलों की निर्दोष व्यवस्था भी करना श्रावक का ही कर्तव्य बनता है। श्रमण पाँच आचार का पालक होता है, छः काय का रक्षक होता है। वह सातों कुव्यसनों का आजीवन त्यागी, आठ मर्दों का त्यागी, शुद्ध ब्रह्मचर्य (नववाड़ सहित) का पालक, दस प्रकार के यति धर्म का धारक, बारह प्रकार से तप करने वाला, सत्रह भेद से संयम की पालना करने वाला, अठारह पापस्थान का त्यागी, बाईस परीषहों पर विजय प्राप्त करने वाला होता है। वह न बुलाये आता है न न्यौता प्राप्त कर गोचरी प्राप्त करता है, वह सचित्त का त्यागी एवं अचित्त को ग्रहण करता है। लोच करने वाला एवं नंगे पांव अपना वजन खुद अपने पर लाद कर चलने वाला होता है एवं मोह-ममता रहित होकर विचरता है। हम श्रावकों का कर्तव्य है कि हमारा श्रमणों के साथ ऐसा समर्पित विनय एवं विवेकपूर्ण व्यवहार होना चाहिए कि उनकी इन उपर्युक्त एवं अन्य साधु मर्यादाओं के पालन में किसी तरह का विक्षेप न आवे। अलबत्ता इस संयम-साधना में हमारी भूमिका सहयोगी की होनी चाहिए। अत्यधिक मोह-ममतावश ऐसा कुछ न करें, जिससे उनकी साधना-आराधना एवं श्रमणचर्या में कोई विघ्न उपस्थित हो। माता-पिता का कर्तव्य अपनी संतान के हित-चिन्तन का एवं उनके संकल्पित लक्ष्य में सहयोग कर उन्हें अपने आत्म-कल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ाने का होता है। श्रावक-श्राविका श्रमणों एवं साध्वीवृन्द के माता-पिता हैं। विरक्त आत्माएँ संसार को हमारे भरोसे नहीं छोड़ते, परन्तु उनकी वीतरागता की साधना में हमें अपेक्षित योगदान आगे बढ़ कर देना होता है, यह हर श्रावक का कर्तव्य है एवं उसका प्रमोदपूर्वक पालन ही हमारे श्रावकत्व को गौरवशाली बनाता है। अतएव हमें चाहिए कि हम राग-भाववश साधु-साध्वीवृन्द को अकल्पनीय वस्तु का दान न दें, न आधाकर्मी आहार उन्हें बहरावें। द्वेषवश देने योग्य अचित्त वस्तु को जानबूझकर सचित्त से ढंके नहीं अथवा देने योग्य वस्तु जो साधु को लेनी कल्पती है उसे कपट एवं मायाभाव से अपनी न बताकर साधु-साध्वी को उचित दान प्राप्ति से वंचित भी नहीं करें। जब साधु-साध्वी को कोई वस्तु देने का मौका आवे तो अहं या द्वेष वश दूसरे सम्प्रदाय का साधु समझकर स्वयं वह वस्तु दान में न देकर दूसरों से उसका दान नहीं करवावें एवं साधु-साध्वी को दान देकर कभी पश्चात्ताप न करें। घर में देने

योग्य वस्तु हो एवं साधु को उसकी आवश्यकता हो तो श्रावक के नाते हमारा कर्तव्य है कि हम उस वस्तु को देने से इन्कार न करें, क्योंकि वे तो गृहस्थ के घर से ही वह वस्तु प्राप्त कर सकते हैं। चाहे किसी सम्प्रदाय के साधु-साध्वी हों, यदि वे गोचरी हेतु आपके घर आ रहे हों तो न उनके प्रति घृणा भाव लावें एवं न क्रोध तथा द्वेषवश उनके प्रवेश का निषेध करने हेतु घर-दरवाजा बंद करें। ऐसा करना जघन्य पाप की श्रेणी में आता है एवं निकाचित कर्मों के बंध का आधार बनता है। साधु-साध्वी के लिए अपने उपयोग हेतु वस्तु-प्राप्ति का स्थान मात्र गृहस्थ का घर है।

आज विहार-चर्या में साधु-साध्वीगण पूरी तरह असुरक्षित हैं। पिछले दो वर्षों में कितने ही महान् संतगण एवं महासतीवृन्द अकाल मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं। इस बिगड़े हुए जमाने एवं माहौल में जहां नैतिकता अपने निम्नतम धरातल को छू चुकी है, साध्वीवृन्द का विहार और ज्यादा कष्टप्रद एवं आपदाओं से भरा है। जैन-जैनेतर अपरिचित क्षेत्र में उनका रात्रि विश्राम भी संकटों से भरा होता है, अतएव श्रावक-श्राविका वर्ग का कर्तव्य है कि साधु-साध्वी वृन्द को अपने गांव या क्षेत्र में बुलाकर ही संतोष नहीं करें, वरन् उन्हें अगले गांव या जहां जैन साधुचर्या के जानकार लोग न मिलें वहाँ तक उन्हें सुरक्षित पहुँचाना एवं रात्रि को उनकी सुरक्षा हेतु ठहराना भी उनका कर्तव्य बन जाता है ताकि हमारे पंच परमेष्ठी साधु-साध्वीवृन्द की इज्जत एवं मर्यादा को कोई आंच न आवे। किसी एक गांव से विहार कर वह किस रास्ते से जावे एवं कहाँ-कहाँ ठहरने पर उन्हें गोचरी-पानी प्राप्त करने में कष्ट का सामना नहीं करना पड़ेगा एवं कितने किलोमीटर का विहार करना जरूरी होगा, यह भी पता लगाना हम श्रावकों का कर्तव्य है। यदि साधु-साध्वीवृन्द रुग्ण हैं तो उन्हें मार्ग में परिचर्या के साधन उपलब्ध कराना एवं कहाँ जाकर उनका स्थायी उपचार हो पायेगा एवं ऐसा स्थायी उपचार कौन करेगा एवं कहाँ व किस अस्पताल में उपलब्ध हो पायेगा, यह जानकारी एवं सुविधा कराना भी हम श्रावकों का श्रमणों के प्रति एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है।

अंत में श्रमण एवं श्रावक के आपसी व्यवहार पर एक श्लोक उद्धृत कर मैं अपना कथन समाप्त करना चाहूँगा। वह श्लोक निम्न प्रकार है-

धन्ना णं ते जीवत्तोए, गुरुवो निवसंति जस्स हियम्मि ।

धन्नाणं वि सो धन्नो, गुरुण हिय वसइ जऊ॥

अर्थात् वे शिष्य या श्रावक धन्य हैं जिनके हृदय में गुरु अथवा श्रमण परमेष्ठी का निवास है, परन्तु वे शिष्य या श्रावक धन्यातिधन्य हैं, जिनका अपने गुरु के हृदय में निवास है, जैसाकि गुरु हीराचन्द्र जी एवं मानचन्द्र जी का अपने गुरु हस्तीमल जी महाराज के हृदय में एवं आचार्य देवेन्द्रमुनि जी का अपने गुरु पुष्कर मुनि जी के हृदय में निवास था।

-अध्यक्ष, जोधपुर मंदिर दुखान्तिका आयोग

सिरेह सदन्, 20/33, रेणु पथ, मानसरोवर, जयपुर (राज.)

श्रमण-जीवन में गुणस्थान-आरोहण

श्री धर्मचन्द्र जैन

श्रमण प्रायः प्रमत्तसंयत एवं अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में आता-जाता रहता है, किन्तु जब वह क्षपकश्रेणि करता है तो अन्तर्मुहूर्त में दसवें एवं बारहवें गुणस्थान होकर केवलज्ञानी बन जाता है तथा यदि उपशमश्रेणि करता है तो वह दसवें से ग्यारहवें गुणस्थान में रुककर लौट आता है। श्रमण के गुणस्थानारोहण का प्रामाणिक एवं सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत आलेख में द्रष्टव्य है। -सम्पादक

श्रमण जीवन-

श्रमण के अनेक अर्थ हैं। उनमें से एक तो यह कि तप और संयम में जो अपनी पूरी शक्ति लगा रहा है, तपस्वी है, वह श्रमण है। दूसरा अर्थ है 'समण' अर्थात् त्रस, स्थावर सब प्रकार के प्राणियों के प्रति जिसके अन्तःकरण में हित की कामना है, वह श्रमण है। तीसरा अर्थ है- 'समन' अर्थात् जो साधक त्रस-स्थावर जीवों पर समभाव रखने वाला होता है, उसके मन में आकुलता-व्याकुलता और विषम भाव नहीं होते, वही श्रमण कहलाने का अधिकारी है, उसको 'समन' भी कहते हैं।

साधना करने वाले साधकों को तीन रूपों में रखा जा सकता है- 1. चेतनाशील और स्वस्थ, 2. चेतनाशील किन्तु अस्वस्थ और 3. चेतनाशून्य। प्रथम चेतनाशील साधक वे हैं जो बिना किसी पर की प्रेरणा के कर्त्तव्य-साधन में सदा जागृत रहते हैं। संयम-जीवन में जरा सी भी स्वखलना आये तो तुरन्त संभल जाते हैं। कषायों एवं विषयों को जीतने में सदैव सावधान रहते हैं।

दूसरे दर्जेके साधक चेतनाशील होकर भी अस्वस्थ होते हैं। आहार-विहार व आचार-विचार में शुद्धि के कामी होते हुए भी वे प्रमादवश चक्कर खा जाते हैं। विविध प्रलोभनों में लुब्ध और क्षुब्ध हो जाते हैं। उन्हें उस समय किसी योग्य गुरु द्वारा प्रेरणा की आवश्यकता रहती है। वे शारीरिक, मानसिक कष्टों में घबरा जाते हैं। यदि कोई प्रबुद्ध उस समय उन्हें नहीं संभाले तो वे साधना मार्ग से च्युत हो जाते हैं।

तीसरे चेतना शून्य साधक वे हैं जो व्रत-नियम की अपेक्षा छोड़कर केवल वेष का वहन करते हैं। छिपे कुकर्माचरण करने पर भी जब कोई कहते हैं- महाराज! संयम नहीं पलता तो वेष क्यों नहीं छोड़ देते? तब कहते हैं, गुरु का दिया बाना भला कैसे छोड़ सकता हूँ। इस प्रकार आध्यात्मिक साधना को छोड़कर आरंभ-परिग्रह का सेवन करने वाले चेतना शून्य साधक हैं। वे मुनिव्रत लेकर भी संसार के मोह-माया जाल में सब कुछ भूल जाते हैं। उनकी साधना में गति नहीं रहने से वे कल्याण मार्ग में सहायक नहीं हो सकते।

श्रमण-जीवन का प्रारंभ चारित्र से होता है। जब कोई साधक समस्त सावद्य योगों का जीवन भर के लिये तीन करण-तीन योग से त्याग करने हेतु प्रतिज्ञा स्वीकार करता है तब श्रमण जीवन प्रारम्भ होता है। गुरु भगवन्तों के मुखारविन्द से जिस समय वह अपूर्व उत्साह एवं दृढ़ता के साथ संयम-जीवन की प्रतिज्ञा स्वीकार करता है, उस समय उसके भावों में अप्रमत्तता रहने से उसे अप्रमत्त संयत गुणस्थान का अधिकारी माना जाता है। जो साधक संयम अंगीकार करने के बाद भी अपने भावों को विशुद्ध बनाये रखने हेतु स्वाध्याय-ध्यान, जप-तप, सेवा आदि में संलग्न रहता है तो बीच-बीच में अप्रमत्तता आती रहती है। श्रमण-जीवन का महल चारित्र पर टिका रहता है। जितना चारित्र निर्मल एवं उत्कृष्ट होता है, उतना ही साधक का संयम भी विशुद्ध बना रहता है। चारित्र के मुख्यतः पाँच भेद होते हैं- 1. सामायिक चारित्र, 2. छेदोपस्थापनीय चारित्र, 3. परिहार विशुद्धि चारित्र, 4 सूक्ष्म सम्पराय चारित्र और 5. यथाख्यात चारित्र।

चयरित्तिकरं चारित्तं होइ आहियां। (उत्तराध्ययन 28.33) अर्थात् संचित कर्मों से आत्मा को रिक्त करना, तप-संयम के द्वारा पूर्व बद्ध कर्मों को दूर हटाना तथा नये कर्मों के बन्धन को रोकना, इस क्रिया का नाम चारित्र है। चारित्र सम्यक् तभी बनता है जबकि वह सम्यक् ज्ञान व सम्यक् दर्शन पूर्वक हो। चारित्र के उक्त पाँच भेदों का विवेचन इस प्रकार है-

1. सामायिक चारित्र- विषय-कषाय और आरम्भ-परिग्रहादि सावद्य योगों का, विषम भावों का त्याग करना तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्रमय रत्नत्रय रूप समभाव को धारण करना, इसका नाम सामायिक चारित्र है।

दूसरे शब्दों में सर्व-सावद्य योगों का त्रिकरण-त्रियोग से जीवन भर के लिए त्याग कर देना तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना में संलग्न रहना 'सामायिक चारित्र' कहलाता है।

सामायिक चारित्र के दो भेद होते हैं- 1 इत्वरिक और 2. यावत्कथिक।

(1) **इत्वरिक सामायिक चारित्र-** यह थोड़े काल के लिए होता है। इसकी स्थिति जघन्य सात दिन, मध्यम चार माह और उत्कृष्ट छह महीने की है। यह चारित्र भरत और ऐरवत क्षेत्र में प्रथम और अन्तिम तीर्थकर के शासनश्रित साधु-साध्वियों में ही होता है। महाव्रतों में आरोपण के पूर्व जो चारित्र होता है, उसे इत्वरिकालिक सामायिक चारित्र कहते हैं। इसे वर्तमान में छोटी दीक्षा भी कहा जाता है।

(2) **यावत्कथिक सामायिक चारित्र-** इसके होने पर संसार का त्याग करते समय सर्व-सावद्य त्याग रूप सामायिक चारित्र जीवन भर रहता है, पुनः महाव्रतारोपण की आवश्यकता नहीं होती। यह चारित्र महाविदेह क्षेत्र के सभी साधु-साध्वियों में तथा भरत-ऐरवत में मध्य के 22 तीर्थकरों के शासन काल के साधु-साध्वियों में पाया जाता है।

सामायिक चारित्र ग्रहण करते समय सातवाँ अप्रमत्त गुणस्थान आता है, बाद में परिणामों की विशुद्धि में कमी आने पर छठा प्रमत्त संयत गुणस्थान आ जाता है। यदि कोई साधक ऐसे उच्चकोटि के हों जो संयम ग्रहण करके अपने परिणामों को विशुद्ध रखते हैं, हीयमान नहीं होने देते, वे अन्तर्मुहूर्त में ही श्रेणीकरण करके आठवें

आदि आगे के गुणस्थानों में भी जा सकते हैं।

यह ज्ञातव्य है कि अप्रमत्त संयत गुणस्थान को जिस साधक ने उस भव में प्रथम बार ही प्राप्त किया है तो वह अन्तर्मुहूर्त उस गुणस्थान में रहता ही है। अर्थात् अन्तर्मुहूर्त बीते बिना न तो वह नीचे गिरता है, न ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ता है और न ही मरण को प्राप्त होता है।

किन्तु उस भव में यदि दूसरी-तीसरी बार अप्रमत्त संयत गुणस्थान प्राप्त किया है तो वह एक समय रहकर भी मरण को प्राप्त हो सकता है। यह नियम है कि सातवें गुणस्थान में मरण को प्राप्त होने वाले साधक आराधक होते हैं। वे वैमानिक देवलोको में ही उत्पन्न होते हैं तथा अधिकतम 15 भव करके मोक्ष में चले जाते हैं।

सामायिक चारित्र एक भव में पृथक्त्व सौ बार तथा अनेक भव में पृथक्त्व हजार बार आ सकता है। सामायिक चारित्र आठ भवों में ही आता है, इससे अधिक भवों में नहीं।

सामायिक चारित्र के इत्वारिक और यावत्कथिक जो भेद किये हैं वे मानव-स्वभावगत विशेषताओं के कारण किये गए हैं। प्रथम तीर्थंकर के साधु सरल और जड़ होते हैं। अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्र और जड़ होते हैं, किन्तु मध्य के 22 तीर्थंकरों के तथा महाविदेह क्षेत्र के साधु-साध्वी सरल और प्राज्ञ होते हैं। यही कारण है कि मध्य के 22 तीर्थंकरों के शासनवर्ती एवं महाविदेही साधु-साध्वियों को पुनः महाव्रतारोपण रूप छेदोपस्थापनीय चारित्र की आवश्यकता ही नहीं होती है, इसलिए उनका सामायिक चारित्र यावत्कथिक अर्थात् जीवन पर्यन्त के लिये होता है।

सामायिक चारित्र में छठे से लेकर नवें तक चार गुणस्थान होते हैं। छठा-सातवाँ गुणस्थान तो उत्कृष्ट आठ भवों से प्राप्त हो सकता है, किन्तु आठवाँ एवं नवाँ गुणस्थान तो तीन भवों से अधिक प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि उपशम श्रेणि अधिकतम 2 भवों में हो सकती है, तथा एक भव में क्षपक श्रेणि। आठवाँ एवं उससे ऊपर के गुणस्थान श्रेणि में ही प्राप्त होते हैं। जो जीव आठवें, नवें गुणस्थान में रहते हुए काल करता है तो वह पाँच अनुत्तर विमान का अधिकारी बनता है।

2. छेदोपस्थापनीय चारित्र- जिस चारित्र में पूर्व दीक्षा-पर्याय का छेदकर पाँच महाव्रतों का आरोपण किया जाता है, उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं। यह चारित्र मात्र भरत-ऐरवत क्षेत्र में प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के शासनवर्ती साधु-साध्वियों में ही पाया जाता है। उसके दो भेद हैं- 1. सातिचार और 2. निरतिचार।

1. पहले व अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ में किसी साधु-साध्वी को मूल गुणों की घात होने के कारण दीक्षा पर्याय का छेद दिया जाए या नई दीक्षा दी जाए, उसे सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं।
2. इत्वर सामायिक चारित्र वाले शिष्य को जब बड़ी दीक्षा दी जावे तथा एक तीर्थंकर के शासन से दूसरे तीर्थंकर के शासन में आने वाले साधु को जो पाँच महाव्रतों का आरोपण किया जावे, उसे निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं।

जैसे पार्श्वनाथ परम्परा के अनेक साधु-साध्वियों ने चातुर्मास धर्म को छोड़कर भगवान महावीर के

शासन में पंचयाम धर्म स्वीकार किया।

छेदोपस्थापनीय चारित्र में भी सामायिक चारित्र के समान 6 से 9 गुणस्थान हैं। यह भी आठ भवों में ही प्राप्त होता है। एक भव में जघन्य एक बार तथा उत्कृष्ट बीस पृथक्त्व अर्थात् दो बीसी से लेकर छ बीसी तक प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में 40 से लेकर 120 बार तक उत्कृष्ट एक भव में प्राप्त हो सकता है। आठ भवों में कुल मिलाकर $120 \times 8 = 960$ बार प्राप्त हो सकता है। अर्थात् छेदोपस्थापनीय संयत के अनेक भव (8 भव) में नौ सौ से ऊपर और एक हजार से कम आकर्ष होते हैं।

3. परिहार विशुद्धि चारित्र— जिस चारित्र के द्वारा कर्मों का अथवा दोषों का विशेष रूप से परिहार होकर, निर्जरा द्वारा विशेष शुद्धि हो, उसे परिहार 'विशुद्धि' चारित्र कहते हैं। अर्थात् तप विशेष द्वारा विशेष शुद्धि कराने वाला चारित्र परिहार विशुद्धि चारित्र कहलाता है।

इस चारित्र की आराधना 9 मुनि मिलकर करते हैं। इनमें चार साधु तप करते हैं। ये 'पारिहारिक' कहलाते हैं। चार साधु वैयावृत्य करते हैं। ये 'अनुपारिहारिक' कहलाते हैं। शेष एक वाचनाचार्य के रूप में रहते हैं, जिसे सभी साधु वन्दना करते हैं, उनसे प्रत्याख्यान लेते हैं, आलोचना करते हैं और शास्त्र श्रवण करते हैं। इस प्रक्रिया में 18 माह का समय लगता है। प्रथम छः माह में वैयावृत्य करने वाले द्वितीय छः माह में तप करते हैं। तप करने वाले वैयावृत्य करते हैं। वाचनाचार्य वहीं रहता है। अन्तिम छह माह में वाचनाचार्य तप करता है, सात साधु वैयावृत्य करते हैं, एक वाचनाचार्य होता है। इस प्रकार 18 माह में यह तप पूर्ण होता है। इसके पूर्ण होने पर या तो वे सभी मुनिराज पुनः इसी कल्प (तप) को प्रारंभ कर देते हैं। या जिनकल्प धारण कर लेते हैं या फिर पुनः अपने गच्छ में आ जाते हैं।

परिहारविशुद्धि तप की आराधना वे ही साधु कर सकते हैं जिन्हें कम से कम नवें पूर्व की तीसरी आचार वस्तु का ज्ञान हो तथा अधिकतम 10 पूर्वों का ज्ञान हो। जिनकी आयु कम से कम 29 वर्ष की हो तथा बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय हो चुकी हो। यह चारित्र तीर्थकर भगवान के पास अथवा जिन्होंने तीर्थकर भगवान के पास पर चारित्र अंगीकार किया हो, उनके पास अंगीकार कर सकते हैं, अन्य के पास नहीं।

परिहारविशुद्धि चारित्र में छठा व सातवाँ ये दो गुणस्थान ही होते हैं। इस चारित्र में रहते साधक किसी भी प्रकार की लब्धि का प्रयोग नहीं करते हैं। यह चारित्र एक भव में अधिकतम तीन बार प्राप्त हो सकता है तथा अनेक भवों में अधिकतम सात बार प्राप्त हो सकता है। कुल मिलाकर तीन भवों में ही प्राप्त होता है। यह चारित्र पूर्वज्ञान पर आधारित है अतः साध्वियों में नहीं पाया जाता है। यह चारित्र प्रथम व अन्तिम तीर्थकर के शासन में ही पाया जाता है। अर्थात् महाविदेह क्षेत्र में तथा भरत-ऐरवत में मध्य के 22 तीर्थकरों के शासन में यह चारित्र नहीं पाया जाता है।

परिहार विशुद्धि संयत का जघन्य काल एक संयत की अपेक्षा एक समय (मरण की अपेक्षा) है तथा उत्कृष्ट काल देशोन उनतीस वर्ष कम पूर्वकोटि वर्ष का है। यद्यपि इस चारित्र का काल 18 माह बताया है, किन्तु

उन्हीं अविच्छिन्न परिणामों से जीवन पर्यन्त भी इस चारित्र का पालन किया जा सकता है, इसी अपेक्षा से उत्कृष्ट काल बतलाया गया है।

4. सूक्ष्म सम्पराय चारित्र- जब मोहनीय कर्म की 28 प्रकृतियों में से मात्र संज्वलन लोभ-कषाय का ही उदय रहे, अन्य प्रकृतियों का क्षय अथवा उपशम हो जाये, ऐसी अवस्था को सूक्ष्म सम्पराय चारित्र कहते हैं। यह चारित्र उपशम श्रेणि व क्षपक श्रेणि दोनों ही प्रकार के साधकों को प्राप्त होता है।

इस चारित्र में मात्र दसवाँ गुणस्थान ही होता है। इसकी स्थिति जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की होती है। यह चारित्र एक भव में चार बार तथा अनेक भवों में 9 बार प्राप्त हो सकता है। कुल मिलाकर 3 भवों में ही प्राप्त होता है। इस चारित्र में यह विशेषता है कि संयत में ज्ञानोपयोग ही रहता है। अर्थात् साधक की प्रवृत्ति चार ज्ञानों में ही होती है, दर्शनोपयोग में प्रवृत्ति नहीं रह पाती।

यह चारित्र संक्लेश और विशुद्धि की अपेक्षा भी दो प्रकार का है। उपशम श्रेणी में जब साधक ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर दसवें गुणस्थान को प्राप्त करता है तो उसे संक्लिश्यमान सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहते हैं। जब उपशम अथवा क्षपक श्रेणि करते समय साधक उत्तरोत्तर विशुद्ध परिणामों से आठवें, नवें गुणस्थान से दसवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं तब उसे विशुद्धयमान सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहते हैं।

5. यथाख्यात चारित्र- कषाय रहित साधु का चारित्र, जो किसी भी प्रकार के किंचित् भी दोष से रहित, निर्मल और पूर्ण विशुद्ध होता है, उस सर्वोच्च चारित्र को यथाख्यात चारित्र कहते हैं। अर्थात् वीतरागियों का चारित्र यथाख्यात चारित्र है। इस चारित्र में मोहनीय कर्म का, राग-द्वेषादि का लेश मात्र भी उदय नहीं रहता है। इसके निम्नलिखित भेद हैं-

(अ) उपशान्त मोह छद्मस्थ चारित्र- यह ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती साधकों में होता है।

(ब) क्षीणमोह छद्मस्थ चारित्र- यह बारहवें गुणस्थान वर्ती साधकों में होता है।

(स) सयोगी केवली चारित्र- यह तेरहवें गुणस्थानवर्ती में होता है।

(द) अयोगी केवली चारित्र- यह चौदहवें गुणस्थानवर्ती में होता है।

उपशम श्रेणि करने वाले साधु-साधवियों को ग्यारहवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है। इस गुणस्थान वालों को अन्तर्मुहूर्त में नीचे गिरना ही पड़ता है। यदि आयु पूर्ण हो जाये तो काल भी कर सकते हैं। काल करने पर ये पाँच अनुत्तर विमान में ही जाते हैं। वहाँ 33 सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति पाते हैं तथा अगले मनुष्य भव में मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

उपशान्त कषाय वीतराग गुणस्थान एक भव में उत्कृष्ट दो बार तथा अनेक भवों में उत्कृष्ट चार बार प्राप्त हो सकता है। यह गुणस्थान दो भवों से अधिक में प्राप्त नहीं होता है। इस गुणस्थान की यह भी विशेषता है कि इसमें रहते साधक के परिणाम न तो वर्धमान होते हैं, न हीयमान। एकान्त अवस्थित परिणाम मात्र इसी ग्यारहवें गुणस्थान में पाये जाते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति पूर्ण हो जाने पर साधक को नीचे गिरना पड़ता है।

दसवें गुणस्थान में आने पर संज्वलन लोभ का उदय हो जाता है, किन्तु म्यारहवें गुणस्थान में रहते किसी भी कषाय का उदय नहीं रहता।

बारहवाँ, तेरहवाँ, चौदहवाँ गुणस्थान क्षपक श्रेणि करने वाले चरम शरीरी साधकों को ही प्राप्त होता है। ये अप्रतिपाती गुणस्थान हैं। अर्थात् इन्हें प्राप्त करने वाले अर्थात् क्षपक श्रेणि पर आरूढ़ होने वाले संयत नीचे नहीं गिरते हैं। वे उसी भव में मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

श्रमण जीवन और आराधना

संयम-जीवन अंगीकार कर जो निरतिचार संयम का पालन करते हैं तथा जाने-अनजाने जो दोष लगे भी हैं तो उनका आलोचना, प्रायश्चित्त आदि द्वारा शोधन कर लेते हैं, ऐसे सजग, सरल एवं समत्व भाव में लीन साधक आराधकता को प्राप्त होते हैं।

जो श्रमण जीवन में छठे-सातवें गुणस्थान में रहते वैमानिक देवलोक का आयुष्य बन्ध कर लेते हैं, वे आराधक होते हैं। चौथे से सातवें गुणस्थान में रहते यदि कोई भी जीव आगामी भव का आयुबन्ध कर लेते हैं तो वे भी आराधक कहलाते हैं। अर्थात् सम्यक्त्व अवस्था, श्रावकपना अथवा साधुपने में रहते जो आगामी भव की आयु बन्ध लेते हैं, वे आराधक बन जाते हैं। ऐसे साधक अधिकतम 15 भव करके मोक्ष चले जाते हैं, 15 भव वैमानिक व मनुष्य के ही करते हैं। शेष 22 दण्डकों के तो हमेशा के लिये ताले लगा देते हैं।

भगवती सूत्र शतक 25 उदे. 6 में तो कहा है कि 5 समिति एवं 3 गुप्ति का ज्ञान रखने वाला श्रमण भी संयम में जागरूकता रखते हुए उत्कृष्ट आराधक बन सकता है।

गुणस्थानों पर आरोहण मोह घटने से होता है। जितना-जितना मोह (कषाय-भाव) घटता है उतनी ही परिणामों में विशुद्धि आती है, आसक्ति घटती है, निस्पृहता एवं समत्व भाव में वृद्धि होती है, तभी सम्यक्त्व, श्रावकपना, संयतपना प्राप्त होता है। आराधकता श्रेणिकरण, वीतरागता, सर्वज्ञता एवं मोक्ष-प्राप्ति ये सभी श्रमण जीवन की निर्मल-निरतिचार साधना-आराधना से ही संभव है।

-रजिस्ट्रार, अखिल भारतीय श्री जैन रत्न आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड, जोधपुर (राज.)
(ई-45, प्रतापनगर, जोधपुर)



आचार्य हस्ती के श्रमण-जीवन का वैशिष्ट्य

श्री ज्ञानेन्द्र बाफना

आचार्य हस्ती इस युग के महान् श्रमण थे, जिनमें श्रमण की आगमोक्त सभी विशेषताएँ विद्यमान थीं। गुरुभक्त श्री बाफना जी ने अपने आलेख में पूज्य आचार्यप्रवर का ऐसा भावपूर्ण सुन्दर रेखांकन किया है, जो एक सच्चे उत्कृष्ट श्रमण के गुणों से भी हमें परिचित कराता है। विरक्तता, अप्रमत्तता, सरलता, धीरता, अनासक्ति, आचारनिष्ठा, गुरु के प्रति समर्पण, विद्वत्ता, समता, अध्यात्मयोगिता आदि अनेक गुणों का समवाय आचार्य हस्ती को एक महनीय सन्त के रूप में प्रतिष्ठित करता है। -सम्पादक

अनादि काल से अनन्त आत्माएँ कर्म दलिकों का मूलोच्छेद कर शुद्ध, बुद्ध, विमल दशा प्राप्त कर 'मोक्ष' प्राप्त करती रही हैं। जिन-जिन आत्माओं ने मोक्ष प्राप्त किया है वे सभी सामायिक यानी संयम के प्रभाव से ही इस मुकाम को हासिल कर सकी हैं। शासनेश श्रमण भगवान महावीर के ही शब्दों में "जे के वि गया मोक्खं, जे गच्छन्ति, जे गमिस्संति ते सव्व सामाइय पभावेणं" अर्थात् जो भी मोक्ष में गये हैं, जो जाते हैं, जो जायेंगे, वे सभी सामायिक के प्रभाव से। स्वतः सिद्ध है कि नवकार मंत्र का पंचम पद "णमो लोए सव्व साहूणं" पंच परमेष्ठी के शेष सभी पदों का मातृस्थान है। श्रमण जीवन से ही अमरत्व व सिद्धि की यात्रा प्रारम्भ होती है। यह साधना साधक स्वयं अपने श्रम से अपने-अपने पुरुषार्थ से तय करता है, संभवतः इसी बात को पुष्ट करने के लिये चरम तीर्थंकर भगवान महावीर के साथ 'श्रमण' विशेषण जोड़ा गया है।

आचार्य तीर्थंकर के प्रतिनिधि कहे गये हैं। तीर्थंकरों के अभाव में वे तीर्थंकर के प्रतिरूप समझे जाते हैं। श्रमण संस्कृति के अमरगायक जैन संस्कृति के उन्नायक, जन-जन के आराध्य, लक्षाधिक भक्तों के पूज्य युग मनीषी आचार्य भगवन्त पूज्य श्री हस्तीमल जी म.सा. के श्रमण जीवन में हम पंच परमेष्ठी के गुणों का दिग्दर्शन कर सकते हैं। उन्होंने माँ के गर्भ से ही शील सुवास का आस्वादन किया, शिशुवय से ही शिक्षा व संस्कार पाये, अबोध बालवय से ही श्रमणों का छठा व्रत रात्रि भोजन त्याग (चौविहार) स्वीकार किया, दश वर्ष की लघुवय में ही वे अपने महनीय गुरुदेव पूज्यपाद आचार्य श्री शोभा की सन्निधि में 'श्रमण' बन गये, पन्द्रह वर्ष की किशोर वय में महिमामयी रत्नसंघ परम्परा के आचार्य मनोनीत हुए। तरुणाई की कोंपले पूरी फूटे उसके पूर्व में 19 वर्ष 3 माह 20 दिन की वय में ही विधिवत् संघनायक 'णमो आयरियाणं' के पद पर प्रतिष्ठित हो गए। 71 वर्ष का निर्मल निरतिचार संयम-जीवन व 61 वर्ष

तक अपने धर्म संघ का संघनायकत्व- ये सभी श्रमण भगवान महावीर के शासन के बेमिसाल कीर्तिमान कहे जा सकते हैं। अंतिम वेला में 13 दिवसीय तप संथारे की भव्य साधना से उन्होंने अपने संयम-जीवन पर मानो अमृत कलश प्रतिष्ठापित किया हो। वस्तुतः यह उनके सुदीर्घ संयम-जीवन का शिखर सोपान था। जन्म के साथ ही मृत्यु की ओर कदम आगे बढ़ जाते हैं, उन महापुरुष ने संयम-जीवन के प्रथम क्षण से ही अपने अन्तिम लक्ष्य का निर्धारण कर उस ओर अपने आपको गतिशील कर दिया।

साधक लक्ष्य की पहिचान, लक्ष्य-निर्धारण व लक्ष्य-प्राप्ति का संकल्प कर अप्रमत्तता व सजगता के साथ अनवरत श्रम कर ही सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। पूज्यपाद ने शिशुवय में ही अपने लक्ष्य को पहिचान कर लक्ष्य प्राप्ति का दृढ़ संकल्प कर लिया था जो उनकी अपनी माता के साथ संवाद से स्पष्टतया परिलक्षित होता है-“.....मेरा भी मन संसार में रहने का नहीं है।.....मैं भी तुम्हारे साथ ही दीक्षित होना चाहता हूँ।.....माँ उन पूज्यश्री के प्रथम दर्शन के समय से ही मेरा मन जीवन भर उनके चरणों की सुखद, शीतल, छाया में रहने को करता है।” (‘नमो पुरिसवरगंधहत्थीणं’ से उद्धृत) बालपन में संयम का दृढ़ संकल्प, माता द्वारा प्रदर्शित पावन पथ को सहज अंगीकार करने की दृढ़ भावना तथा मोक्ष-गमन की उत्कट अभिलाषा से संसार को त्याग करने को आतुर वैराग्यभाव, संयम स्वीकार करने के पश्चात् गुरुचरणों में सर्वतोभावेन समर्पण एवं अहर्निश मनसा वचसा कर्मणा उनका अखंडित ब्रह्मचर्य मानो उनके निष्पाप जीवन में एक साथ ही आर्यवज्र, आर्यरक्षित, आर्य जम्बू, गणधर गौतम एवं आर्य स्थूलिभद्र की गुण सौरभ एक साथ सुवासित हो गई हो।

उनके जीवन में कण-कण में प्रसिद्धि नहीं, सिद्धि का भाव समाया था, उनके प्रवचनमृत का लक्ष्य श्रोता को प्रभावित करने का नहीं, उनके जीवन को प्रभावित करने का था। लघु काया में वे एक विराट् व्यक्तित्व थे। उन्होंने औपचारिक शिक्षा भले ही न पाई हो, बड़े से बड़े प्रकाण्ड पंडित व विद्वान भी उनसे अपनी ज्ञान-पिपासा तुष्ट कर अपने आपको धन्य-धन्य समझते वणिक् पुत्र होकर भी वे राज्याधिकारियों, न्यायाधिपतियों, अभिभावकों, उद्योगपतियों व बुद्धिजीवियों के गुरु थे। सम्प्रदाय विशेष के आचार्य होते हुए भी वे सभी के पूज्य थे। वे भक्तों से नहीं, भक्त उनका शिष्यत्व स्वीकार कर तथा वे पदों से नहीं, पद उनसे महिमा मंडित हुए। देश, काल व व्यक्ति जो-जो उनसे जुड़े, धन्य-धन्य हो गये। रत्नकुक्षिधारिणी मां रूपा उन्हें जन्म दे धन्य-धन्य हो गई, बोहरा कुल व पीपाड़ नगर उनके अवतरण से कीर्तिवन्त हो गये, वयःसम्पन्न शिक्षा गुरु हर्षचन्द्र जी म.सा. इस शिशु को धर्मशिक्षा व आचार्य श्री शोभाचन्द्र जी म.सा. उन्हें संयम-धन प्रदान कर, जिनशासन को एक चिन्तामणिरत्न प्रदान करने का यशोपार्जन कर गये। रत्न परम्परा उनका सुदीर्घ सान्निध्य संरक्षण पा समृद्ध हो गई, लक्षाधिक भक्त उनके पावन दर्शन, वंदन व सान्निध्य से कृतकृत्य हो गये। जिनकी ओर भी उनकी दृष्टि उठी, वे निहाल हो गए। जिनको भी उन्होंने संभाला, उनका जीवन पवित्र पावन हो गया। गुण सुमन भी उनके

जीवन में मानो एक सुन्दर सुगन्धित माला के रूप में ग्रथित हो गए।

उनके विहंसते नयन, ब्रह्म तेज में दीप्त उनका मुखकमल, साधना के ओज से दमकता उनका तन, प्राणिमात्र की कल्याण कामना से बरसती उनकी पावन पीयूषयुत वाणी, सर्वजनहिताय उनका चिन्तन श्रद्धालु भक्त दर्शनार्थी व श्रोता पर सदा-सदा के लिये एक अमिट छाप छोड़ देता। जो एक बार भी उनके चरणों का स्पर्श कर पाया, वह सदा उनका हो गया।

वे सबके मन-मन्दिर के आराध्य थे, पर वे सबसे सर्वथा पृथक् थे। लाखों व्यक्ति उनसे जुड़े, पर न तो वे किसी से जुड़े, न ही उन्होंने किसी को अपने से जोड़ने की चेष्टा की। चुम्बक कब लोहे को आकर्षित करने का प्रयास करता है, उसके चुम्बकत्व से लोह कण स्वयं उस ओर खिंचे चले आते हैं।

संयम-जीवन की पूर्णता भले ही समाधिमरण में कही जाती हो, सामान्य साधक जीवन के अन्तिम लक्ष्य के रूप में समाधिमरण की कामना (मनोरथ) करता है, पर भेद विज्ञान विज्ञाता उस महापुरुष ने जिसने गर्भकाल से ही सांसारिक संयोगों के वियोग को देख लिया हो, धर्मशीला दादी नौज्यांबाई के संधारे के रूप में समाधिमरण का स्वरूप समझ लिया हो व किशोरवय में ही संयमदाता गुरुवर्य पूज्यपाद आचार्य शोभा का सान्निध्य न रह पाने से स्वयं गुरुतर गुरुपद के दायित्व को स्वीकार किया हो, संयम जीवन के प्रथमक्षण से ही मानो समाधिमरण की साधना प्रारम्भ कर दी हो। मात्र 29 वर्ष की युवावय में ही उन्होंने अपने द्वारा विरचित आध्यात्मिक पदों में संघ, शासन व संसार को यह बोध प्रदान किया-

“मैं हूँ उस नगरी का भूप, जहाँ नहीं होती छाया धूप।”

“तन-धन परिजन सब ही पर हैं, पर की आश-निराश,”

“सदा शान्तिमय मैं हूँ, मेश अचल रूप है खास,”

“ज्ञान दरस-मय रूप तिहारो, अस्थि-मांसयमय देह न थारो।”

“दृश्य जगत पुद्गल की माया, मेश चेतन रूप।”

“पूरण गलन स्वभाव धरे तन मेश अव्यय रूप।।”

मानवों में श्रेष्ठ ही श्रमण बन पाते हैं पर, वे महापुरुष श्रमणों में भी श्रेष्ठ थे। श्रमण-जीवन का अंश-अंश महान विशेषताओं से परिपूरित होता है, पर सभी विशेषताओं का आधार है अनासक्ति क्योंकि ‘किंचित्’ को त्याग कर ही तो ‘अकिंचन’ बना जा सकता है और अकिंचन ही तो अपने प्रेम साम्राज्य का विस्तार कर सम्पूर्ण का स्वामी बन जाता है, जो भी पाने योग्य है, जो सदा रहने वाला है उस अक्षय अव्याबाध को प्राप्त कर लेता है। उनका समग्र जीवन एक अनासक्त योगी का जीवन रहा।

साधक जीवन का लक्ष्य वीतरागता है। विरक्ता ही वीतरागता की ओर बढ़ने का पावन पथ है जिसका चयन उन्होंने अबोध बाल्य-अवस्था में ही कर लिया था। संसार भोग व ऐश्वर्य से विरक्त योगी

भेद-विज्ञान “मैं अजर-अमर अविनाशी चेतन हूँ, सभी संयोग पर हैं मेरे नहीं,” का ज्ञान कर वीतराग बन जाता है। उन महामनीषी का चिन्तन, उनका पावन प्रवचन उनका निष्कलुष आचरण, सभी मानो इसी भेद विज्ञान के साक्षी रहे हों, तभी तो वे ऐसे विरले आचार्यों की श्रेणी में आये जो आलोचना व विधि के साथ पूर्ण सजग अवस्था में अन्तःप्रेरित स्वेच्छा से सबसे निःसंग हो पूर्णतः आत्मस्थ हो गये।

पंच महाव्रतों का निरतिचार पालन, पांच इन्द्रियों पर विजय, चारों कषायों का शमन, भाव, योग व करण की सत्यता, क्षमा, वैराग्य, मन-वचन-काय-समाधरणीया, ज्ञान-दर्शन चारित्र सम्पन्ना, वेदनीय समाअहियासणिया एवं मरणांतिय समा अहियासणिया, ये सभी गुण गुरुदेव में प्रत्यक्ष दृष्टिगत होते थे। श्रमणजीवन की दो विशिष्ट प्रतिज्ञाएँ होती हैं- गुरु आज्ञा को शिरोधार्य करना व हर क्षण अप्रमत्त रहना। ‘णमो पुरिसवरगंधहत्थीण’ के लेखन कार्य के समय हमें उन महाभाग की दैनन्दनियों के अवलोकन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। भगवन्त ने जहाँ-जहाँ अपने पूज्यपाद संयम धन प्रदाता गुरुदेव का स्मरण किया है, उनके अंतःकरण के वे उद्गार उनके श्रद्धा-समर्पण व भक्ति के स्वतः साक्ष्य हैं। वे शिष्य धन्य होते हैं जिनके घट में गुरु विराजमान होते हैं, पर जो स्वयं गुरु के घर में विराजमान हो जाय, उनकी गुरुभक्ति, आज्ञापालन व श्रद्धा समर्पण का तो कहना ही क्या? वे सच्चे अर्थ में शोभा गुरु के अन्तेवासी थे। जब तक पूज्य गुरुदेव पार्थिव देह में विराजमान रहे- संयम स्वीकार करते समय उनकी मनोभावना- “जीवन धन आज समर्पित है गुरुदेव तुम्हारे चरणों में.....काया छायावत् साथ रहे, गुरुदेव तुम्हारे चरणों में” सदा वृद्धिमान होती रही।

गुरुदेव का प्रत्यक्ष सान्निध्य उन्हें भले ही बहुत कम मिल पाया, पर संयम-जीवन में मानो वे प्रतिपल अपने महनीय गुरुदेव के सान्निध्य में रहे, तभी तो अपने अन्तिम संघ-दायित्व निर्वहन के उत्तराधिकारी आचार्य के मनोनयन में उनके हस्ताक्षर मात्र एक पत्र पर हस्ताक्षर नहीं, वरन् इतिहास में एक माइलस्टोन के रूप में अंकित हो गये - “शोभाचार्य शिष्य संघ सेवक हस्ती”।

संत भगवन्तों के तीन मनोरथ होते हैं- आगमों का अध्ययन, दृढ़ रहकर एकल विहारी बनना व समाधिमरण। गुरु चरणों में समर्पित हो प्रखर मेधा के धनी उन महापुरुष ने आगमों को कंठस्थ किया, आगम रहस्य का तलस्पर्शी अध्ययन कर उसे अपने जीवन में चरितार्थ किया। वे संघ में रहकर भी निःसंग थे, सबके बीच रहते हुए सदा अकेले रहे, इस माने में वे एकलविहारी रहे व उनका समाधिमरण तो अब जगविश्रुत है, इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर अंकित है। सरल, सहज जीवन जीने वाले ही समाधिमरण को प्राप्त कर पाते हैं।

बुराई करे नहीं, भलाई का फल चाहे नहीं, भलाई का अभिमान करे नहीं, तब जाकर जीव आलोचना (आत्म-आलोचना) करने का अधिकारी बनता है तथा जब साधक मिले हुए का सदुपयोग कर, क्रियात्मक सेवा करता हुआ भावात्मक सेवा में लगकर अपने स्वयं के दोषों को देखता है तब

सरलता आती है। स्वयं के दोष और दूसरों के दुःख सहन नहीं होने पर ही सरलता आती है। पूज्यप्रवर के जीवन पुस्तक के हर अध्याय, हर पंक्ति पर यह संदेश प्रत्यक्ष पढ़ा जा सकता है। निरतिचार संयम साधक-तभी तो अपनी दैनन्दिनी (दैनन्दिनी ही नहीं जीवन में)में अंकित कर पाता है- “सामने वाले को मेरे दोषों का क्या पता? उसे धोखा न हो यह सोचकर अपने में रहे सहे दोषों को निकाल दें।” आत्म-विजेता उस महापुरुष का अपने आपको जीतना ही लक्ष्य था। दूसरों को जीतने की भावना ही उनके मन-मस्तिष्क में नहीं थी, जीतने की जानकारी देने व अपने गुणों को प्रगट करने का उन्होंने कभी उपक्रम ही नहीं किया। बचपन में ही अपने बाल-सखा भाई तेजमल जी को बांह झुका कर परास्त करने के खेल में विजयी होने पर भी उनके मन की करुणा किस रूप में थी, जरा देखें- “भाई तेजमल के गिरने से मुझे इस खेल में भी कोई रस नहीं रहा। किसी को गिराने, किसी को हराने का खेल ही मुझे नहीं खेलना है।”

श्रमणोत्तम साधक शिरोमणि संयम के पर्याय परम पूज्य गुरुदेव के श्रमण जीवन की विशिष्टताओं को किसी आलेख में आबद्ध करना विशिष्ट ज्ञानियों के लिये भी संभव नहीं है। जिन श्रमण भगवंतों ने, पूज्या महासतीवृंद ने, साधक शिरोमणियों ने उनका पावन सात्रिध्य पा उनसे संयम धन स्वीकार कर उन महापुरुष के गुणों को अपने जीवन में साकार करने के सार्थक कदम बढ़ाये हैं, उन सबके चरणारविन्दों में सश्रद्धा सविनय सभक्ति वंदन के साथ-

“ऐसी हस्ती आप हैं; और न कहीं दिखलाय।

दर्शन से एक बार ही परम भक्त बन जाय,

पाप विनाशक, सत्य उपासक, सर्वगुणों के धारी हैं

नरश्रेष्ठ हुए जिस पुण्य गोद से, धन्य-धन्य महतारी हैं

तीर्थराज गुरु राज हैं, ज्ञान गंग कर स्नान

सबको मिलता है नहीं, ऐसा भाग्य महान,

इसी खुशी में आओ हिलमिल दिल के ताले खोल दो

बस एक बार गुरुराज की जय बोल दो,

बोलिये परमपूज्य आचार्य भगवंत पूज्य श्री हस्तीमल जी म.सा. की जय।”

पुरिसवरगंधहृथी, मरुधरा के रत्न, जिनशासन के शृंगार, रत्नवंश के देदीप्यमान नक्षत्र, शोभा गुरुवर्य की शोभा, मां रूपा के लाल हम सब भक्तों के भगवान छत्तीस ही कौम के “पूज्यजी महाराज” को नमन।

-स्री-55, शास्त्रीनगर, जोधपुर-342003(राज.)



दिगम्बर ग्रन्थ मूलाचार में प्रतिपादित श्रमणाचार

प्रो. (डॉ.) फूलचन्द जैन

प्रस्तुत आलेख में पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय निग्रह, षडावश्यक, केशलोच, आचेलक्य आदि अष्टईस मूल गुणों का दिगम्बराचार्य चट्टकेर के ग्रन्थ मूलाचार के आधार पर सारगर्भित निरूपण किया गया है तथा द्वादश तप, बाईस परीषह आदि उत्तरगुणों का उल्लेख करते आहार-विहार का भी निरूपण किया गया है। इस आलेख को पढ़कर विदित होता है कि श्वेताम्बर श्रमणाचार से दिगम्बर श्रमणाचार में कतिपय बिन्दुओं को छोड़कर प्रायः साम्य है।

-सम्पादक

श्रमणधारा भारत में अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रवहमान है। पुरातात्विक, भाषावैज्ञानिक एवं साहित्यिक अन्वेषणों के आधार पर अनेक विद्वान अब यह स्वीकृत करने लगे हैं कि आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में जो संस्कृति थी, वह श्रमण या आर्हत-संस्कृति होनी चाहिए। यह संस्कृति सुदूर अतीत में जैन धर्म के आदिदेव तीर्थंकर वृषभ या ऋषभ द्वारा प्रवर्तित हुई। श्रमण संस्कृति अपनी जिन विशेषताओं के कारण गरिमा-मण्डित रही है, उनमें श्रम, संयम और त्याग जैसे आध्यात्मिक आदर्शों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपना इन विशेषताओं के कारण ही अनेक संस्कृतियों के सम्मिश्रण के बाद भी इस संस्कृति ने अपना पृथक् अस्तित्व अक्षुण्ण रखा।

जैन धर्म के अन्य नामों में आर्हत तथा श्रमणधर्म प्रमुख रूप में प्रचलित है। इसके अनुसार श्रमण की मुख्य विशेषताएँ हैं- (1) उपशान्त रहना, (2) चित्तवृत्ति की चंचलता, संकल्प-विकल्प और इष्टानिष्ट भावनाओं से विरत रहकर, समभाव पूर्वक स्व-पर कल्याण करना। इन विशेषताओं से युक्त श्रमणों द्वारा प्रतिपादित, प्रतिष्ठापित और आचरित संस्कृति को श्रमण-संस्कृति कहा जाता है।

यह पुरुषार्थमूलक है। इसकी चिन्तन धारा मूलतः आध्यात्मिक है। अध्यात्म के धरातल पर जीवन का चरम विकास श्रमण-संस्कृति का अन्तिम लक्ष्य है। जीवन का लक्ष्य सच्चे सुख की प्राप्ति है। यह सुख स्वातंत्र्य में ही सम्भव है। कर्मबन्धन युक्त संसारी जीव इसकी पहचान नहीं कर पाता। वह इन्द्रियजन्य सुखों को वास्तविक सुख मान लेता है। श्रमण संस्कृति व्यक्ति को इस भेद-विज्ञान का दर्शन कराकर उसे निःश्रेयस् के मार्ग पर चलने के लिए प्रवृत्त करती है।

निःश्रेयस की प्राप्ति रत्नत्रयात्मक मार्ग पर चलकर सम्भव है। सम्यक्-दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अपनी समग्रता में इस रत्नत्रय मार्ग का निर्माण करते हैं। प्राचीन काल से लेकर श्रमणधारा के

प्रत्येक साधक ने सर्वप्रथम स्वयं के जीवन में इस रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग का अनुसरण किया और अपनी साधना की उपलब्धियों के अनन्तर इसी मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किया। इससे जो आचार-संहिता निर्मित हुई, वह श्रमण-परम्परा की एक समग्र 'आचार संहिता' बनी, जिसमें गृहस्थ के जीवन से लेकर निर्वाण-प्राप्ति तक की साधना और उसके उपयुक्त आचार-सम्बन्धी नियम-उपनियम आदि का विधान किया गया।

आध्यात्मिक-विकास के लिए आचार की प्रथम सीढ़ी सम्मत्तं, सम्मादिट्ठि या सम्यग्दर्शन है। बिना इसके ज्ञान-विकास नहीं हो सकता और साधना भी सम्यक् नहीं हो सकती। इसलिए श्रावक और श्रमण दोनों के लिए सम्यग्दर्शन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। उसके बाद ज्ञान स्वतः विकासोन्मुखी हो जाता है। किन्तु ज्ञान की समग्रता साधना के बिना सम्भव नहीं। इसलिए "णाणस्स सारं आचारो" तथा "चारित्तं खलु धम्मो" कहकर आचार या चारित्र एवं तपश्चरण को विशेष रूप से आवश्यक माना गया है। सम्यग्दृष्टि-व्यक्ति आचारमार्ग में प्रवृत्त होने के लिए क्रमशः श्रावक एवं श्रमण के आचार को स्वीकार करता है अथवा सामर्थ्य के अनुसार श्रमण धर्म स्वीकार कर लेता है। श्रावक और श्रमण के आचार का स्वतंत्र रूप से विस्तृत विवेचन करके जैन मनीषियों ने जीवन के समग्र विकास के लिए स्वतंत्र रूप से आचार संहिताओं का निर्माण कर दिया। विभिन्न युगों में देश, काल और परिस्थितियों के अनुकूल नियमोपनियमों में विकास भी हुआ है तथापि सम्यक्-चारित्र का मूल लक्ष्य आध्यात्मिक विकास करते हुए मुक्ति प्राप्त करना ही रहा है।

श्रमणाचार विषयक साहित्य

भारत की अनेक प्राचीन भाषाओं-अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश आदि में निबद्ध श्रमणाचार विषयक विपुल वाङ्मय उपलब्ध है। जैन परम्परा के अनुसार यह श्रमणधारा प्राचीन काल में ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित हुई और ईसा पूर्व छठी शताब्दी में इसे वर्द्धमान महावीर ने चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। उनके बाद अनेक महान् आचार्यों द्वारा यह धारा निरन्तर प्रवर्तित होती आ रही है। इन आत्मदर्शियों के गहन चिन्तन-मनन और स्वानुभव से जो विशाल वाङ्मय उद्भूत हुआ, वह आज भी पथप्रदर्शन का कार्य कर रहा है। वस्तुतः तीर्थंकर महावीर से जो ज्ञान-गंगा प्रस्फुटित हुई वह गणधरों, आचार्यों, उपाध्यायों एवं बहुश्रुत श्रमणों के माध्यम से श्रुतज्ञान के रूप में अब तक चली आ रही है। यही श्रुतज्ञान आगम के रूप में विद्यमान है। जैन परम्परा की दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दोनों धाराओं में श्रमणाचार विषयक विपुल साहित्य उपलब्ध है। दिगम्बर परम्परा में आचार्य शिवार्यकृत भगवई आराहणा, वट्टकेर कृत मूलाचार, आचार्य कुन्दकुन्द कृत पवयणसार, अट्ठपाहुड और रयणसार, स्वामी कार्तिकेय कृत कल्तिगेयाणुवेक्खा, चामुण्डराय कृत चारित्रसार, वीरनन्दि कृत आचारसार, देवसेनसूरि कृत आराधनासार एवं भावसंग्रह, पं. आशाधर कृत अनगारधर्माभूत, सकलकीर्तिकृत मूलाचार प्रदीपक आदि श्रमणाचार विषयक प्राकृत-संस्कृत ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

इसी तरह श्वेताम्बर परम्परा में आचारंग, सूर्यगंडग, आउरपच्चक्खाण, मरणसमाही, निसीह,

व्यवहार, उत्तरज्ज्ञयण, दसवेयालिय, आवस्सय, आवस्सयणिज्जुत्ति आदि ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त अनेक आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा रचित प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, तमिल, कन्नड तथा मराठी आदि भाषाओं में रचित श्रमणाचार विषयक अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

श्रमणों की आचार-संहिता

आचार शब्द के तीन अर्थ हैं - आचरण, व्यवहार और आसेवना सामान्यतः सिद्धांतों, आदर्शों और विधि-विधानों का व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक पक्ष आचार कहा जाता है। सभी जैन तीर्थंकरों तथा उनकी परम्परा के अनेकानेक श्रमणों ने स्वयं आचार की साधना द्वारा भव-भ्रमण के दुःखों से सदा के लिए मुक्ति पायी, साथ ही मुमुक्षु जीवों को दुःख निवृत्ति का सच्चा मार्ग बताया। श्रमण होने का इच्छुक सर्वप्रथम बंधुवर्ग से पूछता और विदा मांगता है। तब बड़ों से, पुत्र तथा स्त्री से विमुक्त होकर, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों को अंगीकार करता है।¹ और सभी प्रकार के परिग्रहों से मुक्त अपरिग्रही बनकर, स्नेह से रहित, शरीर संस्कार का सर्वथा के लिए त्याग कर आचार्य द्वारा 'यथाजात' (नम्र) रूप धारण कर जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म को अपने साथ लेकर चलता है।² मुनि के लिए श्वेताम्बर जैन परम्परा में दीक्षा के बाद निर्धारित वस्त्र-पात्र आदि का विधान है। जिन मूलगुणों को धारण कर साधक श्रमणधर्म (आचार मार्ग) स्वीकार करता है उनका विवेचन आगे प्रस्तुत है।

मूलगुण

श्रमणाचार का प्रारम्भ मूलगुणों से होता है। आध्यात्मिक विकास द्वारा मुक्ति प्राप्त करने के लिए व्यक्ति अपनी आचार-संहिता के अन्तर्गत जिन गुणों को धारण करके जीवन पर्यन्त पूर्ण निष्ठा से पालन करने का संकल्प ग्रहण करता है, उन गुणों को मूलगुण कहा जाता है। वृक्ष की मूल (जड़ या बीज) की तरह ये गुण भी श्रमणाचार के लिये मूलाधार हैं। इसीलिए श्रमणों के प्रमुख या प्रधान आचरण होने से इनकी मूलगुण संज्ञा है। इन मूलगुणों की निर्धारित अट्ठाईस संख्या इस प्रकार है -

“पंच य महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवशुद्धिट्ठा।

पंचेदियरोहा छप्पि य आवासया लोचो॥

अट्ठेवेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतघंसणं वेव।

ठिदिभेयणेयमत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु॥³

1. पाँच महाव्रत : हिंसा, विरति (अहिंसा), सत्य, अदत्तपरिवर्जन (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और संगविमुक्ति (अपरिग्रह)।⁴
2. पाँच समिति : ईर्या, भाषा, एषणा, निक्षेपादान और प्रतिष्ठापनिका।⁵
3. पाँच इन्द्रियनिग्रह : चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्श-इन पाँच इन्द्रियों का निग्रह।⁶

4. छह आवश्यक : समता (सामायिक), स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और विसर्ग (कायोत्सर्ग)।⁷
5. सात अन्य मूलगुण : लोच (केशलोच), आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तघर्षण, स्थितभोजन और एकभक्त।

उपर्युक्त मूलगुण श्रमणधर्म की आधारशिला हैं। सम्पूर्ण मुनिधर्म इन अट्ठाईस मूलगुणों से सिद्ध होता है। इनमें लेशमात्र भी न्यूनता साधक का श्रमणधर्म से च्युत बना देती है, क्योंकि श्रमण के लिए आत्मोत्कर्ष हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहना ही श्रेयस्कर होता है। शरीर चला जाए, यह उसे सहर्ष स्वीकार होता है, पर साधना या संयमाचरण में जरा भी आँच आये, यह किसी भी अवस्था में उसे स्वीकार्य नहीं। जीवन के जिस क्षण मुमुक्षु श्रमणधर्म स्वीकार करते हैं, उस क्षण वे “सावज्जकरणजोगं सव्वं तिविहेण तिरयणविसुद्धं वज्जंति”⁸ अर्थात् सभी प्रकार के सावद्य (दोष युक्त) क्रिया रूप योगों का मन, वचन, काय तथा करने, कराने और अनुमोदन से सदा के लिए त्याग कर देते हैं। मूलगुणों के पालन की इसलिए भी महत्ता है, क्योंकि जो श्रमण इन मूलगुणों को छेदकर (उल्लंघन कर) ‘वृक्षमूल’ आदि बाह्ययोग करता है, मूलगुण विहीन उस साधु के सभी योग किसी काम के नहीं। मात्र बाह्ययोगों से कर्मों का क्षय सम्भव नहीं होता।⁹

(1-5) महाव्रत

उपर्युक्त अट्ठाईस मूलगुणों में सर्वप्रथम पंच महाव्रत का उल्लेख है। व्रत से तात्पर्य है - हिंसा, अनृत (झूठ), स्तेय (चोरी), अब्रह्म तथा परिग्रह - इन पाँच पापों से विरति (निवृत्ति) होना।¹⁰ विरति अर्थात् जानकर और प्राप्त करके इन कार्यों को न करना।¹¹ प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह भी व्रत है। अथवा यह करने योग्य है और यह नहीं करने योग्य है - इस प्रकार नियम करना भी व्रत है।¹² इस प्रकार हिंसा आदि पाँच पापों के दोषों को जानकर आत्मोत्कर्ष के उद्देश्य से इनके त्याग का इनसे विरति की प्रतिज्ञा लेकर पुनः कभी उनका सेवन न करने को व्रत कहते हैं। अकरण, निवृत्ति, उपरम और विरति - ये सभी एक ही अर्थ के वाचक हैं।

हिंसादिक पाँच असत्प्रवृत्तियों का त्याग व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार तो कर सकता है, किन्तु सभी प्राणी इनका सार्वत्रिक और सार्वकालिक त्याग एक समान नहीं कर सकते। अतः इन असत्प्रवृत्तियों से एकदेश निवृत्ति को अणुव्रत और सर्वदेश निवृत्ति को महाव्रत कहा जाता है। वस्तुतः व्रत अपने आप में अणु या महत् नहीं होते। ये विशेषण तो व्रत के साथ पालन करने वाले की क्षमता या सामर्थ्य के कारण लगते हैं। जहाँ साधक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह - इन पाँच व्रतों के समग्र पालन की क्षमता में अपने को पूर्ण समर्थ नहीं पाता अथवा महाव्रतों के धारण की क्षमता लाने हेतु अभ्यास की दृष्टि से इनका एकदेश पालन करता है, तो उसके ये व्रत अणुव्रत तथा वह अणुव्रती श्रावक (गृहस्थ) कहलाता है तथा मुमुक्षु साधक अपने आत्मबल से इन व्रतों के धारण और निरतिचार पालन में समग्र रूप में पूर्ण समर्थ हो जाता है, तब उसके वही व्रत महाव्रत कहे जाते हैं तथा वह महाव्रती श्रमण, मुनि या अनगर कहलाता है।

(6-10) समिति

श्रमण के मूलगुणों में महाव्रतों के बाद चारित्र एवं संयम की प्रवृत्ति हेतु ईर्या, भाषा, एषणा, निक्षेपादान एवं प्रतिष्ठापनिका-इन पाँच समितियों का क्रम है।¹³ महाव्रतमूलक सम्पूर्ण श्रमणाचार का व्यवहार इनके द्वारा संचालित होता है। इन्हीं के आधार पर महाव्रतों का निर्विघ्न पालन सम्भव है। क्योंकि ये समितियाँ महाव्रतों तथा सम्पूर्ण आचार की परिपोषक प्रणालियाँ हैं। अहिंसा आदि महाव्रतों के रक्षार्थ गमनागमन, भाषण, आहार ग्रहण, वस्तुओं के उठाने-रखने, मलमूत्र-विसर्जन आदि क्रियाओं में प्रमादरहित सम्यक् प्रवृत्ति के द्वारा जीवों की रक्षा करना तथा सदा उनके रक्षण की भावना रखना समिति है। जीवों से भरे इस संसार में समितिपूर्वक प्रवृत्ति करने वाला श्रमण हिंसा से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे स्नेहगुण युक्त कमलपत्र पानी से।¹⁴ प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा भी है - जीव मरे या जीये, अयत्नाचारी को हिंसा का दोष अवश्य लगता है। किन्तु जो समितियों में प्रयत्नशील है उसको बाह्य हिंसा मात्र से कर्मबन्ध नहीं होता।¹⁵ वस्तुतः ये पाँचों समितियाँ चारित्र के क्षेत्र में प्रवृत्तिपरक होती हैं। इन समितियों में प्रवृत्ति से सर्वत्र एवं सर्वदा गुणों की प्राप्ति तथा हिंसा आदि पापों से निवृत्ति होती है।

(11-15) इन्द्रिय निग्रह

इन्द्र शब्द आत्मा का पर्यायवाची है। आत्मा के चिह्न अर्थात् आत्मा के सद्भाव की सिद्धि में कारणभूत अथवा जो जीव के अर्थ-(पदार्थ) ज्ञान में निमित्त बने उसे इन्द्रिय कहते हैं।¹⁶ प्रत्यक्ष में जो अपने-अपने विषय का स्वतंत्र आधिपत्य करती हैं, उन्हें भी इन्द्रिय कहते हैं।¹⁷ इन्द्रियाँ पाँच हैं - चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्श। ये पाँचों इन्द्रिय अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति कराके आत्मा को राग-द्वेष युक्त करती हैं। अतः इनको विषय-प्रवृत्ति की ओर से रोकना इन्द्रिय निग्रह है।¹⁸ ये पाँचो इन्द्रियाँ अपने नामों के अनुसार अपने नियत विषयों में प्रवृत्त करती हैं। स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श द्वारा पदार्थ को जानती है। रसनेन्द्रिय का विषय स्वाद, घ्राण का विषय गन्ध, चक्षु का विषय देखना तथा श्रोत्र का विषय सुनना है।¹⁹ इन्द्रियों के इन विषयों को दो भागों में विभाजित किया गया है -

- (1) काम रूप विषय।
- (2) भोग रूप विषय।

रस और स्पर्श कामरूप विषय हैं तथा गन्ध, रूप और शब्द भोग रूप विषय हैं।²⁰ इन्हीं इन्द्रियों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति का अवरोध निग्रह कहलाता है।²¹ अर्थात् इन इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों की प्रवृत्ति से रोकना इन्द्रिय-निग्रह है।²² जैसे उन्मार्गामी दुष्ट घोड़ों के लगाम के द्वारा निग्रह किया जाता है, वैसे ही तत्त्वज्ञान की भावना (तप, ज्ञान और विनय) के द्वारा इन्द्रिय रूपी अश्वों का विषय रूपी उन्मार्ग से निग्रह किया जाता है।²³ जो श्रमण जल से भिन्न कमल के सदृश इन्द्रिय-विषयों की प्रवृत्ति में लिप्त नहीं होता वह संसार के दुःखों से

मुक्त हो जाता है।²⁴

इस तरह इन्द्रियों के शब्दादि जितने विषय हैं सभी में अनासक्त रहना अथवा मन में उन विषयों के प्रति मनोज्ञता-अमनोज्ञता उत्पन्न न करना श्रमण का कर्तव्य है। वस्तुतः इन्द्रिय-निग्रह का यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों की ग्रहण-शक्ति समाप्त कर दें या रोक दें, अपितु मन में इन्द्रिय-विषयों के प्रति उत्पन्न राग-द्वेष युक्त भाव का नियमन करना इन्द्रिय-निग्रह है। कहा भी है जैसे कछुआ संकट की स्थिति में अपने अंगों का समाहरण कर लेता है, वैसे ही श्रमण को भी संयम द्वारा इन्द्रिय विषयों की प्रवृत्ति का संयमन कर लेना चाहिए।²⁵ क्योंकि जिसकी इन्द्रियों की प्रवृत्ति सांसारिक क्षणिक विषयों की ओर है, वह आत्मतत्त्व रूपी अमृत कभी प्राप्त नहीं कर सकता। जो सारी इन्द्रियों की शक्ति को आत्मतत्त्व रूपी अमृत के दर्शन में लगा देता है वह सच्चे अर्थोंमें अमृतमय इन्द्रियजयी बन जाता है।

(16-21) षड्-आवश्यक

सामान्यतः 'अवश' का अर्थ अकाम, अनिच्छुक, स्वाधीन, स्वतंत्र,²⁶ रागद्वेषादि से रहित, इन्द्रियों की अधीनता से रहित होता है। तथा इन गुणों से युक्त अर्थात् जितेन्द्रिय व्यक्ति की अवश्य करणीय क्रियाओं को आवश्यक कहते हैं। मूलाचारकार के अनुसार जो रागद्वेषादि के वश में नहीं उस (अवश) का आचरण या कर्म आवश्यक है।²⁷ कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार में कहा है - जो अन्य के वश नहीं है, वह अवश, उस अवश का कार्य आवश्यक है। ऐसा आवश्यक कर्मों का विनाशक, योग एवं निर्वाण का मार्ग होता है।²⁸ अनगारधर्मावृत्त में आवश्यक शब्द की दो तरह से निरुक्ति बताई गयी है-जो इन्द्रियों के वश्य (अधीन) नहीं है, ऐसे अवश्य-जितेन्द्रिय साधु का अहोरात्रिक अवश्यकरणीय कार्य आवश्यक है। अथवा जो वश्य-स्वाधीन नहीं है, अर्थात् रोगादिक से पीड़ित होने पर भी जिन (कार्यों) का अहोरात्रिक करना अनिवार्य हो वह आवश्यक है।²⁹ अनुयोगद्वार सूत्र में कहा है कि श्रमण और श्रावक जिस विधि को अहर्निश अवश्यकरणीय समझते हैं उसे आवश्यक कहते हैं।³⁰ विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार अवश्य करने योग्य सद्गुणों का आधार आत्मा को दुर्गुणों से हटाकर सद्गुणों के आधीन करने वाला, आत्मा को ज्ञानादि गुणों से आवासित, अनुरंजित अथवा आच्छादित करने वाला आवश्यक कहलाता है। आवश्यक छह प्रकार के हैं - 1. समता (सामायिक), 2. स्तव (चतुर्विंशति तीर्थकर स्तव), 3. वंदना, 4. प्रतिक्रमण-प्रमादपूर्वक किये गये दोषों का निराकरण, 5. प्रत्याख्यान भावी दोषों का निराकरण तथा 6. व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)।³¹ आगमों में इनका विवेचन नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-इन छह के आलम्बन से किया जाता है।

शेष सात मूलगुण-

इस तरह श्रमण के 15 मूलगुणों में से पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियनिग्रह तथा छह आवश्यक - इन सबको मिलाकर इक्कीस मूलगुणों के साथ ही शेष सात मूलगुण इस प्रकार हैं -

(22) लोच

श्रमण के अट्टाईस मूलगुणों में लोच बाईसवाँ मूलगुण है। जिसका अर्थ है हाथ से नोंचकर केश निकालना। लोक प्रचलित अर्थ में इसे ही केशलुंचन कहते हैं। वस्तुतः लोच शब्द लुंच धातु से बनकर अपनयन अर्थात् निकालना या दूर करना अर्थ में प्रयुक्त होता है। केशलोच अपने आप में कष्ट-सहिष्णुता की उच्च कसौटी के और श्रमणों के पूर्ण संयमी जीवन का प्रतीक है। चूंकि केशों का बढ़ना स्वाभाविक है, किन्तु नाई के द्वारा या उस्तरे, कैची आदि के बिना मात्र हाथों से ही उन्हें उखाड़कर निकालना श्रमण के स्ववीर्य, श्रामण्य तथा पूर्ण अपरिग्रही होने का प्रतीक है। इससे अपने शरीर के प्रति ममत्व का निराकरण तथा सर्वोत्कृष्ट तप का आचरण होता है। दीनता, याचना, परिग्रह और अपमान आदि दोषों के प्रसंगों से भी स्वतः बचा जा सकता है।³² सभी तीर्थकरों ने प्रव्रज्या ग्रहण करते समय अपने हाथों से पंचमुष्टि लोच किया था।

(23) अचेलकत्व

सामान्यतः 'चेल' शब्द का अर्थ वस्त्र होता है। किन्तु श्रमणाचार के प्रसंग में यह शब्द सम्पूर्ण परिग्रहों का उपलक्षण है। अतः चेल के परिहार से सम्पूर्ण परिग्रह का परिहार हो जाता है।³³ इस दृष्टि से वस्त्राभूषणादि समस्त परिग्रहों का त्याग और स्वाभाविक यथाजात नग्न (निर्ग्रन्थ) वेश धारण करना अचेलकत्व है।³⁴ किन्तु श्वेताम्बर जैन परम्परानुसार इसका अर्थ अल्प चेल (वस्त्र) मुनि का वेष है, अतः साधु निर्धारित वस्त्र धारण करते और पात्र रखते हैं।

(24) अस्नान

जलस्नान, अभ्यंग स्नान और उबटन का त्याग तथा नख, केश, दन्त, ओष्ठ, कान, नाक, मुँह, आँख, भौंह तथा हाथ-पैर इन सबके संस्कार का त्याग अस्नान नामक प्रकृष्ट मूलगुण है।³⁵ वस्तुतः आत्मदर्शी श्रमण तो आत्मा की पवित्रता से स्वयं पवित्र होते हैं, अतः उन्हें बाह्य स्नान से प्रयोजन ही क्या ?³⁶ आचार्य वसुनन्दि ने मूलाचार-वृत्ति में कहा है कि श्रमण को स्नान से नहीं, अपितु व्रतों से पवित्र होना चाहिए। यदि व्रतरहित प्राणी जलावगाहनादि से पवित्र हो जाते तो मत्स्य, मगर आदि जल-जन्तु तथा अन्य सामान्य प्राणी भी पवित्र हो जाते, किन्तु ये कभी भी उससे पवित्रता को प्राप्त नहीं होते हैं। अतः व्रत, संयम-नियम ही पवित्रता के कारण हैं।³⁷ इन्हीं सब कारणों से श्रमण को स्नान आदि संस्कारों से सर्वथा विरत रहने तथा आत्मस्वरूप की प्राप्ति में उपयोग लगाए रखने के लिए अस्नान मूलगुण का विधान अनिवार्य माना गया है।

(25) क्षितिशयन

सामान्यतः पर्यङ्क, विस्तर आदि का सर्वथा वर्जन करके शुद्ध (प्रासुक) जमीन/पाषाण या काष्ठफलक पर शयन करना क्षितिशयन है। मूलाचार में कहा है - आत्मप्रमाण, असंस्तरित, एकान्त, प्रासुक भूमि में, धनुर्दण्डाकार मुद्रा में, एक करवट में शयन करना क्षितिशयन मूलगुण है।³⁸

(26) अदन्तघर्षण

शरीर विषयक संस्कार श्रमण को निषिद्ध कहे गये हैं। अतः अंगुली, नख दातौन, कलि (तृणविशेष), पत्थर और छाल - इन सबके द्वारा तथा इनके ही समान अन्य साधनों के द्वारा दाँतों का मज्जन न करना अदन्तघर्षण मूलगुण है।” इसका उद्देश्य इन्द्रिय-संयम का पालन तथा शरीर के प्रति अनासक्ति में वृद्धि करना है।

(27) स्थित-भोजन

शुद्ध-भूमि में दीवाल, स्तम्भादि के आश्रयरहित समपाद खड़े होकर अपने हाथों को ही पात्र बनाकर आहार ग्रहण करना स्थित-भोजन है।⁴⁰ प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम के पालन हेतु जब तक श्रमण के हाथ-पैर चलते हैं अर्थात् शरीर में सामर्थ्य है, तब तक खड़े होकर पाणि-पात्र में आहार ग्रहण करना चाहिए, अन्य विशेष पात्रों में नहीं।⁴¹

(28) एकभक्त

सूर्योदय के अनन्तर तीन घड़ी व्यतीत होने के बाद तथा सूर्यास्त होने के तीन घड़ी पूर्व तक दिन में एक बार एक बेला में आहार ग्रहण कर लेना एकभक्त मूलगुण है।⁴²

उपसंहार

लोच से लेकर एकभक्त तक के सात मूलगुण श्रमण के बाह्य चिह्न माने जाते हैं। अन्तरंग कषाय मल की विशुद्धि के लिए बाह्य क्रियाओं (आचरण) की शुद्धता का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।⁴³ अतः ये गुण जीवन की सहजता, स्वाभाविकता के प्रतीक हैं। श्रमण को प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करने, अपने को और अपने शरीर को कष्टसहिष्णु बनाने तथा लोकलज्जा और लोकभय से ऊपर उठने के लिए ये महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान करते हैं। बाह्य जीवन में असुन्दर की भी सर्वात्मभावेन स्वीकृति इनसे सधती है। इन गुणों से युक्त जीवन भी अपने आप में उत्कृष्ट एवं कठिन तपश्चर्या का प्रतीक है। इनके माध्यम से कष्टसहिष्णुता, चरित्र पालन, गतिशीलता प्राप्त होती रहती है। इन गुणों से श्रमण को प्रतिपल भेद-विज्ञान की यह प्रतीति होती रहती है कि यह शरीर आत्मा से भिन्न है और इसे सुविधावादिता की अपेक्षा जितना सहज रखा जायेगा, आत्मोपबन्धि में उतनी ही वृद्धि होती रहेगी।

उपर्युक्त अट्ठाईस मूलगुणों के पालन से श्रमण की आवश्यकताएँ अत्यन्त सीमित हो जाती हैं। इनका अप्रमत्त भाव से पालन करके श्रमण जगत्पूज्य होकर अक्षय-मुख (मोक्ष) को प्राप्त कर सकता है। मूलाचारप्रदीप में कहा है - ये सर्वोत्कृष्ट और सारभूत हैं तथा जिनेन्द्रदेव ने इनको तपश्चरण आदि महायोगों का आधारभूत कहा है। समस्त उत्तरगुणों की प्राप्ति के लिए ये गुण मूल रूप हैं। जिस प्रकार मूलरहित वृक्षों पर कभी फल नहीं लग सकते, उसी प्रकार मूलगुणों से रहित समस्त उत्तरगुण भी कभी फल नहीं दे सकते। फिर भी

उत्तरगुण प्राप्त करने के लिए जो मूलगुणों का त्याग कर देते हैं वे अपने हाथ की अंगुलियों की रक्षा के लिए अपना मस्तक काट देते हैं। अतः इन समस्त मूलगुणों का पूर्ण प्रयत्न के साथ सर्वत्र एवं सर्वदा पालन करना अभीष्ट है।⁴⁴ जब इन मूलगुणों के पालन में शरीर अशक्त हो जाए अर्थात् जब जंघाबल (पैरों से चलने-फिरने और खड़े होने आदि की शक्ति) क्षीण हो जाए, अंजुलिपुट में आये हुए आहार को स्वयं मुख तक न ले जा सके, आँखें कमजोर हो जाए, तब श्रमण को भक्तप्रत्याख्यान (अनुक्रम से आहार त्याग करना तथा कषाय को कृश करते हुए समाधिमरण को प्राप्त होना) धारण कर लेना चाहिए, किन्तु प्रहण किए हुए व्रतों में शिथिलता कदापि नहीं लानी चाहिए।⁴⁵

उत्तरगुण

श्रमण के जिन अट्टाईस मूलगुणों का विवेचन ऊपर किया गया है उनके उत्तरवर्ती पालन योग्य बारह तप, बाईस परीषह, बारह भावनाएँ, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और बल - ये पाँच आचार, उत्तम-क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आर्किचन्य और ब्रह्मचर्य - ये दस धर्म तथा योगादि अनेक गुण हैं, जिन्हे उत्तरगुण कहते हैं। इनके माध्यम से श्रमण आत्मध्यान और तपश्चरण करके आध्यात्मिक विकास की शक्ति प्राप्त करता है तथा गुणस्थान प्रणाली में कर्मक्षय करता हुआ निर्वाण पद को प्राप्त करता है।

आहार, विहार और व्यवहार

एक ओर जहाँ मूलगुण एवं उत्तरगुण सम्पूर्ण श्रामण्य की कसौटी बनकर उनकी संयम-यात्रा के लक्ष्य को प्राप्त कराने में अपना महत्त्वपूर्ण योग करते हैं, वहीं आहार, विहार और व्यवहार ये चर्याएँ उनके बाह्य जीवन, सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं अन्यान्य उन सभी कार्यों को विशुद्धता एवं समग्रता प्रदान करती हैं जिनका सीधा सम्बन्ध आत्मोत्कर्ष में सहयोग तथा सच्चे श्रामण्य की पहचान से है। देश, काल, श्रम, क्षम (सहन शक्ति) और उपधि (शरीरादि रूप परिग्रह) को अच्छी तरह जानकर श्रमण आहार एवं विहार में प्रवृत्त होता है। यद्यपि इसमें भी उसे अल्प-कर्मबंध होता है।⁴⁶ किन्तु इतना अवश्य है कि श्रमण चाहे बालक हो अथवा वृद्ध अथवा तपस्या या मार्ग (पैदल आवागमन) के श्रम से खिन्न (थका हुआ), अथवा रोगादि से पीड़ित, वह अपने योग्य उस प्रकार की चर्या का आचरण कर सकता है, जिसमें 'मूल संयम' का घात (हानि) न हो।⁴⁷ इसीलिये इस लोक से निरपेक्ष, परलोक की आकांक्षा एवं आन्तरिक कषाय से रहित होकर 'युक्त-आहार-विहार' होना चाहिए।⁴⁸ क्योंकि श्रमण का चारित्र, तपश्चरण एवं संयम आदि का अच्छी तरह से पालन उसकी आहार-चर्या की विशुद्धता पर निर्भर है। इसी तरह समितिपूर्वक विशुद्ध विहारचर्या द्वारा भी वह श्रमण रत्नत्रय प्राप्ति का अभ्यास, शास्त्रकौशल एवं समाधिमरण के योग्य क्षेत्र तथा जन-जन के कल्याण की भावना रूप लक्ष्य को सहज ही प्राप्त कर लेता है तथा आहार-विहार एवं बाह्य जीवन के विविध व्यवहार-कार्यों या क्रियाओं में विवेक रखकर स्व-पर कल्याण में सदा प्रवृत्त बना रहता है।

विहार-चर्या के अन्तर्गत जहाँ श्रमणों के लिए अनियत विहार की विवक्षा की गयी है, वहीं उनके

एकाकी विहार की घोर निन्दा भी की गयी है। इसमें मुख्य दृष्टि यही रही है कि एकाकी विहार में संयम की विराधना सतत बनी रहती है। जबकि ससंघ अथवा दो से अधिक श्रमणों के साथ विहार करने में ऐसी सम्भावना नहीं रहती। वस्तुतः संयम पालन में परस्पर के आदर्शों और प्रेरणाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इससे श्रमण अनेक दोषों से स्वाभाविक रूप में बचा रहता है। इसी दृष्टि से एकाकी विहार का निषेध किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रमण का पर्याय यून तो आत्म-कल्याण के लिए ग्रहण किया जाता है, परन्तु श्रमण के पर्याय में जाते ही उसके स्वार्थ तिरोहित हो जाते हैं और वह अपनी सारी वैयक्तिकता को विश्राम दे देता है, तब जागती है उसकी निर्वैयक्तिकता। यही वह तथ्य है, जो उसे अन्य सब स्थितियों से उठाकर सम्पूर्ण विश्व के कल्याण में प्रवृत्त करता है। उसकी एक-एक क्रिया उस समय अति महत्त्वपूर्ण हो जाती है और वह जगत् का उपकर्ता हो जाता है।

वस्तुतः मनुष्य की श्रेष्ठता दीर्घ आयुष्य के कारण नहीं, अपितु उसे प्राप्त हुई मानवता के कारण है और वह मानवता जीवन की शुद्धि पर अवलम्बित है। चित्त की निर्मलता, कर्मों की परिशुद्धि, सदुणों की पूर्णता, सदैव सजगता, विवेक की सूक्ष्मता आदि आत्मोत्कर्ष की ओर बढ़ने के साधन हैं और इन्हीं से श्रेष्ठ मानवता प्राप्त होती है।

धर्म और उसके आचार का वह स्वरूप श्रेष्ठ है, जो मानवीय दृष्टिकोण को सबसे ज्यादा अहमियत देता है और जिसमें प्रत्येक मानव के लिये उसकी खोज की जाती है। 'धर्म' को विश्व-धर्म के रूप में अभिषिक्त करने के लिए जरूरी है कि प्रत्येक व्यक्ति नैतिकता एवं संयमी जीवन को प्रधानता दे। जैन आचार में वे सब विशिष्टताएँ हैं जिन्हें विश्व का प्रत्येक व्यक्ति अपना सकता है तथा उससे वह इस जीवन के परम लक्ष्य को पा सकता है।

वर्तमान में अनेक अनुकूलताओं, विषमताओं के बीच अपने नैतिक, संयमी एवं आदर्श जीवन द्वारा राष्ट्र एवं समाज को मर्यादित तथा नैतिक बनाने में साधु संस्था (श्रमणसंघ) महत्त्वपूर्ण योगदान देती है। ये समाज से सिर्फ आहार मात्र लेकर समाज के नैतिक आदर्शों को जीवित रखते हैं। यदि हम परस्पर प्रेम, स्नेह और सद्भावना के प्रतीक-रूप समाज की कल्पना करते हैं, हमारे बच्चों और भावी पीढ़ी में संस्कार चाहते हैं तो इन उच्चादर्शों के पालन करने वाले साधुओं के आदर्श और महत्त्व को स्वीकार करना ही होगा।

-अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी



दशवैकालिक सूत्र में गुप्तत्रय का विवेचन

डॉ. श्वेता जैन

श्रमण-जीवन में मन, वचन एवं काया की अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्ति आवश्यक है, जिसे गुप्ति कहा जाता है। मुनि के आध्यात्मिक-विकास में त्रिगुप्ति की विशेष भूमिका होती है। विदुषी डॉ. श्वेता जैन ने दशवैकालिक सूत्र, उसकी निर्युक्ति आदि के आधार पर यह चिन्तनपूर्ण आलेख प्रस्तुत किया है। -सम्पादक

श्रमण-जीवन के दो पक्ष हैं- आध्यात्मिक और व्यावहारिक। अध्यात्म पक्ष मन, वचन और काया के निग्रह से सम्बन्धित है, जिसे साधु-भाषा में त्रिगुप्ति कहते हैं। व्यावहारिक पक्ष के अन्तर्गत चलना, बोलना, भिक्षा लेना, पात्रादि लेना, रखना, विसर्जन क्रिया करना सम्मिलित है, जो एक श्रमण के सम्पूर्ण जीवन की बाह्य चर्या है। इस चर्या को यतना पूर्वक करना 'समिति' है। अतः समिति और गुप्ति से युक्त जीवन मुनि के क्रमशः व्यावहारिक और आध्यात्मिक जीवन शैली को प्रकट करता है।

अष्ट प्रवचन माता अर्थात् पाँच समिति और तीन गुप्ति का पालन करना श्रमणत्व है। श्रमणत्व धर्म को सीखने का दशवैकालिक सूत्र प्रकृष्ट माध्यम है। दशवैकालिक सूत्र में पाँच समिति में से एषणा-समिति का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है तथा त्रिगुप्ति विषयक चर्चा स्थान-स्थान पर उपलब्ध होती है। त्रिगुप्ति विषयक चर्चा को संगृहीत कर इस लेख में संयोजित किया गया है।

मनोगुप्ति

मन को 'चित्त' से भी अभिहित किया गया है। चित्त या मन का निग्रह करना मनोगुप्ति है। अनादिकाल से संसार मार्ग (क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह) में प्रवृत्त चित्त को स्वधर्म (अक्रोध, अमान, अमाया आदि) में स्थित कर लेना 'मनोनिग्रह' है। अतः दशवैकालिक के प्रणेता मुनि शय्यंभव कहते हैं- 'नाणमेगगच्चित्तो य ठिओ' अर्थात् ज्ञान से चित्त एकाग्र होता है और धर्म में स्थित होता है।
भेद विज्ञान : मन-निग्रह का प्रथम सोपान

ज्ञान द्वारा चित्त धर्म में स्थित होता है। यह विचार प्रश्न उपस्थित करता है कि वह ज्ञान कौनसा है, कैसा उसका स्वरूप है, जो मन या चित्त को स्थिर करने में सहयोगी होता है। शरीर और आत्मा पृथक्-पृथक् हैं इसका अनुभव करना 'भेद विज्ञान' है। यह भेद विज्ञान ही वह ज्ञान है जो चित्त को स्थिर बनाता है। इस सम्बन्ध में मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ) ने 'न सा महं नोवि अहं पि तीसे' पद्यांश के चिन्तन में लिखा है- " यह भेद-चिन्तन का सूत्र है। लगभग सभी अध्यात्म-चिन्तकों ने भेद-चिन्तन को

मोह-त्याग का बहुत बड़ा साधन माना है। इसका प्रारम्भ बाहरी वस्तुओं से होता है और अन्त में 'अन्यच्छरीरमन्योऽहम्'- यह मेरा शरीर मुझसे भिन्न है और मैं इससे भिन्न हूँ- यहाँ तक पहुँच जाता है।” यह भेद-विज्ञान आत्म-भिन्न विषयों में आसक्त इन्द्रियों को अनुशासित करता है और अनुशासित इन्द्रियाँ ही मन-निग्रह की प्रथम हेतु होती हैं। अतः भेदविज्ञान मनोनिग्रह का प्रथम सोपान है।

स्व की स्वतन्त्रता के बोध से प्रतिस्रोत में गति-

‘मनो पुब्बङ्गमा धम्मा’- मन ही सभी प्रवृत्तियों का अगुआ है। मन के विचारों का क्रम दैनिक प्रवृत्तियों को अनुशासित करता है। मन में आए विचारों के अनुरूप चलते रहने का मतलब है निरन्तर उदय में आ रहे कर्मों के स्रोत में बहना। मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो इस स्रोत में चाहे तो बहे अन्यथा न बहे। बहने और न बहने का सामर्थ्य ही उसकी ‘स्वतन्त्रता’ है। यही स्वतन्त्रता संयम की ओर बढ़ने का, इन्द्रिय-निग्रह का, स्व में स्थित होने का, निरपेक्ष होने का, मोह रहित होने का, मन की पूर्ण शुद्धि का, जन्म-मरण की परम्परा को तोड़ने का, संसार-सागर से पार होने का, समिति-गुप्ति के निर्वहन का, अनुस्रोत से प्रतिस्रोत में आने का और मुक्ति प्राप्त करने का हेतु है। दशवैकालिकसूत्रकार ने कर्मों के आस्रव में बहने को अनुस्रोत तथा उसमें तटस्थ होकर संयमित रहने को प्रतिस्रोत कहा है, आगम के शब्दों में-

अणुसोयपट्ठलबहुजणम्मि पडिसोयत्तद्धलक्खेणं ।
पडिसोयमेव अप्पा दायठवो होउकामेणं ॥
अणुसोयसुहो लोगो पडिसोओ आसवो सुविहियाणं
अणुसोओ संसायो पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥’

अभिप्राय यह है कि अधिकांश लोग अनुस्रोत में प्रस्थान कर रहे हैं अर्थात् भोग मार्ग की ओर जा रहे हैं। किन्तु जो मुक्त होना चाहता है, जिसे प्रतिस्रोत में गति करने का लक्ष्य प्राप्त है, जो विषय-भोगों से विरक्त हो संयम की आराधना करना चाहता है, उसे अपनी आत्मा को स्रोत के प्रतिकूल ले जाना चाहिए अर्थात् विषयानुरक्ति में प्रवृत्त नहीं करना चाहिए। जनसाधारण को स्रोत के अनुकूल चलने में सुख की अनुभूति होती है, किन्तु जो सुविहित साधु है, उसका आश्रव-प्रतिस्रोत^१ (इन्द्रिय-विजय) होता है। अनुस्रोत संसार है (जन्म-मरण की परम्परा है) और प्रतिस्रोत उसका उत्तार है। (जन्म-मरण से रहित होना है)

मन में उत्पन्न काम का निग्रह किये बिना श्रामण्य असंभव

‘संकल्पमूलः कामो वै’ काम का मूल संकल्प है। संकल्प से काम और काम से विषाद- यह इनके उत्पन्न होने का क्रम है। इस क्रम को भंग करना काम का निग्रह है। जिसे अगस्त्य चूर्णि में उद्धृत श्लोक में इस प्रकार कहा है-

काम! जानामि ते रूपं, संकल्पात् किल जायसे।

न त्वां संकल्पयिष्यामि ततो मे न भविष्यसि॥⁷

काम! मैं तुझे जानता हूँ। तू संकल्प से पैदा होता है। मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूँगा। तू मेरे मन में उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा।

श्रमण के लिए काम-निवारण की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए मुनि शय्यंभव कहते हैं-

कहं नु कुञ्जा साम्पणं, जो कामे न निवारए।

पए पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसं गओ॥⁸

वह श्रामण्य का पालन कैसे करेगा, जो काम (विषय-राग) का निवारण नहीं करता, जो संकल्प के वशीभूत होकर पग-पग पर विषादग्रस्त होता है।

उपर्युक्त गाथा को स्पष्ट करते हुए निर्युक्तिकार ने काम के भेद-प्रभेद की विस्तृत चर्चा की है। जिसके अन्तर्गत काम के दो प्रकार बताए हैं- द्रव्य काम और भाव काम।⁹ जो मोह के उदय के हेतु भूत द्रव्य हैं- जिनके सेवन से शब्दादि विषय उत्पन्न होते हैं, वे द्रव्य-काम हैं। भाव काम दो तरह के हैं- इच्छा-काम और मदन-काम।¹⁰ अभिलाषारूप काम को 'इच्छा-काम' तथा वेदजनित को 'मदन काम' कहते हैं। श्रमणत्व पालन में सभी प्रकार के काम के निवारण की आवश्यकता होती है।

क्षुधा, तृषा, सर्दी, गर्मी, डांस, मच्छर, वस्त्र की कमी, अलाभ- आहारादि का न मिलना, शय्या का अभाव- ऐसे परीषह साधु को होते ही रहते हैं। आक्रोश- कठोर वचन कहे जाने, तृण-स्पर्श की वेदना, उग्र विहार और मैल की असह्यता, एकान्तवास के भय, सत्कार-पुरस्कार की भावना, प्रज्ञा के न होने से हीन भावना से उत्पन्न हुई ग्लानि आदि अनेक स्थल हैं- जहाँ मनुष्य विचलित हो जाता है। परीषह, उपसर्ग और वेदना के समय आचार का भंग कर देना, खेद-खिन्न हो जाना, 'इससे तो पुनः गृहवास में चला जाना अच्छा' ऐसा सोचना, अनुताप करना, इन्द्रियों के विषय में फँस जाना, कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) कर बैठना, इसे विषादग्रस्त होना कहते हैं। संयम और धर्म के प्रति अरुचि की भावना को उत्पन्न होने देना विषाद है।¹¹

पग-पग पर विषादग्रस्त होने के सम्बन्ध में जिनदास महत्तर चूर्णि और हरिभद्र सूरि की टीका में निम्नलिखित कथा प्राप्त होती है- एक वृद्ध पुरुष पुत्र सहित प्रव्रजित हुआ। चेला वृद्ध साधु को अतीव इष्ट था। एक बार दुःख प्रकट करते हुए वह कहने लगा- बिना जूते के चला नहीं जाता। अनुकम्पावश वृद्ध ने उसे जूतों की छूट दी। तब चेला बोला- ऊपर का तला ठण्ड से फटता है। वृद्ध ने मोजे करा दिए। तब कहने लगा- "सिर अत्यन्त जलने लगता है।" वृद्ध ने सिर ढंकने के वस्त्र की आज्ञा दी। तब बोला- भिक्षा के लिए नहीं घूमा जाता। वृद्ध ने वहीं उसे भोजन ला कर देना शुरू किया। फिर बोला- भूमि पर नहीं सोया जाता। वृद्ध ने बिछौने की आज्ञा दी। फिर बोला- "लोच करना नहीं बनता। वृद्ध ने क्षुर को

काम में लेने की आज्ञा दी। फिर बोला- “बिना स्नान नहीं रहा जाता।” वृद्ध ने प्रासुक पानी से स्नान करने की आज्ञा दी। इस तरह वृद्ध साधु स्नेहवश बालक साधु की इच्छानुसार करता जाता था। काल बीतने पर बालक साधु बोला- मैं बिना स्त्री के नहीं रह सकता। वृद्ध ने यह जानकर कि यह शठ और अयोग्य है, उसे अपने आश्रय से दूर कर दिया।

इच्छाओं के वश होने वाला साधक इसी तरह बात-बात में शिथिल हो, कायरता दिखा अपना विनाश कर लेता है। इस प्रकार मन में उत्पन्न काम (इच्छा) का निग्रह किए बिना श्रामण्य का पालन असंभव है।

आतापना, सौकुमार्य-त्याग, राग-द्वेष का विनयन : मनोनिग्रह के साधन

“आयावयाही चय सोगमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।

छिन्दाहि दोसं विणएज्जरागं, एवं सुही होहिसि संपशाए॥”

प्रस्तुत पद्य में मनोनिग्रह के चार साधन कहे गए हैं- (1) आतापना, (2) सुकुमारता का त्याग, (3) द्वेष का उच्छेद और (4) राग का विनयन।

जिनदास चूर्णि में कहा है-“ सो य न सक्कइ उवचियसरीरेण णिग्गहेउं, तम्हा कायबलनिग्गहे इमं सुत्तं भण्णइ” मन का निग्रह उपचित शरीर (अधिक मांस और शोणित से युक्त) से संभव नहीं होता। अतः कायबल निग्रह का उपाय बताया गया है। सर्दी-गर्मी में तितिक्षा रखना, शीत-काल में आवरणरहित होकर शीत सहना, ग्रीष्म काल में सूर्याभिमुख होकर गर्मी सहना- यह सब आतापना तप है। सुकुमारता के कारण शरीर में कोमलता रहती है, जिसके कारण श्रमण-जीवन के कठोर नियमों के पालन में कठिनाई उत्पन्न होती है। अतः सुकुमारता के त्याग से मन नियमों का सुकरता से पालन करने योग्य बनता है। अनिष्ट विषयों के प्रति घृणा को ‘द्वेष’ तथा इष्ट विषयों के प्रति प्रीति को ‘राग’ कहते हैं। संयम के प्रति अरुचिभाव, घृणा, अरति को भी द्वेष कहा जाता है। राग और द्वेष- ये दोनों कर्म-बन्ध के हेतु हैं। अतः अनिष्ट विषयों में द्वेष का छेदन करना चाहिए तथा इष्ट विषयों के प्रति मन का नियमन करना चाहिए।

मोहोदय से मनुष्य विचलित हो जाता है। उस समय वह आत्मा की ओर ध्यान न देकर विषय-सुख की ओर दौड़ने लगता है। ऐसे संकट के समय संयम में पुनः स्थिर होने के उपर्युक्त चार उपाय बतलाए गए हैं। जो इन उपायों को अपनाता है वह आत्म-संग्राम में विजयी हो सुखी होता है।

संयम में अरति युक्त चित्त का अठारह स्थानों पर चिन्तन

संयम में रति उत्पन्न करने के लिए दशवैकालिक सूत्र की प्रथम चूलिका में ऐसे अठारह स्थानों का वर्णन किया गया है, जिन पर पुनः पुनः चिन्तन किया जाए तो अरति का निवारण हो जाता है। अतः चूलिका में कहा है-

श्रमण को मोहवशा दुःख उत्पन्न हो गया, संयम में अरति युक्त हो गया, संयम को छोड़कर गृहस्थ बनना चाहता है तो उसे निम्नलिखित अठारह स्थानों का भलीभाँति आलोचन करना चाहिए। अस्थिरात्मा के लिए इनका वही स्थान है जो अश्व के लिए लगाम, हाथी के लिए अंकुश और पोत के लिए पताका का है। अठारह स्थान इस प्रकार हैं-

1. अहो! इस दुष्पमा (दुःख बहुल पांचवे) आरे में लोग बड़ी कठिनाई से जीविका चलाते हैं।
2. गृहस्थों के काम-भोग स्वल्प-सार-सहित(तुच्छ) और अल्पकालिक हैं।
3. मनुष्य प्रायः माया बहुल होते हैं।
4. यह मेरा परीषह-जनित दुःख चिरकाल स्थायी नहीं होगा।
5. गृहवासी को नीच जनों का पुरस्कार करना होता है- सत्कार करना होता है।
6. संयम को छोड़ घर में जाने का अर्थ है- वमन को वापस पीना।
7. संयम को छोड़ गृहवास में जाने का अर्थ है नारकीय जीवन का अंगीकार।
8. अहो! गृहवास में रहते हुए गृहियों के लिए धर्म का स्पर्श निश्चय ही दुर्लभ है।
9. वहाँ आतंक वध के लिए होता है।
10. वहाँ संकल्प वध के लिए होता है।
11. गृहवास क्लेश सहित है और मुनि-पर्याय क्लेश-रहित।
12. गृहवास बन्धन है और मुनि-पर्याय मोक्ष।
13. गृहवास सावद्य है और मुनि-पर्याय अनवद्य।
14. गृहस्थों के कामभोग बहुजन सामान्य हैं- सर्व सुलभ हैं।
15. पुण्य और पाप अपना-अपना होता है।
16. ओह! मनुष्यों का जीवन अनित्य है, कुश के अग्र भाग पर स्थित जलबिन्दु के समान चंचल है।
17. ओह! मैंने इससे पूर्व बहुत ही पाप कर्म किए हैं।
18. ओह! दुश्चरित्र और दुष्ट पराक्रम के द्वारा पूर्वकाल में अर्जित किए हुए पाप कर्मों को भोग लेने पर अथवा तप के द्वारा उनका क्षय कर लेने पर ही मोक्ष होता है- उनसे छुटकारा होता है। उन्हें भोगे बिना मोक्ष नहीं होता- उनसे छुटकारा नहीं होता।

वचन-गुप्ति

मोक्ष की साधना करते हुए मुनि वचन-व्यवहार भी करते हैं। वचन का व्यवहार कैसा होना चाहिए- यह समिति का विषय है, किन्तु वचन का कहाँ निग्रह करना है अर्थात् मौन रखना है- यह गुप्ति का विषय है। वचन की समिति और गुप्ति- इन दोनों के सम्बन्ध में 'वाक्य शुद्धि' नामक सातवें अध्याय में विस्तृत वर्णन है।

वाक्य-शुद्धि से संयम की शुद्धि होती है। अहिंसात्मक वाणी भाव-शुद्धि का निमित्त बनती है। यह शुद्धि विवेकयुक्त होने पर सम्भव है। भाषा का गोपन विवेक के साथ होता है तब वह वचन-गुप्ति है। अन्यथा गोचरी में दो मोदक बिना बताए खा लेने के बाद गुरु के पूछे जाने पर शिष्य का मौन रहना 'वचन गुप्ति' कहलाएगा। यह वचन का गोपन अविवेक युक्त होने से वचन-गुप्ति नहीं है। अतः विवेकहीन मौन का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

सत्य भाषा, असत्य भाषा, मिश्र भाषा और व्यवहार भाषा- ये चार भाषा के भेद किये गए हैं। असत्य और मिश्र भाषा मुनि के द्वारा सर्वथा त्याज्य हैं तथा सत्य और व्यवहार भाषा आचरणीय है। किन्तु इनमें भी जो बुद्धों के द्वारा अनाचीर्ण है वह वर्जनीय है। सत्य व व्यवहार भाषा बोलने के अवसर पर मौन रहने योग्य स्थानों की चर्चा यहाँ की जा रही है।

सत्य होते हुए भी मुनि सावद्य, सक्रिय, कर्कश, कटुक, निष्ठुर, परुष, शब्दकारी, छेदनकारी, भेदनकारी, परितापनकारी और भूतोपघातिनी सत्य भाषा न बोले।¹³ जैसे कि दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है-

तद्देव काणं काणे ति, पंडगं पंडगे ति वा।

वाहियं वा वि रोगी ति, तेणं चोरे ति नो वट॥¹⁴

काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी तथा चोर को चोर नहीं कहना चाहिए।

लोक व्यवहार करते समय साधु को सावद्य, संशयकारिणी, मर्मकारी आदि भाषा से बचना चाहिए। इसके उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं-

1. 'हम जायेंगे', 'हमारा अमुक कार्य हो जाएगा', 'मैं यह करूँगा' अथवा 'यह व्यक्ति यह कार्य करेगा'- इस प्रकार की भाषा जो भविष्य सम्बन्धी होने के कारण शंकित हो अथवा वर्तमान और अतीत काल सम्बन्धी अर्थ के बारे में शंकित हो, उसे मुनि को नहीं बोलना चाहिए।¹⁵
2. भाव-दोष सम्बन्धी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। जैसे स्त्री के लिए हे होले! हे गोले! हे वसुले! ये मधुर आमंत्रण हैं तथा सामिणी और गोमिणी चाटुता के आमन्त्रण हैं। अतः भाव-दोष की दृष्टि से लोक व्यवहार में साधु द्वारा किये गए ये सम्बोधन आचरण योग्य नहीं हैं। गृहस्थ काल के सम्बन्धियों को हे आर्यिके! (दादी), प्रार्थिके! (परदादी) हे बुआ!, हे मौसी!, हे पिता!, हे चाचा! आदि शब्दों से सम्बोधित नहीं करे।¹⁶
3. अग्रांकित सावद्य वचनों से साधु विरत रहे- मनुष्य, पशु-पक्षी और सांप को देख यह स्थूल, वध्य अथवा पाव्य है, ऐसा न कहे। गायें दुहने योग्य हैं, बैल दमन करने योग्य है, वहन करने योग्य हैं। प्रासाद का परिसर स्तम्भ, तोरण, घर, परिघ, अर्गला, नौका और जल की कुंडी के लिए उपयुक्त है। ये फल पक्व हैं, औषधियाँ काटने योग्य हैं, भूनने योग्य हैं। ये सभी कथन साधु अपने गृहस्थ

जीवन के अनुभवों से अभ्यासवश कह सकता है। अतः इन अवसरों पर अपने वचनों का जागरूकता के साथ गोपन करे।

4. नदी अच्छे घाट वाली है, (भोजन के सम्बन्ध में) बहुत अच्छा पकाया, (पत्र-शाक) बहुत अच्छा छेदा है, (चावल आदि) बहुत ही इष्ट है।- ऐसे वचन नहीं कहने चाहिए।
5. क्रय-विक्रय के प्रसंग में यह वस्तु सर्वोत्कृष्ट है, यह बहुमूल्य है, यह माल अच्छा खरीदा, इस माल को ले, यह बहुत महंगा होने वाला है, यह अच्छा बेचा, यह बेचने योग्य है आदि वचनों को कहने से मुनि बचे।
6. सन्देशवाहक का कार्य मुनि को नहीं करना चाहिए। प्रज्ञावान मुनि गृहस्थ को बैठ, इधर आकर सो, ठहर या खड़ा हो जा, चला जा- इस प्रकार न कहे।
7. मनुष्य और तिर्यञ्चों का आपस में विग्रह (झगड़ा) होने पर अमुक की विजय हो अथवा अमुक की विजय न हो- ऐसा नहीं कहना चाहिए।
8. वायु, वर्षा, सर्दी, गर्मी, क्षेम, सुभिक्ष और शिव- ये कब होंगे अथवा ये न हों तो अच्छा रहे- इस प्रकार न कहे।

इस प्रकार मुनि को सावद्य का अनुमोदन करने वाली, अवधारिणी और पर-उपघातकारिणी भाषा, क्रोध, लोभ, भय, मान या हास्यवश नहीं बोलना चाहिए।

काय-गुप्ति

‘णाणस्स सारं आचारो’ ज्ञान का सार आचार है। धर्मयुक्त क्रियाएँ आचार और अनाचार में विभाजित हैं। धर्म में धृतिमान श्रमण आचार को निभाता है और अनाचार से बचता है। अहिंसा आचार है और हिंसा अनाचार है, मोक्षलक्ष्यी क्रियाएँ आचार है और संसारलक्ष्यी अनाचार। आचार काया से सम्बद्ध है, अतः आचार के प्रतिपक्ष अनाचार में काया का गोपन ‘काय-गुप्ति’ है।

श्रमण के 52 अनाचार कहे गए हैं। दशवैकालिककार ने अनाचारों का तृतीय अध्याय में उल्लेख संख्या के निर्देश के बगैर किया है। इसकी चूर्णि और वृत्ति में भी संख्या का उल्लेख नहीं है। दशवैकालिक दीपिका में “सर्वमेतत् पूर्वोक्तचतुःपञ्चाशद्भेदभिन्नमौद्देशिकादिकं यदनन्तरमुक्तं तत् सर्वमनाचरितं ज्ञातव्यम्” कहकर 54 संख्या का निर्देश किया है। वे इस प्रकार हैं-

1. औद्देशिक- साधु के निमित्त बनाए गए आहारादि का लेना।
2. क्रीतकृत- साधु के निमित्त क्रीत वस्तु का लेना।
3. नित्याग्र- निमन्त्रित होकर नित्य आहार लेना।
4. अभिहत- दूर से लाए गए आहारादि ग्रहण करना।
5. रात्रिभोजन करना।

6. स्नान करना।
7. गन्ध विलेपन करना।
8. माला आदि धारण करना।
9. बीजन- पंखा आदि से हवा करना।
10. सन्निधि- खाद्य, पेय आदि वस्तुओं का संग्रह करना।
11. गृहि-अमत्र- गृहस्थ के पात्र में भोजन करना।
12. राज-पिण्ड- राजा के घर का आहार ग्रहण करना।
13. किमिच्छक- क्या चाहिए? ऐसा पूछ कर दिया हुआ आहारादि ग्रहण करना।
14. संबाधन- शरीर मर्दन करना।
15. दंतप्रधावन करना।
16. संपृच्छन- गृहस्थों से सावद्य प्रश्न करना।
17. देह-प्रलोकन- दर्पण आदि में शरीर देखना।
18. अष्टापद- शतरंज खेलना।
19. नालिका- द्यूत विशेष खेलना।
20. छत्र-धारण करना।
21. चिकित्सा- रोग का प्रतिकार करना।
22. जूता पहनना
23. अग्नि समारम्भ- सर्दी से बचने के लिए अग्नि जलाना।
24. शय्यातर-पिण्ड- स्थान-दाता के घर से भिक्षा लेना।
25. आसंदी (कुर्सी/ मञ्चादि) का व्यवहार करना।
26. पर्यङ्क (पलंग) का व्यवहार करना।
27. गृहि-निषद्या- भिक्षा करते समय गृहस्थ के घर बैठना।
28. गात्र-उद्धर्तन- उबटन करना।
29. गृहि वैयावृत्त्य- गृहस्थ को भोजन का संविभाग देना, गृहस्थ की सेवा करना।
30. आजीववृत्तिता- जाति, कुल, गण, शिल्प और कर्म का अवलम्बन लेकर भिक्षा प्राप्त करना।
31. तप्तानिर्वृतभोजित्व- अर्ध-पक्व सजीव वस्तु का उपभोग करना।
32. आतुर स्मरण- आतुर दशा में भुक्त भोगों का स्मरण करना।
33. सचित्त मूलक- सजीव मूली आदि का सेवन करना।

34. सचित्त शृंगबेर (अदरक) का सेवन करना।
35. सचित्त इक्षु-खण्ड का सेवन करना।
36. सचित्त कन्द का सेवन करना।
37. सचित्त मूल का सेवन करना।
38. सचित्त फल- अपक्व फल ग्रहण करना।
39. सचित्त बीज- अपक्व बीज ग्रहण करना।
40. सचित्त सौवर्चल लवण- अपक्व सौवर्चल नमक का उपयोग करना।
41. सचित्त सैधव लवण- अपक्व सैन्धव नमक का उपयोग करना।
42. सचित्त लवण का उपयोग करना।
43. सचित्त रुमा लवण- अपक्व रुमा नामक लवण का उपयोग करना।
44. सचित्त सामुद्र लवण- अपक्व समुद्र लवण का उपयोग करना।
45. सचित्त पांशु-क्षार लवण- अपक्व ऊषर-भूमि का नमक प्रयोग करना।
46. सचित्त कृष्ण लवण का उपयोग करना।
47. धूम नेत्र- धूम्रपान की नलिका रखना।
48. वमन- रोग की संभावना से बचने के लिए, रूप-बल आदि को बनाए रखने के लिए वमन करना।
49. वस्तिकर्म- अपानमार्ग से तेल आदि चढ़ाना।
50. विरेचन करना।
51. अंजन- आँखों में अंजन आंजना।
52. दंतवण- दाँतों को दतौन से घिसना।
53. गात्रअभ्यङ्ग- शरीर में तेल-मर्दन करना।
54. विभूषण- शरीर को अलंकृत करना।

उपर्युक्त अनाचारों की संख्या में अलग-अलग परम्पराओं में न्यूनाधिक्य देखने को मिलता है, किन्तु यह भेद संख्यागत है, तत्त्वतः नहीं। जब अनाचारों की संख्या 52 होती है तब उपर्युक्त 54 भेदों में क्रम संख्या (7) गंध एवं (8) माला को एक साथ गिना जाता है तथा (42) सचित्त लवण की पृथक् गणना नहीं की जाती है। जो कार्य मूलतः सावध हैं या जिनका हिंसा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, वे हर परिस्थिति में अनाचीर्ण हैं, जैसे- सचित्त भोजन, रात्रि-भोजन आदि। जिनका निषेध विशेष विशुद्धि या संयम की उग्र साधना की दृष्टि से हुआ है, वे विशेष परिस्थिति में अनाचीर्ण नहीं रहते। जैसे- अंजन-विभूषण शृंगार की दृष्टि से हर समय अनाचार है, पर नेत्र-रोग की अवस्था में अंजन-प्रयोग अनाचार नहीं

है। सौन्दर्य के लिए वमन, वस्तिकर्म, विरेचन अनाचार हैं, रुग्णावस्था में यह अनाचार नहीं है। इस प्रकार संयम में बाधा पहुँचाने वाले अनाचार से विरत रहकर काय-गुप्ति का सम्यक् प्रकार से पालन किया जाता है।

सन्दर्भ:-

1. दशवैकालिक सूत्र, 9.4.3
2. दसवेआलियं, जैन विश्वभारती, लाडनू, 1973, 2.4, पृ.28
3. धम्मपद 1.1
4. दशवैकालिक सूत्र, द्वितीय चूलिका, गाथा 2,3
5. जिनदास चूर्णि में 'आसव-प्रतिश्लोत' का अर्थ इन्द्रिय-जय किया गया है- द्रष्टव्य, दसवेआलियं, पृ. 5.25
6. मनुस्मृति, द्वितीय अध्याय, श्लोक 3
7. द्रष्टव्य- दसवेआलियं, पृ. 23
8. दशवैकालिक सूत्र, 2.1
9. दब्ब कामा य भाव कामा य ||- दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा 161
10. सदव् रस रूव गंधा फासा, उदयं करा य जे दब्बा
दुविहा य भावकामा, इच्छा कामा मयण कामा||- दशवैकालिक निर्युक्ति, 162
11. दसवेआलियं, जैन विश्व भारती, लाडनू, 1973, पृ.23
12. दशवैकालिक सूत्र, 2.5
13. तहप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं कक्कसं कड्डयं निट्ठुरं फरुसं अण्हयकरिं छेयणकरिं परित्तावणकरिं
उद्ववणकरिं भूओवघाइयं अभिक्खं नो भासेज्जा | - आचार चूला 4.10, द्रष्टव्य- दसवेआलियं, पृ. 348
14. दशवैकालिक सूत्र, 7.12
15. दशवैकालिक सूत्र, 7.6,7
16. दशवैकालिक सूत्र, 7.13-20
17. दशवैकालिक दीपिका, पृ.7-द्रष्टव्य- दसवेआलियं, पृ.39

- 12/7A, 'समता कुंज' जाल्म विलास स्कीम, पावटा 'बी' रोड, जोधपुर (राज.)



आचारांगसूत्र में श्रमण-जीवन

श्री माजमल कुदाल

आचारांगसूत्र में साधना के अनमोल मार्गदर्शक सूत्र उपलब्ध हैं, जो न केवल श्रमण-श्रमणियों के लिए उपयोगी हैं, अपितु साधनाशील श्रावक-श्राविकाओं के लिए भी वे उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। मूर्च्छा को तोड़कर किस प्रकार समता, अप्रमत्तता साधना में आगे बढ़ा जा सकता है, इसका मार्गदर्शन आचारांग सूत्र में उपलब्ध है। आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में श्रमणाचार से सम्बद्ध व्यावहारिक नियम दिए गए हैं। -सम्पादक

श्रावकधर्म से आगे की कोटि श्रमणधर्म है। श्रमण-धर्म के लिए हमारे प्राचीन आचार्यों ने आकाश-यात्रा शब्द का प्रयोग किया है। यह श्रमण धर्म की यात्रा साधारण यात्रा नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र के 19 वें अध्ययन की गाथा 39 में कहा गया है- “साधु होना, लोहे के जौ चबाना है, दहकती ज्वालाओं को पीना है, कपड़े के थैले को हवा से भरना है, मेरु पर्वत को तराजू पर रखकर तौलना है, और महासमुद्र को भुजाओं से तैरना है। इतना ही नहीं, तलवार की गन्ध धार पर नंगे पैरों चलना है।”

श्रमण-जीवन के लिये भगवान महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है- “साधु को ममता रहित, निरहंकार, निःसंग, नम्र और प्राणिमात्र पर समभावयुक्त रहना चाहिए। लाभ हो या हानि, सुख हो या दुःख, जीवन हो या मरण, निन्दा हो या प्रशंसा, मान हो या अपमान, सर्वत्र सम रहना ही साधुता है। सच्चा साधु न इस लोक में कुछ आसक्ति रखता है और न परलोक में। यदि कोई विरोधी तेज कुल्हाड़े से काटता है या कोई भक्त शीतल एवं सुगन्धित चन्दन का लेप लगाता है, साधु को दोनों पर एक जैसा ही समभाव रखना होता है। वह कैसा साधु जो क्षण-क्षण में राग-द्वेष की लहरों में बह निकले, न भूख पर नियंत्रण रख सके और न भोजन पर।”

जैन धर्म में श्रमण का पद बढ़ा ही महत्त्वपूर्ण है। आध्यात्मिक विकासक्रम में उसका स्थान छठा गुणस्थान है, और यहाँ से यदि निरन्तर ऊर्ध्वमुखी विकास करता रहे तो अन्त में वह चौदहवें गुणस्थान की भूमिका पर पहुँच जाता है और फिर गुणस्थानातीत होकर सदाकाल के लिए अजर-अमर, सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो जाता है। जैन साहित्य में श्रमण-जीवन सम्बन्धी चर्या का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। ऐसा सूक्ष्म एवं नियमबद्ध वर्णन अन्यत्र मिलना कठिन है। यही कारण है कि आज के युग में जहाँ दूसरे सम्प्रदाय के साधुओं का नैतिक पतन हो गया है वहाँ जैन साधु अब भी अपने संयम-पथ पर चल रहे हैं। आज भी उनके संयम की झांकी के दृश्य आचारांग, उपासकदशांग, दशवैकालिक, आवश्यक सूत्र,

दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, महानिशीथ एवं जीतकल्प तथा दिगम्बर परम्पराभिमत मूलाचार, भगवती आराधना, अनगारधर्माप्त आदि ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं।

आगम साहित्य में जैन-श्रमण की नियमोपनियम-सम्बन्धी जीवनचर्या का अतीव विराट् एवं तलस्पर्शी वर्णन है। विशेष जिज्ञासुओं को आगम-साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। यहाँ हम संक्षेप में आचारांगसूत्र में वर्णित श्रमणचर्या का परिचय दे रहे हैं:-

आचारांग सूत्र में श्रमण-चर्या

जहाँ तक आचारांग में प्रतिपादित आचार नियमों का प्रश्न है मूलतः वे सभी नियम अहिंसा, अनासक्ति एवं अप्रमत्तता को केन्द्र में रखकर बनाये गये हैं। जीवन में अहिंसा और अनासक्ति को किस चरम सीमा तक अपनाया जा सकता है इसका आदर्श हमें आचारांग में देखने को मिल सकता है। आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध जहाँ आचार के सामान्य सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है, वहाँ द्वितीय श्रुतस्कन्ध उनके व्यवहार पक्ष को स्पष्ट करता है। विद्वानों ने आचारांग के दूसरे श्रुतस्कन्ध को प्रथम श्रुतस्कन्ध की व्यावहारिक व्याख्या ही माना है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में मूलतः अहिंसा, अनासक्ति, कषायों और वासनाओं के विजय का सूत्र रूप में संकेत किया गया है, जबकि दूसरे श्रुतस्कन्ध में इनसे ऊपर उठकर कैसा जीवन जीया जा सकता है, इसका चित्रण किया गया है। दूसरा श्रुतस्कन्ध मूलतः मुनिजीवन में भोजन, वस्त्र, पात्र आदि सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार की जाय, इसका विस्तार से विवेचन करता है। आचारांग का आचार पक्ष व्यावहारिक दृष्टि से कठोर कहा जा सकता है, किन्तु उसमें साधना के जिस आदर्श स्वरूप का चित्रण है, उसके मूल्य को नकारा नहीं जा सकता।

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में श्रमण चर्या

आचारांग में सर्वप्रथम सूत्रकार ने पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को बतलाते हुए क्रियाओं की विपरीतता तथा क्रियाओं से होने वाले प्रभावों पर प्रकाश डाला है, जो किसी भी साधक अथवा श्रमण के लिए प्रेरणा का कार्य करती है। इसके आगे मूर्च्छित मनुष्य की क्या दशा होती है?, इस पर प्रकाश डाला गया है। डॉ. के.सी. सोगानी ने अपनी आचारांग चयनिका की प्रस्तावना में इसकी विशद चर्चा की है। उनके अनुसार वास्तविक स्व-अस्तित्व का विस्मरण ही मूर्च्छा है। इसी विस्मरण के कारण मनुष्य व्यक्तिगत अवस्थाओं और सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न सुख-दुःख से एकीभूत होकर सुखी-दुःखी होता रहता है। मूर्च्छित मनुष्य स्व-अस्तित्व (आत्मा) के प्रति जागरूक नहीं होता है, वह अशांति से पीड़ित होता है, समता भाव से दरिद्र होता है, उसे अहिंसा पर आधारित मूल्यों का ज्ञान देना कठिन होता है तथा वह अध्यात्म को समझने वाला नहीं होता है (18)*। मूर्च्छित मनुष्य इन्द्रिय-विषयों में ही ठहरा रहता है (22)। वह

* लेखक ने डॉ. कमलचन्द सोगानी कृत एवं प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर से प्रकाशित 'आचारांग चयनिका' की प्रस्तावना को अपने आलेख का आधार बनाया है तथा कोष्ठक में जो सूत्र संख्या दी है वह भी आचारांग चयनिका के सूत्रों के अनुसार है।-सम्पादक

आसक्ति युक्त होता है और कुटिल आचरण में ही रत रहता है (22)। इस तरह वह अर्हत् (जीवन-मुक्त) की आज्ञा के विपरीत चलने वाला होता है (22,80)। स्व-अस्तित्व के प्रति जागरूक होना ही अर्हत् की आज्ञा में रहना है। इस जगत में यह विचित्रता है कि सुख देने वाली वस्तु दुःख देने वाली बन जाती है और दुःख देने वाली वस्तु सुख देने वाली बन जाती है। मूर्च्छित मनुष्य इस बात को देख नहीं पाता है (35)। इसलिए वह सदैव वस्तुओं के प्रति आसक्त बना रहता है। यही उसका अज्ञान है (38)। विषयों में लोलुपता के कारण वह संसार में अपने लिये वैर की वृद्धि करता रहता है (39) और बार-बार जन्म धारण करता रहता है (46)। अतः कहा जा सकता है कि मूर्च्छित मनुष्य सदा सोया हुआ अर्थात् सन्मार्ग को भूला हुआ होता है (44)। इच्छाओं के तृप्त न होने पर वह शोक करता है, क्रोध करता है, दूसरों को सताता है और उनको नुकसान पहुँचाता है (37)। यहाँ यह समझना चाहिए कि सतत हिंसा में संलग्न रहने वाला व्यक्ति भयभीत व्यक्ति होता है। आचारांग ने ठीक ही कहा है कि प्रमादी (मूर्च्छित) व्यक्ति को सब ओर से भय होता है (62)। वह सदैव मानसिक तनावों से भरा रहता है। चूँकि उसके अनेक चित्त होते हैं, इसलिए उसका अपने लिए शान्ति (तनाव मुक्ति) का दावा करना ऐसे ही है जैसे कोई चलनी को पानी से भरने का दावा करे (53)। मूर्च्छित मनुष्य संसार रूपी प्रवाह में तैरने के लिए बिल्कुल समर्थ नहीं होता है (33)। वह भोगों का अनुमोदन करने वाला होता है तथा दुःखों के भँवर में ही फिरता रहता है (34)।

श्रमणाचार का आध्यात्मिक और नैतिक पक्ष

आचारांग सूत्र में सूत्रकार ने श्रमण (साधक) के लिए स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक, प्रेरक तथा उनसे प्राप्त शिक्षाओं का उल्लेख किया है:-

यह मूर्च्छित मनुष्यों का जगत् है। ऐसा होते हुए भी यह जगत् मनुष्य को ऐसे अनुभव प्रदान करने के लिये सक्षम है, जिनके द्वारा वह अपने आध्यात्मिक उत्थान के लिये प्रेरणा प्रदान कर सकता है। मनुष्य कितना ही मूर्च्छित क्यों न हो फिर भी बुढ़ापा, मृत्यु और धन-वैभव की अस्थिरता उसको एक बार जगत् के रहस्य को समझने के लिए बाध्य कर ही देते हैं। यह सच है कि कुछ मनुष्यों के लिए यह जगत् इन्द्रिय-तुष्टि का ही माध्यम बना रहता है (66), किन्तु कुछ मनुष्य ऐसे संवेदनशील बने रहते हैं कि जगत् उनकी मूर्च्छा को आखिर तोड़ ही देता है।

मनुष्य देखता है कि प्रतिक्षण उसकी आयु क्षीण हो रही है। अपनी बीती हुई आयु को देखकर वह व्याकुल होता है और बुढ़ापे में उसका मन गड़बड़ा जाता है। जिसके साथ वह रहता है, वे ही आत्मिकजन उसको भला-बुरा कहने लगते हैं और वह भी उन्हें भला-बुरा कहने लग जाता है। बुढ़ापे की अवस्था में वह मनोरंजन के लिए, क्रीड़ा के लिए तथा प्रेम के लिए नीरसता व्यक्त करता है (25)। अतः आचारांग का शिक्षण है कि ये आत्मीयजन मनुष्य के सहारे के लिए पर्याप्त नहीं होते हैं और वह भी उनके सहारे के लिए पर्याप्त नहीं होता है (25)। इस प्रकार मनुष्य बुढ़ापे को समझकर आध्यात्मिक प्रेरणा ग्रहण करे तथा संयम के लिए प्रयत्नशील बने और वर्तमान मनुष्य जीवन को देखकर आसक्ति रहित बनने का प्रयास करे

(26)।

आचारांग का कथन है कि हे मनुष्यों! आयु बीत रही है, यौवन भी बीत रहा है, अतः प्रमाद (आसक्ति) में मत फंसो (26) और जब तक इन्द्रियों की शक्ति क्षीण न हो तब तक स्व-अस्तित्व के प्रति जागरूक होकर आध्यात्मिक विकास में लगे (28)।

आचारांग सर्व अनुभूत तथ्य को दोहराता है कि मृत्यु के लिए किसी भी क्षण न आना नहीं है (32)। इसी बात को ध्यान में रखते हुए फिर आचारांग कहता है कि मनुष्य इस देह-संगम को देखे। यह देह संगम छूटना अवश्य है। इसका तो स्वभाव ही नश्वर है। यह अध्रुव है, अनित्य है और अशाश्वत है (71)। आचारांग उनके प्रति आश्चर्य प्रकट करता है जो मृत्यु के द्वारा पकड़े हुए होने पर भी संग्रह में आसक्त होते हैं (66)। मृत्यु की अनिवार्यता हमारी आध्यात्मिक प्रेरणा का कारण बन सकती है। कुछ मनुष्य इससे प्रेरणा ग्रहण कर अनासक्ति की साधना में लग जाते हैं।

जब मूर्च्छित मनुष्य को संसार की निस्सारता का भान होने लगता है (54), तो इसकी मूर्च्छा की सघनता धीरे-धीरे कम होती जाती है और वह अध्यात्म मार्ग की ओर चल पड़ता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि यदि अध्यात्म में प्रगति किया हुआ व्यक्ति मिल जाए तो भी मूर्च्छित मनुष्य जागृत स्थिति में छलाँग लगा सकता है (77)। इस तरह से बुढ़ापा, मृत्यु, धन-वैभव का नाश, संसार की निस्सारता और जागृत मनुष्य (मुनि अनगर) के दर्शन-ये सभी मूर्च्छित मनुष्य को आध्यात्मिक प्रेरणा देकर उसमें स्व-अस्तित्व का बोध पैदा कर सकते हैं।

आन्तरिक रूपान्तरण:- आत्म-जागृति अथवा स्व-अस्तित्व के बोध के पश्चात् आचारांग साधक को (मनुष्य को) चारित्रात्मक आन्तरिक रूपान्तरण के महत्त्व का निरूपण करते हुए साधना के ऐसे सारभूत सूत्रों को बतलाता है, जिससे उसकी साधना पूर्णता को प्राप्त हो सके। कहा है कि हे मनुष्य! तू ही तेरा मित्र है (59), तू अपने मन को रोककर जी (60) जो सुन्दर चित्तवाला है, वह व्याकुलता में नहीं फंसता है (69), तू मानसिक विषमता (राग-द्वेष) के साथ युद्ध कर, तेरे लिए बाहरी व्यक्तियों से युद्ध करने से क्या लाभ (74) बंध (अशांति) और मोक्ष (शान्ति) तेरे अपने मन में ही है (72)। धर्म न गाँव में होता है न जंगल में, वह तो एक प्रकार का आन्तरिक रूपान्तरण है (80)। कहा गया है कि जो ममत्व-बुद्धि को छोड़ देता है, वह ममत्ववाली वस्तु को छोड़ता है, जिसके लिए कोई ममतावाली वस्तु नहीं है, वह ही ऐसा ज्ञानी है (मुनि है) जिसके द्वारा अध्यात्म पथ जाना गया है (40)।

साधना के सूत्र:- आन्तरिक रूपान्तरण के महत्त्व को समझाने के बाद आचारांग ने हमें साधना की दिशाएँ बताई हैं। ये दिशाएँ ही साधना के सूत्र हैं। अतः इन पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। ये सूत्र हैं-

1. अज्ञानी मनुष्य का बाह्य जगत् से सम्पर्क उसमें आशाओं और इच्छाओं को जन्म दे देता है। मनुष्यों से वह अपनी आशाओं की पूर्ति चाहने लगता है और वस्तुओं की प्राप्ति के द्वारा वह इच्छाओं की तृप्ति चाहता है। इस तरह से मनुष्य आशाओं और इच्छाओं का पिण्ड बना रहता है। ये ही उसके मानसिक

तनाव, अशान्ति और दुःख के कारण होते हैं (35)। इसलिए आचारांग का कथन है कि मनुष्य आशा और इच्छा को त्यागे (35)।

2. जो व्यक्ति इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होता है, वह बहिर्मुखी ही बना रहता है, जिसके फलस्वरूप उसके कर्मबंधन नहीं हटते हैं और उसके विभाव संयोग (राग-द्वेषात्मक भाव) नष्ट नहीं होते हैं (68)। अतः इन्द्रिय-विषय में अनासक्ति साधना के लिए आवश्यक है। यहीं से संयम की यात्रा प्रारम्भ होती है (46)। आचारांग का कथन है कि हे मनुष्य! तू अनासक्त हो जा और अपने को नियन्त्रित कर (67)। जैसे अग्नि जीर्ण (सूखी) लकड़ियों को नष्ट कर देती है, इसी प्रकार अनासक्त व्यक्ति राग-द्वेष को नष्ट कर देता है (60)।
3. कषाय मनुष्य की स्वाभाविकता को नष्ट कर देता है। कषायों का राजा मोह है। जो एक मोह को नष्ट कर देता है, वह बहुत कषायों को नष्ट कर देता है (62)। अहंकार मृदु सामाजिक सम्बन्धों तथा आत्म-विकास का शत्रु है। कहा है कि उत्थान का अहंकार होने पर मनुष्य मूढ बन जाता है (75)। जो क्रोध आदि कषायों को तथा अहंकार को नष्ट करके चलता है वह संसार-प्रवाह को नष्ट कर देता है (55)।
4. मानव-समाज में न कोई नीच है, न कोई उच्च है (30)। सभी के साथ समता पूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिये। आचारांग के अनुसार समता में ही धर्म है।
5. इस जगत में सब प्राणियों के लिये पीड़ा अशान्ति है, दुःख युक्त है (23)। सभी प्राणियों के लिए यहाँ सुख अनुकूल होते हैं, दुःख प्रतिकूल होते हैं, दुःख अप्रिय होता है तथा जिन्दा रहने की अवस्थाएँ प्रिय होती हैं। सब प्राणियों के लिये जीवन प्रिय होता है (32)। अतः आचारांग का कथन है कि कोई भी प्राणी मारा नहीं जाना चाहिए, गुलाम नहीं बनाया जाना चाहिये, शासित नहीं किया जाना चाहिए और अशान्त नहीं किया जाना चाहिए। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है (64)। जो अहिंसा का पालन करता है, वह निर्भय हो जाता है (62)। हिंसा तीव्र से तीव्र होती है, परन्तु अहिंसा सरल होती है (62)। अतः हिंसा को मनुष्य त्यागे। प्राणियों में तात्त्विक समता स्थापित करते हुए आचारांग अहिंसा भावना को दृढ़ करने के लिए कहता है कि जिसको तू मारे जाने योग्य मानता है वह तू ही है, जिसको तू शासित किये जाने योग्य मानता है वह तू ही है, जिसको तू सताये जाने योग्य मानता है वह तू ही है, जिसको तू गुलाम बनाये जाने योग्य मानता है, वह तू ही है, जिसको तू अशान्त किये जाने योग्य मानता है, वह तू ही है (78)। इसलिए ज्ञानी (मुनि) जीवों के प्रति दया का उपदेश दे और दया पालन की प्रशंसा करें (85)।
6. आचारांग ने समता और अहिंसा की साधना के साथ सत्य की साधना को भी स्वीकार किया है। आचारांग का शिक्षण है कि हे मनुष्य! तू सत्य का निर्णय कर, सत्य में धारणा कर और सत्य की आज्ञा में उपस्थित रह (52-61)।

7. संग्रह समाज में आर्थिक विषमता पैदा करता है। अतः आचारांग का कथन है कि मनुष्य अपने को संग्रह-परिग्रह से दूर रखे (36)। बहुत प्राप्त करके भी वह उसमें आसक्ति युक्त न बने (36)।
8. आचारांग में समतादर्शी (अर्हत्) की आज्ञापालन को कर्तव्य कहा गया है (83)। कहा है कि कुछ लोग समतादर्शी की आज्ञा में भी तत्परता सहित होते हैं, कुछ लोग उसकी आज्ञा में भी आलसी होते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए (80)। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि क्या मनुष्य के द्वारा आज्ञापालन किये जाने को महत्त्व देना उसकी स्वतन्त्रता का हनन नहीं है? उत्तर में कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता का हनन तब होता है जब बुद्धि या तर्क से सुलझाई जाने वाली समस्याओं में भी आज्ञापालन को महत्त्व दिया जाय। किन्तु जहाँ बुद्धि की पहुँच न हो ऐसे आध्यात्मिक रहस्यों के क्षेत्र में आत्मानुभवी (समतादर्शी) की आज्ञा का पालन ही साधक (अणगार) के लिए आत्म-विकास का माध्यम बन सकता है। संसार को जानने के लिए संशय अनिवार्य है (69), पर समाधि के लिए श्रद्धा अनिवार्य है (76)। इससे भी आगे चलें तो समाधि में पहुँचने के लिए समतादर्शी की आज्ञा में चलना आवश्यक है। संशय से विज्ञान जन्मता है, पर आत्मानुभवी की आज्ञा में चलने से ही समाधि अवस्था तक पहुँचा जा सकता है। अतः आचारांग ने अर्हत् की आज्ञा पालन को कर्तव्य कहकर आध्यात्मिक रहस्यों को जानने के लिए मार्ग प्रशस्त किया गया है।
9. मनुष्य लोक की प्रशंसा प्राप्त करना चाहता है, उसकी पहुँच तो सामान्य कार्यों तक ही होती है। मूल्यों का साधक (मुनि) व्यक्ति असाधारण व्यक्ति होता है। अतः उसको अपने क्रान्तिकारी कार्यों के लिए प्रशंसा मिलना कठिन होता है। प्रशंसा का इच्छुक प्रशंसा न मिलने पर कार्यों को निश्चय ही छोड़ देगा। आचारांग ने मनुष्य की इस वृत्ति को समझकर कहा है कि मूल्यों का साधक (मुनि) लोक के द्वारा प्रशंसित होने के लिए इच्छा ही न करे (65)। वह तो व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में मूल्यों की साधना से सदैव जुड़ा रहे।

साधना की पूर्णता

साधना की पूर्णता होने पर हमें ऐसे महामानव के दर्शन होते हैं जो व्यक्ति के विकास और सामाजिक प्रगति के लिये प्रेरणा स्तम्भ होता है। आचारांग में ऐसे महामानव की विशेषताओं को बड़ी सूक्ष्मता से दर्शाया गया है। उसे द्रष्टा, अप्रमादी, जागृत, अनासक्त, वीर, कुशल आदि शब्दों से इंगित किया गया है। उस द्रष्टा के सम्बन्ध में कहा गया है कि “द्रष्टा के लिए कोई उपदेश नहीं है (38)। उसका कोई नाम नहीं है (71)। उसकी आँखें, विस्तृत होती हैं अर्थात् वह सम्पूर्ण लोक को देखने वाला होता है (44)। वह बन्धन और मुक्ति के विकल्पों से परे होता है (50)। वह शुभ-अशुभ आदि दोनों अन्तों से नहीं कहा जा सकता है, इसलिए वह द्वन्द्वातीत होता है (49-57) और लोक में किसी के द्वारा न छेदा जा सकता है, न भेदा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, तथा न मारा जा सकता है (57)। वह पूर्ण जागरूकता से चलने वाला होता है, अतः वह वीर हिंसा में संलग्न नहीं होता है (42)। वह सदैव ही

आध्यात्मिकता में जागता है (44)। वह अनुपम प्रसन्नता में रहता है (49)। वह कर्मों से रहित होता है। उसके लिए सामान्य लोक प्रचलित आचरण आवश्यक नहीं होता है (48)। किन्तु उसका आचरण व्यक्ति व समाज के लिए मार्गदर्शक होता है। आचारांग का शिक्षण है कि जिस काम को जागृत व्यक्ति करता है, व्यक्ति व समाज उसको करे (43)। वह इन्द्रियों के विषयों को द्रष्टाभाव से जानता है, इसलिए वह आत्मवान, ज्ञानवान, वेदवान, धर्मवान और ब्रह्मवान कहा जा सकता है (45)। जो लोक में परम तत्त्व को देखने वाला है, वह वहाँ विवेक से जीने वाला होता है। वह तनावमुक्त, समतावान, कल्याण करने वाला, सदा जितेन्द्रिय कार्यों के लिये उचित समय को चाहने वाला होता है तथा वह अनासक्तिपूर्वक लोक में गमन करता है (59)। उस महामानव के आत्मानुभव का वर्णन करने में सब शब्द लौट आते हैं, उसके विषय में कोई तर्क उपयोगी नहीं होता है, बुद्धि उसके विषय में कुछ भी पकड़ने वाली नहीं होती है (81) आत्मानुभव की वह अवस्था आभामयी होती है। वह केवल ज्ञाता-द्रष्टा अवस्था होती है (81)।

आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में श्रमण-चर्या

आचारांग सूत्र का द्वितीय श्रुतस्कन्ध पाँच चूलिकाओं में विभक्त है, जिसमें आचार-प्रकल्प अथवा निशीथ नामक पंचम चूलिका आचारांग से अलग होकर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बन गई है। अतः वर्तमान द्वितीय श्रुतस्कन्ध में केवल चार चूलिकाएँ ही हैं। इन चूलिकाओं में श्रमण-चर्या से सम्बन्धित विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें आहार, भिक्षा, ग्राह्यजल, अग्राह्य भोजन, शय्यैषणा, ईर्यापथ, भाषा प्रयोग, वस्त्र धारण, पात्रैषणा, अवग्रहैषणा, मलमूत्र-विसर्जन, शब्द-श्रवण, रूपदर्शन एवं पर क्रिया-निषेध मुख्य है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

आहार- श्रमण के लिये यह एक सामान्य नियम है कि यदि अशन, पान, खादिम एवं स्वादिम छोटे-बड़े जीवों से युक्त हो, काई से व्याप्त हो तो, गेहूँ आदि के दानों के सहित हो, हरी वनस्पति आदि से मिश्रित हो, ठण्डे पानी से भिगोया हुआ हो, रजवाला हो तो उसे भिक्षु स्वीकार न करे। भोजन करने के स्थान के बारे में कहा गया है कि स्थान एकान्त हो, किसी वाटिका, उपाश्रय अथवा शून्यगृह में किसी के न देखते हुए वह भोजन करे। भिक्षा के लिये अन्य मत के साधु अथवा गृहस्थ के साथ किसी के घर में प्रवेश न करे अथवा घर से बाहर न निकले। जो भोजन अन्य श्रमणों अर्थात् बौद्धश्रमणों, तापसों, आजीविकों आदि के लिये अथवा अतिथियों, भिखारियों, वनीपकों के लिये बनाया गया हो उसे ग्रहण न करे। जिन कुलों में भिक्षु, भिक्षा के लिये जाते थे वे कुल हैं- उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, क्षत्रियकुल, इक्वाक्षुकुल, हरिवंशकुल, ऐसिअकुल, गोष्ठों का कुल, वेसिअकुल (वैश्यकुल), गंडाग कुल (गाँव में घोषणा करने वाले नापितों का कुल), कोट्टागकुल (बढ़ई कुल), बुक्कस अथवा बोक्कशालिय कुल (बुनकर कुल)। जो कुल अनिन्दित एवं अजुगुप्सित हैं, उन्हीं में भिक्षा के लिए जाना चाहिए। उत्सव के निमित्त से आये हुए व्यक्तियों के भोजन कर लेने पर ही भिक्षु आहार-प्राप्ति के लिए किसी के घर में जाया संखडि अर्थात् सामूहिक भोज में भिक्षा के लिए जाने का निषेध करते हुए कहा गया है कि इस प्रकार की भिक्षा अनेक

दोषों की जननी है। संखडि में भिक्षा के लिए जाने से भयंकर दोष लगते हैं! भिक्षा के लिये जाने वाले भिक्षु को कहा गया है कि वह अपने सब आवश्यक उपकरण साथ रखकर ही भिक्षा के लिये जाय। आचारांग में आगे बताया गया है कि भिक्षु को क्षत्रियों अर्थात् राजाओं के कुलों में, कुराजाओं के कुलों में, राजभृत्यों के कुलों में, राजवंश के कुलों में भिक्षा के लिये नहीं जाना चाहिये! भिक्षु के लिये सम्मिलित सामग्री ग्रहण का नियम औत्सर्गिक नहीं, अपितु आपवादिक है।

ग्राह्यजल- भिक्षु के लिए निम्न प्रकार का जल ग्राह्य है। **उत्स्वेदिम-**पिसी हुई वस्तु को भिगोकर रखा हुआ पानी, **संस्वेदिम-**तिल आदि बिना पिसी वस्तु को धोकर रखा हुआ पानी, **तण्डुलोदक-**चावल का धोवन, **तिलोदक-**तिल का धोवन, **तुषोदक-** तुष का धोवन, **यवोदक-**यव का धोवन, **आयाम-**चावलों का मांड, **आरनाल-**कांजी, **शुद्ध अचित्त-**निर्जीव पानी, **आम्रपानक-**आम का पानक, **द्राक्ष** का पानी, **बिल्व** का पानी, **अमचूर** का पानी, **अनार** का पानी, **खजूर** का पानी, **नारियल** का पानी, **केर** का पानी, **बेर** का पानी, **आंवले** का पानी, **इमली** का पानी इत्यादि।

अग्राह्य भोजन- भिक्षु पकाई हुई वस्तु ही भोजन के लिये ले सकता है, कच्ची नहीं।

शय्यवैषणा- आचारांग में कहा गया है कि जिस स्थान में गृहस्थ सकुटुम्ब रहते हों वहाँ भिक्षु नहीं रह सकता, क्योंकि ऐसे स्थान में रहने से अनेक दोष लगते हैं।

ईर्यापथ- स्थान, गमन, निषद्या और शयन इन चार का ईर्यापथ में समावेश होता है। अपने समस्त उपकरण साथ में लेकर सावधानी पूर्वक गमन करने, शरीर के अवयव न हिलाने, हाथ न उछालने और पैर न पछाड़ने का नाम ईर्यापथ है। वर्षा ऋतु में भिक्षु को प्रवास नहीं करना चाहिये। मार्ग में नदी आदि आने पर उसे नाव की सहायता के बिना पार न कर सकने की स्थिति में ही भिक्षु नाव का उपयोग करे, अन्यथा नहीं।

भाषा प्रयोग- आचारांग के चतुर्थ अध्ययन में भिक्षु को किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करना चाहिए, किसके साथ कैसी भाषा बोलनी चाहिए, भाषा प्रयोग में किन बातों का विशेष ध्यान देना चाहिए, इन सब बिन्दुओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

वस्त्र-धारण- जो भिक्षु तरुण हो, बलवान् हो, रुग्ण न हो उसे एक वस्त्र धारण करना चाहिये, दूसरा नहीं। भिक्षुणी को चार संघरियाँ धारण करनी चाहिये जिनमें एक दो हाथ चौड़ी हो, दो तीन हाथ चौड़ी हो और एक चार हाथ चौड़ी हो। ऊँट आदि की ऊन से बना हुआ, द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों की लार से बना हुआ, सन की छाल से बना हुआ, ताडपत्र के पत्तों से बना हुआ, कपास का बना हुआ तथा आक आदि की रूई से बना हुआ वस्त्र श्रमण काम में ले सकते हैं। जैन श्रमणों के लिये कम्बल आदि बहुमूल्य वस्त्र के उपयोग का स्पष्ट निषेध है।

पात्रैषणा- तरुण, बलवान एवं स्वस्थ भिक्षु को केवल एक पात्र रखना चाहिये। यह पात्र अलाबु, काष्ठ अथवा मिट्टी का हो सकता है। बौद्ध श्रमणों के लिए मिट्टी व लोहे के पात्र का उपयोग विहित है, काष्ठ

आदि के पात्र का नहीं।

अवग्रहैषणा- अवग्रह अर्थात् किसी के स्वामित्व का स्थान। निर्ग्रन्थ भिक्षु किसी स्थान में ठहरने के पूर्व उसके स्वामी की अनिवार्य रूप से अनुमति ले। ऐसा न करने पर उसे अदत्तादान-चोरी करने का दोष लगता है।

मलमूत्र-विसर्जन- भिक्षु को अपना टट्टी-पेशाब कहाँ व कैसे डालना चाहिए, इसका निरूपण करते हुए वर्णन आचारांग में कहा गया है कि जहाँ और जिस प्रकार इन्हें डालने से किसी भी प्राणी के जीवन की विराधना की आशंका न हो वहाँ व उस प्रकार से भिक्षु को मलमूत्रादिक डालना चाहिये।

शब्द-श्रवण व रूपदर्शन- किसी भी प्रकार के मधुर शब्द सुनने की भावना से अथवा कर्कश शब्द न सुनने की इच्छा से भिक्षु को गमनागमन नहीं करना चाहिए। फिर भी यदि सुनने ही पड़ें तो समभावपूर्वक सुनना व सहन करना चाहिए। यही बात मनोहर रूपादि के विषय में भी है।

परक्रिया निषेध- परक्रिया अर्थात् किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उसके शरीर पर की जाने वाली किसी भी प्रकार की क्रिया, यथा शृंगार, उपचार आदि स्वीकार करने का निषेध किया गया है। इसी प्रकार श्रमण-श्रमणी के बीच की परक्रिया भी निषिद्ध है।

ममत्व मुक्ति- ममत्वमूलक आरम्भ और परिग्रह के फल की मीमांसा करते हुए भिक्षु को उनसे दूर रहने को कहा गया है। उसे पर्वत की भांति निश्चल और दृढ़ रहकर सर्प की केंचुली की भांति ममत्व को उतारकर फेंक देना चाहिए।

वीतरागता एवं सर्वज्ञता- साधक-जीवन में प्रधानता एवं महत्ता केवलज्ञान-केवलदर्शन की नहीं है, अपितु वीतरागता, वीतमोहता, निराग्रवता, निष्कषायता की है। जिसमें वीतरागता है वह सर्वज्ञ है- उसका ज्ञान निर्दोष है। जिसमें सरागता है वह अल्पज्ञ है- उसका ज्ञान सदोष है।

श्रमण-श्रमणी चर्या के कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र-

1. श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त- ये सब शास्त्र-विहित आचरण करने वालों के नाम हैं।
2. परमपद की खोज में निरत साधु सिंह के समान पराक्रमी, हाथी के समान स्वाभिमानी, वृषभ के समान भद्र, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह, वायु के समान निस्संग, सूर्य के समान तेजस्वी, सागर के समान गंभीर, मेरु के समान निश्चल, चन्द्रमा के समान शीतल, मणि के समान कांतिमान, पृथ्वी के समान सहिष्णु, सर्प के समान अनियत-आश्रयी तथा आकाश के समान निरवलम्ब होते हैं। (साधु की ये चौदह उपमाएँ हैं।)
3. ऐसे भी बहुत से असाधु हैं जिन्हें संसार में साधु कहा जाता है, लेकिन असाधु को साधु नहीं कहना चाहिए, साधु को ही साधु कहना चाहिए।
4. ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न, संयम और तप में लीन तथा इसी प्रकार के गुणों से युक्त संयमी को ही

साधु कहना चाहिए।

5. केवल सिर मुंडाने से कोई श्रमण नहीं होता, ओम् का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, अरण्य में रहने से कोई मुनि नहीं होता, कुश-चीवर धारण करने से कोई तपस्वी नहीं होता। प्रत्युत वह समता से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है और तप से तपस्वी होता है।
6. कोई भी गुणों से साधु होता है और अगुणों से असाधु। अतः साधु के गुणों को ग्रहण करो और असाधुता का त्याग करो। आत्मा को आत्मा के द्वारा जानते हुए जो रागद्वेष में समभाव रखता है, वही पूज्य है।
7. देहादि में अनुरक्त, विषयासक्त, कषायसंयुक्त तथा आत्मस्वभाव में सुप्त साधु सम्यक्त्व से शून्य होते हैं।
8. गोचरी अर्थात् भिक्षा के लिए निकला हुआ साधु कानों से बहुत सी अच्छी-बुरी बातें सुनता है और आँखों से बहुत सी अच्छी बुरी वस्तुएँ देखता है, किन्तु सबकुछ देख-सुनकर भी वह किसी से कुछ कहता नहीं है। अर्थात् उदासीन रहता है।
9. स्वाध्याय और ध्यान में लीन साधु रात में बहुत नहीं सोते हैं। सूत्र और अर्थ का चिन्तन करते रहने के कारण वे निद्रा के वश नहीं होते।
10. साधु ममत्वरहित, निरहंकारी, निस्संग, गौरव का त्यागी होने के साथ त्रस और स्थावर जीवों के प्रति समदृष्टि रखता है।
11. वह लाभ और अलाभ में, सुख और दुःख में, जीवन और मरण में, निंदा और प्रशंसा में तथा मान और अपमान में समभाव रखता है।
12. वह गौरव, कषाय, दण्ड, शल्य, भय, हास्य और शोक से निवृत्त अनिदानी और बन्धन से रहित होता है।
13. वह इस लोक और परलोक में अनासक्त, वसूले से छीलने या चन्दन का लेप करने पर तथा आहार के मिलने या न मिलने पर भी सम रहता है, हर्ष-विषाद नहीं करता।
14. ऐसा श्रमण अप्रशस्त द्वारों (हेतुओं) से आने वाले आश्रवों का सर्वतोभावेन निरोधकर अध्यात्म-सम्बन्धी ध्यान-योगों से प्रशस्त संयम-शासन में लीन हो जाता है।
15. भूख, प्यास, दुःशय्या (ऊँची-नीची पथरीली भूमि) ठंड, गर्मी, अरति, भय आदि को बिना दुःखी हुए सहन करना चाहिए। क्योंकि दैहिक दुःखों को समभावपूर्वक सहन करना महाफलदायी होता है।
16. समता रहित श्रमण का वनवास, कायक्लेश, विचित्र उपवास, अध्ययन और मौन व्यर्थ है।
17. प्रबुद्ध और उपशान्त होकर संयतभाव से ग्राम और नगर में विचरण करना चाहिए। शान्ति का मार्ग बड़ा है। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद मत कर।

-62, ओ.टी.सी. स्कीम, चरक छात्रावास के पीछे, उदयपुर (राज.)

श्रमणवर्ग में अनुशासनहीनता पर नियन्त्रण

श्रमणसंघीय महामंत्री श्री सौभाग्यमुनि जी 'कुमुद'

श्रमण-श्रमणी वर्ग में भी कई बार अनुशासनहीनता दृग्गोचर होती है। उनको अनुशासन में रखने हेतु 'आवस्सहि' आदि दशविध समाचारी का विधान है। ये अनुशासन के मौलिक सूत्र हैं। साधु-साध्वी के धर्मानुशासन एवं जिनाज्ञा में न रहने के अनेक कारण हो सकते हैं, उनमें अयोग्यदीक्षा, ज्ञानाभाव आदि चार का उल्लेख विद्वान् सन्त ने किया है तथा अनुशासन में रहने के प्रशिक्षण की आवश्यकता बतायी है। -सम्पादक

अनुशासन के मौलिक सूत्र

श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने चार तीर्थ की स्थापना की, उसमें सर्वप्रथम तीर्थ स्वरूप श्रमण वर्ग को लिया, तदनन्तर श्रमणी और श्रावक-श्राविका रूप तीर्थों की रचना की।

श्रमण-श्रमणी धर्मशासन और गुरु के अनुशासन में रहे, इसके लिए अनेक आवश्यक निर्देश किये गये जो शास्त्रों में संकलित हैं। जो साधक आत्म-कल्याण की सर्वोत्कृष्ट साधना में संलग्न होना चाहता है उसे ही श्रमणधर्म में आना चाहिए। परमार्थ साधना ही श्रमण का लक्ष्य होता है। परमार्थ आराधना के दुरूह मार्ग पर अग्रसर होते समय साधक के सामने गुरु का आदर्श उपस्थित रहता है। गुरु के दिशा-निर्देशन में ही श्रमण की पारमार्थिक आराधना सम्पन्न होती है। गुरु के दिशा-निर्देशन की सार्थकता शिष्य द्वारा आचरित अनुशासन में ही निहित है। गुरु का अनुशासन यथार्थ में तो पारमार्थिक आत्म-साधना के लिए ही होता है, किन्तु व्यवहार जिसमें जीवन की अधिकांश गतिविधियाँ संचालित होती हैं उसमें भी गुरु का अनुशासन नितान्त आवश्यक होता है, क्योंकि निश्चय के निर्माण में व्यवहार भी सहायक सिद्ध होता है यह अनुभव-सिद्ध यथार्थ है।

'आणाए धम्मो' गुरु और तीर्थकर परमात्मा की आज्ञा के अनुसरण में ही धर्म का तत्त्व निहित है यह अनुशासनसूत्र जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए उपयोगी है।

'गच्छतः स्वलनम्' चलता हुआ कभी ठोकर भी खा जाता है, कभी मार्गच्युत भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में गुरु के आवश्यक निर्देश ही साधक के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं। अपनी त्रुटियों को समझकर गुरु-आज्ञा के अनुसार शिष्य अपना शुद्धीकरण करता है और पुनः सन्मार्ग पर समारूढ़ हो जाता है।

दशविध समाचारी

'आणाए धम्मो' यह एक समुच्चय सूत्र है। यद्यपि साधक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यह सूत्र उपयोगी सिद्ध होता है फिर भी श्रमण-जीवन के कुछ ऐसे अंग हैं जिनके विषय में शास्त्रों में कुछ अलग तरह के निर्देश भी उपलब्ध हैं, उनमें दश समाचारी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिष्य-शिष्याओं द्वारा जहाँ-जहाँ अनुशासन में क्षीणता

का सर्वाधिक अंदेशा है उन स्थानों पर अनुशासन के लिए ये विशेष सूचना और व्यवस्थाएँ दी गई हैं।

साधु-साध्वी जी जहाँ अपने गुरु-गुरुणी के साथ रहते हैं उस उपाश्रय अथवा स्थानक से कहीं बाहर जाना और आना कई बार मनमाना हो जाता है। जब मन हुआ स्थानक से कहीं निकल गये, जब मन हुआ आ गये। अनेक बार यह स्वतन्त्रता, स्वच्छंदता पनप जाती है। गुरु समझते हैं शिष्य अपने स्थानक पर ही होगा और जब देखते हैं तो शिष्य का कोई अता-पता ही नहीं मिलता तो यह साधक जीवन में अव्यावहारिक और विडम्बना जैसा हो जाता है। इस विडम्बना को समाप्त करने के लिए 'आवस्सहि' और 'निस्सहि' रूप समाचारी के निर्देश हैं। इसका अर्थ है स्थानक से बाहर जाने के पहले गुरु से आज्ञा लें और आकर भी गुरु को अवगत कराएँ कि मैं आ गया हूँ।

शिष्य-शिष्याएँ अनेक बार गुरु-गुरुणी को पूछे बिना ही कोई निर्णय ले लेते हैं, इसमें गुरु की अवहेलना तो स्पष्ट ही है, गुत्थी कभी-कभी ऐसी उलझ जाती है कि शिष्य का निर्णय और गुरु का निर्णय मेल नहीं खाता है तो परस्पर वैमनस्य की स्थिति भी बन सकती है, ऐसी विसंगति गुरु-शिष्य के मध्य उपस्थित न हो, इसके लिए 'आपुच्छणा, पडिपुच्छणा' का विधान दिया है। प्रत्येक निर्णय गुरु को पूछकर करना उसमें भी कोई अवान्तर स्पष्टता करना हो तो गुरु को पुनः-पुनः पूछ लेना भी आवश्यक है।

अनेक बार गुरु स्पष्ट रूप से कोई बात कहे यह सम्भव नहीं होता। सुयोग्य शिष्य गुरु की भावनाओं को समझकर तदनु रूप व्यवहार करता है, अपनी स्वच्छन्दता को एक तरफ रखकर गुरु की भावानुसार वरतना यह 'छन्दणा' नामक समाचारी है। यह एक मनोवैज्ञानिक समाचारी है। सुयोग्य चतुर शिष्य ही इस समाचारी की विधिवत् आराधना कर सकता है। इसी तरह एक समाचारी है 'इच्छाकार'। गुरु से निवेदन कर पूछा जाये कि आपकी इच्छा क्या है। मेरी इच्छा का कोई महत्त्व नहीं, आपकी इच्छा ही सर्वोपरि है।

एक समाचारी है 'मिच्छाकार', यह विनम्रता और आत्म-शुद्धि की समाचारी है। अपने आहार-विहार आदि व्यवहारों में जहाँ कहीं भी खलना हो जाये, गुरु के समक्ष उन्हें उपस्थित कर उनका परिमार्जन करना। श्रमणधर्म के अनुपालन में यह समाचारी श्रमणधर्म की शुद्धि की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है।

गुरु की आज्ञा और शास्त्राज्ञा जो भी है उन्हें उसी रूप में आत्मसात् करते हुए श्रमणधर्म की आराधना में मग्न रहना यह 'तहकार' नामक समाचारी है।

श्रमण-श्रमणी ही नहीं समस्त चतुर्विध संघ में विनय का सर्वाधिक महत्त्व है। विनय को शास्त्रों में धर्म का मूल कहा है। विनय की उपस्थिति में ही सारे विधान और सारी साधनाएँ फलित होती हैं अतः नवी समाचारी विनय का स्वरूप 'अब्भुट्ठाण' है। गुरु या रत्नाधिक के प्रति विनयवान होकर रहना। वे अर्थात् गुरु-गुरुणी या रत्नाधिक शिष्य-शिष्याओं के निकट आये तो न केवल आसन से उठ खड़े हों और उनका सम्मान करें, अपितु सात-आठ कदम सामने जाकर उनका स्वागत करें और वे अपने पास से जायें तो उन्हें सात-आठ कदम पहुँचाने भी जायें। वे जब तक सामने रहें शिष्य नतमस्तक रहे। दसवीं समाचारी 'उवसंपया' है, यह समाचारी अनेक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस समाचारी के अनुसार शिष्य-शिष्या गुरु-गुरुणी के द्रव्यतः और भावतः उनके निकट, उनकी छत्रछाया में निवास करें। जैसे- सिंह के निकट बैठा हुआ सिंह का छोटा बच्चा जो अनेक दृष्टि से असमर्थ-सा होता है फिर भी उसे न कोई पकड़ सकता है और न उसे कोई कष्ट दे सकता है। गुरु की छत्रछाया में रहने वाला शिष्य भी इसी तरह

गुरु से संरक्षित होता है। उसे सांसारिकता के व्याल पथच्युत नहीं कर सकते, क्योंकि गुरु का सान्निध्य जो उसे प्राप्त है।

अनुशासन के हास का प्रश्न

उक्त समाचारी का विधिवत् पालन ही श्रमणधर्म का अनुशासन है। जहाँ कहीं भी उक्त समाचारी की उपेक्षा होती है, वहीं अनुशासन भंग होता है। साधु समाज में संघ, गच्छ, गण, समुदाय आदि सारी सामूहिकताएँ समाचारी के अनुपालन पर ही आधारित हैं, जहाँ इसका क्षय होगा वहीं संघ, गच्छ या गण के अनुशासन में भी क्षीणता आ जायेगी।

आज संघ या समाज में अनुशासन हास का प्रश्न सामने खड़ा है। स्वलनाओं के छिद्र बढ़ते जा रहे हैं। व्यवस्थाएँ कठिनाई से बन पाती हैं। बनकर भी टिक पाना कठिन हो रहा है, समाचारी अनुशासन का भंग हो रहा है तो इसके कुछ ऐसे कारण हैं जिन पर संक्षिप्त में विचार कर लेना आवश्यक है।

(1) अयोग्य दीक्षा

श्रमणधर्म की आराधना मुक्तिमार्ग की आराधना की सर्वोत्कृष्ट साधना है। जो भी मुमुक्षु इस महामार्ग की साधना के लिए सम्प्रेरित हो उसका वैराग्य अन्तःस्फुरित, सुस्पष्ट और सम्पुष्ट होना चाहिए। श्रमणचर्या का कम से कम सामान्य बोध उसे वैराग्यावस्था में भी हो जाना चाहिए। साधुधर्म के विनय और अनुशासन का पाठ वह दीक्षित होने के पहले अच्छी तरह पढ़ ले। साधुधर्म के प्रति उसका उत्साह अगाध और निश्चल हो, ये सब विशिष्टताएँ हों तो ही उसे साधु-पर्याय के योग्य समझा जाये। ऐसा नहीं होकर बिना किसी पात्रता के या अपरिपूर्ण पात्रता के दीक्षित कर दिया जाये तो अनुशासनबद्धता की आशा करना दुराशा मात्र है। अतः समस्त गुरुजन जो दीक्षाएँ प्रदान करते हैं, मुमुक्षु की योग्यता का अंकन अवश्य करें। सुपात्र शिष्य ही गुरु और जिनशासन के अनुशासन का पालन कर सकेगा।

(2) ज्ञानाभाव

शास्त्रों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि जो भी जहाँ कहीं दीक्षित हुए, दीक्षा लेकर उन्होंने सर्वप्रथम द्वादशांगी का अध्ययन किया। यह परिपाटी आज विलुप्त-सी हो गई है। शास्त्रों का अध्ययन नहीं होने से नवदीक्षित साधु संयमधर्म की परमार्थता और उसके सूक्ष्म परिणामन को विधिवत् समझ नहीं पाता, शास्त्रीय रीति-नीति का ज्ञान भी उसे जो व्यवहार में दिखाई देता है उतना ही हो पाता है उससे आगे गम्भीर तत्त्व-ज्ञान का उसमें अभाव रहता है। इससे उसमें स्वलनाओं को समझना, उससे बचना इसका जो विशेष बोध होता है वह नहीं हो पाता, अतः दीक्षा देने के बाद नव-दीक्षितों को शास्त्रों के अध्ययन की तरफ प्रवृत्त करना चाहिए।

इसका अर्थ यह नहीं कि श्रमण शास्त्रों से भिन्न कोई अध्ययन न करे। शासन-प्रभावना के लिए उसके पास बहुआयामी अध्ययन होना चाहिए, किन्तु वह अध्ययन शास्त्रज्ञान के उपरान्त हो। केवल अन्य व्यावहारिक अध्ययन हो जाये और शास्त्रज्ञान नहीं होगा तो श्रमणधर्म में अनुशासन और उस धर्म की आराधना दोनों की क्षति हो सकती है।

(3) कर्म विपाकोदय

कभी-कभी सुपात्र और सुयोग्य दीक्षित श्रमण भी चारित्र और अनुशासन में स्वलना करता हुआ दिखाई देता है तो इसमें उसका पूर्व कर्म का विपाकोदय भी सम्भव है। यद्यपि यह एक परोक्ष प्रकृति है, किन्तु कर्मवाद में विश्वास रखने वाले प्रत्येक आस्तिक को कर्म शक्ति के प्रभाव में निःशंक प्रतीति होती है। ऐसी स्थिति में गुरु अपने सम्यक् मार्गदर्शन से शिष्य को सन्मार्ग में स्थापित करने का प्रयत्न करे, साथ ही उसे कुछ ऐसा अनुष्ठान दे जिसकी आराधना से उसका विपाकोदय निर्जरा के रूप में निर्जरित हो जाये और पतन मार्ग पर बढ़ता शिष्य पुनः सन्मार्ग का आराधक बन जाये।

(4) रत्नाधिकों का प्रमाद

साधु-साध्वी जी जहाँ भी रहते हैं वहाँ जो भी रत्नाधिक गुरु, आचार्य, पदवीधर या बड़े होते हैं, उनकी प्रवृत्तियाँ शिष्य-शिष्याओं को अवश्य प्रभावित करती हैं। यदि आचार्य, गुरु या रत्नाधिक संत-सती जी का व्यवहार शास्त्राज्ञा-विरुद्ध, मान्य परम्परा और लोक-व्यवहार विरुद्ध होता है या विधि-व्यवहार संशयपूर्ण होते हैं तो शिष्य-शिष्याओं में भी अनुशासनहीनता और मनमनापन पनपता है। ऐसे आचार्य या गुरु अपने शिष्यों को अनुशासन में नहीं रख पाते। उनमें ऐसी प्रखरता ही नहीं होती कि शिष्य को स्पष्ट रूप से कुछ समझा सकें। ऐसे आचार्य और गुरु स्वयं ही हीनभावना से ग्रस्त रहते हैं। वे अपने शिष्यों पर प्रभविष्णुता का प्रयोग नहीं कर सकते। शिष्य वर्ग में अनुशासनबद्धता के लिए आचार्य और गुरु का व्यवहार निःशंक, प्रखर और स्पष्ट शास्त्रानुसार और पारम्परिक होना चाहिए। संघ, गण और गच्छ में सम्यक् व्यवस्था वे ही आचार्य और गुरु स्थापित कर सकते हैं जो स्वयं सुदृढ़ व्यवस्थावादी हैं।

यह सत्य है कि पारम्परिक व्यवहार या शास्त्र निर्देशों में भी कभी-कभी देश, काल, परिस्थितिवश परिवर्तन आवश्यक हो जाता है, किन्तु ऐसा परिवर्तन आचार्य स्वयं या गुरु स्वयं ही न कर बैठे। ऐसे परिवर्तन के लिए शिष्य-समुदाय प्रमुख साधु यहाँ तक कि प्रमुख श्रावक-श्राविकाओं के साथ भी खुली चर्चा होनी चाहिए। सर्व सम्मति से किया गया परिवर्तन न अनुशासनहीनता होगा और न शास्त्रों द्वारा विरुद्ध। शिष्यों पर उसका कुप्रभाव भी नहीं होगा।

अनुशासन प्रशिक्षण

अभिनव साधु-साध्वी जी को समय-समय पर अनुशासन प्रशिक्षण भी मिलना चाहिए। अनुशासन की उपयोगिता, उसके फलितार्थ भी मिलना चाहिए। अनुशासन की उपयोगिता, उसके फलितार्थ अनुशासन में विकास, अनुशासन में सर्वांगीण सफलताएँ आदि का ज्ञान दीक्षितों को समय-समय पर मिलते रहने पर उनमें अनुशासन की भावना प्रगाढ़ बनती है और वे स्वयं अनुशासन के महत्त्व को आत्मसात् करते हैं।

आचार्य और रत्नाधिक स्वयं अनुशासन का आदर्श उपस्थित करते रहें, इसमें भी संघ के सभी तीर्थों में अनुशासनबद्धता की भावनाएँ जगती हैं और संघ, समाज और गण की सुव्यवस्था बनी रहती है।

- 'उत्तम-पुरुष' ग्रन्थ से साभार

श्रमण-सूचक पारिभाषिक शब्द : दशवैकालिक निर्युक्ति के आलोक में

श्रीमती (डॉ.) हेमलता जैन (ललवाणी)

'श्रमण' शब्द की विविध व्याख्याएँ हैं। लेखिका ने दशवैकालिक निर्युक्ति के आलोक में श्रम, सम, शम, सुमन के आधार पर श्रमण की व्याख्या करने के साथ श्रमण की क्रियाओं एवं उपमाओं से भी श्रमण के वैशिष्ट्य को रेखांकित किया है। -सम्पादक

जैन आगमों के व्याख्या ग्रन्थों में निर्युक्ति प्राकृत पद्यबद्ध रचना है। निर्युक्ति साहित्य में आगम के कुछ विशेष पारिभाषिक शब्दों को व्याख्यायित किया गया है। प्राचीनता की दृष्टि से व्याख्या-ग्रन्थों में निर्युक्ति का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसमें धर्म, दर्शन, व्याकरण, समाज, इतिहास आदि से जुड़े विषयों का सुन्दर निदर्शन है।

निर्युक्ति क्या है, इसका स्वरूप कैसा होता है, इस सम्बन्ध में कुछ विशेष बिन्दु निम्नांकित हैं-

1. आचार्य शीलांक के अनुसार निर्युक्ति सम्यक् अर्थ का निर्णय कर सूत्र में ही परस्पर संबद्ध अर्थ को प्रकट करती है।¹
2. आचार्य हरिभद्र के अनुसार क्रिया, कारक, भेद और पर्यायवाची शब्दों द्वारा शब्द की व्याख्या करना या अर्थ प्रकट करना निर्युक्ति है।²
3. प्रत्येक शब्द विविध अर्थधायक होता है। कौनसा अर्थ किस प्रसंग में घटित होता है, इसे निर्युक्ति में निक्षेप पद्धति से व्याख्यायित किया गया है। यह निर्युक्ति की भाषागत विशेषता है।
4. निर्युक्ति शब्द की क्रमिक व्याख्या करती है। सर्वप्रथम निक्षेप-निर्युक्ति अर्थ का मात्र कथन करती है। तत्पश्चात् उपोद्घात-निर्युक्ति में 26 प्रकार से उस विषय या शब्द की मीमांसा होती है। फिर सूत्र-स्पर्शिकानिर्युक्ति सूत्र के शब्द की व्याख्या प्रस्तुत करती है।

आवश्यकनिर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु द्वारा दस निर्युक्तियों के लिपिबद्ध होने का उल्लेख मिलता है। निर्युक्ति के रचनाकार और संख्या के सम्बन्ध में विद्वान एक मत नहीं हैं। दशवैकालिक-निर्युक्ति का उन दस निर्युक्तियों के रचना-क्रम में द्वितीय स्थान है। हस्तलिखित प्रति, चूर्ण साहित्य और टीका साहित्य इन तीन स्रोतों से दशवैकालिक निर्युक्ति उपलब्ध होती है। यह निर्युक्ति अध्ययन, श्रमण, काम, भिक्षु आदि कुछ विशेष शब्दों की मौलिक निरुक्ति करती है।

इस निर्युक्ति में नाम-निक्षेप से 'श्रमण' शब्द की व्याख्या कर श्रमण के भावों की स्थितियों के आधार पर और क्रियाओं के आधार पर अनेक उपमाओं से उपमित कर उसका विशद वर्णन किया गया है। प्रस्तुत लेख में श्रमण की उन भाव-स्थितियों और क्रियाओं से उपमित उपमाओं का संकलन कर संयोजन किया गया है, जो निम्न प्रकार है-

1. श्रम के आधार पर-

निर्युक्तिकार कहते हैं-

साम्मण पुठ्वगस्स उ निक्खेवो होइ नाम निप्फन्नो ।'

इस पर हरिभद्रसूरि ने टीका करते हुए स्पष्ट किया है कि श्रमण का तात्पर्य है श्रम सहन करने वाला। श्रम सहन करने का भाव श्रामण्य है। धैर्य रखना साधुत्व का मूल कारण है जिससे वह 'श्रमण' कहलाता है।

2. समानता के आधार पर-

निर्युक्तिकार कहते हैं-

जह मम न पियं दुक्खं, जाणि य एमेव सत्त्व जीवाणं ।

न हणइ न हणावेइय, सम मणइं तेण सो सम्मणो ॥'

जिस प्रकार मुझे दुःख प्रिय नहीं है उसी प्रकार सभी जीवों को वह प्रतिकूल लगता है, यह जानकर किसी भी जीव को मारता न हो, अन्य से मरवाता न हो और मारने वाले का अनुमोदन भी न करता हो, ऐसा सभी के प्रति समानता रखने वाला 'श्रमण' है।

3. राग-द्वेष का अकर्ता-

निर्युक्तिकार कहते हैं-

नत्थिय सि कोइ वेसो, पिओ व सत्त्वेसु चेव जीवेसु ।

एएण होइ सम्मणो, एसो अन्नोऽवि पज्जाओ ॥'

जो किसी भी वेश वाले से तुल्य भाव रखता है अर्थात् सभी के साथ समान भाव करता है, किसी पर राग और किसी से भी द्वेष नहीं करता है वह सरलमना 'श्रमण' का ही दूसरा पर्याय है।

4. सुमन वाला -

निर्युक्तिकार कहते हैं-

तो सम्मणो जइ सुमणो, भविणय जह न होइ पावमणो ।

सयणे य जणेय सम्मो, सम्मोय माणावमाणेसु ॥'

वह भी श्रमण है जो सुमन है अर्थात् जिसका द्रव्यमन और भावमन दोनों सरल हो, उसके मन में किसी प्रकार का पाप न हो, जो स्वजन एवं अन्यजन सभी जीवों से प्रेम करे और मान-अपमान में

अहंकार एवं दीनता का भाव न रखकर सम भाव से रहे।

5. क्रियाओं के आधार पर- श्रमण द्वारा की गई क्रियाओं के आधार पर नियुक्तिकार कहते हैं-

पव्वइए अणगारे, पासंडे चरग तावसे भिवखू।
परिवाइ ए य सम्मणे, निग्गंथे संजए मुत्ते।
तिन्ने ताई दविए, मुणीय खंते य दन्त विरए य।
लूहे तीरट्ठेऽविय हवंति सम्मणस्स नामाईं॥'

अर्थात् वही श्रमण निम्नांकित नामों से भी अभिहित होता है-

1. तापस- तप करने पर तापस कहलाता है।
 2. भिक्षु- भिक्षा का आचरण करने पर अथवा आठ कर्म का भेदन करने के लिए उद्यत भिक्षु संज्ञा से अभिहित होता है।
 3. परिव्राजक- चारों ओर से पाप की वर्जना करने पर परिव्राजक कहा जाता है।
 4. श्रमण- श्रम सहन करने पर वह श्रमण है।
 5. निर्ग्रन्थ- बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह ग्रन्थि से निर्गत होने पर निर्ग्रन्थ कहलाता है।
 6. संयत- अहिंसादि में यतना पूर्वक उद्यम करने पर उसे संयत कहते हैं।
 7. मुक्त- बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थि से मुक्त होने पर मुक्त संज्ञा वाला होता है।
 8. तीर्ण- संसार समुद्र पार करने वाला है इसलिए वह तीर्ण है।
 9. त्राता- धर्मकथा आदि सुनाकर जन सामान्य को दुःखों से बचाता है, अतः त्राता है।
 10. द्रव्य-राग-द्वेष आदि भावों से रहित होने के कारण अथवा ज्ञानादि को प्राप्त करने के कारण द्रव्य है।
 11. क्षान्त- क्रोध को जीत कर क्षमा भाव रखने पर वह शान्त होता है।
 12. दान्त- विषयों में अपनी इन्द्रियों का दमन करने पर दान्त कहलाता है।
 13. विरत- प्राणातिपात आदि पापों से निवृत्त रहने पर विरत कहा जाता है।
 14. रुक्ष- सगे-सम्बन्धियों और मित्रों के स्नेह का त्याग करने के कारण वह रुक्ष है।
 15. तीरार्थी- संसार सागर को पार करने की इच्छा वाला अथवा सम्यक्त्व आदि उत्तम गुणों को प्राप्त करने के लिए संसार का परिमाण (हद) बांधने वाला वह तीरार्थी है।
6. उपमाओं के आधार पर- सांप, गिरि, सागर, तरुण आदि अनेक उपमाओं से श्रमण की तुलना करते हुए नियुक्तिकार कहते हैं-

उरग गिरि जलण सागर, नहयल तरुण समय जो होई।

भमर-मिग-धरणि-जलरुह-रवि-पवणसमो जओ सम्मणो॥

विशलिणि सवाय वंजुल कणिया रुप्पल समेण समणेणं।

अमरुं दुरु नड कुक्कुड अदाग समेण होयत्वं।।¹

1. सांप की उपमा- सांप जिस तरह चूहे आदि के द्वारा खोदे गए बिलों में रहता है एवं एक दृष्टि रखकर चलता है उसी प्रकार साधु दूसरों के द्वारा बनाए गए घर में रहता है और राग-द्वेष से कर्म बंधन होता है इसका ध्यान रखकर सम्यक् दृष्टि से चलता है। अतः श्रमण को उरग (सांप) की उपमा दी गई है।
2. गिरि- परीषह आदि की पवन को सहन करने में श्रमण गिरि के समान निष्कम्प होता है।
3. अग्नि- अग्नि में जैसे सूखी घास कितनी भी डाली जाए तब भी उसकी तृष्णा समाप्त नहीं होती है वैसे ही श्रमण सूत्रज्ञान और अर्थ ज्ञान का सदा पिपासु होता है। अग्नि को कुछ भी दिया जाए अर्थात् उसमें डाला जाए तो वह सभी को ग्रहण कर लेती है उसी तरह साधु को अशानादि में स्वादिष्ट अस्वादिष्ट जो भी मिलता है वह बिना राग-द्वेष उसे ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार अग्नि की उपमा श्रमण में घटित होती है।
4. सागर- श्रमण ज्ञानादि रत्नों से सागर के तुल्य गम्भीर होता है और उसी की तरह अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता है।
5. आकाश- आकाश को जिस प्रकार किसी अवलम्बन की आवश्यकता नहीं होती है उसी तरह श्रमण निरालम्बी है।
6. वृक्ष- वृक्ष चाहे बांस का हो अथवा चन्दन का सभी वृक्ष पक्षियों के आश्रय स्थल होते हैं और सभी में फूल होते हैं ठीक वैसे ही श्रमण मोक्षार्थी होता है और प्राणिमात्र का आश्रय रूप एवं शत्रु-मित्र में समान भाव वाला होता है। अतः श्रमण वृक्ष समान है।
7. भ्रमर- एक जगह से ही रस पान न करने वाले भ्रमर की वृत्ति के तुल्य श्रमण भी एक ही स्थान से भिक्षा ग्रहण नहीं करता है। इसलिए उसे भ्रमर की उपमा से उपमित किया गया है।
8. मृग- मृग संसार में सदा शत्रु से डरता है उसी तरह श्रमण संसार के प्रपञ्चों से डरता हुआ रहता है, अतः मृग की उपमा घटित होती है।
9. पृथिवी- सभी के भार को वहन करने वाली इस धरती (पृथिवी) के समान श्रमण भी परीषहों को सहन करता है। अतः उसे पृथिवी की उपमा दी गई है।
10. कमल- जिस प्रकार कमल कीचड़ और पानी से ऊँचा उठा होता है और उनसे संश्लिष्ट भी नहीं रहता है उसी प्रकार श्रमण काम-भोग के उत्पन्न होने पर उनसे दूरी बनाए रखता है।
11. सूर्य- धर्मास्तिकाय आदि लोक का स्वरूप श्रमण अपने ज्ञान प्रकाश से बताता है, अतः प्रकाशमान होने से इसमें सूर्य की उपमा घटित होती है।

12. पवन- पवन जैसे अप्रतिबद्ध होकर विचरण करती है वैसे ही श्रमण राग-द्वेष से बद्ध न होकर विचरता है।
13. विष- विष में सभी रसों का अन्तर्भाव होता है। उसके रस का कोई अनुभव नहीं करना चाहता है। इसी प्रकार कर्म श्रमण को बांधते नहीं है। अतः श्रमण विष तुल्य है।
14. तृण- तृण की तरह श्रमण मान का त्याग कर नम्रवान होता है।
15. कर्णिका पुष्प- कर्णिका (कनेर) शुचि-अशुचि गंध निरपेक्ष होता है। ठीक उसी प्रकार श्रमण सुगन्धी (चन्दनादि लेप) से रहित होता है।
16. उत्पल- उत्पल (कमल) के समान श्रमण सम्यक् चारित्र्य से धवल और सुगन्धित होता है।
17. चूहा- जिस तरह चूहा बिल्ली के डर से मर्यादित होकर चलता है उसी तरह श्रमण देश-काल की मर्यादा से चलता है।
18. नट- नट जैसे स्त्री के फंदे में नहीं फंसता है और एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करता है वैसे ही श्रमण स्त्रियों के बंधन में नहीं पड़ते हैं और योग्य समय तथा देश में गमन करते हैं।
19. कुक्कुट- मुर्गे को खाने की वस्तु बिखेर कर दी जाने पर वह खाता है। श्रमण को भी उनके बड़े साधु भोजन को विभाजित कर देते हैं।

इस प्रकार दशवैकालिक निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने चेतन-अचेतन द्रव्यों का ग्रहण कर श्रमण शब्द को सरल और सहज शब्दों से स्पष्ट किया है।

सन्दर्भ:-

1. सूत्रकृतांग टीका पृ. 2, आवश्यक टीका पृ. 28, द्रष्टव्य:- तुलसी प्रज्ञा, अप्रेल-सितम्बर 1994 में प्रकाशित समणी कुसुमप्रज्ञा का लेख-निर्युक्ति और उसके रचनाकार: एक विमर्श।
2. आवश्यक हरिभद्रीय टीका, पृ. 363, द्रष्टव्य:- तुलसी प्रज्ञा, अप्रेल-सितम्बर 1994 में प्रकाशित समणी कुसुमप्रज्ञा का लेख-निर्युक्ति और उसके रचनाकार: एक विमर्श।
3. दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा सं. 152
4. दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा सं. 154
5. दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा सं. 155
6. दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा सं. 156
7. दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा सं. 158 एवं 159
8. दशवैकालिक भाग 2, मूलनिर्युक्ति भाष्य सहित लेखक- मुनि माणक, गौरधरलाल डुंगर सेठ, श्री मोहनलाल जैन श्वेताबर ज्ञान भंडार, गोपीपुरा-सूरत, गाथा 157 के पश्चात् पृष्ठ सं. 6

-तलवाणी भवज, नवचौकिया, जोधपुर (राज.)



श्रमण-जीवन में पंचाचार

श्री जशकरण डाजा

श्रमण-जीवन के पाँच मुख्य आचार हैं- ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्यचार। आचार्य संघ के प्रमुख होते हैं, अतः वे इन पंचाचारों का पालन करते और करवाते हैं। लेखक ने पंचाचार का भेद-प्रभेद सहित वर्णन कर इनका आचार्य हस्ती में प्रयोगात्मक स्वरूप दिखलाया है। -सम्पादक

अखिल विश्व को शाश्वत सुख-शान्ति का संदेश देने वाली श्रमण संस्कृति का आधार पंच परमेष्ठी हैं। इसमें पाँच पद हैं। प्रथम के दो पद अरिहन्त एवं सिद्ध 'देव-पद' और शेष तीन-आचार्य, उपाध्याय तथा साधु 'गुरु-पद' हैं। वैसे 'गुरु' गरिमा की अपेक्षा विचारों तो अरिहन्त-सिद्ध को 'परम गुरु' कहा है और इस प्रकार 'गुरु'में पांचों पद समाहित हो जाते हैं। श्रमण-जीवन से संबंधित आचार्य, उपाध्याय एवं साधु साधक हैं। इनमें आचार्य का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये चतुर्विध संघ को नेतृत्व प्रदान करते हैं।

आचार्य का स्वरूप:-

आवश्यक-निर्युक्ति में कहा है-

“पंचविह आचार, आयरमाणरुस तहा पभासता।
आचारं वंसंत, आयरिया तेण वुच्चंति॥”

-आवश्यकनिर्युक्ति, 994

अर्थात् जो ज्ञानाचार आदि पंचाचार रूप पाँच आचारों का स्वयं पालन करते हैं और अन्यो को पालन करवाते हैं, वे आचार्य कहे जाते हैं। आचार-विशुद्धि आचार्य का मौलिक गुण है। अतः जो स्वयं विशुद्ध चारित्रनिष्ठ हैं एवं अपने संघ को विशुद्ध आचार धर्म में स्थिर रखते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं। आगमानुसार आचार्य छत्तीस गुणों से सम्पन्न होते हैं। कहा है-

“पंचिद्विय संवरणो, तह नवविहबंभयेरं गुत्तिधरो।
चउविह कसाय-मुक्खो, इह अट्ठारस गुणेहि संजुत्तो।।
पंच महत्त्वयजुत्तो, पंचविहायार पालण-समत्थो।
पंच समिओ तिगुत्तो, इह छत्तीसगुणेहि गुरु मज्झं॥

अर्थात् जो पांच इन्द्रियों से संवरित हैं, नौ प्रकार से ब्रह्मचर्य गुणियों (बाड़ों) के धारक हैं, चार कषाय से विरत हैं, पांच महाव्रतों से युक्त हैं, पांच प्रकार के आचार पालने में समर्थ हैं तथा पांच

समितियों एवं तीन गुप्तियों से संयुक्त हैं, ऐसे इन छत्तीस गुणों से सुशोभित आचार्य होते हैं। (प्रवचन सारोद्धार, द्वार 64)।

उपर्युक्त छत्तीस गुणों में भी पंचाचार पालन का विशेष महत्त्व है। जिनशासन की प्रभावना की दृष्टि से ये बड़े उपयोगी हैं। अतः सभी मोक्षमार्ग के अनुयायियों के लिए ये विशेष रूप से जानने एवं समझने योग्य होने से, इनका उल्लेख यहाँ संक्षेप में किया जाता है-

पंचाचार का स्वरूप-

1. मोक्ष के लिए किया जाने वाला ज्ञानादि आसेवन रूप अनुष्ठान विशेष आचार कहा जाता है।
2. आध्यात्मिक गुणवृद्धि के लिए किया जाने वाला आचरण आचार कहलाता है।
3. पूर्व महापुरुषों से आचरित ज्ञानादि आसेवन विधि को आचार कहते हैं।

ये आचार पाँच कहे हैं जो संक्षेप में निम्न प्रकार हैं-

1. ज्ञानाचार-

सम्यक् तत्त्व का ज्ञान कराने के कारणभूत श्रुतज्ञान का आठ दोषों से रहित पठन करना ज्ञानाचार है। ज्ञान के आठ आचार हैं-

“काले, विणये, बहुमाणे, उवहाणे तह यऽणिपहवणे ।
वंजण-अत्थ तदुभये, अट्ठविहो णाणमायासे ॥”

- (1) काल- दिन के और रात्रि के प्रथम और अंतिम चार प्रहर में, कालिक और अन्यकाल में उत्कालिक सूत्र, चौंतीस असज्जाय (अस्वाध्याय) के दोषों का निवारण करके यथोक्त काल में शास्त्र पठन करना।
- (2) विनय- ज्ञानी की आज्ञानुसार विनयपूर्वक ज्ञान ग्रहण करना। उन्हें आहार, वस्त्र, पात्र, स्थान आदि के द्वारा यथोचित साता पहुँचाना और वे जब शास्त्र सुनावें या वाचनी देवें तब आदर और एकाग्रता के साथ उनके वचनों को 'तह ति' कहकर स्वीकार करना। ज्ञानदायक साहित्य आदि को नीचे या अपवित्र स्थान में न रखना तथा समय-समय पर उनकी पलेवणा (प्रमार्जना) करना आदि।
- (3) बहुमान- गुरु आदि ज्ञानी तथा ज्ञान दाता का बहुत आदर करना और तैतीस आशातनाओं (गुरु आदि ज्येष्ठों के आगे और बराबर बैठने आदि) का त्याग करना।
- (4) उपधान- शास्त्र-पठन आरम्भ करने से पहिले और पीछे जो आयम्बिल आदि करने का विधान है, उसकी पालना करना। उसे उपधान तप कहते हैं।
- (5) अनिहनव- विद्यादाता (चाहे छोटा या अप्रसिद्ध हो) का नाम नहीं छिपाना और उसके बदले किसी दूसरे बड़े या प्रसिद्ध विद्वान का नाम न लेना। विद्यादाता के गुण या उपकार को नहीं छिपाना।

- (6) व्यञ्जन- शास्त्र के व्यञ्जन, स्वर, गाथा, अक्षर, पद, अनुस्वार, विसर्ग, लिंग, काल आदि जानकर भली भांति समझकर न्यून, अधिक या विपरीत न बोलना। इस हेतु व्याकरण का ज्ञाता होना चाहिए।
- (7) अर्थ-शास्त्र का विपरीत अर्थ न करे और न सही अर्थ को छिपावे। अपना मनमाना अर्थ भी न करे।
- (8) तदुभय- मूल पाठ और अर्थ में विपरीतता न करे। पूर्ण शुद्ध और यथार्थ पढ़े, पढ़ावे, सुने और सुनावे।

2. दर्शनाचार- सम्यग् दर्शन की निःशंकित आदि रूप से शुद्ध आराधना करना दर्शनाचार है। इसके भी आठ आचार निम्न प्रकार जानें-

“निःसंक्रिय निःकांक्षिय, निर्विचिगिच्छा अमूढदिदृठी य।
उबवृह- धिरीकरणे, वच्छल्ल, पभावणे अदृठ।।”

- (1) निःशंकित- अपनी अल्पबुद्धि के कारण शास्त्र की कोई बात समझ में न आवे, तो शास्त्र (जो जिन प्ररूपित है) पर शंका न करे। वीतराग सर्वज्ञप्रभु कभी भी न्यूनाधिक असत्य उपदेश नहीं फरमाते। उन्होंने केवलज्ञान में जैसा वस्तु स्वरूप देखा है, वैसा ही प्ररूपित किया है। इस प्रकार दृढ़ विश्वास रखना उसमें किंचित् भी संशय न करना, निःशंकित आचार कहलाता है।
- (2) निःकांक्षित- मिथ्यात्त्वियों के चमत्कार, आडम्बर, एषणाओं की संपूर्ति आदि देख, उनके मत को स्वीकार करने की अभिलाषा न करना और ऐसा भी न कहना कि ऐसा अपने मत में भी होता, तो अच्छा था। कारण कि आत्मा का कल्याण मिथ्या-द्वोंग आडम्बरों से नहीं होता, वे तो कर्मबन्ध के हेतु होते हैं। आत्मा का कल्याण तो रत्नत्रय की सम्यग् साधना से ही होगा।
- (3) निर्विचिकित्सा- धर्म-करणी के फल पर संदेह न करना। जैसे मुझे कार्य करते-करते इतना समय हो गया, फिर भी कोई फल दृष्टिगोचर नहीं हुआ। दूसरे, निर्ग्रथ, त्यागी, तपस्वी संत-सतियों के मलिन वस्त्र देखकर उनके प्रति घृणा न आने देना।
- (4) अमूढ दृष्टि- जैसे जौहरी की दृष्टि हीरे और काच के भेद को भली-भांति जानकर हीरे को ग्रहण करती है, वैसे ही तत्त्वज्ञ जिनवाणी को सर्वोत्कृष्ट मान, अन्य मत-मतान्तरों को महत्त्व नहीं देता। उसकी दृढ़ मान्यता होती है कि वाणी तो घणेरि पण वीतराग तुल्य नहीं, इनके सिवाय और चौरासी (या छोरा सी) कहानी है। इस प्रकार की शुद्ध भेद-दृष्टि रखना अमूढ दृष्टि आचार कहलाता है।
- (5) उपवृंहण- सम्यग् दृष्टि और साधर्मि के थोड़े से भी सद्गुण की हृदय से प्रशंसा करना और वैयावृत्य या सहयोग कर उसके उत्साह को बढ़ाना।
- (6) स्थिरीकरण- अन्य मतावलम्बियों के संसर्ग से या अन्य किसी भी कारण से कोई धर्म से

विचलित हो गया हो, तो उसे उपदेश देकर या ज्ञानीजनों के संपर्क में लाकर या यथोचित सहायता देकर, साता उपजाकर उसके परिणामों को पुनः धर्म के स्थिर करना, दृढ़ श्रद्धावान बनाना, स्थिरीकरण आचार है।

- (7) वात्सल्य- जैसे माता अपनी संतान पर प्रीति रखती है, उसी प्रकार स्वधर्मीजनों पर प्रीति रख उन्हें यथा योग्य आवश्यक वस्तुओं से सहायता देकर उनके प्रति वात्सल्य भाव रखना।
- (8) प्रभावना- जैन धर्म की अपने गुणों से प्रभावना करना एवं धर्म संबंधी अज्ञान को दूर करना प्रभावना आचार है। प्रभावना आठ प्रकार से होती है, यथा-

विद्या, वादी, कथा, शास्त्री, हो निमित्तज्ञ, तपस्वी महान्।
कविता करे, प्रगट व्रत लेकर, चमका दे जो धर्म महान् ॥

अर्थात्- 1. विद्यापारंगत हो, 2. वादी हो, 3. कथा व्याख्याता हो, 4. शास्त्रज्ञ हो, 5. निमित्तज्ञ (कालज्ञ) हो, 6. तपस्वी हो, 7. कवि हो, 8. सबके समक्ष विशेष व्रत धारक हो। इन प्रभावनाओं से सम्यग्दर्शन की पुष्टि और धर्म की प्रभावना होती है। अतएव योग्यतानुसार इनकी पालना करना कराना प्रभावना आचार है।

3. चारित्राचार-

जो क्रोध आदि चार कषायों से अथवा नरक आदि चारों गतियों से आत्मा को बचाकर मोक्ष गति में पहुँचावे वह चारित्राचार है। अतः चारित्र के दोषों से यतनापूर्वक बचकर गुणों को धारण करना चाहिए। चारित्र के आठ आचार हैं-

“पणि हाय-जोग जुलो, पंच समिद्धिहें गुत्तिहें।
एस चरित्तायासो, अट्ठविहो होइ नायव्वो ॥”

- (1) ईर्या समिति- इसके चार प्रकार हैं- (1) आलम्बन- (रत्नत्रय का आलम्बन रखे), (2) काल-रात्रि में विहार न करे। सूर्यास्त से पूर्व जहाँ भी मकान या वृक्षादि ठहरने योग्य स्थान हो वहीं रह जाय। रात्रि में परठने का प्रसंग हो तो जयणापूर्वक गमनागमन करे। (3) मार्ग- उन्मार्ग (जिसमें सचित्तता हो, दीमक आदि के घर हो) से गमन न करे। (4) यतना- इसके चार भेद हैं- (क) द्रव्य से- नीची दृष्टि रखकर चलना। (ख) क्षेत्र से- देह के बराबर आगे मार्ग देखकर चलना। (ग) काल से- रात्रि में प्रमार्जन कर एवं दिन में देखकर चलना। (घ) भाव से- रास्ता चलते अन्य कार्य जैसे वार्तालाप, पठन, पृच्छना आदि न करे।
- (2) भाषा समिति- यतना पूर्वक बोलना। इसके भी चार प्रकार हैं- (1) द्रव्य से- क्लेश पैदा करने वाली, कठोर, सावध, पीड़ाकारी, कषाय उत्पन्न करने वाली भाषा एवं विकथा न करे। (2) क्षेत्र से- रास्ता चलते न बोले। (3) काल से- प्रहर रात्रि के बाद बुलन्द आवाज में न बोले तथा (4) भाव से- देश काल के अनुकूल सत्य, तथ्य और शुद्ध भाव से बोले।

- (3) **एषणा समिति-** शय्या (स्थानक), आहार, वस्त्र और पात्र निर्दोष ग्रहण करे। इसके भी चार भेद हैं- (1) द्रव्य से-42 तथा 47 दोषों से रहित शय्या आदि वस्तुओं का उपभोग करे। (2) क्षेत्र से- आहार-पानी को दो कोस से आगे ले जाकर न भोगे। (3) काल से- खान-पान आदि पदार्थ प्रथम प्रहर में लाकर चौथे प्रहर में न भोगे। (4) भाव से- संयोजना आदि माण्डले के पाँच दोषों को न लगावे तथा किसी भी वस्तु पर ममत्व न रखे।
- (4) **आदान-भाण्डमात्र-निक्षेपणा समिति-** उपकरणों को यतनापूर्वक ग्रहण करे एवं स्थापित करे। उपकरण दो प्रकार के होते हैं- (1) सदा उपयोग में आने वाले, जैसे रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि। इन्हें 'उग्रहिक' कहते हैं। (2) जो कभी-कभी उपयोग में आवे जैसे पाट, चौकी आदि। इन्हें उपग्रहिक कहते हैं। साधु उपकरण तीन प्रकार के रख सकते हैं- (1) काष्ठ का, (2) तुम्बा का, (3) मिट्टी का। इस समिति के भी चार प्रकार हैं- (1) द्रव्य से- यतनापूर्वक ग्रहण करे एवं करावे। (2) क्षेत्र से- गृहस्थ के घर में रखकर ग्रामानुग्राम विहार न करे। पडिहारी को यथा समय लौटा दे। (3) काल से- प्रातः एवं सायंकाल वस्त्रों, पात्रों और उपकरणों का प्रतिलेखन करे। (4) भाव से- उपकरणों का उपयोग सावधानी एवं विवेक पूर्वक करे।
- (5) **परिष्ठापनिका समिति-** मल, मूत्र, पसीना, वमन, नाक का मैल, कफ, नाखून, बाल, मृतक शरीर आदि अनुपयोगी वस्तुओं को जयणा सहित परठावे। इसके भी चार प्रकार हैं- (1) द्रव्य से- यतनापूर्वक निरवद्य परठने योग्य भूमि पर त्याग करे। (2) क्षेत्र से- क्षेत्र के स्वामी की आज्ञा लेकर, यदि कोई स्वामी न हो तो शक्रेन्द्र जी से आज्ञा लेकर जहाँ किसी प्रकार के क्लेश की संभावना न हो, वहाँ परठावे। (3) काल से- दिन में अच्छी तरह देख-भाल कर निरवद्य भूमि में परठे और रात्रि के समय, दिन में पहले ही देखी हुई भूमि में परठे। (4) भाव से- शुद्ध उपयोग पूर्वक यतना से परठे। जाते समय 'आवस्सहि' शब्द तीन बार बोले। परठते समय (स्वामी की आज्ञा को सूचित करने के लिए) 'अणुजाणह में मिउगहं' पद बोले। परठने के बाद 'वोसिरामि' शब्द तीन बार कहे। अपने स्थान पर वापस आने पर 'निस्सही' शब्द तीन बार कहे। फिर इरियावहियं का प्रतिक्रमण कहे।
- तीन गुप्तियों का स्वरूप:-** मन, वचन एवं काया यह तीन महान शस्त्र हैं। अतः इन तीनों पर नियंत्रण अत्यावश्यक है।
- (6) **मनोगुप्ति-** संरम्भ, समारंभ और आरंभ, इन तीनों से मन को हटाकर उसे धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान में लगाना, मनो-गुप्ति है। मनोगुप्ति से कर्म बंध रुकते हैं और आत्मा में निर्मलता बढ़ती है।
- (7) **वचनगुप्ति-** संरंभ आदि सावद्य का प्रतिपादन करने वाले वचनों का त्याग करना। प्रयोजन होने पर उचित, सत्य, तथ्य, पथ्य, निर्दोष तथा परिमित वचनों का उच्चारण करना। प्रयोजन न होने पर मौन धारण करना वचन गुप्ति है। वचन गुप्ति का पालन करने से आत्मा सहज हो अनेक प्रकार के दोषों से बच जाती है।

(8) कायगुप्ति- संरंभ, समारंभ और आरंभ से काया को निवृत्त करके, उसे तप, संयम, ज्ञानोपार्जन आदि संवर और निर्जरा के कार्यों में लगाना कायगुप्ति है।

उपर्युक्त प्रकार से पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ मिलाने से चारित्र के आठ आचार कहे गये हैं।

4. तपाचार-

कर्मरूपी मैल को नष्ट करने की, जैसी शक्ति तप में है, वैसी किसी अन्य में नहीं है। जैसे अशुद्ध सोना भी अग्नि में तपाने से कुन्दन हो जाता है, वैसे ही तप रूप महाअग्नि में अशुद्ध आत्मा तप कर परमात्मा हो जाता है। तप के बारह आचार हैं। इनमें छह बाह्य तप एवं छह आभ्यन्तर तप हैं-

बाह्य तप के आचार- (1) अनशन, (2) ऊनोदरी, (3) भिक्षाचर्या, (4) रसपरित्याग, (5) कायाक्लेश और (6) प्रतिसंलीनता (कर्म के आस्रव के कारणों का निरोध करना)।

आभ्यन्तर तप के आचार- (1) प्रायश्चित्त, (2) विनय, (3) वैयावृत्य (सेवा), (4) स्वाध्याय, (5) ध्यान और (6) कायोत्सर्ग (छोड़ने योग्य वस्तुओं को छोड़कर काया से ममत्व हटाकर समाधिस्थ होना)।

उपर्युक्त प्रकार से तप के कुल बारह तपाचार कहे गए हैं।

5. वीर्याचार-

अपनी शक्ति का गोपन न करते हुए धर्म कार्यों में यथाशक्ति मन, वचन एवं काया द्वारा प्रवृत्ति करना वीर्याचार है। इसके पाँच प्रकार हैं- (1) उत्थान, (2) बल, (3) वीर्य, (4) पुरुषकार एवं (5) पराक्रम।

धर्माचार्य इन पंचाचारों से स्वयं धर्म में प्रवृत्त होते हैं तथा दूसरों को भी पालन कराते हैं।

पंचाचार-पालक-आदर्श आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा.

आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज वर्तमान युग में रत्नत्रय के उत्कृष्ट आराधक, शासन प्रभावक, समर्थ आचार्य हुए हैं, जो पंचाचार का विशुद्ध पालन स्वयं करते थे व अपने संघ के सभी संत-सतियों के द्वारा पालना का विशेष ध्यान रखते थे। आपके सम्पर्क में आने वाले अन्य संत-सतियों को भी इनकी पालना में सावधान रहने की प्रेरणा देते रहते थे। इन पंचाचारों की उत्तम पालना की, उनसे संबन्धित पाँच प्रेरक घटनाएँ यहाँ दी जा रही हैं।

(1) ज्ञानाचार विषयक- आप आगमज्ञान के गहन अध्येता ही नहीं थे, वरन् उसे उन्होंने जीवन में भी धारण किया था। इस कारण आपके जीवन में उत्तम ज्ञान-क्रिया का अद्भुत संगम देखने को मिलता था। एक बार आप टोंक से जयपुर जाते निवाई में विराजे। कुछ अस्वस्थ होने से वहाँ विश्राम करने लगे। तभी मेरे द्वारा कुछ जिज्ञासाएँ, आपके साथ रहे सन्तों से पूछी जा रही थी। एक

जिज्ञासा पूछी गई, कि अणगार भगवतों में कृष्ण लेश्या कैसे मिलती है? जिज्ञासा सुनकर आप तत्काल उठे और कक्ष से बाहर आकर उक्त जिज्ञासा का सटीक उत्तर फरमाया, जिसे सुनकर सभी प्रमुदित हो पाए।

- (2) **दर्शनाचार विषयक-** एक बार महाराष्ट्र में सतारा नगरी की ओर आपका विहार चल रहा था। वहाँ मार्ग में एक स्थान पर, कुछ व्यक्ति हाथों में लाठियां लेकर खड़े थे। आचार्य श्री ने उन लोगों को इस तरह खड़ा देखकर, पूछा कि आप लाठियाँ लेकर कैसे खड़े हैं? तब एक व्यक्ति ने कहा- महाराज, इस झोंपड़ी में एक विषधर सर्प घुस गया है, उसे मारने के लिये खड़े हैं। इस पर आचार्य श्री ने, उन्हें सर्प को नहीं मारने को कहा। तब वे बोले, यदि आपको यह सर्प प्यारा है तो साथ लेते जावें। इस पर आचार्य श्री झोंपड़ी की तरह निर्भीकतापूर्वक आगे बढ़े। सर्प को कहा- “यदि जीवित रहना चाहते हो तो मेरे ओघे में आ जाओ।” जैसे ही उन्होंने ओघा आगे बढ़ाया सर्प उसमें आ गया। आचार्यप्रवर ने उसे सुदूर जंगल में सुरक्षित स्थान पर ले जाकर छोड़ दिया। यह आचार्य श्री की धर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धा एवं दर्शनाचार की शुद्ध पालना का उदाहरण है।
- (3) **चारित्र्याचार विषयक-** आपको आचार विषयक तनिक भी शिथिलाचार पसंद नहीं था। आप बीकानेरी मिश्री के समान थे। चारित्र्याचार की पालना करने वालों के लिए शक्कर से भी अधिक मिश्री की तरह मीठे थे तो आचार में दोष लगाने वाले संत-सतियों के लिए उन्हें सुधारने हेतु, दण्डित करने में मिश्री के समान कठोर भी थे। एक बार आपके संघ में रहे एक वरिष्ठ संत को, क्रिया में शिथिल एवं दोष लगाते देखा, तो उन्हें यथायोग्य भोलावणा दे प्रायश्चित्त दे, आगे निर्दोष संयम पालने को पाबंद किया। किंतु वे पुनः श्रमणाचार में दोष लगाने लगे। इस पर आचार्य श्री ने उनमें सुधार न देख उन्हें संघ से निष्कासित कर दिया। चारित्र्याचार की पालना करने-कराने का यह एक आदर्श उदाहरण है।
- (4) **तपाचार विषयक-** आप अंखड बाल बह्मचारी तपस्वी और ध्यान सिद्ध योगी थे। आपकी योगसाधना अद्भुत थी। जो भी आपके सम्पर्क में आता, आपसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। आप देर रात्रि तक ध्यान करते और अत्यल्प निद्रा ले पुनः ध्यान-साधना में रत हो जाते थे। आप नित्य रात्रि में नंदीसूत्र का स्वाध्याय किए बिना शयन नहीं करते थे। एक बार आपके ज्ञान-ध्यान से प्रभावित होकर टोंक निवासी सज्जन श्री बहादुर मल जी दासोत (जो मूर्तिपूजक संघ के प्रमुख थे) आपसे मंगलिक लेने हेतु लाल भवन, जयपुर में रात्रि के लगभग ग्यारह बजे पहुँचे। उस समय आचार्य श्री को ध्यानमुद्रा में बैठे देख वे चकित रह गए। वे पुनः एक बार प्रातः चार बजे लाल भवन पहुँचे, तो उस समय भी उन्हें पाटे पर ध्यान मुद्रा में बैठे देखा, तो विस्मित हो कह उठे, यह तो योगी नहीं महायोगी है जिसे रात्रि में भी जब देखा तब ध्यान में लीन पाया। वे आपकी इस ध्यान-साधना के तपाचार से प्रभावित हो आपके अनन्य श्रद्धालु भक्त हो गए। आपका

अधिकांश समय आगमों के स्वाध्याय में व्यतीत होता था। सभी तपों में 'स्वाध्याय' का स्थान सर्वोपरि है। कहा है- 'न वि अत्थि, न वि होहि, सज्जायसमं तवोकम्मा।' अर्थात् स्वाध्याय के समान न तो कोई तप है और न होगा। अखिल भारतीय स्तर पर स्वाध्याय संघ की स्थापना आपकी प्रेरणा से हुई। इसके परिणाम स्वरूप आज आगमों के जानकर हजारों स्वाध्यायी तैयार हुए हैं जो भारत में ही नहीं विश्व के दूरस्थ स्थानों पर जाकर भी धर्म प्रचार कर रहे हैं। तपाचार में, तप के बारह प्रकारों में अंतिम तीन जो सर्वोत्तम एवं सर्वोत्कृष्ट हैं, वे हैं- स्वाध्याय, ध्यान एवं कायोत्सर्ग (व्युत्सर्ग)। आपके जीवन में इन तीनों की विशेष पालना देखने को मिलती थी। इस प्रकार आपका तपोमय जीवन तपाचार का एक श्रेष्ठ ज्वलन्त उदाहरण रहा है।

- (5) **वीर्याचार विषयक-** जैसे सर्वार्थसिद्ध के देव अवगाहना में एवं आकृति में छोटे होकर भी महात्रुद्धि, महापराक्रमी, महातेजस्वी और शान्ति वाले होते हैं, वैसे ही आचार्य श्री शरीर, कद एवं आकृति में लघु होते हुए भी, महातेजस्वी, महापराक्रमी, अप्रमत्त और आत्मशक्ति के महापुञ्ज थे। आप अपनी विशिष्ट शक्तियों का गोपन किये हुए साधनारत रहते थे। आपने अध्यात्म-क्षेत्र में अनेक कीर्तिमान स्थापित किए, जो आपके महान् बल, वीर्य, पुरुषकार एवं पराक्रम के प्रतीक हैं। उदाहरणार्थ जैन धर्म का मौलिक इतिहास विस्तृत चार भागों में व्यवस्थित एवं प्रामाणिक रीति से तैयार हुआ। अखिल भारतीय स्तर पर सामायिक एवं स्वाध्याय संघ गठित हुए।

'मुणिणो सया जागरंति' वाक्य के अनुसार आप सदा जागृत एवं अप्रमत्त दशा में साधनारत रहते थे। परिणामतः अंतिम समय में देह-त्याग का समय निकट जानकर अपने वीर्याचार के अपूर्व विनियोग से जागृत दशा में प्रथम अष्टम भक्त (तेले) की तपस्या ग्रहण कर तपस्या में बढ़ते हुए संलेखना, संथारा और पंडित मरण का वरण कर सदा के लिए अमर हो गए। वीर्याचार की पालना का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

इस प्रकार आचार्य श्री हस्तिमल जी म.सा. पंचाचार के न केवल दृढ़ पालक थे, वरन् वे इस युग के एक महान शासन प्रभावक आचार्य थे, जिनकी यश-कीर्ति युगों-युगों तक अमर रहेगी।

अंत में यह उल्लेख करना भी उचित होगा कि वैसे तो इन पंचाचारों की पालना का संबंध आचार्य के छत्तीस गुणों में होने से मुख्यतया उनसे संबंधित है, किन्तु इनकी पालना सभी श्रमणों के लिए, चाहे वे उपाध्याय हों, प्रवर्तक हों या सामान्य साधु-साध्वी हों, परमावश्यक है। बिना इनकी पालना किए, श्रमण-जीवन में शुद्धाचारी रहना कथमपि संभव नहीं है। जैसे क्रिया के बिना ज्ञान, करणी के बिना कथनी तथा उपयोग (जयणा) के बिना धर्म का महत्त्व नहीं, वैसे ही इन पंचाचारों की पालना के बिना श्रमण-जीवन सार्थक नहीं है। अतः सभी संयमी साधकों को इनकी पालना कर सदा तत्पर रहना चाहिए।

-डागा सदन, संघपुरा, टोंक-304001 (राज.)

श्रमण एवं श्रमणी के आचार में भेद

डॉ. पदमचन्द मुणोत

यद्यपि श्रमण एवं श्रमणी दोनों पंच महाव्रतधारी होकर पांच समितियों एवं तीन गुप्तियों का पालन करते हैं। आगम का अध्ययन करते हैं, तथापि शारीरिक संरचना के कारण श्रमण एवं श्रमणी के आचार में कई बिन्दु भिन्न हैं। उन आचारगत भिन्नताओं का उल्लेख प्रस्तुत आलेख में किया गया है। -सम्पादक

श्रमण के दो अर्थ मुख्य हैं। एक तो यह कि तप और संयम में जो अपनी पूरी शक्ति लगा रहा है, तपस्वी है, वह श्रमण है। दूसरा अर्थ है-त्रस-स्थावर, सब प्रकार के जीवों के प्रति जिसके अन्तःकरण में समभाव एवं हित कामना है वह श्रमण है। उसे 'समन' या समण भी कहते हैं। एवंविध स्त्री साधक को श्रमणी अथवा महासती जी कहा जाता है।

तप एवं संयम में स्थिर रहने के लिये भगवान् महावीर ने अपने ज्ञान के बल से एक आचारसंहिता उपदिष्ट की है, जिसका पूर्णता से पालन करने पर ही श्रमण एवं श्रमणी अपने लक्ष्य 'मोक्ष' को प्राप्त कर सकते हैं।

इस आचारसंहिता में श्रमण एवं श्रमणी के आचार में अनेक परिस्थितियों में भेद दर्शाया गया है। इन भिन्नताओं का कारण श्रमणियों की शारीरिक संरचना, उनमें रही कोमलता, लज्जा के भाव व अन्य अनेक परिस्थितियाँ हैं। सम्बन्धित आगम हैं- आचारांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, बृहत्कल्प, दशश्रुतस्कन्ध आदि।

श्रमण एवं श्रमणी के आचार में भेद का वर्णन बृहत्कल्प सूत्र के अनुसार यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. साधु-साध्वियों के लिये गाँव आदि में प्रवास करने की काल मर्यादा-

वर्ष के बारह मास:- चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ (जेठ), आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, अश्विन (आसोज) कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ व फाल्गुन।

इनमें तीन मुख्य ऋतुएँ बनती हैं (भारत में)- 1. ग्रीष्म, 2. वर्षा (प्रावृट) और 3. हेमन्त (शीत)

चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़ ये चार माह ग्रीष्म के हैं। अगले चार माह श्रावण, भाद्रपद, अश्विन और कार्तिक वर्षा अथवा प्रावृट के होते हैं और शेष माह हेमन्त (शीत) के।

वर्षा काल में अप्रकायिक, वनस्पतिकायिक एवं एकेन्द्रिय तथा समूर्च्छिम त्रस जीवों की उत्पत्ति विशेष होती है। अतः इस काल में विचरण करने से इन जीवों की विशेष हिंसा होने की सम्भावना रहती है।

साधु-साध्वियों को इस काल में स्थिरवास अर्थात् एक ही स्थान पर ठहरने का आचार है, जिसे पर्युषण कल्प (दशाश्रुत स्कन्ध-अष्टम दशा) कहते हैं।

यह कहावत है कि 'रमता राम, भटकता जोगी' अथवा 'बहती नदी और विचरणशील संत' सदैव निर्मल होते हैं। अतः जैन साधु-साध्वियाँ सदैव भ्रमणशील रहते हैं। यह लोकोक्ति है कि विहरणशीलता या पर्यटनशीलता साधु-जीवन की पावनता की द्योतक है। किसी एक ही स्थान पर स्थायी निवास करने से अनेकविध रगात्मक, मोहात्मक स्थितियाँ बनने की आशंका रहती है, अतएव जैन साधु-साध्वी के किसी एक स्थान में प्रवास के सम्बन्ध में कुछ मर्यादाएँ हैं। पर्युषणकल्प अर्थात् चातुर्मास के अतिरिक्त आठ महीने में साधु या साध्वी को किसी एक स्थान पर स्थायी प्रवास करना नहीं कल्पता है। किसी एक गाँव या नगर बस्ती में साधु द्वारा एक मास तक (29 दिन) तथा साध्वी को दो चन्द्रमास (58 दिन) तक ठहरना कल्पता है।

साधुओं की अपेक्षा साध्वियों को किसी एक स्थान पर दुगुने समय तक प्रवास करने का कल्प है। साध्वियों के दैहिक संहनन, शरीर बल, विविध काल की दैहिक स्थितियाँ इत्यादि को दृष्टि में रखते हुए उनके संयम जीवितव्य की सुरक्षापूर्ण संवर्द्धना हेतु यह आवश्यक जाना एवं माना गया। साधु का विहार 9 कोटि का तथा साध्वी का 5 कोटि का कहा जाता है।

2. क्रय-विक्रय केन्द्रवर्ती स्थान में ठहरने का कल्प-

साध्वियों का आपणगृह (जहाँ वस्तुओं का व्यापक रूप से क्रय-विक्रय होता है, उस स्थान के मध्य स्थित गृह या स्थानक, उपाश्रय आदि स्थान), रथ्यामुख (वह मार्ग जिससे यान-वाहनों का आना-जाना सुगम एवं बहुतायत से हो, उस मार्ग पर जिस भवन का द्वार खुलता हो, वह रथ्यामुख कहा जाता है), शृंगाटक (वह स्थान, जहाँ से तीन रास्ते निकलते हों) या त्रिक, चतुष्क (चार रास्तों के मिलने के स्थान-चौक), चत्वर (जहाँ से छह या उससे अधिक रास्ते निकलते हों) अथवा अंतरापण (वह स्थान जो हाट या बाजार के रास्ते पर हो) में प्रवास करना नहीं कल्पता है।

जबकि साधुओं को ऐसे स्थानों पर प्रवास करना कल्पता है। (बृहत्कल्प सूत्र)

3. कपाट रहित स्थान में साधु-साध्वियों की प्रवास मर्यादा -

साध्वियों को खुले द्वार वाले अर्थात् कपाट रहित स्थान में रहना नहीं कल्पता। उस खुले कपाट वाले स्थानक/उपाश्रय में एक पर्दा भीतर तथा एक पर्दा बाहर बाँधकर-मध्यवर्ती मार्ग रखते हुए चिलमिलिकावत्-महीन छिद्रयुक्त दो पर्दों को व्यवस्थित कर रहना कल्पता है। यह उनकी शील रक्षा हेतु, लज्जा निवारण हेतु आवश्यक है। जिससे बाहर आने-जाने वालों की दृष्टि उन पर न पड़े।

साधुओं को खुले द्वार-कपाट रहित स्थान में रहना भी कल्पता है। (बृहत्कल्प सूत्र)

4. साधु-साध्वी को घटीमात्रक रखने का विधि-निषेध-

साध्वियों को भीतर से लिपा हुआ-चिकना किया हुआ, छोटे घड़े के आकार का पात्र धारण करना,

रखना कल्पता है, जबकि साधुओं को अन्दर से लिपा हुआ घटीमात्रक (उपर्युक्त पात्र) रखना और उपयोग करना नहीं कल्पता है। (बृहत्कल्प सूत्र)

5. सागारिक की निश्रा में प्रवास करने का विधान-

निर्ग्रन्थिनियों (साध्वियों) को सागारिक की अनिश्रा-बिना आश्रय के रहना नहीं कल्पता है। उनको सागारिक की निश्रा-आश्रय में रहना कल्पता है। साधुओं को प्रवास में सागारिक की निश्रा-प्रश्रय (आश्रय) अपरिहार्य नहीं है, निश्रा हो तो उत्तम है।

6. सागारिक युक्त स्थान में आवास का विधि निषेध-

साधु-साध्वियों को सागारिक (शय्यातर)-गृहस्थ के आवास युक्त स्थानक/ उपाश्रय (स्थान) में प्रवास करना नहीं कल्पता है। केवल स्त्री निवास युक्त (स्त्री सागारिक) स्थानक/उपाश्रय में साधुओं का प्रवास वर्जित है, उसी प्रकार केवल पुरुष निवासयुक्त (पुरुष सागारिक) स्थानक/उपाश्रय में साध्वियों का प्रवास वर्जित है।

केवल पुरुष निवास युक्त (पुरुष सागारिक) स्थानक/ उपाश्रय में साधुओं का प्रवास कल्पता है और केवल स्त्री निवास युक्त (सागारिक)स्थानक/ उपाश्रय में साध्वियों का प्रवास कल्पता है। (बृहत्कल्प सूत्र)

7. प्रतिबद्धशय्या (स्थानक/उपाश्रय) में प्रवास का विधि-निषेध-

प्रतिबद्धशय्या (शय्यातर के आवास में लगे हुए (स्थानक/उपाश्रय)में साधुओं का प्रवास कल्पनीय नहीं है। जबकि साध्वियों का प्रतिबद्धशय्या में प्रवास करना कल्पता है। प्रतिबद्ध के दो भेद बताये गए हैं- (1) द्रव्य प्रतिबद्ध, (2) भाव प्रतिबद्ध। भित्तिका आदि के व्यवधान से युक्त आवास द्रव्य-प्रतिबद्ध कहा गया है। भाव प्रतिबद्ध का आशय उस आवास से है, जिससे भावों में विकृति आना आशंकित है। चूर्णिकार ने उसके चार भेद किये हैं- 1. जहाँ गृहवासी स्त्री-पुरुषों का एवं साधु का प्रस्रवण (मूत्रोत्सर्ग) स्थान एक हो। 2. जहाँ घर के लोगों एवं साधुओं के बैठने का स्थान एक ही हो। 3. जहाँ स्त्रियों का रूप सौन्दर्य आदि दृष्टिगोचर होता हो। 4. जहाँ स्त्रियों की भाषा, आभरणों की झंकार तथा काम-विलासिता एवं गोप्य शब्दादि सुनाई पड़ते हों।

इन चारों भेदों में सूचित प्रसंग ऐसे हैं, जिनसे मानसिक विचलन आशंकित है। (बृहत्कल्प सूत्र)

8. प्रतिबद्ध मार्ग युक्त स्थानक/ उपाश्रय में ठहरने का कल्प-अकल्प-

जिस स्थानक/ उपाश्रय में जाने का रास्ता गाथापति कुल-गृहस्थ वृन्द के घर के बीचों-बीच होकर हो, उसमें साधुओं का रहना नहीं कल्पता है, जबकि उसमें साध्वियों को प्रवास करना कल्पता है। (बृहत्कल्प सूत्र)

9. विश्रामगृह आदि में ठहराव का विधि-निषेध-

साध्वियों को आगमनगृह-धर्मशाला आदि में, चारों ओर से खुले घर में, बांस आदि से निर्मित जालीदार घर में, वृक्ष आदि के नीचे या खुले आकाश या केवल चारदीवारी युक्त गृह में ठहरना नहीं कल्पता है।

जबकि साधुओं को ऐसे सभी स्थानों पर रहना कल्पता है। (बृहत्कल्प सूत्र)

10. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों को एक दूसरे के स्थानक/उपाश्रय में अकरणीय क्रियाएँ-

निर्ग्रन्थों को निर्ग्रन्थिनियों के स्थानक/उपाश्रय में खड़े रहना, बैठना, लेटना या पार्श्व परिवर्तन करना (त्वग्वर्तन), निद्रा लेना, प्रचला संज्ञक निद्रा लेना, ऊँघना, अशन, पान, खादिम, स्वादिम आहार ग्रहण करना, मल, मूत्र, कफ और सिंघानक-नासिका मैल परठना (परिष्ठापित करना), स्वाध्याय करना, ध्यान करना या कायोत्सर्ग कर स्थित रहना नहीं कल्पता है। इसी प्रकार निर्ग्रन्थिनियों को निर्ग्रन्थों के स्थानक/उपाश्रय में खड़े रहना यावत् कायोत्सर्ग कर स्थित रहना नहीं कल्पता है। (बृहत्कल्प सूत्र)

11. अवग्रहानन्तक और अवग्रह पट्टक धारण का विधि-निषेध-

यहाँ प्रयुक्त अवग्रहानन्तक और अवग्रह पट्टक शब्द गुप्त अंगों को ढकने के लिये प्रयुक्त होने वाले वस्त्रों के लिये आए हैं। अवग्रहानन्तक लंगोट या कौपीन के लिये तथा अवग्रह पट्टक कौपीन के ऊपर के आच्छादक के लिए प्रयुक्त हुआ है।

साधुओं के अवग्रहानन्तक और अवग्रह पट्टक धारण करना- अपने पास रखना और उपयोग में लेना नहीं कल्पता है। साध्वियों को इनका धारण करना, अपने पास रखना और उपयोग में लेना कल्पता है। (बृहत्कल्प सूत्र)

12. साध्वी को एकाकी गमन का निषेध-

निर्ग्रन्थिनी को एकाकिनी होना नहीं कल्पता है। एकाकिनी निर्ग्रन्थिनी को गृहस्थ के घर में आहारार्थ प्रविष्ट होना और निकलना नहीं कल्पता है।

निर्ग्रन्थिनी को अकेले विचार भूमि (उच्चार-प्रस्रवण विसर्जन स्थान) और विहार भूमि (स्वाध्याय स्थान) में जाना कल्पनीय नहीं कहा गया है।

साध्वी को एक गाँव से दूसरे गाँव एकल विहार करना एवं वर्षावास एकाकी करना कल्पय नहीं होता।

विहार तथा प्रवास में कम से कम तीन साध्वियाँ होना आवश्यक है। गोचरी आदि में कम से कम दो साध्वियों का होना आवश्यक है। (बृहत्कल्प सूत्र)

13. साध्वी को वस्त्र-पात्र रहित होने का निषेध-

साध्वी का वस्त्र रहित होना तथा पात्र रहित होना नहीं कल्पता है। इसीलिये साध्वी जिनकल्पी नहीं बन सकती। (द्रष्टव्य-आचारांग सूत्र, द्वितीय श्रुतस्कंध, अध्ययन 1, उद्देशक 3, गाथा 20)

14. साध्वी के लिये आसनादि का निषेध-

(i) साध्वी को अपने शरीर का सर्वथा व्युत्सर्जन कर-वोसिरा कर रहना नहीं कल्पता।

(ii) साध्वी को ग्राम यावत् (राजधानी) सन्निवेश के बाहर अपनी भुजाओं को ऊपर उठाकर सूर्याभिमुख होकर, एक पैर के बल छड़े होकर आतापना लेना नहीं कल्पता। अपितु स्थानक/उपाश्रय के भीतर,

वस्त्रावृत होकर, अपनी भुजाएँ नीचे लटकाकर, दोनों पैरों को समतल कर इस स्थिति में खड़े होकर आतापना लेना कल्पता है।

- (iii) साध्वी को खड़े होकर कायोत्सर्ग करने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।
- (iv) साध्वी को (एक रात्रिक आदि) प्रतिमाओं के आसनों में स्थित होने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।
- (v) साध्वी को निषद्याओं- बैठकर किये जाने वाले आसन विशेषों में स्थित होना नहीं कल्पता है।
- (vi) साध्वी को उत्कुटुकासन में स्थित होने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।
- (vii) साध्वी को वीरासन, दण्डासन, लकुटासन में अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।
- (viii) साध्वी को अधोमुखी (अवाङ्मुखी) स्थित होने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।
- (ix) साध्वी को मुँह ऊँचा कर सोने के अभिग्रह में स्थित होना नहीं कल्पता।
- (x) साध्वी को आम्र कुब्जासन में स्थित होने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता।
- (xi) साध्वी को एक पार्श्वस्थ होकर सोने का अभिग्रह कर स्थित होना नहीं कल्पता है। (बृहत्कल्पसूत्र)

15. साध्वियों के लिये आकुंचन पट्टक धारण का निषेध-

साध्वियों के लिए आकुंचन पट्टक धारण करना और उपयोग में लेना नहीं कल्पता है, साधुओं के लिए आकुंचन पट्टक रखना और उसका उपयोग करना कल्पता है। (बृहत्कल्पसूत्र)

16. सहारे के साथ बैठने का विधि-निषेध-

साध्वियों को आश्रय या सहारा लेकर बैठना या करवट लेना (सोना) नहीं कल्पता है। जबकि साधुओं को अवलम्बन या सहारा लेकर बैठना या करवट लेना कल्पता है। (बृहत्कल्पसूत्र)

17. श्रृंगयुक्त पीठ आदि के उपयोग का विधि-निषेध-

साध्वियों को श्रृंगाकार युक्त कंगूरों सहित पीठे या पट्ट पर बैठना या करवट बदलना नहीं कल्पता, जबकि साधुओं को यह सब कल्पता है। (बृहत्कल्पसूत्र)

18. सवृन्त तुम्बिका रखने का विधि-निषेध-

साध्वियों को डण्डलयुक्त तुम्बपात्र रखना एवं उसका उपयोग करना नहीं कल्पता, जबकि साधुओं को डण्डल सहित तुम्बपात्र रखना एवं उसका उपयोग करना कल्पता है। (बृहत्कल्पसूत्र)

19. सवृन्त पात्र केशरिका रखने का विधि-निषेध-

साध्वियों को सवृन्त पात्र प्रमार्जनिका रखना एवं उसका उपयोग करना नहीं कल्पता है, जबकि साधुओं को सवृन्त पात्र प्रमार्जनिका रखना और उसका उपयोग करना कल्पता है। (बृहत्कल्पसूत्र)

20. दण्डयुक्त पाद प्रोञ्छन का विधि-निषेध-

साध्वियों को दण्डयुक्त पादप्रोञ्छन रखना एवं उसको उपयोग में लेना नहीं कल्पता, जबकि साधुओं

को दण्डयुक्त पाद प्रोँछन रखना और उसको उपयोग में लेना कल्पता है। (बृहत्कल्पसूत्र)

21. मूत्र के आदान-प्रदान का निषेध-

साधुओं और साध्वियों को एक दूसरे का मूत्र भयानक रोगों के अतिरिक्त परस्पर गृहीत करना, पीना या उसकी मालिश करना नहीं कल्पता।

22. आचार्य पद देने का कल्प-

आचार्य पद साध्वी को नहीं दिया जाता। इसके अनेक कारण हैं:- (1) तीर्थंकर भगवान की आज्ञा नहीं है। (2) पुरुष ज्येष्ठ कल्प है। (3) पुरुष में स्त्री से ज्यादा गंभीरता होने के कारण यह प्रशासनिक पद नहीं दिया जाता। (4) विहार-गोचरी आदि अनेक प्रसंगों में साध्वी को अकेला जाना नहीं कल्पता है, जबकि साधु को अकेला जाना कल्पता है, जैसे-गौतम स्वामी।

23. साधु-साध्वियों का वन्दना व्यवहार-

एक दिन की दीक्षा पर्याय पालने वाला साधु भी सभी साध्वियों से ज्येष्ठ गिना जाता है अतः सभी साध्वियां चाहे उनमें से कोई 60-70 वर्ष या उसके अधिक काल की दीक्षा पर्याय पालन करने वाली हो तो भी उस साधु को वन्दन करती है।

संदर्भ ग्रन्थ-

1. आचारांग सूत्र, भाग 2, अनुवादक- श्री रतनलाल डोसी- श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर, जनवरी-2006
2. बृहत्कल्प- अनुवादक एवं विवेचक-प्रो. (डॉ.) छगनलाल शास्त्री एवं डॉ. महेन्द्रकुमार रांकावत, श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर-2006
3. दशाश्रुतस्कन्ध- प्रो. (डॉ.) छगनलाल शास्त्री एवं डॉ. महेन्द्रकुमार रांकावत, श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर-2006
4. व्यवहार सूत्र- प्रो. (डॉ.) छगनलाल शास्त्री एवं डॉ. महेन्द्रकुमार रांकावत, श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर-2006
5. विनयबोधिकण- लेखक-विनयमुनि, मणिबेन कीर्तिलाल मेहता, आराधना भवन, कोयम्बटूर, नवम्बर-2006
6. उत्तराध्ययन- आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा., सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर
7. दशवैकालिक सूत्र- आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा., सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

- 7 नं 12, जवाहर नगर, जयपुर-302004 (राज.)



साधक-जीवन में त्रिगुप्ति का महत्त्व

श्रीमती रत्नबाई चोरडिया

यद्यपि त्रिगुप्ति को श्रमण-श्रमणी की जीवन-चर्या में स्थान दिया गया है, किन्तु इसका अंशतः उपयोग भी श्रावक-श्राविका के जीवन को कंकर से शंकर बना सकता है। विदुषी लेखिका ने यह आलेख श्रमणाचार को लक्ष्य करके नहीं, अपितु गृहस्थों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किया है।-**अम्पादक**

जैन धर्म में साधक-जीवन का बहुत महत्त्व है। साधकों के जीवन में सत्यवादिता, उदारता, सहिष्णुता, करुणा, कर्तव्यनिष्ठा आदि गुण कूट-कूट कर भरे होते हैं। साधक श्रावक का मन दर्पण के समान स्वच्छ, हृदय पवित्र व उदार होता है। दान-शील एवं सरल व्यवहार के कारण उसे सभी का प्रेम प्राप्त होता था। पापों से विरत रहने वाला, पक्षपात रहित, बड़ों का आदर करने वाला, किये हुए उपकार को मानने वाला, हिताहित मार्ग का ज्ञाता, दीर्घदर्शी जीवन श्रावक का होता है। श्रावक इन्द्रियों का गुलाम नहीं होता, उन्हें वश में रखता है। उसका सोचना, समझना, बोलना और करना सबकुछ विलक्षण होता है। वह संसार में रहता हुआ भी संसार से अलग रहता है। उसके अन्तर में शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा का अमृत सागर लहराता है। उसके हृदय में दया का झरना बहता है। सभी जीवों के प्रति उसके मन में कल्याण की भावना रहती है। मानव जीवन में तीन बड़ी शक्तियाँ हैं- मन-वचन व काय शक्ति। यदि हम इन तीनों शक्तियों का सदुपयोग करते हैं तो मानव से महामानव बन सकते हैं। हमारा यह मानव शरीर एक पवित्र मंदिर है, जिसमें जीव रूपी शिव विराजमान है। इस देह को देवालय व आत्मा को देवता कहा है। उस सोये हुए देवत्व को जगाने के लिये मन-वचन-काय की गुप्ति अति आवश्यक है।

प्रश्न :- मनोगुप्ति से क्या होता है?

उत्तर:- मनोगुप्ति से अशुभ अध्यवसाय में जाते हुए मन को रोका जाता है। आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान का त्याग व धर्मध्यान में मन स्थिर किया जाता है। समस्त कल्पनाओं से रहित होकर, समभावों से आत्मस्वरूप में रमण करना मनोगुप्ति से ही सम्भव है।

हमारा मन ही बंधन और मोक्ष का कारण है। मन को अच्छी तरह से शिक्षित किया जाय तो वह हमारा सबसे अच्छा मित्र है व हितैषी है। उसके विपरीत अशिक्षित मन सबसे बड़ा शत्रु है। मन यदि इन्द्रिय सुखों में भटकता है, क्रोध-मान-माया व लोभ की भट्टी में जलता है तो शत्रु है। यही मन यदि जप-तप-त्याग-संयम का पालनकर आत्मभावों में रमण करता है, अन्तरात्मा व परमात्मा में लीन रहता है तो अनन्त-अनन्त जन्मों के

कर्मबन्धनों को तोड़कर सब दुःखों से हमें हमेशा के लिये मुक्त कर देता है। कर्मों की निर्जरा के लिये मनोगुप्ति आवश्यक है। मन को वश में करना सबसे कठिन कार्य है। मन घोड़े से भी अधिक तेज दौड़ता है। यह मन बन्दर से भी अधिक चपल है। मछली से अधिक चिकना है। आकाश-पाताल की सैर करने में समर्थ है। मन की एक आदत होती है इसे रोको तो यह अधिक भागता है, पकड़ो तो दौड़ता है, मनाओ तो ज्यादा मचलता है। भगवान कहते हैं कि मन को मनाने की नहीं, साधने की जरूरत है। क्योंकि नियन्त्रित मन ही आत्मा का हितैषी है। अतः इस चंचल मन को कैसे एकाग्र व स्थिर करें इसके लिए ज्ञानी कहते हैं-

1. पदार्थोंकी नश्वरता का बोध करें। संसार के सभी पदार्थ नश्वर हैं जिनको पाने के लिये हम अपनी पूरी शक्ति व समय को बर्बाद कर रहे हैं। वे रहने वाले नहीं हैं। मेरे सामने ही देखते-देखते नष्ट हो सकते हैं, अतः पदार्थों से मन का आकर्षण मिटाकर उसे एकाग्र एवं स्थिर करें।
2. भगवान के मार्ग एवं भगवान के वचनों पर हम दृढ़ श्रद्धा करें। भगवान ने जो कुछ कहा है वही सत्य है। उसी में हमारा हित है। हमारा सुख-दुःख, बंधन और मोक्ष मन के ही अधीन है। पुण्य व पाप के बीज मन रूपी धरती में ही बोये जाते हैं। स्वच्छ व पवित्र मन मानव की सबसे बड़ी संपदा है। अनादि काल से हम मोह-अज्ञान, प्रमाद एवं मिथ्यात्व रूपी मादक द्रव्य का सेवन कर मन के मालिक बनने के स्थान पर मन के गुलाम बने हुए हैं। यदि यह मोह व अज्ञान का नशा उतर जाये तो आत्मा परमात्मा बन सकता है। हमारी साधना का मूल लक्ष्य मन के विकारों पर विजय पाना, कामनाओं, वासनाओं व संकल्प-विकल्प रूप सर्व इच्छाओं से मुक्त होना है।
3. आत्मा की शाश्वतता का दृढ़ विश्वास- मेरी आत्मा शाश्वत है। वह पहले भी थी, आज भी है और आगे भी रहेगी। वह कभी मरती नहीं, गलती नहीं, सड़ती नहीं। चाहे कितने ही दुःख-पीड़ाएँ-कष्ट आ जायें आत्मा का एक प्रदेश भी नष्ट नहीं होता।
4. मृत्यु का सतत स्मरण- मृत्यु एक अनिवार्य सत्य है। जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है। जो अपनी मृत्यु को भूल जाता है वही पाप-प्रवृत्तियों में लिप्त बन कर जीवन जीता है। यह महल, मकान, धन-दौलत, जमीन-जायदाद सब ज्यों के त्यों पड़े रहते हैं, हमारे साथ अपने किये हुए शुभ व अशुभ कर्म ही जाते हैं। मौत को टाला नहीं जा सकता, पर हाँ सुधारा अवश्य जा सकता है। ज्ञानी कहते हैं कि मृत्यु आये उसके पहले हम अपनी सोई हुई आत्मा को जगा लें। हमारे मन में मंदिर जैसी पवित्रता व जीवन में चन्दन जैसी महक होनी चाहिये। मन की पवित्रता ही मुक्ति का द्वार खोलती है।

प्रश्न:- वचन गुप्ति से क्या होता है?

उत्तर:- वचन गुप्ति से जीव निर्विकार भाव को प्राप्त करता है। विकथाओं से मुक्त होता है। अशुभ वचनों का निरोध होता है, जिससे शुभ वचनों में प्रवृत्ति होती है।

मनुष्य के पास वाणी की शक्ति बड़ी महत्त्वपूर्ण शक्ति है। वाणी की अभिव्यक्ति की क्षमता जिस तरह

हमें प्राप्त है वैसी संसार के अन्य जीवों को उपलब्ध नहीं है। अतः हम पूर्ण विवेक रखते हुए, मर्यादित, संयमित व धर्मयुक्त भाषा का प्रयोग करें। वाणी के अविवेक से कई समस्याएँ खड़ी होती हैं। अतः हम जो भी बोलें, बहुत सोच समझकर व मधुर बोलें। कटु, व्यंगपूर्ण व किसी के गुप्त रहस्यों को उद्धाटित करने वाले वचन कभी न बोलें। ऐसा सत्य भी न बोलें जिससे किसी की आत्मा में क्लेश पैदा हो। अनावश्यक शब्दों को बोलकर अपनी शक्ति को खर्च न करें। सामने वाला अनुचित भी बोलता है तब भी हम अपना संयम बनाये रखें। कौन व्यक्ति सज्जन व कौन दुर्जन है, इसकी पहचान वाणी से ही होती है। यदि कोई दुर्व्यवहार करता है, गलत भाषा का प्रयोग करता है तो भी हम सहिष्णु बनकर विवेक रखकर सहन करना सीखें।

यह जिह्वा बड़ी चटोरी है, खाने को मीठा मांगती है पर बोलती कड़वा है। आज मनुष्य की वाणी कड़वी व कठोर बनती जा रही है इसीलिये जीवन में पापों का अंतहीन सिलसिला जारी है। ऐसा लगता है मनुष्य मीठा बोलना ही भूल गया है। उसकी वाणी से तीखे बाण की तरह शब्द निकलेंगे तो फिर जीवन में महाभारत होना सुनिश्चित है। कटुवाणी क्लेश एवं दुःख का कारण बनती है। पांचों इन्द्रियों में रसनेन्द्रिय बड़ी खतरनाक है। यह होती तो चार अंगुल की है, लेकिन इस पर नियन्त्रण नहीं रखते हैं तो यह छः फुट के आदमी को मार गिराती है। इसके दो बड़े काम हैं- चखना व बकना। बोलना खराब नहीं है पर बकना अपराध है। वाणी वह खट्टा पदार्थ है जो मैत्री के दूध को फाड़ देती है। वाणी वह चुम्बक है जो मनुष्य के प्रति आकर्षण पैदा करती है। वाणी वंह एक्सरे मशीन है जो अन्तरंग का फोटो निकाल कर सामने रख देती है। वाणी में इतनी शक्ति है कि बिगाड़े हुए काम को सुधार भी सकती है एवं बनते हुए कार्य को बिगाड़ भी देती है।

मन के भावों को प्रकट करने का साधन वाणी है। इसी से पता चलता है कि मनुष्य का हृदय कितना स्वच्छ व पवित्र है। वाणी से ही व्यक्तित्व की पहचान होती है। हमारा सारा व्यवहार वाणी के आधार पर चलता है। वाणी के द्वारा ही पारस्परिक संबंधों में अमृत उंडेला जा सकता है। यही वाणी गहरे घाव भी कर सकती है। इस वाणी की कटुता ने एक घर को नहीं, अनेक घरों को उजाड़ा है। यह वाणी एक ओर द्वेष के कांटे बिखेरती है तो यही वाणी मधुर वचनों के पुष्प व सौरभ भी फैलाती है। अतः हम पूर्ण उपयोग रखकर हितकारी वचन बोलें। हम अपने वचनों का दुरुपयोग न करें। सोचें इन वचनों के माध्यम से हमने कितनी जिन्दगियाँ बर्बाद की। कितने जीवन में आग लगा दी, कितनों की घात करवा दी। हमारी यह जुबान आग की लपटें न बन जायें। हमारे मुँह से आग के शोले न उगलें। हम सदैव अपने वचनों को संवारने व मधुर बनाने की कोशिश करें। नहीं बोलना आये तो मौन रखें। जहाँ हमारी भाषा शिष्ट होनी चाहिए वहाँ हमने क्लिष्ट बना ली। सोचें जिन वचनों से हमने दूसरों के हृदय में दावानल सुलगाया है, घाव बनाया है वह कैसे मिटेगा। वचन के घाव जल्दी नहीं भरते, बहुत दुःख-दर्द व पीड़ा देकर तड़फाते हैं।

जो मीठा बोलता है उसके प्रति हर किसी के मन में प्रेम उमड़ता है। प्रेम मांगने से नहीं मिलता, बांटने व देने से मिलता है। यदि हम सबसे प्रेम करते हैं, सबकी तन-मन से सेवा करते हैं। सबके प्रति सहयोग व

आत्मीयता की भावना रखते हैं तो सब हमारे बन जाते हैं। दो मीठे बोल जीवन की धारा बदल देते हैं। पीढ़ियों के जानी दुश्मन भी मित्र बन जाते हैं। शस्त्र से चीरे हुए हार्ट को टांके लगाकर जोड़ दिया जाता है, लेकिन शब्दों के द्वारा चीरे हुए हार्ट को जोड़ना बड़ा कठिन है। अतः हम वचनों का सदुपयोग करें।

प्रश्न- काय गुप्ति से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर- काय गुप्ति में अशुभ कार्य से निवृत्ति की जाती है।

काय गुप्ति में शरीर को अशुभ चेष्टाओं या कार्योंसे हटाकर शुभ चेष्टाओं व कार्यों में यतनापूर्वक लगाया जाता है। अयतना का अर्थ है उपयोग शून्यता, असावधानी, अविवेक, अजामृति एवं प्रमाद। हम हर कार्य को यतनापूर्वक करके कर्मबंधन से बच सकते हैं।

मन एवं वचन दोनों का आधार काया है। चेतना के रहने का स्थान पूरा शरीर है। हमारे रोम-रोम में आत्मा के प्रदेश हैं। शरीर के माध्यम से ही चेतना की प्रतीति होती है। मन-वचन के बिना काया रह सकती है। पर काया के बिना मन-वचन की परिणति नहीं होती। हम इस शरीर का सदुपयोग कर मोक्ष को जा सकते हैं व दुरुपयोग कर नरक-निगोद में भी जा सकते हैं। अतः इस शरीर से जो भी क्रियाएँ करें उन्हें पूर्ण यतना व विवेक से करें। यतना से आस्रव रुकता है। यह शरीर जीवित भगवान का मंदिर है। जिसे यह समझ होगी वह कभी भी गलत कार्य कैसे कर सकता है? हम अपने शरीर के भीतर बैठे उस जीवित परमात्मा को देखें, समझें व उनके दर्शन करें। जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख व अनन्त वीर्य से सम्पन्न है।

जब कायगुप्ति होती है तो संवर होता है। आस्रव का त्याग हो जाता है तभी हम चेतना में स्थिर होते हैं। काय गुप्ति का मतलब-अशुभ से हमें छूटना है। इस शरीर से जितनी भी प्रवृत्तियाँ हम करते हैं, वे निर्दोष हों। इस तरह की प्रवृत्ति करें, जिससे किसी भी जीव को कष्ट न हो।

जयं चरे जयं चिद्धे, जयमासे, जयं सए, जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्भं न बंधइ।

यतनापूर्वक चलने, खड़े रहने, बैठने, सोने, खाने व बोलने से पाप कर्मों का बंध नहीं होता है।

हमारे कदम मोक्ष मार्ग में अर्थात् ज्ञान-दर्शन चारित्र के मार्ग में आगे बढ़ें। मैं कैसे चल रहा हूँ, क्यों चल रहा हूँ, कहाँ चल रहा हूँ, किस कारण चल रहा हूँ, बिना मतलब के तो नहीं चल रहा हूँ? मैं संसारमार्ग में भौतिक सुखों के पीछे पागल बनकर तो नहीं दौड़ रहा हूँ? इस प्रकार हर कार्य में क्यों, कैसे, किसलिये लगायें, जैसे- मैं क्यों बोल रहा हूँ, क्यों खा रहा हूँ, कहाँ जा रहा हूँ, कैसे चल रहा हूँ, कैसे सो रहा हूँ? प्रत्येक प्रवृत्ति का निरीक्षण कर यतना रखें।

हम संसारमार्ग में दौड़ते-दौड़ते परेशान हो जायेंगे तो भी मंजिल कभी नहीं मिलेगी, दूरी कम नहीं होगी, लेकिन मोक्ष मार्ग में थोड़ा भी चलेंगे तो दूरी कम होती जायेगी व मंजिल के नजदीक पहुँचते जायेंगे।

काया से कोई भी क्रिया यदि हम यतनापूर्वक करते हैं तो वह संवर है। चाहे सामायिक करते समय सामायिक के बैग को भी अयतना से फेंक देते हैं तो वहाँ भी आस्रव है। दैनिक क्रियाओं में यदि हम यतना रखें तो

कितने ही पापों से बच सकते हैं। जैसे कपड़े सुखा रहे हैं, झाड़ू निकाल रहे हैं, लाइट-पंखा आदि चला रहे हैं, खाना बना रहे हैं तो सोचें, यतना से घर कैसे झाड़ते हैं, कपड़े कैसे झटक-झटक कर सुखाते हैं। हमारे जैन साधु कैसे कपड़े सुखाते हैं वे छोटी से छोटी चीज को भी कैसे यतना से परठते हैं।

कर्मों के जाल से यदि हमें मुक्त बनना है तो हमारे भावों में निरन्तर विशुद्धि रहे। शुभ भावों से हम अपने को निरन्तर भावित करते रहें। बारह भावनाओं का चिंतन करते रहें। अपने को भावित कैसे करें। जैसे- “मरना सबको एक दिन अपनी-अपनी बार” मुझे भी एक दिन मरना है, रहना नहीं है। यहाँ से निश्चित जाना है फिर मुझे ऐसे कार्य नहीं करना है जिससे मैं दुर्गति का मेहमान बनूँ। जब मुझे सब कुछ यहीं छोड़कर जाना है तो फिर मैं वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थिति को लेकर राग-द्वेष के भाव क्यों करूँ। उस पर ममता की मोहर क्यों लगाऊँ? जो आया है वह अवश्य जायेगा। मैं भी जाऊँगा। इस तरह हर क्षण शुभ विचारों के द्वारा हम अपनी आत्मा को भावित करते रहें। मन की शक्ति हमें मिली है तो हम अच्छा सोचें, अच्छा चिंतन करें। वाणी की शक्ति मिली है तो हम मधुर बोलें। काया की शक्ति मिली है तो खूब सेवा व परोपकार के कार्य करें। हमें मन-वचन व काया ये तीन शक्तियाँ मिली हैं। हम इसका सदुपयोग व दुरुपयोग दोनों कर सकते हैं। दुरुपयोग तो हमने आज तक किया ही है। तभी तो अनन्त काल से हम भटक रहे हैं। अब तीनों का सदुपयोग कर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर अनन्त संसार को सीमित कर सकते हैं।

-चोरडिया भवन, थार हेण्डलूम के सामने, गोल बिल्डिंग रोड, जात्तोरी गेट, जोधपुर-
342003(राज.)



श्रावकोपयोगी श्रमणाचार

डॉ. दिलीप धींग

श्रमणाचार श्रमण-श्रमणियों की आत्म-साधना के लिए तो उपयोगी होता ही है, किन्तु श्रावक-श्राविकाओं के जीवनोत्थान में भी उसकी प्रेरक भूमिका होती है। पर्याप्त अंशों में एक श्रावक भी श्रमणधर्म को जीवन में अपनाकर आत्मोत्थान के साथ पर्यावरण सन्तुलन एवं मानव-समाज के हित में सहयोगी बनता है। डॉ. धींग ने कषायमुक्ति, षट्जीवनिकाय रक्षा एवं रात्रिभोजन-त्याग को आधार बनाकर श्रावकों के लिए एक आवश्यक आचार संहिता प्रस्तुत की है। -सम्पादक

जैन धर्म की सबसे बड़ी विशेषता उसका सुदृढ़ आचार-पक्ष है। जहाँ तक जैन श्रमणाचार की बात है, वह इतना सुदृढ़ है कि संसार के सभी धर्मों के संन्यासियों में जैन साधु-साध्वियों की अलग और विशिष्ट पहचान है। ऐसे श्रमण की उपासना करने वाले गृहस्थ श्रावक को श्रमणोपासक कहा गया है। श्रमण के उपासक श्रावक के लिए यह अभिप्रेत है कि वह श्रमणाचार से अनुप्रेरित होकर अपने श्रावकाचार को अधिक सुदृढ़ बनाए तथा पारिवारिक, सामाजिक और व्यावसायिक जीवन में श्रावकाचार और श्रमणाचार की उपयोगिता को सार्थक करे। पाँच महाव्रत श्रमणाचार के मूलाधार हैं। इनके अलावा पाँच समिति, तीन गुप्ति, बारह प्रकार का श्रमण-धर्म, सतरह प्रकार का संयम, आहार विहार, दिनचर्या आदि से सम्बन्धित अनेक बातें श्रमणाचार से जुड़ी हुई हैं। इस प्रकार श्रमणाचार के अनेक नियम, उप-नियम, अंग और आयाम हैं। उनमें कषाय-मुक्ति, षट्जीवनिकाय की रक्षा और रात्रिभोजन त्याग का भी विशिष्ट स्थान है। इस लेख में श्रमणाचार की इन तीन विशेषताओं का स्वरूप बताते हुए उनका श्रावकाचार से सम्बन्ध तथा परिवार, समाज, संसार और पर्यावरण की दृष्टि से इनकी आवश्यकता, उपयोगिता और महत्ता बताई गई है।

कषाय-मुक्ति की उपयोगिता

संसार और संसार की समस्याओं का मूल है 'कर्म' और 'कर्म' का मूल है - कषाय। कषाय मानव को पतन के गर्त में गिरा देते हैं और लम्बे समय तक उसे वहीं रखते हैं। दशवैकालिक में कहा गया है - क्रोध, मान, माया व लोभ - ये चारों कषाय जीवन में पाप और सन्ताप बढ़ाते हैं।¹ अपना भला चाहने वालों को इनका त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय को नष्ट करता है, कपट मित्रता का नाश करता है और लोभ सबका नाश कर देता है।² वात, पित्त आदि विकारों से मानव इतना उन्मत्त नहीं होता जितना

वह कषायों से होता है।⁴ आचार्य भद्रबाहु कहते हैं - ऋण को थोड़ा, घाव को छोटा, आग को तनिक और कषायों को अल्प नहीं मानना चाहिये, क्योंकि ये थोड़े ही बहुत हो जाते हैं।⁵ जैन परम्परा के आचार पक्ष में कषाय-त्याग को मुख्य मानने से समाज में धार्मिक अन्धविश्वासों व कर्मकाण्डों पर चोट हुई। आचार्य हरिभद्र ने कहा - किसी पन्थ या वाद में मानव का कल्याण नहीं है, कल्याण तो कषायों को छोड़ने में है।⁶ इससे सामाजिक, धार्मिक व मानवीय एकता की राह प्रशस्त हुई। चारों कषायों का विवरण निम्नानुसार है -

1. क्रोध - प्रत्येक व्यक्ति शान्ति और सम्पन्नता की दिशा में आगे से आगे बढ़ना चाहता है। वह सम्पन्नता महज धन तक सीमित नहीं है। जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यक्तित्व का वैभव प्रकट होना चाहिये। ऐसे बहुआयामी वैभवशाली जीवन के लिए क्रोध का परित्याग मुख्य शर्त है। प्राचीन ग्रन्थ इसिभासियाइं में कहा गया है -

क्रोधेण अप्पं डहती परं च, अत्थं च धम्मं च तहेव कामं।

तिव्वं ये वेरं पि करंति क्रोधा, अधम्मं गतिं वा वि उर्विति क्रोहा।।⁷

क्रोध से व्यक्ति स्वयं को जलाता है, दूसरो को जलाता है। वह धर्म, अर्थ और काम को जलाता है। तीव्र वैर कराने वाला क्रोध जीवन के पतन का भी कारण है। आचारांग में कहा गया है कि क्रोध आयु को नष्ट करता है।⁸ व्यक्ति स्वयं क्रोध नहीं करे, यह एक पक्ष है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि वह दूसरों के क्रोध का निमित्त भी न बने। भगवती आराधना में क्रोध की हानियाँ बताते हुए कहा गया है कि क्रोधग्रस्त मानव का वर्ण नीला पड़ जाता है, वह हतप्रभ हो जाता है तथा उसका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। व्यग्रता और बेचैनी से उसे शीतकाल में भी प्यास लगने लग जाती है। क्रोध दुश्मन का अपकार करता है तथा परिवारजनों, मित्रों व अपनों के लिए समस्या का प्रत्यक्ष कारण बनता है।⁹

भगवतीसूत्र में क्रोध के दस नाम बताये गये हैं¹⁰ - (1) क्रोध, (2) कोप, (3) द्वेष : स्वयं पर अथवा दूसरों पर द्वेष करना। स्वयं पर द्वेष करते हुए व्यक्ति आत्महत्या कर लेता है। कभी-कभी दूसरों से द्वेष करते हुए भी व्यक्ति आत्महत्या कर लेता है। आत्महत्या कषाय का परिणाम है। इससे कौटुम्बिक और सामाजिक गौरव नष्ट होता है, (4) रोष (नाराजगी), (5) संज्वलन (ईर्ष्या करना) : ईर्ष्या जीवन में वैर और अस्वस्थ-स्पर्धा बढ़ाती है, (6) अक्षमा (गलती माफ नहीं करना), (7) कलह, (8) चण्डिक्य (क्रोध का बीभत्स रूप), (9) भण्डन : किसी पर हाथ उठाना या काया से अनुचित व्यवहार करना। (10) विवाद : अंट-शंट बोलना, झगड़ा कायम रखना और अनावश्यक बहस करना।

क्रोध विपन्नता और विपत्तियों को न्यौता देता है, जबकि अक्रोध से सम्पन्नता और सम्पत्ति में अभिवृद्धि होती है। क्रोध नहीं करने वाला अपनी अपरिमित प्राण ऊर्जा बचा लेता है। वह सहिष्णु, विवेकवान तथा विचारपूर्वक कार्य करने वाला होता है। वह क्षमावान, सर्वप्रिय, अच्छी निर्णय क्षमता वाला और दूरदर्शी होता है। वह हमेशा पारिवारिक/सामाजिक विग्रह और क्लेश से बचा रहता है।

2. मान -मान के वश हो व्यक्ति वैभव का अति प्रदर्शन करता है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में ऐसा प्रदर्शन उचित नहीं है। मद में चूर व्यक्ति अपने वैभव-प्रदर्शन के सामाजिक दुष्प्रभावों की कोई चिन्ता नहीं करता है। भगवान महावीर अहंकार को अज्ञान का द्योतक मानते हैं।¹¹ सूत्रकृतांग में वे व्यक्ति के जातीय और कौटुम्बिक अहंकार को अनुचित ठहराते हुए कहते हैं - “ऐसे अहंकार से कुछ भी नहीं होने वाला। ज्ञान और सदाचरण मनुष्य की श्रेष्ठता के प्रतीक हैं।”¹² जो निरभिमानी है, वह ज्ञान, यश व सम्पत्ति प्राप्त करता है और अपना प्रत्येक कार्य सिद्ध करता है।¹³

भगवती सूत्र में मान के बारह नाम बताये गये हैं¹⁴ - (1) मान, (2) मद, (3) दर्प, (4) स्तम्भ (5) गर्व, (6) अत्युक्रोश (आत्मा-प्रशंसा), (7) परपरिवाद, (8) उत्कर्ष : अपने वैभव का प्रदर्शन, (9) अपकर्ष : किसी को उसकी योग्यता से कम आंकना, (10) उन्नत नाम : सद्गुणों व गुणियों का अनादर करना, पैसे वालों का ही आदर करना, (11) उन्मत्त : दूसरों को निम्न समझना, (12) आधा-अधूरा झुकना।

आगम-ग्रन्थों में व्यक्ति के अहंकार पर चोट करने वाले अनेक प्रेरक कथानक हैं। धन, सत्ता, पद आदि का अहंकार करने वाला सामान्य व्यक्तियों की योग्यता, सलाह व स्नेह से वंचित रहता है। विनयवान व्यक्ति सद्गुणों और श्रेष्ठताओं को अर्जित करता है।

3. माया -कपट से विश्वसनीयता और मैत्री जैसे जीवन-मूल्य नष्ट हो जाते हैं। एक कपट हजारों सत्यों को नष्ट कर डालता है।¹⁵ मौजूदा बाजारवादी व्यवस्था में मिथ्या और कपटपूर्ण विज्ञापनों का जाल फैला हुआ है। इन विज्ञापनों ने जीवन और समाज में वस्तुओं के उपभोग की एक अनावश्यक होड़ा-होड़ी पैदा कर दी है। माया-मूषावाद से समाज में लोभजनित बुराइयाँ बढ़ जाती हैं।¹⁶

भगवती सूत्र के अनुसार माया के पन्द्रह नाम हैं¹⁷ - (1) माया, (2) उपधि : ठगने के लिए किसी के पास जाना, (3) निकृति : ठगने लिए किसी को विशेष सम्मान देना, (4) वलय : भाषिक छल, (5) गहन : छलने के लिए गूढ़ आचरण करना, (6) नूम : साजिश, (7) कल्क : दूसरों को हिंसा के लिए दुष्प्रेरित करना, (8) अभद्र व्यवहार करना, (9) निहनवता : ठगने के लिए कार्य मन्थर गति से करना, (10) कुचेष्टा, (11) आदरणता : अवांछनीय कार्य, (12) गूहनता : अपनी करतूतें छिपाना, (13) वंचकता, (14) प्रति-कुंचनता : किसी के सहज-सरल वचन-व्यवहार का कपट से गलत अर्थ लगाना (15) सातियोग : मिलावट करना।

निश्चल, सरल और मायारहित जीवन में सुख, सौभाग्य और शान्ति का अधिवास होता है तथा पारस्परिक मैत्रीभाव स्थायी व सुदृढ़ बनता है।

4. लोभ -लाभ अर्थशास्त्र का प्रेरक तत्त्व है, लोभ दुष्प्रेरक तत्त्व है। लाभ में साधन-शुद्धि का विवेक रखा जाता है। लोभ व्यक्ति को साधन-शुद्धि की फिक्र नहीं करने देता है। नीति को अनीति में बदलने में लोभ की मुख्य भूमिका है। लोभ की वजह से आर्थिक घोटाले, भ्रष्टाचार, झगड़े-टण्टे, हिंसा, युद्ध आदि होते हैं। लोभ और

तृष्णा के वशीभूत इंसान ने पर्यावरण, प्रकृति और संस्कृति को अपूरणीय नुकसान पहुँचाया है। संसार की भलाई और विश्व-शान्ति के लिए मानव में निर्लोभता की चेतना को जागृत करना बेहद जरूरी है। लाभ से लोभ बढ़ता है।¹⁸ स्वर्ण-रजत और वस्तुओं के ढेर भी लोभी की तृष्णा को शान्त करने में असमर्थ हैं।¹⁹ भगवान महावीर लोभ पर अंकुश के लिए संतोष का सुझाव देते हैं।²⁰ सन्तोष और साधन-शुद्धि हेतु वे गृहस्थ के लिए इच्छा-परिणाम व्रत का विधान करते हैं।²¹

लोभ के विभिन्न रूपों को लक्ष्य करते हुए उन्होंने लोभ के सोलह नाम बताये हैं²² - 1. लोभ (संग्रह-वृत्ति), 2. इच्छा (अभिलाष), 3. मूर्च्छा (तीव्रतम संग्रह-वृत्ति), 4. कांक्षा (आकांक्षा), 5. गृद्धि (आसक्ति), 6. तृष्णा (लालसा), 7. मिथ्या (लोभ के लिए झूठ), 8. अभिध्या (अनिश्चय), 9. आशंसना (प्राप्ति की इच्छा), 10. प्रार्थना (याचना), 11. लालपनता (चाटुकारिता), 12. कामाशा (काम की इच्छा), 13. भोगाशा (भोग की इच्छा), 14. जीविताशा : इसका लक्षणार्थ है - मरण शय्या पर भी जीने का लोभ नहीं त्यागना, 15. मरणाशा : इच्छापूर्ति नहीं होने पर मरने की इच्छा करना, 16. नन्दिराग (प्राप्त में अनुराग)।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कषाय-मुक्त व्यक्ति स्वयं का विकास करता है, साथ ही अपने परिवार, समाज, व्यवसाय और इनसे जुड़े लोगों के विकास का कारण बनता है। कषाय-मुक्ति से भाषा-समिति और वचन-गुप्ति का अनुपालन सहज हो जाता है। एक श्रेष्ठ व सफल गृहस्थ बनने के लिए कषाय-त्याग आवश्यक है। कषाय-मुक्ति से जीवन और जगत् का सर्व-मंगल जुड़ा हुआ है। कषाय-मुक्ति की एक साधना से आत्म-कल्याण, विश्व-बन्धुत्व, समृद्धि, खुशहाली जैसे अनेक उद्देश्य पूरे होते हैं।

षट्जीवनिकाय की रक्षा की उपयोगिता

आत्मा धर्म और दर्शन की आधारशिला है। द्रव्य दृष्टि से वह सबमें एक समान है और अस्तित्व की दृष्टि से स्वतंत्र।²³ पण्डित सुखलालजी के अनुसार स्वतन्त्र जीववादियों में जैन-परम्परा का प्रथम स्थान है। इसके दो कारण बताये गये हैं - प्रथम, आत्मा विषयक जैन अवधारणा अत्यंत वैज्ञानिक और बुद्धिग्राह्य है। द्वितीय, ई.पू. आठवीं सदी में हुए ऐतिहासिक तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के समय में जैन परम्परा में आत्मा विषयक अवधारणा सुस्थिर हो गई थी। ऐतिहासिक दृष्टि से आत्मा की जैसी अवधारणा आज से 3000 वर्ष पूर्व जैन परम्परा में थी, वैसी ही आज है। जबकि अन्य परम्पराओं की जीव सम्बन्धी मान्यताओं में परिवर्तन होता रहा है।²⁴

वस्तु-स्वातन्त्र्य - जैन दर्शन के वस्तु-स्वातन्त्र्य के सिद्धांत ने मानव जाति का बहुत भला किया है। दर्शन, अध्यात्म, समाज और विज्ञान की अनेक अनसुलझी गुत्थियों को वस्तु-स्वातन्त्र्य के सिद्धांत से आसानी से सुलझाया जा सकता है। व्यक्ति और समाज को कमजोर करने वाली धर्म-विषयक अनेक मिथ्या-धारणाएँ आत्मवाद के समक्ष अर्थहीन हो जाती हैं। ज्ञान-विज्ञान, अहिंसा और पुरुषार्थ की अलख जगाने और जगाये रखने में आत्मवाद की बड़ी भूमिका है। श्रमणाचार में स्वावलम्बन का एक आधार वस्तु-स्वातन्त्र्य है, जो

सबको आत्म-निर्भरता की प्रेरणा देता है।

आत्मवाद ने उपादान और निमित्त का समाधानकारी नियम हमारे सामने रखा। फलस्वरूप व्यक्ति ने समस्याओं के समाधान के लिए समस्याओं की तह में जाना सीखा। समस्या के मूल में जाकर किये गये समाधान से समस्या का स्थायी हल निकलता है। आज समाजशास्त्रियों और नीति-निर्माताओं के सामने विषमता, पर्यावरण प्रदूषण, बेरोजगारी, जनसंख्या-वृद्धि आदि न जाने कितनी-कितनी समस्याएँ हैं। उनके सामने आत्मा का, अहिंसा का, त्याग का कोई सुस्पष्ट दर्शन नहीं है। वे निमित्तों में ही समाधान ढूँढते रहते हैं। परिणामस्वरूप समस्याओं का स्थायी समाधान तो नहीं होता है सो ठीक, कभी-कभी एक समाधान अन्य नई समस्याओं को जन्म देने वाला सिद्ध हो जाता है। निपट भौतिकवादी और अनात्मवादी सोच और कार्य-शैली से आज संसार एक ऐसी जगह पर आ गया लगता है, जहाँ आगे विनाश के अलावा कोई रास्ता नहीं बचा है।

अहिंसा का सिद्धांत आत्मवाद की बुनियाद पर खड़ा है। यह बुनियाद बहुत मजबूत व बहुआयामी है। आगम ग्रन्थों में अहिंसा की जैसी मौलिक, सूक्ष्मतम व सर्वग्राही व्याख्या मिलती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। आगम ग्रन्थों में वर्णित अहिंसा-सम्बन्धी सूक्ष्म विवेचन का पर्यावरण और पारिस्थितिकी की दृष्टि से बहुत महत्त्व है। ग्रन्थों में संसारी जीव के दो प्रकार बताये गये हैं - स्थावर और त्रस।²⁵ जिन जीवों में गमनागमन की क्षमता का अभाव है, वे स्थावर जीव हैं तथा जिनमें चलने-फिरने की क्षमता है, वे त्रस जीव हैं।

स्थावर जीव

श्रावक स्थावर जीवों की हिंसा का पूर्ण त्याग नहीं कर पाता है। लेकिन जिन कार्योंमें अत्यधिक स्थावरकायिक व सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है, उन्हें 'महाआरम्भ' कहा गया और उनकी हिंसा से बचने के लिए निर्देश किये गये हैं। स्थावर जीवों के पाँच भेद हैं²⁶ -

1. पृथ्वी - आगमों में स्थूल पृथ्वी के दो प्रकार बताये गये हैं - मृदु और कठोर। इनमें मृदु पृथ्वी के सात तथा कठोर पृथ्वी के छत्तीस प्रकार बताए गये हैं।²⁷ इन भेदों में कृषि योग्य मिट्टी से लेकर रत्न-मणि तक का उल्लेख है। पृथ्वी समस्त प्राणियों के लिए आधार है। प्रदूषण की भार पृथ्वी के नैसर्गिक वैविध्य पर पड़ी है। पृथ्वी के प्रदूषित होने से उसके आश्रित रहने वाले अनेक त्रस जीवों तथा स्थावर में वनस्पति आदि के जीवन पर विपरीत प्रभाव पड़ा। अनेक जीव-जन्तु और वनस्पतियाँ धरती से विलुप्त हो गईं। पृथ्वीकाय के स्वरूप को जानकर इनकी विराधना से बचना चाहिये।
2. जल - स्थूल जल के पाँच भेद बताये गये हैं - शुद्ध उदक, ओस, हरतनु, कुहरा और हिमा²⁸ सहज रूप से सर्व-सुलभ जल आज बिकाऊ हो गया है, उसके लिए झगड़े होते हैं। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार वर्तमान विश्व में 100 करोड़ से अधिक लोग गन्दा पानी पीने को मजबूर हैं।²⁹ एक को शुद्ध पेय-जल उपलब्ध नहीं है, दूसरा उसकी फिजूलखर्ची कर रहा है। ये हिंसा के अर्थतन्त्र के परिणाम हैं कि पूरा पर्यावरण-तन्त्र चरमरा गया है। जल-संयम और जल-संरक्षण आज की सबसे बड़ी जरूरत बन गई है।

3. **वनस्पति** - स्थूल वनस्पति के दो भेद - प्रत्येक शरीरी और साधारण शरीरी। प्रत्येक शरीरी के बारह प्रकार हैं - वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, तृण, लतावलय, पर्वग, कुहुण, जलज, औषधितृण और हरितकाया¹⁰ साधारण वनस्पति के अन्तर्गत कन्द, मूल आदि आते हैं। घटते वन तथा विलुप्त होती वनस्पतियों के कारण जैव विविधता का संकट गहराता जा रहा है। जीव-जन्तुओं के प्राकृतिक आवास नष्ट हो रहे हैं। वनस्पति के आश्रय में रहने वाले त्रस-स्थावर जीवों का अस्तित्व ही संकट में पड़ गया है। वनस्पति के संरक्षण से अनेक जीवों का संरक्षण सम्भव है।
4. **अग्नि** - स्थूल अग्नि के अनेक भेद बताये गये हैं - अंगार, मुर्मु, शुद्ध, अग्नि, अर्चि, ज्वाला, उल्का, विद्युत् आदि।¹¹ अग्नि का विनाशक प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये। पर्यावरण की रक्षा के लिए अग्नि के उपयोग का संयम भी आवश्यक है। अब तो बिजली बचाओ (Save Electricity) का नारा भी दिया जाने लगा है।
5. **वायु** - स्थूल वायुकायिक जीवों के छः भेद हैं - उत्कलिका, मण्डलिका, घनवात, गुंजावात, शुद्धवात और संवर्तक वाता।¹² वर्तमान समय में प्रदूषण-मुक्त, स्वच्छ और ताजी हवाओं के लिए नाना प्रकार की वनस्पतियों और वृक्षों का रोपण किया जाता है। इसके अलावा पठारों की सुरक्षा, वन सम्पदा की सुरक्षा, हानिकारक रासायनिक पदार्थोंकी समाप्ति, वाहनों व रासायनिक संयंत्रों से निकलने वाले धुएँ पर नियन्त्रण, निजी वाहनों पर लोगों की निर्भरता घटना तथा प्रदूषण-मुक्त उद्योगों की स्थापना आदि उपाय किये जाते हैं।¹³

स्थूल जीवों की आगम वर्णित जानकारी से यह प्रेरणा मिलती है कि पर्यावरण और प्रकृति की रक्षार्थ स्थावरकायिक जीवों की हिंसा से बचना भी नितान्त आवश्यक है। आचारांग सूत्र में स्थावरकायिक जीवों की रक्षा की प्रबल प्रेरणा दी गई है। स्थावर और त्रस सभी प्रकार के जीव परस्पर एक-दूसरे के आश्रित होते हैं। इसलिए एक के विनाश में सबका विनाश और एक के संरक्षण में सबका संरक्षण समाहित होता है। ध्वनि-प्रदूषण, वायु-प्रदूषण, जल-प्रदूषण, भूमि-प्रदूषण जैसी समस्याएँ वर्तमान में हमारे सामने बीभत्स रूप में खड़ी हैं। इनके मूल में स्थावरकायिक जीवों की बेहिसाब हिंसा है। इन्हीं स्थावरकायिक जीवों के सहारे अनेक प्रकार के त्रस प्राणियों का जीवन निर्भर होता है। वायु, जल, वनस्पति आदि के प्रदूषित होने से इनके सहारे जीने वाले सभी जीवों का जीवन संकट में पड़ जाता है। जल, वायु, भूमि, अन्य सूक्ष्म व स्थूल प्राणी, पेड़-पौधे और मानव का जब अन्तःसम्बन्ध टूट जाता है तो पर्यावरण और पारिस्थिकी संतुलन को नुकसान पहुँचता है। सूक्ष्म जीवों की रक्षा के लिए भगवान महावीर प्रत्येक कार्य-व्यापार में यतना और विवेक की हिदायत देते हैं।¹⁴

त्रस जीव

आचारांग के प्रथम अध्ययन के छठे उद्देशक में संसार स्वरूप के विवेचन में त्रस जीवों का उल्लेख है। त्रस जीवों के चार भेद बताये हैं - द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिया¹⁵ द्वीन्द्रिय जीवों में शरीर और रसना

वाले लट, केंचुआ, कृमि, शंख आदि, त्रीन्द्रिय जीवों में शरीर, रसना और घ्राण वाले चींटी, मकोड़े, दीमक, झिंगुर आदि, चतुरिन्द्रिय में काया, जिह्वा, घ्राण और चक्षु वाले तितली, मकखी, भ्रमर, बिच्छू आदि अनेक जीव आते हैं। उपर्युक्त चार और पाँचवी श्रवणेन्द्रिय वाले जीव पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं।

पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं - सम्मूर्च्छिम और गर्भज। आगमों में सम्मूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति जिस प्रकार से बताई गई है, उसकी तुलना वर्तमान में क्लोनिंग से की जा सकती है, जिसके औचित्य-अनौचित्य पर चर्चा हो रही है। तिर्यंच पंचेन्द्रिय के तीन प्रकार हैं - जलचर, स्थलचर और खेचर। जलचर के अन्तर्गत मत्स्य, कच्छप, ग्राह, मगर, शंशुमार आदि आते हैं।³⁶ स्थलचर की दो मुख्य जातियाँ हैं - चतुष्पद और परिसर्पा³⁷ चतुष्पद के चार प्रकार हैं - एक खुर वाले, जैसे अश्व आदि, दो खुर वाले, जैसे बैल आदि, गोल पैर वाले, जैसे हाथी आदि और नख-सहित पैर वाले, जैसे शेर आदि।³⁸ परिसर्प की मुख्यतः दो जातियाँ बताई गई हैं - एक भुजपरिसर्पा जो भुजाओं के बल पर रेंगते हैं, वे प्राणी भुजपरिसर्प हैं, जैसे गोह आदि। दूसरी जाति उरःपरिसर्प की है। इसके अन्तर्गत पेट के बल रेंगने वाले सर्प आदि आते हैं। खेचर की चार जातियाँ बताई गई हैं - चर्मपक्षी, रोमपक्षी, समुद्रपक्षी और विततपक्षी।³⁹

आगम ग्रन्थों में सभी प्रकार के जीवों को बचाने के लिए अनेक स्थलों पर प्रेरणाएँ दी गई हैं। उपासकदशांग में भगवान महावीर के उपासक आनन्द श्रावक को अभय प्रदायक कहा गया है। वर्तमान में बढ़ती हिंसा की वजह से पशु-पक्षियों और जीव-जन्तुओं की सैकड़ों जातियाँ और प्रजातियाँ धरती से लुप्त हो गईं और सैकड़ों विलुप्ति की कगार पर हैं। नित नई बीमारियाँ, बढ़ती प्राकृतिक आपदाएँ और जलवायु परिवर्तन के लिए जीव-जन्तुओं का अंधाधुंध विनाश जिम्मेदार है। पर्यावरण-संरक्षण और पारिस्थितिकी सन्तुलन के लिए सभी प्रकार के जीवों का धरती पर होना आवश्यक है। पट्टजीवनिकाय की रक्षा में इसी आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है।

रात्रि-भोजन निषेध की उपयोगिता

रात्रिभोजन त्याग भगवान महावीर की विशिष्ट और अनुपम देन है। श्रमणाचार में रात्रिभोजन-त्याग को छोटे महाव्रत का दर्जा दिया गया है। श्रमण-श्रमणियों के लिए रात्रिभोजन-त्याग को अनिवार्य बताया गया है।⁴⁰ उनके लिए रात्रि में जल-सेवन भी निषिद्ध है। सूर्यास्त होते-होते भी कोई श्रमण भोजन करता है तो वह 'पाप श्रमण' कहलाता है।⁴¹ महाव्रतों के अपवाद मिल सकते हैं, पर रात्रिभोजन-त्याग का कोई अपवाद नहीं है। इससे रात्रिभोजन-त्याग की विशिष्टता और महत्ता का पता चलता है। चारित्रपाहुड में 11 प्रकार के संयमाचरण में रात्रिभोजन-त्याग को समाविष्ट किया गया है।⁴² 'आचार-सार' में तो श्रावकाचार में भी रात्रिभोजन-त्याग को छोटे व्रत की संज्ञा दी गई है।⁴³

रात्रिभोजन निषेध का सम्बन्ध जितना अहिंसा और आरोग्य से है, उतना ही संयम, सदाचार और ब्रह्मचर्य से भी है। जो व्यक्ति सूर्यास्त पूर्व ही अपना आहार ग्रहण कर लेता है, सोने के समय तक उसका पेट

हल्का-फुलका और चित्त प्रसन्न रहता है। ऐसे में ब्रह्मचर्य का पालन उसके लिए बहुत आसान हो जाता है। आचार्य सुधर्मा भ. महावीर की स्तुति में कहते हैं - 'से वारिया इत्थि सराइ भत्ता' " यहाँ रात्रिभोजन के साथ ही वासना-विलास का निषेध किया गया है। रसना और वासना का गहरा रिश्ता है। यही रिश्ता रात्रिभोजन और वासना का भी है। जैनाचार में विशेष साधना करने वाला श्रावक प्रतिमाएँ स्वीकार करता है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में पाँचवीं नियम प्रतिमा में रात्रिभोजन त्याग का समावेश है तथा छठी ब्रह्मचर्य प्रतिमा बताई गई है।⁴⁵ दिगम्बर परम्परा के अनुसार छठी प्रतिमा रात्रिभुक्तित्याग और सातवीं प्रतिमा ब्रह्मचर्य का पालन है।⁴⁶ इससे रात्रिभोजन त्याग और ब्रह्मचर्य के सहसम्बन्ध का पता चलता है।

कितने ही व्यक्ति चाहते हुए भी ब्रह्मचर्य की साधना नहीं कर पाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को सादा आहार करना चाहिये तथा रात्रिभोजन-त्याग की दिशा में आगे बढ़ना चाहिये। सूर्यास्त पूर्व भोजन कर लेने वाले व्यक्ति का शरीर निद्रा-पूर्व तक स्वाध्याय, ध्यान, परमेष्ठी-स्मरण आदि के लिए एकदम अनुकूल हो जाता है। जो व्यक्ति निद्रा लेने से पूर्व ध्यान, नवकार-स्मरण आदि करता है अथवा ध्यान करके निद्रा के रूप में विश्राम करता है, उसकी निद्रा योग-निद्रा हो जाती है। उसका थोड़ी देर का आत्म-चिन्तन या ध्यान सम्पूर्ण निद्रा-काल जितना लाभकारी हो जाता है। अशुभ स्वप्नों से बचने के लिए भी निद्रा-पूर्व ध्यान अथवा नमस्कार महामंत्र का स्मरण बहुत हितकारी माना जाता है। लेकिन निद्रा-पूर्व ध्यान को प्रभावशाली बनाने के लिए सबसे प्रमुख तथ्य है-सूर्यास्त-पूर्व आहार।

जो व्यक्ति रात्रिभोजन त्याग करता है और योग-निद्रा लेता है, उसकी थोड़ी-सी निद्रा भी अधिक थकान मिटाने वाली और शीघ्र स्फूर्ति देने वाली हो जाती है। योग-निद्रा लेने वाला अगले दिन ताजगी के साथ जल्दी उठ सकता है। वह भली-भाँति अपनी प्रातःकालीन साधना-उपासना कर सकता है और पुनीत संकल्पों के साथ अपने नये दिन का शुभारंभ कर सकता है। इस तरह उसके पुण्य और पुरुषार्थ में अभिवृद्धि होती है तथा दिनचर्या और जीवनचर्या में एक ऊर्जा और नियमितता का समावेश हो जाता है।

जैन गृहस्थाचार में रात्रिभोजन-त्याग का नियम एक विशिष्ट पहचान के रूप में स्थापित है। परन्तु यह पहचान आज कम होती जा रही है। उसका सामाजिक जन-जीवन पर नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है। वह इस रूप में कि पहले तो व्यक्तिगत तौर पर रात्रि-भोजन होता था, अब सामूहिक रूप से रात को खाया और खिलाया जाता है। वह भी सामान्य रूप से नहीं, बल्कि आडम्बर और वैभव-प्रदर्शन के साथ खुले उद्यानों में बड़े-बड़े रात्रि भोज किये जाते हैं। धनाढ्य-वर्ग ऐसे रात्रि-भोजों में कुछ घण्टों में अनाप-शनाप पैसा पानी की तरह बहा देता है। निम्न मध्यवर्गीय जन-जीवन पर इस प्रकार के प्रदर्शनों का अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि इन भोजों को दिन में कर लिया जाये तो धन का अपव्यय तो रुकेगा ही, समाज में अनावश्यक होड़ा-होड़ी में भी कमी आएगी। सूक्ष्म जीवों की हिंसा तथा विद्युत की फिजूलखर्ची भी इससे रुकेगी। अनेक जैन गृहस्थ आज भी सामूहिक रात्रिभोजों का निषेध करके समाज को समता और सादगी का सन्देश देते हैं। सामूहिक रात्रिभोजों से

समाज और पर्यावरण पर जो विपरीत प्रभाव होते हैं, उनका आकलन किया जाए तो अनेक तथ्य मिल सकते हैं। रात्रिभोजन-त्याग और स्वास्थ्य का भी गहरा सम्बन्ध है, जिसके बारे में समय-समय पर चर्चा होती रहती है। आयुर्वेद में भी सूर्यास्त-पूर्व भोजन को स्वास्थ्य के लिए हितकर बताया गया है। रात को नहीं खाने वाला अनेक प्रकार की बीमारियों से बचा रहता है। इसका व्यक्ति की क्षमता और साधना पर अनुकूल प्रभाव होता है। वस्तुतः रात्रिभोजन निषेध का व्यष्टि और समष्टि, दोनों पर अनुकूल प्रभाव होता है।

श्रमणाचार और श्रावकाचार का अन्तःसम्बन्ध है। श्रावक के लिए श्रमण-जीवन और श्रमणाचार आदर्श रूप में होते हैं। एक जैन श्रमण का जीवन श्रम, स्वावलम्बन, कष्ट-सहिष्णुता, संयम, त्याग, क्षमा, करुणा, सजगता, मौन मर्यादा आदि अनेक विशेषताओं से अनुप्राणित होता है। श्रमण-जीवन की ये विशेषताएँ किसी न किसी रूप में श्रावक-जीवन और जनजीवन को प्रभावित और प्रेरित करती हैं। इस प्रकार जैन श्रमण की पूरी दिनचर्या तथा सम्पूर्ण जीवन-चर्या जिस प्रकार एक श्रावक के लिए उपयोगी व अनुकरणीय होती है, उसी प्रकार वह मानव, मानवता और दुनिया के लिए भी अनेक प्रकार की प्रेरणाओं का संचार करने वाली होती है।

सन्दर्भ :-

1. आवश्यक निर्युक्ति, 189
2. कोहं माणं च मायं च लोभं च पाववडढणं । वमे चत्तारि दोसे उ इच्छंतो हियमप्पणो ।-दशवैकालिक सूत्र-8.37
3. कोहो पीइं पणासेइ माणो विणयनासणो । माया मित्ताणि नासेइ लोहो सव्वविणासणो ।- दशवैकालिक सूत्र, 8.38
4. होदि कसाउम्मत्तो, उम्मत्तो तध ण पित्तउम्मत्तो । - भगवती आराधना, 1331
5. अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च । न हु भे वीससियव्वं, थोवं पि हु तं बहु होइ!- आवश्यक निर्युक्ति, 120
6. नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्त्ववादे । न पक्षसेवाश्रयणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव ।
7. इसिभासियाइं, 36.13
8. आचारांग सूत्र, 4.3.136
9. रोसाइद्धो णील्लो हदप्पभो अरदिअग्गिसंसत्तो । सीदे वि णिवाइज्जदि वेवदि य गहोवसिद्धो वा ।-भगवती आराधना, 1360, कोधो सत्तुगुणकरो, भ.आ.-1365
10. व्याख्याप्रज्ञप्ति, 12.5.103
11. बालजणो पगढ्भई-सूत्रकृतांग 1.11.2 एवं अन्नं जणं खिसइ बालपन्ने ।- वही, 1.11.14
12. न तस्स जाईव कुलं व ताणं, नण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं- सूत्रकृतांग, 1.13.11
13. सयणस्स जणस्स पिओ, णरो अमाणी सदा हवदि लोए । णाणं जसं च अत्थं, लभदि सकज्जं च साहेदि ।-भगवती आराधना, 1379
14. व्याख्याप्रज्ञप्ति, 12.43
15. सच्चाण सहस्साणि वि, माया एक्का वि णासेदि-भगवती आराधना, 1384
16. मायामोसं वड्ढई लोभदोसा- उत्तराध्ययन सूत्र, 32.30
17. व्याख्याप्रज्ञप्ति, 12.54
18. जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई ।- उत्तराध्ययन सूत्र, 8.17

19. उत्तराध्ययन सूत्र, 9.48-49
20. लोभं सन्तोसओ जिणे। -दशवैकालिक 8.39 एवं लोभविजएणं संतोसं जणयइ।- उत्तराध्ययन सूत्र 29.70
21. आवश्यक सूत्र पाँचवाँ और छठवाँ ब्रत
22. व्याख्याप्रज्ञप्ति 15.55
23. समवायांग 1.1 स्थानांग 1.1
24. शास्त्री देवेन्द्र मुनि : जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण, पृ. -87
25. संसारत्था उ जे जीवा दुविहा ते वियाहिया। तसा य थावरा चेव, थावरा तिविहा तर्हि।- उत्तराध्ययन 36.68
26. उत्तराध्ययन (36.70) में अग्नि और वायु को अपेक्षा से गतिशील माना है तथा स्थावर में पृथ्वी, जल और वनस्पति को लिया गया है।
27. उत्तराध्ययन 36.73-76, प्रज्ञापना (1.24) में पृथ्वीकाय के 40 भेद बताये गये हैं। मूलाचार में पृथ्वी के 36 भेद और तिलोयपण्णत्ति में 16 भेद बताये हैं।
28. उत्तराध्ययन 36.86, मूलाचार (गाथा 210) में 8 भेद बताये गये हैं।
29. नफा-नुकसान, जयपुर 9-10 फरवरी, 2005
30. उत्तराध्ययन 36.95-96, प्रज्ञापना (1.38-54) में वनस्पति के 12 वर्ग किये गये हैं।
31. उत्तराध्ययन 36.101-109, मूलाचार (गाथा 211) में अग्नि के 6 भेद बताये गये हैं।
32. बायरा जे उ पज्जता पंचहा ते पकितिया। उक्कलिया मंडलिया, घणगुंजा सुद्धवाया य।- उत्तराध्ययन, 36.118
33. भुवनेश मुनि (डॉ.) 'जैन आगमों के आचार दर्शन और पर्यावरण संरक्षण का मूल्यांकन', पृ. 190
34. जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे, जयं सये। जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधई।- दशवैकालिक सूत्र, 4.62
35. बेइंदिया तेइंदिया, चउरो, पंचिंदिया चेव।-उत्तराध्ययन, 36.126
36. उत्तराध्ययन, 36.172-173
37. उत्तराध्ययन, 36.180
38. उत्तराध्ययन, 36.181-182
39. उत्तराध्ययन 36.188, डॉ. सुदर्शन लाल जैन ने 'उत्तराध्ययन सूत्र : एक परिशीलन' में जीव के इन भेदों और प्रभेदों का विशेष विवेचन किया है।
40. दशवैकालिक-सूत्र 4.16, उत्तराध्ययन-सूत्र अध्ययन 19, मूलाचार 112-113
41. उत्तराध्ययन सूत्र, 17.16
42. चारित्रपाहुड, 22
43. आचारसार, 5.70
44. सूत्रकृतांग सूत्र, छठा अध्ययन
45. दशाश्रुतस्कंध, दशा 6
46. समंतभद्रकृत श्रावकाचार, वसुनन्दी श्रावकाचार आदि।

-इण्टरनेशनल लॉ स्रेण्टर,

61-63, डॉ. राधाकृष्णन मार्ग, मैलापुर, चेन्नई-600004



आधुनिक जीवन में श्रमणाचार की महत्ता

डॉ. जीवराज जैन

औद्योगिक क्रान्ति, आधुनिक सूचना तन्त्र तथा बदलते सामाजिक परिवेश के कारण श्रमण-श्रमणियों के आचार-पालन में उत्पन्न कठिनाइयों के कारण श्रमणाचार में यथोचित परिवर्तन की आवाजें उठती हैं। डॉ. जीवराज जैन उन समस्याओं को उठाकर भी अपने आलेख में श्रमणाचार के आगमसम्मत शुद्ध परिपालन को उचित ठहराया है। -सम्पादक

श्रमणाचार के नियम

एक श्रमण संपूर्ण हिंसा का त्यागी होता है। यानी वह छहों काया के जीवों का मन, वचन और काया से रक्षक होता है। वह स्व-कल्याण करते हुए ही पर-कल्याण की बात करता है। अपनी काया (देह) की रक्षा और उसका उपयोग इस भावना से करता है कि वह उसके सहारे अपने पूर्व बद्ध कर्मों का अधिक से अधिक क्षय कर सके। तथा इतनी जागरूकता रखता है कि नये कर्मों का कम से कम बंध हो। इसके लिए वह मार्ग में आने वाले परीषहों और उपसर्गों को समता भाव से सहन करने का प्रयास करता है।

इतनी बड़ी साधना को अव्याबाध रूप से सम्पन्न कराने के लिए, धर्मग्रन्थों में उसकी प्रायः प्रत्येक क्रिया के लिए आवश्यक नियमों एवं मानकों का विधान रखा गया है। एक श्रमण को हर पल, सतत जागरूक रहकर, अपनी जीवनचर्या को चलाते समय उच्च कोटि का विवेक रखना होता है। तभी उसकी धर्मराधना निर्विघ्न रूप से सम्यक् श्रद्धा के साथ चल सकती है तथा अपने आत्म-ध्यान, विश्लेषण, शोधन और विकास में वांछित सफलता हासिल कर सकता है।

श्रमणाचार के नियमों में न केवल श्रमण की आवश्यकताओं को न्यूनतम रखा गया है, बल्कि ऐसे नियम बनाये गये हैं कि वे उसको सिंह प्रवृत्ति से, अपनी व्यवहारिक दिनचर्या को, फक्कड़ की तरह समभाव से चलाने में मार्गदर्शन दे व सहायता करे। इन कठिन नियमों की पूर्ण व्याख्या यानी पूरी आचार-संहिता तथा उनमें जाने-अनजाने में होने वाली विभिन्न प्रकार की खलनाओं के लिए प्रायश्चित्त आदि की व्यवस्थाओं को भी लिपिबद्ध रूप में उपलब्ध कराया गया है।

नियमों में परिवर्तन का मुद्दा

श्रमणों की यह आचार-संहिता भगवान महावीर के जमाने में, तत्कालीन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को ध्यान में रखते हुए बनाई गई थी। चूँकि एक श्रमण आखिरकार श्रावक समाज के बीच रहकर ही अपनी साधना करता है, उन्हीं के साथ उसकी पारस्परिक क्रियाएँ होती हैं, तो क्या श्रावकों के बदले हुए सामाजिक परिवेश में

श्रमणाचार के नियमों में बदलाव करना, उचित है?

भगवान महावीर के बाद करीब 2300 वर्षों तक हमारे सामाजिक परिवेश और परिस्थितियों में विशेष बदलाव नहीं हुआ था। मात्र शायद इतना ही हुआ कि मनुष्य की शारीरिक और मानसिक सहनशक्ति में कुछ कमी आई हो। उसके ज्ञान-विकास की क्षमता में कुछ कमी आई हो। यह सब व्यक्तिगत स्तर पर हुआ है। अतः श्रमणों की विशुद्ध साधना के लिए बनाई गई नियमावली में तथा उसके आचार की पालना में कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं हुई।

यह जरूर सुनने में आता है कि हर युग में कुछ साधक उन नियमों का कठोरता से पालन करने में पूर्णतः सफल नहीं हो पाते थे। अतः शिथिलाचार वाले साधु यदा-कदा मिल जाते थे। उनकी सामूहिक रूप से ज्यादा प्रतिष्ठा नहीं होती थी। लेकिन वे ही साधु जब संख्या में अधिक होकर आपस में जुड़ते, तो नियमावली को खतरा पैदा हो सकता था, लेकिन शायद ऐसा हुआ नहीं। हाँ, अर्वाचीन जमाने में यह जरूर देखने को मिलता है, कि कभी-कभी सामूहिक रूप से साधुओं ने अपनी पालना में ढिलाई को स्वीकार करके, या उसको शास्त्र सम्मत बता कर, अपनी साधना को दोष रहित नहीं रहने दिया। लेकिन समय-समय पर इन दोषों पर से अज्ञान का पर्दा हटाने वाले ज्ञानी और वीर श्रावक तथा साधक भी हुए हैं।

औद्योगिक क्रांति

पिछले करीब 200 वर्षों से हमारे सामाजिक परिवेश को विज्ञान व प्रौद्योगिकी ने अकल्पनीय रूप से बदल डाला है। औद्योगिक क्रांति ने हमारी व्यक्तिगत जीवन शैली और सामाजिक ढाँचे को आमूलचूल रूप से बदल दिया है। उस विकास के अनुरूप सामाजिक व पारिवारिक व्यवस्थाएँ भी बदल गई हैं। व्यक्ति-केन्द्रित छोटे परिवारों ने सम्मिलित परिवारों की जगह ले ली है। भौतिक जीवन की सुविधाओं और भोगवाद की प्रवृत्तियों में विज्ञान ने महत्त्वपूर्ण योगदान देकर उनको बदल दिया है।

यातायात- भौगोलिक दूरियाँ अब इतनी छोटी लगने लग गई हैं कि पूरा विश्व एक शहर के माफिक बन गया है। कुछ ही घंटों में बिना पैदल चले, महासमुद्रों को लांघकर अन्य महाद्वीपों पर लोग आ जा रहे हैं। दूरियों पर इस विजय के कारण, इस जेट युग में समय की बचत हुई है। इस कारण भौतिक समृद्धि में 'समय' का महत्त्व बढ़ गया है। लम्बे फासले तय करने के लिए अब पैदल चलने की या जानवरों को दौड़ाने की आवश्यकता समाप्त हो गई है। यातायात के साधनों के इस बेतहासा विकास के साथ-साथ विनिर्माण, उत्पादन और निर्माण क्षेत्रों में भी आशातीत विकास हुआ है। प्राचीन युग में जहाँ मनुष्य अपने काम में जानवरों की मदद लेकर अपने श्रम की बचत करता था, तो उन जानवरों के उपयोग के कुछ नियम बनाये गये थे। जिससे मनुष्य लोभवश, उन मूक जानवरों को अधिक कष्ट न दे। अर्वाचीन जमाने में उन जानवरों का स्थान नई मशीनों ने ले लिया है। ये मानव निर्मित मशीनें दैत्यों की तरह बलवान हो सकती हैं, तथा एक-एक मशीन हजारों जानवरों का काम कर सकती है। इस प्रकार जानवरों को भी काम से छुट्टी मिल गई, यानी प्राणातिपात दोष का निमित्त ही कम हो गया या हट गया है।

आधुनिक सूचना तंत्र

पिछले दशकों में सूचना तंत्र और संचार व्यवस्था में भी क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। आपसी सूचनाओं का आदान-प्रदान करने में भौगोलिक दूरियाँ बेमानी हो गई हैं। इससे 'शंका समाधान' में होने वाले विलम्ब एवं आ रही कठिनाइयाँ समाप्त हो गई हैं। क्योंकि इसके लिए किसी को चलकर जाने की आवश्यकता नहीं है तथा लिखित पत्रों की अस्पष्ट भावनाएँ अब रोड़े नहीं बन सकती। रूबरू आपस में बात करिये, उनके आशय और भाव को समझिये। यह सम्भव हो चुका है। ज्ञान के विलुप्त होने के, दुष्काल आदि कारणों का प्रभाव भी क्षीण हो गया है। मोबाइल क्रांति का प्रभाव और गहरा होता जा रहा है।

प्राचीन काल में दूरियों के कारण तथा अविकसित संचार व्यवस्था के कारण श्रमणों की आपसी समझ में, समयान्तर में बदलाव आ जाता था। अतः समझ की एकरूपता रखने के लिए समय-समय पर सम्मेलन बुलाने पड़ते थे। इस कठिनाई या समस्या से निजात पाने के लिए उस ज्ञान को कालान्तर में लिपिबद्ध कर देने से, ज्ञान की एकरूपता रखने में मदद मिली। उसके बाद हस्तलिखित ग्रंथों का प्रचलन बढ़ा, लेकिन वह बहुत श्रमसाध्य था। अब मशीनों के आ जाने के बाद ग्रंथों का प्रकाशन बढ़ गया। इसके अलावा अब श्रमणों द्वारा रचित व्याख्याएँ तथा व्याख्यान, पत्र-पत्रिकाओं द्वारा तीव्र गति से प्रसारित हो जाते हैं। अब तो इन्टरनेट, कम्प्यूटर और टी.वी. द्वारा उनके विचारों का, व्याख्यानो का सीधा प्रसारण हो जाता है। एक श्रमण के व्याख्यान को एक साथ लाखों घरों में बैठे-बैठे सुन सकते हैं, देख सकते हैं।

ज्ञान-भंडार

ज्ञान भंडारों का स्वरूप बदल गया है। हस्तलिखित ग्रंथों का दायरा और उपयोगिता काफी सीमित थी। अब उनको डिजिटलाइज करके पूरे विश्व में उपलब्ध कराया जा सकता है। घरों में ही इन्टरनेट पर पूरा ज्ञान भण्डार उपलब्ध हो सकता है। शोधकर्ताओं को विश्व के किसी भी ज्ञान भण्डार की पुस्तकों का साहित्य उपलब्ध कराया जा सकता है। शोध का पूरा परिप्रेक्ष्य बदल गया है।

शिक्षा- पढ़ाई के साधनों तथा ज्ञान-प्राप्ति के संसाधनों में भी उसी प्रकार आशातीत वृद्धि हुई है। दूरस्थ शिक्षा प्रणाली की सुविधाएँ बढ़ गई हैं। एक क्लिक करते ही ग्रंथों की सभी सूचनाएँ या व्याख्याएँ मिल जाती हैं। इस सूचना क्रांति से लगता है कि साधुओं एवं ज्ञान-भंडारों की भूमिका ही बदल गयी है।

भाषाएँ

आजकल विभिन्न भाषाओं का आपसी अनुवाद आसानी से मशीनों द्वारा उपलब्ध कराया जा सकता है। इसके चलते भाषाविदों को अब अनुवाद करने में ज्यादा समय नहीं लगाना पड़ता है।

निचोड़ रूप में कहा जा सकता है कि धर्म के व्यापक प्रचार, प्रसार और सत्संग में, संचार, सूचना और यातायात के क्रांतिकारी बदलाव के कारण, सामाजिक, आर्थिक परिवेश में आमूल-चूल परिवर्तन हो गया है। मोटे तौर पर इस बदले परिप्रेक्ष्य में 'श्रमणाचार' का भी प्रासंगिक होना अति-आवश्यक दिखाई देता है।

इनके कुछ नियमों की प्रासंगिकता पर विचार करते हैं।

पदयात्रा और उसकी महत्ता

यह श्रमणाचार का एक मुख्य नियम है। श्रमणलोग पद विहारी होते हैं और वाहनों का उपयोग नहीं कर सकते। यहाँ तक कि साधारणतया दूसरों द्वारा चालित साइकिल रिक्शा का भी। उन्हें तो पदयात्रा द्वारा गाँव से गाँव विचरण करते रहना है। ये यात्राएँ भी ईर्या समिति की साधना के तहत होती हैं। यानी यात्राएँ भी यतना पूर्वक करनी हैं। इन यात्राओं से एक श्रमण जमीन से जुड़ा रहता है।

दूर-दूर जाकर या विदेशों में जाकर धर्म-प्रचार का लोभ संवरण न कर सकने के कारण, उन्हें हिंसा आदि का दोष लगता ही है। उनका अहिंसा महाव्रत स्वलित होता है। वाहन का उपयोग अपवाद स्वरूप, पूर्व में भी जरूर हुआ है, लेकिन उन श्रमणों ने इसका प्रायश्चित्त लेकर विशुद्धि भी की है। यानी वाहनों का धडल्ले से उपयोग करना श्रमणाचार के विरुद्ध है।

जिन श्रमणों ने इस नियम को ताक पर रखकर, धर्म-प्रचार व प्रसार को प्राथमिकता दी है, उनका महाव्रत तो स्वलित हुआ ही है। उनका तर्क कि विदेशों में धर्म-प्रभावना या धर्म प्रचार में व्यापकता लाकर, उस पाप कर्म को पुण्य अर्जन से संतुलित कर दिया है, तो उन्हें अपने भावों में उन एकेन्द्रिय जीवों के प्रति सूखे हुए करुणा स्रोत पर भी नज़र डालनी चाहिए। वे उन जीवों के रक्षक बनकर क्यों भक्षक बन गये? हिंसा तो हिंसा ही है। यदि कोई श्रमण अपने महाव्रत में स्वलित होता है, तो वह उस श्रावक से पूज्य नहीं हो सकता जो एक छोटा अणुव्रत लेकर भी उसका दृढ़ता से पालन करता है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि प्रायश्चित्त द्वारा केवल अपवाद स्वरूप स्वलना की विशुद्धि होती है। अपवाद तो अपवाद ही रहने चाहिए। श्रमण का मूल उद्देश्य तो स्व कल्याण है। पर कल्याण तो गौण उद्देश्य है। उसी उद्देश्यपूर्ति के लिए श्रमणाचार के नियम बनाये गये हैं। अपवाद की पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिए।

कई श्रमणों ने अन्य तर्क परोसकर, वाहन प्रयोग को प्रासंगिक सिद्ध करने की कोशिश की है, जो अनुचित है।

लेखन और संचार व्यवस्था

कहते हैं कि क्षमाश्रमण देवर्धिगणी ने हस्त लेखन द्वारा जो आगमों को पहली बार लिपिबद्ध कराया, तो इस क्रिया को अपवाद मानकर प्रायश्चित्त लिया गया था। उन्होंने जब देखा कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के प्रभाव से स्मरण शक्ति कमजोर होती जा रही है, तो जिनवाणी को सुरक्षित रखने के लिए उसे सही रूप में लिपिबद्ध कराया। उसमें हुए हिंसा-दोष को प्रायश्चित्त लेकर धो डाला। लेकिन आज परिस्थितियाँ बदल गई हैं। अब प्रायः हर साधु लेखन का कार्य करता है। कुछ अपने संघ की (साधु-संघ) व्यवस्था के लिए, तो कुछ उससे आगे बढ़कर लेखन का, किताबें लिखने का कार्य भी करते हैं। हो सकता है कि किसी पक्ष को आवश्यक मानकर, विवेकपूर्वक न्यूनतम दर्जेपर रहते हुए वे उस कार्य को कर रहे हों। डायरियाँ रखते हैं, अपने लिखने के लिए। स्मृति को सहारा देने के लिए। अब हस्तलेखन सम्बन्धी देवर्धिगणिजी जैसा अपवाद, अपवाद ही नहीं रहा। वह तो चर्या बन गया है।

विवेक के सूत्र

लेखन कार्य को अपने-अपने विवेक द्वारा सत्साहित्य के सृजन के लिए सीमित रखने का प्रयत्न किया जाता है। “पण्णा सम्मिक्खयाए” का सहारा लेकर, देवर्धिगणी के जमाने के अपवाद को अब प्रासंगिकता का जामा पहना दिया जाता है। इसी व्यामोह में अपने विवेक की सीमाएँ आगे बढ़ा कर, उस लेखन को मशीनों से छपवाने को भी अपवाद नहीं समझा जाता है। हो सकता है कि कुछ श्रमण इस क्रिया के लगने पर प्रायश्चित्त कर लेते हैं। कुछ श्रमण अभी भी लेखन को छपवाना बाधित रखते हैं। अन्यो का तर्क रहता है ‘कम हिंसा, ज्यादा जिनवाणी रक्षा’। इसी तर्क के सहारे अब 18वीं शताब्दी की छपाई की मशीनों से आगे बढ़ते हुए, 21 वीं शताब्दी में कम्प्यूटर और प्रिंटर का उपयोग करने की आवश्यकता महसूस हो रही है। हालांकि इनका उपयोग आज श्रमण आज्ञा लेकर भी स्वयं नहीं करते हैं, लेकिन हो सकता है कि भविष्य में इनके तथा मोबाइल के उपयोग में खुद को लगा लें। इसके लिए विद्युतकाय के जीवों को जीव नहीं मानने का प्रयास जारी है। लेकिन एक अपरिग्रही श्रमण को विवेकपूर्वक विचार करना है कि ‘आचारांग’ की व्यवस्था में छूट की सीमा कहाँ निर्धारित करें? समझदारों को अपनी अहिंसक और करुणामय भावना से सोचना है।

प्रश्न यह है कि यह काम एक अणुव्रतधारी गृहस्थ करे या यह एक महाव्रतधारी श्रमण? क्या साधु ही ज्ञान का ठेका लेकर प्रचार-प्रसार करे या अणुव्रत धारी भी ज्ञानी बनकर अपनी मर्यादा में रहते हुए, आधुनिक संचार- व्यवस्था का सदुपयोग करे? श्रमणाचार की सम्यक् साधना की ठोस सीमाओं के कारण, जिम्मा निश्चय ही एक श्रमण का नहीं हो सकता है।

बिजली का उपयोग

अपने व्याख्यान की पहुँच बढ़ाने के उद्देश्य से कुछ श्रमण लोग ध्वनिवर्धक यंत्र और दूरदर्शन का उपयोग करना प्रासंगिक मानते हैं। तेजस्कायिक जीवों की हिंसा से परहेज करने की मानसिकता ही समाप्त हो गई है। यहाँ तक कि कुछ अधपक्के तर्कों द्वारा वे यह सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं कि विद्युत कायिक जीवों का अस्तित्व ही नहीं होता है। विद्युत तो एक भौतिक ऊर्जा मात्र है। टी.वी. के माध्यम से उनके प्रवचन, जैन धर्म के संदेश आज विश्व के कोने-कोने में जा रहे हैं। इस तरह वे धर्म प्रसार व प्रचार की महान सेवा कर रहे हैं। इसके विपरीत कुछ श्रमण वर्ग विद्युत कायिक जीवों की करुणा पूर्वक रक्षा करने के मुद्दे को अपने आचार का मुख्य विषय मानते हैं। टी.वी. द्वारा पर-कल्याण के उपदेश का प्रसार, उनके लिए गौण मुद्दा है। वे स्व कल्याण को ही मुख्य मानते हैं। आज की सुविधा के अनुसार, इस प्रकार जीव हिंसा को गौण कर देना विवेकशून्य और अप्रासंगिक है। हिंसा और अहिंसा का मुद्दा, आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों के उपयोग में अपनी कितनी प्रासंगिकता रखता है, यह स्व-पर कल्याण के मुद्दे से तो जुड़ा ही है, साथ में श्रमण विशेष की करुणा के भाव से भी जुड़ा हुआ होना चाहिए।

यदि फायदे-नुकसान का विश्लेषण करना ही है, तो विवेक का तकाजा है कि इसे अणुव्रतधारियों के दायरे में रखा जाय, न कि महाव्रतधारियों के दायरे में। क्योंकि अहिंसा महाव्रत के मुद्दे को ‘आयतुले पयासु’ की

समझ से ही समझा जा सकता है। उसे छींके पर लटका कर गौण नहीं किया जा सकता है।

आधुनिक सामाजिक-व्यवस्था में भी शुद्ध आचार की महत्ता पूर्ववत् ही समझ में आती है, खासकर महाव्रतधारियों के लिए। लेकिन प्रचार-प्रसार व प्रभाव की प्रबल और अकल्पनीय सम्भावनाओं के चलते, श्रमणों पर उन उपकरणों के उपयोग के लिए मानसिक व सामाजिक दबाव भी बढ़ रहा है। साधारण श्रमणों के लिए, उस दबाव को झेलना दुष्कर हो रहा होगा। जिन्होंने अपने कदम उधर बढ़ा दिये, उनके लिए राष्ट्रीय सम्मान, राजकीय संरक्षण और धर्म सभाओं में विशाल जन मेदिनी उनकी सफलता का मापदण्ड बन जाती है। हो सकता है, इन बाह्य उपलब्धियों में, वे अनासक्त भाव से जीते हों, लेकिन मिथ्यात्व के पोषण की सम्भावनाओं से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

अतः आज के परिप्रेक्ष्य में भी श्रमणों से महाव्रत की अखण्डता की ही अपेक्षा रहती है। नये संसाधनों को धर्म प्रचार में लगाने के लिए तो ऊपर सुझाये हुए एक नये विशिष्ट श्रावक वर्ग की ही आवश्यकता है। कुछ आचार्यों ने तो ऐसा वर्ग (समण) तैयार भी कर लिया है। क्योंकि श्रुत धर्म और चारित्र धर्म को अंगीकार करने वाले श्रमणों से अपेक्षाएँ भिन्न प्रकार की होती हैं। अतः नये समण वर्ग को अधिक विकसित करने की आवश्यकता है।

किसी ने ठीक ही कहा है कि आजकल धर्मगुरु कहलाने वाले श्रमण सामाजिक सेवा, शिक्षा और रुग्ण सेवा के नाम पर ग्राहकों/शिष्यों की भक्ति बटोर कर, स्वयं भक्तों के संग धर्म की मीठी शराब के नशे में रहते हैं तथा स्वर्ग/मोक्ष का लाभ बताकर, सुखसीलिया बनकर भी अपने आपको अनासक्त बताते रहते हैं। उनका कषाय मुक्त हो पाना असम्भव लगता है।

आत्मधर्म को स्वीकार करके उसका प्रासंगिकता के नाम पर उल्लंघन करके विधातक बनना तो अपने को धोखा देना है।

हालांकि आज भी कई ईमानदार और प्रामाणिक श्रमण विद्यमान हैं, जो 'अहिंसा महाव्रत' का पूर्णतः पालन करने का प्रयास करते हैं। उनका आचरण, तप, त्याग, आदि चौथे आरे की बानगी के समकक्ष लगता है। आडम्बर और परिग्रहों से दूर रहकर अभी भी स्वयं श्रम करते हुए वे फक्कड़ की तरह निर्दोष धर्मपालना करते हैं। उनके यहाँ भी ज्ञानी भक्तों की भीड़ लगती है, लेकिन एक सादगी के माहौल में।

श्रमण की गोचरी

एकल परिवारों के चलते श्रमणों को समाज में गोचरी के लिए बहुत कष्ट सहने पड़ते हैं। इस व्यवस्था में प्रासुक (अचित्त) और एषणीय (निर्दोष) आहार-पानी मिलना अति दुष्कर हो गया है। परिवारों के खान-पान के पदार्थ ही नहीं बदल गये हैं, बल्कि भोजन का समय भी बदल गया है। दोपहर का भोजन दो बजे यदि तैयार होता है, तो साधु लोग अपनी दिनचर्या कैसे निभायेंगे?

ऐसी परिवर्तित आधुनिक भोजन-व्यवस्था की कठिनाइयों से छुटकारा पाने के लिए, कुछ संघों ने कम से कम अचित्त-पानी के उपयोग के बारे में एक अभियान चलाया है, जो बहुत ही समसामयिक है। विस्मृत

जीवन शैली को पुनर्जीवित करने से अब कुछ श्रावकों के घरों में पुनः प्रासुक धोवन की उपलब्धता शुरू हुई है। प्रासुक पानी की उपलब्धता, श्रमण वर्ग के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। बिना आहार के रह जाना, श्रमणों के लिए भयंकर समस्या नहीं मानी जाती है। लेकिन बिना प्रासुक पानी के तो उनका जीवन ही संकट में पड़ जाता है। धोवन की अनुपलब्धता के मद्दे नजर तो कुछ श्रमणों ने बोटल-बंद पानी (मिनरल पानी) को प्रासुक घोषित कर दिया था। इससे साधुओं की कठिनाइयाँ काफी हद तक दूर हो गई हैं। लेकिन हमारे नये प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि मिनरल पानी प्रासुक नहीं होता है, भले ही वह बैक्टेरिया शून्य क्यों न हो। अतः मिनरल पानी के मिथ्या प्रचार से बचना चाहिए। आगम और विज्ञान सम्मत तो श्रावक का यही आचरण शुद्ध है कि घर-घर में धोवन पानी का उपयोग बढ़े।

जब शुद्ध पालना वाले और क्षीण कषाय वाले श्रमण व्याख्यान फरमाते हैं, तो उनका प्रभाव भी ज्यादा गहरा होता है। कहा भी गया है कि प्रकाश का मार्ग बताने वालों को पहले स्वयं को अंधेरों से बाहर आना होगा। फिर भी नये समण वर्ग को आज के परिप्रेक्ष्य में बहुत सारी प्रचार-प्रसार की जिम्मेदारियाँ सौंपी जा सकती हैं।

इस प्रकार आज के जमाने में शुद्ध आगम-सम्मत श्रमणाचार की उपयोगिता अधिक बढ़ गई है। उसको सम्यक् रूप से पालने में जो बाधाएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं, उनको दूर करने के लिए व्रतधारी श्रावकों को आगे आकर, समुचित धर्म दलाली का पुण्य अर्जन करते रहना चाहिए। दृढ़ श्रावक समाज ही, श्रमणों के आचार को शुद्ध रखने में सहायक हो सकता है। और शुद्ध श्रमणाचार ही श्रावक के आगार धर्म का आदर्श और प्रभावी संबल होता है। उसी से अध्यात्म और नैतिक नेतृत्व की सही दिशा मिलती है। इसी से संघ की कीर्ति बढ़ती है।

ऐसा समझ में आता है कि आगम-सम्मत मूल लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जो वैज्ञानिक ढंग से श्रमणों की आचार-संहिता बनाई गई थी, वह आज भी तर्क संगत, व्यावहारिक और प्रासंगिक है। उसकी वैज्ञानिकता को समझते हुए, श्रावक संघ को यह प्रयास करना चाहिए कि उसकी पालना में जो-जो बाधाएँ दिखाई दे रही हैं, उनका सरल निराकरण किया जाय। आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में हमारे समाज की बढ़ती आवश्यकताओं और सम्भावनाओं की पूर्ति के लिए एक नये श्रावक वर्ग का व्यापक संगठन अपेक्षित है, जो श्रावक और श्रमण के बीच की कड़ी के रूप में कार्य करते हुए आधुनिक वाहनों, दूर संचार आदि के नये साधनों और तकनीकियों का समुचित उपयोग करने के लिए सीमित स्वतंत्रता रखता हो।

-कमानी सेन्टर, द्वितीय माला, बिस्टापुर, जमशेदपुर-831001



श्रमण-जीवन के परीषह

श्री जौहरीमल छाजेड़

श्रमण द्वारा प्रत्येक कार्य मुक्ति के लक्ष्य से किया जाता है। अतः श्रमण अपने जीवन में आने वाले कष्टों को या परीषहों को मुक्ति का हेतु समझकर विनय भाव से उन्हें स्वीकार करता है और समता भाव से सहन करता है। ये परीषह बाईस प्रकार के कहे गए हैं, जिन्हें लेखक ने उत्तराध्ययन सूत्र से संयोजित कर, उस पर जय प्राप्त करने वालों के दृष्टान्त भी साथ में योजित किये हैं। -सम्पादक

विनय की सम्यक् शिक्षा प्रदान करने के पश्चात् गुरुदेव श्री सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य श्री जम्बू स्वामी को कहा कि श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने उत्तराध्ययन सूत्र के अन्तर्गत दूसरे अध्ययन 'परीषह-प्रविभक्ति' में 'परीषह-विजय' का उपदेश दिया है।

विनयाचरण से व्यक्ति धीर एवं साहसी बनता है और श्रमण एवं श्रमणी-जीवन में आने वाले परीषहों, कष्टों, अन्तर-बाह्य संघर्षों में विजयी होकर जीवन-संग्राम में सफल विजेता बनता है।

परीषह का अर्थ:- धर्म पालन करते समय श्रमण-जीवन में आने वाले कष्टों को परीषह कहा है तथा धर्म पथ से विचलित हुए बिना कर्मों की निर्जरा हेतु धर्मबुद्धि से उन्हें समभावपूर्वक सहन करना परीषह-जय है।

श्री सुधर्मा स्वामी ने शिष्य जम्बू स्वामी को ऐसे बाईस परीषह बतलाए हैं -

(1) क्षुधा परीषह:-

- (i) शरीर भूख से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी संयम बल वाला तपस्वी साधु फलादि का स्वयं छेदन नहीं करे, दूसरों से छेदन नहीं करावे, अन्न आदि स्वयं न पकावे तथा दूसरों से भी नहीं पकवाये। श्रमण के लिए ग्रहणैषणा से सम्बद्ध नियमों का पालन करता हुआ ही आहार ग्रहण करे।
- (ii) लम्बे समय से भूखा रहने के कारण शरीर कौए की जाँघ या काकजंघा सम तृण के समान अत्यन्त दुर्बल हो जाए, तो भी आहार-पानी की मर्यादा को जानने वाला साधु, मन में दीनता के भाव न लाता हुआ, दृढ़ता के साथ संयममार्ग पर विचरण करे।

कथा:- उज्जयिनी निवासी हस्तिमित्र के विरक्त एवं प्रव्रजित पुत्र हस्तिभूति की कथा द्रष्टव्य है।

(2) पिपासा परीषह:-

- (i) पिपासा (तृषा) से पीड़ित होने पर असंयम में अरुचि रखने वाला लज्जाशील एवं संयमी मुनि सचित्त जल का सेवन न करे, किन्तु अचित्त प्रासुक जल की एषणा करे।

- (ii) जहाँ लोगों का आना-जाना नहीं है ऐसे निर्जन मार्ग में जाता हुआ साधु प्यास से अतिव्याकुल हो जाय तथा मुँह सूख जाए फिर भी वह दीनता रहित होकर उस प्यास के परीषह को सहन करे, किन्तु साधु मर्यादा का उल्लंघन करके सचित्त पानी का सेवन नहीं करे।

कथा:- इस विषय में अम्बड़ के शिष्यों द्वारा पिपासा परीषह सहन करने की कथा द्रष्टव्य है।

(3) शीत परीषह:-

- (i) पापों से विरत एवं स्निग्ध भोजनादि के अभाव में रुक्ष शरीर वाले मुनि को विचरण करते हुए कदाचित् शीत पीड़ित करे, तो जिनागम को सुन-समझ कर स्वाध्याय आदि के काल का उल्लंघन करके दूसरे स्थान में न जाए, मर्यादा का उल्लंघन नहीं करे।
- (ii) सर्दी से पीड़ित होने पर मुनि इस प्रकार नहीं सोचे कि मेरे पास शीत-निवारण के योग्य मकान आदि नहीं है तथा शरीर को ठण्ड से बचाने के लिए छवित्राण-कम्बल आदि ऊनी वस्त्र नहीं हैं तो मैं अग्नि का सेवन क्यों न कर लूँ।

कथा:- राजगृह नगर के भद्रबाहु स्वामी के पास दीक्षित और एकल विहारी प्रतिमाधारी चार समवयस्क मुनियों की कथा द्रष्टव्य है।

(4) उष्ण परीषह:-

- (i) तपी हुई धरती, शिला, बालू आदि की गर्मी से, परिताप से तथा बाहर से पसीना, मैल या लुहारशाला के पास खड़े हों तो उसकी अग्नि से और अन्दर से प्यास से उत्पन्न हुई दाह से अथवा ग्रीष्मकालीन सूर्य-किरणों के प्रखर ताप से पीड़ित साधु ठण्डक आदि की सुख-साता के लिये व्याकुलता न करे।
- (ii) गर्मी के ताप से तप्त होने पर मर्यादाशील साधु त्रिविध प्रतिकार न करे- (1) स्नान की इच्छा न करे, (2) शरीर पर पानी न डाले और (3) पंखे आदि से हवा न करे।

कथा:- इस विषय में अर्हन्नक मुनि की कथा द्रष्टव्य है।

(5) दंशमशक परीषह:-

- (i) जैसे युद्ध के मोर्चे में रहकर शूरीर बाणों की कुछ भी परवाह नहीं करता हुआ शत्रु-सैन्य का हनन करता है, वैसे ही महामुनि भी डाँस, मच्छर तथा उपलक्षण से जूँ, खटमल आदि क्षुद्र जन्तुओं के उपद्रवों की कुछ भी परवाह न करते हुए रागद्वेष रूपी अन्तरंग शत्रुओं को जीतकर समभाव में स्थित रहे।
- (ii) मुनि डाँस और मच्छरों से संत्रस्त (उद्विग्न) न हो, न उन्हें हटाए, मन से भी उनके प्रति द्वेषभाव न लाए, अपना माँस और रक्त खाने-पीने पर भी उन प्राणियों के प्रति उपेक्षा भाव रखे, उन्हें मारे नहीं।

कथा:- इस विषय में एकल विहारी सुमनोभद्र (सुदर्शन) मुनि की कथा द्रष्टव्य है।

(6) अचेल परीषह:-

- (i) मेरे वस्त्र अब अत्यन्त जीर्ण हो गये हैं, इनके सिवाय अन्य वस्त्र मेरे पास नहीं हैं। ये वस्त्र तो थोड़े दिन ही चलेंगे। कोई दाता भी नहीं दिखता, ऐसी स्थिति में मुझे निर्वस्त्र होना पड़ेगा। भिक्षु इस प्रकार का दैन्य भाव मन में न लाये और न यह सोचकर मन में हर्षित हो कि “मेरे जीर्ण वस्त्र देखकर कोई श्रद्धालु श्रावक मुझे नये वस्त्र दे देगा। अहा! फिर मैं नये वस्त्रों से सुसज्जित हो जाऊँगा।” इस प्रकार हर्ष भी न करे, अपितु दैन्य व हर्ष से दूर रहे।
- (ii) विभिन्न एवं विशिष्ट परिस्थितियों के कारण कभी मुनि अचेलक होता है और कभी सचेलक भी होता है। अतः ये अचेलक अवस्था और सचेलक अवस्था, दोनों ही स्थितियाँ, यथाप्रसंग संयमधर्म के लिए हितकारक जानकर ज्ञानी मुनि खेद न करे।

कथा:- आर्यरक्षित आचार्य के संसारपक्षीय पिता प्रव्रजित सोमदेव मुनि की कथा द्रष्टव्य है।

(7) अरति परीषह:-

- (i) एक गाँव से दूसरे गाँव विचरण करते हुए अकिंचन (परिग्रह रहित) अणगार के चित्त में कदाचित् अरति (संयम के प्रति अरुचि) प्रविष्ट हो जाए तो उस परीषह को समभाव से सहन करे।
- (ii) प्रस्तुत परीषह को सहन करने के लिए सप्तसूत्री उपाय बताया गया है- (1) हिंसादि से या विषयासक्ति से विरत हो। (2) आत्म-भाव का रक्षक रहो। (3) श्रुतचारित्र धर्मरूपी उद्यान में रमण करे (4) आरम्भप्रवृत्ति से दूर रहे, (5) शान्त रहे, (6) हिताहित या वस्तु तत्त्व का मनन करता रहे एवं (7) सर्व विरति प्रतिज्ञाधारक मुनि अरति आते ही उसकी उपेक्षा करके संयममार्ग पर मन को मोड़ दे।

कथा:- इस विषय में प्रव्रजित पुरोहित पुत्र और राजपुत्र की कथा द्रष्टव्य है।

(8) स्त्री परीषह:-

- (i) लोक में जो स्त्रियाँ हैं वे मनुष्यों के लिये आसक्ति का कारण हैं। इन स्त्रियों को जिस साधु ने ज्ञ-परिज्ञा से त्याज्य समझकर, प्रत्याख्यान-परिज्ञा से छोड़ दिया है उस साधु का साधुत्व सफल है।
- (ii) इस प्रकार स्त्रियों के संग को कीचड़ रूप मानकर बुद्धिमान साधु उनमें फंसे नहीं तथा आत्मगवेषक होकर संयम मार्ग में ही विचरे।

कथा:- इस विषय में स्थूलभद्र स्वामी और उनके सिंहगुफावासी गुरुभ्राता की कथा द्रष्टव्य है।

(9) चर्या परीषह:-

- (i) निर्दोष आहार से निर्वाह करने वाला साधु अकेला ही परीषहों को पराजित कर ग्राम में, नगर में, निगम (व्यापारिक केन्द्र-मंडी) में अथवा राजधानी में विचरण करे।
- (ii) भिक्षु गृहस्थादि से असाधारण होकर विचरण करे। वह वस्तुओं (सजीव-निर्जीव) के प्रति ममत्व भाव न करे, गृहस्थों के संसर्ग से दूर रहे और गृह-बन्धन से रहित, अथवा अनियतवासी होकर

परिभ्रमण करे।

कथा:- इस विषय में संगम नामक स्थविर आचार्य की कथा द्रष्टव्य है।

(10) निषद्या परीषह:-

- (i) श्मशान में, सूने घर में अथवा वृक्ष के नीचे द्रव्य से अकेला और भाव से राग-द्वेष रहित केवल आत्म-भाव में लीन, अचपल होकर बैठे या कायोत्सर्ग करे, किन्तु आस-पास के किसी दूसरे प्राणी को भयभीत न करे, या कष्ट न दे।

कथा:- इस विषय में एकल विहारी प्रतिमाधारी कुरुदत्त मुनि की कथा द्रष्टव्य है।

(11) शय्या परीषह:-

- (i) उन श्मशानादि पूर्वोक्त स्थानों में कायोत्सर्गादि में बैठे हुए साधु को कदाचित् देवता, मनुष्य या तिर्यज्ज्व संबंधी कोई उपसर्ग आ जाये तो उन्हें समभाव पूर्वक सहन करे, किन्तु अनिष्ट की शंका से भयभीत होकर वहाँ से उठकर अन्य आसन पर न जाए।
- (ii) स्त्री, पशु, नपुसंक आदि के संसर्ग से रहित विविक्त उपाश्रय पाकर, भले ही वह अच्छा हो या बुरा, उसमें मुनि समभाव पूर्वक यह सोच कर रहे कि एक रात में यह क्या सुख-दुःख उत्पन्न करेगा? तथा वहाँ जो भी अनुकूल-प्रतिकूल परीषह आए, उसे समभाव से सहन करे।
- (iii) ऊँची-नीची या अच्छी-बुरी शय्या पाकर तपस्वी एवं सर्दी-गर्मी आदि सहन करने में समर्थ भिक्षु मर्यादा का अतिक्रमण करके संयम का धात न करे। पापदृष्टि वाला साधु ही हर्ष-शोक से अभिभूत होकर मर्यादा को तोड़ता है।

कथा:- शय्या परीषह पर सोमदत्त और सोमदेव मुनि की कथा द्रष्टव्य है।

(12) आक्रोश परीषह:-

- (i) यदि कोई मनुष्य साधु का दुर्वचनों से तिरस्कार करता है, उसे गाली देता है तो वह उस पर रोष न करे, क्योंकि रोष करने वाला साधु बालकों-अज्ञानियों के समान हो जाता है। अतः साधु कोप न करे।
- (ii) कर्ण आदि इन्द्रियों को काँटे की तरह चुभने वाली और स्नेहरहित कठोर भाषा को सुनकर भिक्षु मौन रहे, उसके प्रति उपेक्षा भाव रखे, न ही मन में उस बात को लावे।

कथा:- आक्रोश परीषह पर राजगृहवासी अर्जुन मुनि की कथा द्रष्टव्य है।

(13) वध परीषह:-

- (i) यदि कोई दुष्ट अनार्य पुरुष साधु को मारे तो साधु उस पर क्रोध न करे, मन में भी उस पर द्वेष न लाये। 'क्षमा उत्कृष्ट धर्म है' ऐसा जानकर साधु क्षमा, मार्दव आदि दशविध यति-धर्म का विचार करके पालन करे।
- (ii) पाँच इन्द्रियों का दमन करने वाले संयमी साधु को कोई भी व्यक्ति कहीं पर मारे-पीटे तो "जीव

(आत्मा) का कभी नाश नहीं होता” इस प्रकार साधु विचार करे।

कथा:- इस विषय में स्कन्दाचार्य के 499 शिष्यों की कथा जान लेनी चाहिए।

(14) याचना परीषह:-

- (i) साधु को याचना-परीषह-विजय के लिए ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि अहो! अनगर भिक्षु की यह चर्या वास्तव में सदा से ही अत्यन्त कठिन रही है। उसे आहार, वस्त्र आदि सब कुछ याचना से ही प्राप्त होता है, उसके पास ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो बिना माँगे प्राप्त हुई हो।
- (ii) गोचरी हेतु गृहस्थ के यहाँ प्रविष्ट साधु के लिए गृहस्थ के सामने आहार आदि के लिए हाथ पसारना आसान नहीं है। अतः याचना के मानसिक कष्ट से घबराकर साधु ऐसा विचार न करे कि इससे तो गृहवास ही अच्छा है।
- (iii) भोजन तैयार होने जाने पर साधु गृहस्थों के यहाँ आहार की गवेषणा करे। आहार मिले अथवा नहीं मिले तो भी बुद्धिमान साधु खेद न करे।

कथा:- याचना-परीषह पर बलदेव मुनि की कथा द्रष्टव्य है।

(15) अलाभ परीषह:-

- (i) आज ही तो मैंने कुछ आहार नहीं पाया, संभव है, कल प्राप्त हो जाए। जो साधु इस प्रकार दीनता रहित होकर अलाभ का अपेक्षा से विचार करता है, उसे अलाभ परीषह व्यथित नहीं करता है।

कथा:- अलाभ परीषह-विजय पर ढंढण मुनि की कथा द्रष्टव्य है।

(16) रोग परीषह:-

- (i) ज्वरादि रोग को कर्मों के उदय से उत्पन्न हुआ जानकर उसकी वेदना से पीड़ित साधु दीनता रहित होकर अपनी प्रज्ञा को स्थिर करे। रोग के व्याप्त होने पर तत्त्व बुद्धि में स्थिर होकर उसे समभाव से सहन करे।
- (ii) रोग होने पर आत्म-गवेषक मुनि रोग प्रतीकारक चिकित्सा का अनुमोदन न करे, किन्तु समाधिपूर्वक रहे। निश्चय से उसका शुद्ध श्रमणभाव यही है कि वह रोगोत्पत्ति होने पर न तो स्वयं चिकित्सा करे, न ही करावे, उपलक्षण से उसका अनुमोदन भी न करे।

भावार्थ:- यह कथन जिनकल्पी तथा अभिग्रहधारी साधु की अपेक्षा से है। स्थविर कल्पी के लिए सावद्य चिकित्सा का निषेध है, निरवद्य चिकित्सा का नहीं।

कथा:- मथुरानरेश के पुत्र रोगपरीषह-विजयी कालवैशिक कुमार श्रमण की कथा द्रष्टव्य है।

(17) तृणस्पर्श परीषह:-

- (i) अचेलक एवं तेल आदि न लगाने से रुक्ष शरीर वाले सतरह प्रकार के संयम-पालक मुनि को घास, दर्भ आदि के संस्तरक (बिछौने) पर सोने या बैठने से शरीर को अत्यन्त पीड़ा होती है।

यही तृण-स्पर्श-परीषह है।

- (ii) ग्रीष्मकाल में तेज धूप के गिरने से अतुल (असह्य) वेदना होती है, ऐसा जानकर घास या दर्भ से पीड़ित मुनि तन्तुओं (सूत के रेशों) से निष्पन्न वस्त्र का सेवन नहीं करते।

कथा:- तृण स्पर्श परीषह-विजय पर भद्रर्षि मुनि की कथा द्रष्टव्य है।

(18) जल्ल परीषह (मल परीषह):-

- (i) पसीने के कारण जमे हुए मैल से या रज से अथवा ग्रीष्म ऋतु के परिताप से शरीर के पसीने से तरबतर हो जाने पर मेधावी मुनि सुखसाता के लिए विलाप न करे।
- (ii) निर्जरार्थी मुनि पूर्वोक्त मलजनित कष्ट को सहन करे। इस आर्य एवं अनुत्तर धर्म को पाकर भाव मुनि जब तक शरीर न छूटे तब तक शरीर पर सहज रूप से जमे हुए इस प्रकार के मैल को सहर्ष धारण करे।

कथा:- मल परीषह न सहने के परिणाम के विषय में सुनन्द श्रावक की कथा द्रष्टव्य है।

(19) सत्कार-पुरस्कार परीषह:-

- (i) राजा आदि (शासकवर्गीय या धनाढ्य, राजनेता आदि) अन्य तीर्थिक साधुओं का अभिनन्दन करते हैं, उनके सत्कार में खड़े होते हैं तथा उन्हें भिक्षा आदि के लिए निमंत्रण देते हैं और अन्य तीर्थिक इसे स्वीकार करते हैं, उन्हें देखकर आत्मार्थी मुनि वैसे अभिनन्दन-सत्कार की चाहना न करे।
- (ii) जो मन्दकषायी, अल्प इच्छावाला, अज्ञात कुलों से भिक्षा लेने वाला तथा अलोलुप है, वह प्रज्ञावान साधु दूसरों को सरस आहार मिलते देख स्वादु-रसों में गृद्ध-आसक्त न हो एवं दूसरों को सम्मान पाते देख कर मन में पश्चात्ताप न करे।

कथा:- इस विषय में मुनि और उनके अन्धभक्त श्रावक की कथा द्रष्टव्य है। एक ने इस परीषह को जीता है, जबकि दूसरा इससे पराजित हुआ है।

(20) प्रज्ञा परीषह:-

- (i) अहो! निश्चय ही मैंने पूर्व जन्म में अज्ञानरूप फल देने वाले ज्ञानावरणीय कर्म का बंध किया है, जिस कारण किसी के द्वारा किसी विषय में पूछे जाने पर मैं कुछ भी उत्तर नहीं देना जानता।
- (ii) अज्ञान रूप फल देने वाले पूर्वकृत कर्म अबाधाकाल व्यतीत होने पर (परिपाक होने पर) उदय में आते हैं। इस प्रकार कर्म के विपाक को जानकर मुनि अपनी आत्मा को आश्वासन दे।

कथा:- प्रज्ञा परीषह पर भद्रमति मुनि एवं सागरचन्द्राचार्य की कथा द्रष्टव्य है। (दोनों कथाएँ मूलसूत्र के परिशिष्ट में देखें।)

(21) अज्ञान परीषह:-

- (i) मैं निष्प्रयोजन ही मैथुन से निवृत्त हुआ तथा व्यर्थ ही मैंने इन्द्रिय और मन का संवरण किया,

क्योंकि धर्म कल्याणकारी है अथवा पापकारी, इसे भी मैं साक्षात् (प्रत्यक्ष रूप से) नहीं जानता।

- (ii) तप और उपधान (ज्ञानाराधन के व्रत) को स्वीकार करने पर तथा विशिष्ट प्रतिमाओं का पालन करने पर इस प्रकार विशिष्ट चर्या से विहरण करने पर भी मेरा ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का आवरण दूर नहीं होता।

अपने तप, उपधान तप, प्रतिमा धारण तथा विशिष्ट साधना की फल विषयक आकांक्षा के विषय में साधु आतुरता-पूर्वक गलत चिन्तन करने लग जाता है। वह ऐसे सोचने लगता है कि यदि विरति से कोई अर्थ सिद्ध होता तो मेरा अज्ञान सर्वथा मिट जाता।

इस प्रकार भ्रान्त चिन्तन ही अज्ञान-परीषह है। इस प्रकार के गलत चिन्तन से मुक्त होना ही अज्ञान परीषह-विजय है।

कथा:- अज्ञान-परीषह के विषय में आभीर साधु की कथा जान लेनी चाहिए।

(22) दर्शन परीषह:-

- (i) निश्चय ही परलोक नहीं है अथवा तपस्वियों की तपोलब्धि भी नहीं है अथवा मैं धर्म के नाम पर ठगा गया हूँ। इस प्रकार साधु विचार न करे।
- (ii) पूर्वकाल में जिन हुए थे, वर्तमान में जिन हैं अथवा भविष्य में भी होंगे, ऐसा जो कहते हैं वे मिथ्या बोलते हैं, साधु इस प्रकार चिन्तन न करे।

दर्शन परीषह होता है तब व्यक्ति की दृष्टि, रुचि, श्रद्धा विपरीत हो जाती है। वह परलोक, पुनर्जन्म, आत्मा, धर्म, पुण्य, पाप, स्वर्ग-नरक, तप-जप, ध्यान आदि को नहीं मानता। तत्त्वों में उसकी अतत्त्व बुद्धि हो जाती है। वही दर्शन परीषह है। इस परीषह पर विजय पाने के लिए मिथ्यादृष्टि से तुरन्त हटकर सम्यग्दर्शन में अपने मन को स्थिर करना चाहिए।

कथा:- दर्शन परीषह पर आर्य आषाढ़ सूरि की कथा जान लेनी चाहिए।

उपसंहार :- परीषहों के साथ संग्राम में साधु हार न माने।

शास्त्रकार ने कहा है कि भगवान महावीर स्वामी ने स्वयं अनुभव करके 22 परीषहों का भली-भाँति निरूपण किया है कि निर्ग्रन्थ साधुओं को कहीं भी, किसी भी चर्या में प्रवृत्त होते समय इनमें से कोई भी परीषह उपस्थित हो जाए तो घबराना नहीं चाहिए, न ही अपनी साधु-मर्यादा भंग करके पतन मार्ग को अपनाना चाहिए, अपितु उनके सामने डटे रहकर, समभाव से उन्हें सहन करना चाहिए तथा उन्हें पराजित करके स्वयं परीषह-विजयी बनना चाहिए।

-स्वाध्यायी, जैन धर्म भूषण, पटेल चौक, भिस्तिर्यों का बास, ज्येथपुर-342001(राज.)



श्रमण-जीवन से शिक्षाएँ

संकलन : श्री नवरत्न डागर

श्रमण-जीवन में जो कार्य अनाचरणीय हैं, उनमें से कुछ कार्यों का श्रावक भी त्याग कर सकता है। श्रमण-जीवन श्रावक के लिए आदर्श होता है। वह श्रमणों के जीवन से जितना व्रत-नियम में आगे बढ़ेगा, उतना ही जीवन को सार्थक करेगा। इस अमूल्य मानव जीवन की महत्ता को समझकर इसका सदुपयोग करने में ही बुद्धिमत्ता है, यह संदेश प्रस्तुत आलेख से प्राप्त होता है। -सम्पादक

श्रमण जीवन उत्कृष्ट जीवन है। आचार्य हस्ती के शब्दों में- “श्रमण के दो अर्थ मुख्य हैं। एक तो यह कि तप और संयम में जो अपनी पूरी शक्ति लगा रहा है, तपस्वी है वह श्रमण है। दूसरा अर्थ है ‘समण’ अर्थात् त्रस, स्थावर सब प्रकार के प्राणियों की जिसके अन्तःकरण में हित-कामना है, वह श्रमण है।”

संसार की मोह-माया को त्याग कर, अपने इन्द्रियों को वश में करने का प्रयास कर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ने वाले श्रमण श्रेष्ठों का जीवन सदैव प्रेरणादायी रहा है। प्रभु महावीर ने श्रमण-जीवन को सुदृढ़ एवं साधनाशील बनाने के लिए आचार-संहिता बताई है। उन्होंने श्रमण के अशन, वस्त्र, पात्र, निवास-स्थान के संबंध में बताया है कि श्रमण के निमित्त यदि कोई वस्तु बनाई गई हो या पुराने पदार्थ में नवीन संस्कार किया गया हो तो वह साधु के लिए अग्राह्य है। यदि अनुद्दिष्ट वस्तु मिल जाए और उनके लिए उपयोगी हो तो वे उसे ग्रहण कर सकते हैं। जैन श्रमण बौद्ध और वैदिक परम्परा के भिक्षुओं की तरह किसी के घर पर भोजन का निमन्त्रण भी ग्रहण नहीं करते हैं।

हमारे पूजनीय गुरुजनों का जीवन कैसा होता है? उनकी साधना कितनी कठोर होती है? यह सब जानते हुए, समझते हुए क्या हम उनके जीवन से कुछ शिक्षाएं ग्रहण कर सकते हैं? उनकी प्रत्येक क्रिया हमारे लिए भी कुछ संदेश देती है। जहाँ एक ओर साधु-साध्वी पंच महाव्रतधारी होते हैं तो हमारे लिए भी 12 व्रतों को धारण करने की प्रेरणा की जाती है। एक साथ अगर 12 व्रत स्वीकार न कर सकें तो एक-एक कर भी हम व्रतों को स्वीकार कर सकते हैं। पूर्ण व्रतों को स्वीकार न कर सकें, तो भी व्रतों में मर्यादा रखकर उसे स्वीकार किया जा सकता है। साधु-साध्वियों के व्रतों में कोई छूट नहीं होती, परन्तु श्रावक-श्राविकाएं छूट के साथ व्रत-प्रत्याख्यान ग्रहण कर सकते हैं। साधु-साध्वियों के व्रत मोती के समान होते हैं जो अमूल्य होते हैं। मोती के टूटने पर उसकी कोई कीमत नहीं रहती, उसी प्रकार श्रमण-जीवन में व्रत के टूटने पर श्रमण-जीवन स्थिर नहीं रह

पाता। श्रावक-श्राविकाओं के व्रत सोने के समान होते हैं। सोना एक ग्राम हो या सौ ग्राम, सबकी कीमत वजन के हिसाब से होती है अर्थात् श्रावक जितने-जितने व्रत धारण करता है उसकी कर्म-निर्जरा उसी अनुसार होती है।

साधु-साध्वियों को उनके साधक जीवन में टालने योग्य जो अनाचार बताए गए हैं, उनमें कई का त्याग हम अपने जीवन में पूर्ण रूप से अथवा मर्यादा के साथ कर सकते हैं, जैसे-

1. साधुओं के लिए रात्रि भोजन निषेध बताया गया है। यह त्याग श्रावक-श्राविकाओं के लिए भी आवश्यक है। एक सच्चे जैनी का लक्षण ही रात्रि-भोजन त्याग बताया गया है। यह हमारी पहचान है।
2. साधक के लिए स्नान को भी अनाचीर्ण कहा गया है। दशवैकालिक सूत्र के छोटे अध्ययन में भी कहा गया है कि रोगी हो अथवा नीरोगी, जो भी साधक स्नान की इच्छा करता है वह आचार से फिसल जाता है और उसका जीवन संयमहीन हो जाता है। हिंसा के साथ स्नान, विभूषा का कारण होने से भी साधक के लिए वर्जनीय कहा गया है। यथासंभव हम भी स्नान का त्याग कर सकते हैं। बड़ी स्नान का पूर्ण त्याग किया जा सकता है, सप्ताह में दिनों की मर्यादा करके भी स्नान का त्याग किया जा सकता है।
3. चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थ और फूल माला का सेवन साधु के लिए निषिद्ध है। इससे वनस्पतिकाय के जीवों की विराधना होती है। श्रावक-श्राविकाएँ भी इनका पूर्ण रूप से अथवा मर्यादा के साथ त्यागकर जीवों की विराधना से बच सकते हैं।
4. तैल आदि से बिना कारण शरीर का मर्दन करना संवाहन कहा जाता है। साधु-साध्वी तो देहासक्ति से बचने के लिए इससे दूर रहते हैं। बिना कारण तो अधिकतर श्रावक-श्राविकाएँ भी इसका उपयोग नहीं करते हैं, अतः मर्यादा के साथ इसका त्याग करना भी श्रेयस्कर है।
5. अपने अंग-उपांग की सुन्दरता के लिए दूसरे से पूछना अथवा आरम्भ-समारम्भ सम्बन्धी अनावश्यक प्रश्न पूछना साधुओं के लिए तो निषिद्ध है ही, श्रावकों को भी यथासंभव आरम्भ-समारम्भ से बचना चाहिए।
6. जुआ, शतरंज आदि खेल जिनमें हार-जीत का दांव लगाया जाता है, उससे कर्मबंधन होता है। सप्तकुव्यसन में भी इन्हें गिना जाता है, अतः प्रत्येक जैन श्रावक-श्राविका का कर्तव्य है कि वह इसका अवश्य त्याग करे।
7. जैन श्रमण तो परीषह सहने और हिंसा से बचने के लिए जूते-चप्पल एवं पादुका का भी उपयोग नहीं करते। हमसे भी जितना हो सके इनका त्याग अवश्य करना चाहिए। ज्यादा नहीं तो कम से कम पर्युषण के आठ दिनों में तो अवश्य ही जूते-चप्पल का त्याग अपेक्षित है।
8. सचित्त कन्द-मूल का लेना भी साधु के लिए अग्राह्य है। जैन धर्म के अनुसार जमीकन्द में असंख्य जीव माने गये हैं, उन जीवों की हिंसा से बचने के लिए प्रत्येक जैन को जमीकन्द का त्याग करना आवश्यक

है।

इनके अतिरिक्त भी जो अनाचार साधुओं के लिए बताए गए हैं, उनमें से हम भी मर्यादा के साथ त्याग करके कर्म रूपी आस्रव को रोक सकते हैं। गृह को त्याग कर साधना में रत रहने वाले श्रमण-निर्ग्रन्थों की तरह अगर हम नहीं बन सकते तो कम से कम गृहस्थी में रहते हुए कर्म-बंधनों से जितना मुक्त हो सकें उतना तो हमें प्रयास करना ही चाहिए।

आचारांग सूत्र में अनगार के कुछ लक्षण बताते हुए सबसे पहला लक्षण बताया कि श्रमण ऋजुकृत हो अर्थात् सरल आचरण वाला हो। जिसका मन एवं वाणी कपट रहित हो तथा जिसकी कथनी-करनी में एकरूपता हो वही ऋजुकृत कहलाता है। ऋजु आत्मा मोक्ष के प्रति सहज भाव से समर्पित होता है, इसलिए अनगार का दूसरा लक्षण बताया-नियोग प्रतिपन्न अर्थात् उनकी साधना का लक्ष्य भौतिक ऐश्वर्य या यशःप्राप्ति न होकर आत्मा को कर्ममल से मुक्त करना होता है। तीसरा लक्षण बताया गया 'अभाय' अर्थात् माया रहित होना। चौथा लक्षण बताया विमोतसिका अर्थात् लक्ष्य के प्रति शंका व चिन्त की चंचलता के प्रवाह में न बहे, शंका का त्याग करे। जिस श्रद्धा के साथ संयम-पथ पर कदम बढ़ाया है, उसी श्रद्धा के साथ संयम का पालन करे।

इन लक्षणों को हम अपने जीवन में भी उतारने का लक्ष्य रखें। हम अपने जीवन को सरल बनाएं। मोक्ष की अभिलाषा तो हम सभी की है, परन्तु क्या हम उस ओर कदम बढ़ा रहे हैं? माया से रहित होकर यदि हम अपनी दिनचर्या के कार्यक्रम संपादित करेंगे तो अवश्य ही कर्ममल से दूर होंगे।

आचारांग सूत्र हमें शिक्षा देते हुए कहता है कि पांच इन्द्रियों के पांच ग्राह्य विषय-शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श हैं। ये ऊँची, नीची आदि सभी दिशाओं में मिलते हैं। इन्द्रियों के द्वारा आत्मा इनको ग्रहण करता है, सुनता है, देखता है, सूंघता है, चखता है और स्पर्श करता है। ग्रहण करना इन्द्रिय का गुण है, गृहीत विषयों के प्रति मूर्च्छा करना मन या चेतन का कार्य है। जब मन विषयों के प्रति आसक्त होता है तब विषय मन के लिए बंधन बन जाता है। शास्त्रकार बताते हैं कि रूप एवं शब्द का देखना-सुनना स्वयं में कोई दोष नहीं है, किन्तु उनमें आसक्ति होने से आत्मा इनमें मूर्च्छित हो जाता है, फंस जाता है। यह आसक्ति ही संसार है। अनासक्त आत्मा संसार में स्थित रहता हुआ भी संसार से मुक्त बनने की कोशिश करता है। हम भी संसार में रहते हुए संसार से मुक्त बन सकते हैं।

संसार त्याग कर प्रत्येक व्यक्ति दीक्षा ग्रहण नहीं कर सकता। परन्तु संसार में रहते हुए अपने परिग्रह में यथासम्भव कमी तो कर ही सकता है। जो परिग्रह को बढ़ाता है, उसके प्रति चाहना रखता है वह स्वयं के सुख के लिए दूसरों के सुख-दुःख की भी परवाह नहीं करता, वह शोषक तथा उत्पीडक भी बन जाता है। इस तरह से परिग्रह के साथ हिंसा का भी अनुबंध स्वतः हो जाता है। सुख की इच्छा से व्यक्ति धन का संग्रह करता है किन्तु धन से कभी सुख नहीं मिलता, अन्त में उसे दुःख, शोक, चिन्ता और क्लेश ही प्राप्त होता है। हमारा चिन्तन

चलता है- 'यह किया, अब यह करना है'। वास्तविक जीवन से दूर भागकर सपनों की दुनियां में हम खो जाते हैं। शास्त्रकार भी कहते हैं कि परिग्रही व्यक्ति सोने के समय सो नहीं पाता, भोजन के समय भोजन नहीं कर पाता। रात-दिन उसके सिर पर परिग्रह का भूत चढ़ा रहता है। संसार में परिग्रह और हिंसा के कारण ही समस्त दुःख व पीड़ाएं होती हैं तथा संसार का परिभ्रमण बढ़ता है; यह जानकर, समझकर हम परिग्रह को कम करने का प्रयत्न करें।

100 करोड़ जीव जब मरते हैं तो 99 करोड़ तिर्यच बनते हैं।

1 करोड़ जीव जब मरते हैं तो 99 लाख नरक में जाते हैं।

1 लाख जीव जब मरते हैं तो 99 हजार देवता बनते हैं।

1 हजार जीव जब मरते हैं तो 900 सम्मूर्च्छिम मनुष्य बनते हैं।

100 जीव जब मरते हैं तो 90 अनार्य देश में जन्मते हैं।

10 जीव जब मरते हैं तो 9 अधर्मी होते हैं।

हम सौभाग्यशाली हैं कि हमें मनुष्य भव मिला और उसके साथ ही उत्तम कुल, उत्तम धर्म भी प्राप्त हुआ अर्थात् जैन कुल मिला। जिन महापुरुषों ने मनुष्य भव की उपयोगिता को समझकर अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाते हुए संसार को त्यागकर साधना की ओर कदम बढ़ाया है वे पूजनीय हैं, आदरणीय हैं, श्रेष्ठ हैं। उनके आचारमय श्रेष्ठ जीवन से हम भी प्रेरणा प्राप्त कर साधना की ओर अपने कदम गतिशील करें, इसी पावन कामना के साथ।

-संयोजक-श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ

'डाया टावर', 898-ए-1, दूसरी डी रोड, सरदारपुरा-342003 (जोधपुर)

फोन : 0291-2654427, 098280-32215 (मोबाइल)



श्रमणाचार : प्रमुख प्रश्नोत्तर

श्री पी. एम. चोरडिया

श्रमणाचार से सम्बद्ध ये प्रश्नोत्तर श्रमण के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्रदान करते हैं तथा श्रमण-जीवन के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हैं। -सम्पादक

प्रश्न:- साधु कौन है?

उत्तर:- (1) जो स्वहित(आत्म-कल्याण) और परहित (दूसरों के हित) को भली-भांति साधता है, वह साधु है।

(2) जो आत्म-चिन्तन, आत्म-अनुशीलन और आत्म-परिमार्जन करता है, वह साधु होता है।

प्रश्न:- निर्ग्रन्थ किसे कहते हैं?

उत्तर:- जो मूर्च्छा की गांठ से मुक्त होकर राग-द्वेष से मुक्ति के पथिक हैं, उन्हें निर्ग्रन्थ कहा गया है।

प्रश्न:- साधु मार्ग का क्या अर्थ है?

उत्तर:- (1) वह मार्ग जो मुक्ति के लिए मानक है, साधु मार्ग है।

(2) ऐसा मार्ग जिसमें साधुओं को आदर्श माना जाता है, साधु मार्ग है।

(3) ऐसा मार्ग जो किन्हीं साधुओं द्वारा प्रवर्तित है, साधु मार्ग है।

प्रश्न:- आर्हती दीक्षा क्या है?

उत्तर:- दीक्षा एक आध्यात्मिक प्रयोगशाला है, जिसमें स्वाध्याय और ध्यान से, आत्मा में रही हुई शक्तियों को प्रकट किया जाता है। दीक्षा अंतर्मुखी साधना है। दीक्षा आत्मा से परमात्मा बनने का श्रेष्ठ साधन है। दीक्षा का अर्थ केवल वेश परिवर्तन या सिर-मुंडन कराना ही नहीं है। दीक्षा का अर्थ है जीवन परिवर्तन करना।

प्रश्न:- दीक्षित जैन साधु के मूल गुण कौन से होते हैं?

उत्तर:- अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह- इन महाव्रतों का पालन तथा यावज्जीवन के लिए रात्रि भोजन का त्याग करना, साधु के मूल गुणों में गिना जाता है।

प्रश्न:- शास्त्रों में जैन साधु के 27 गुणों का वर्णन बताया गया है। वे कौन-कौन से हैं?

उत्तर:- पांच महाव्रतों का पालन करना, पांच इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना, चार कषाय- क्रोध, मान, माया तथा लोभ का वर्जन करना, ज्ञान-सम्पन्न, दर्शन-सम्पन्न, चारित्र-सम्पन्न, भाव से सत्य,

तीन योगों से सत्य, करणों से सत्य, क्षमावान, वैराग्यवान, मन में सम भाव धारण करना, वचन में समता भाव पूर्वक उच्चारण करना तथा काया से समता को क्रियान्वित करना, नववाड़ सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन, किसी भी प्रकार की वेदना हो, उसे समभाव से सहन करना तथा मारणांतिक कष्ट का अनुभव हो, तब भी संयम का पालन करना।

प्रश्न:- श्रमणों के सत्यव्रत की 5 भावनाएँ कौन-कौनसी हैं?

उत्तर:- (1) वाणी-विवेक (2) क्रोध-त्याग (3) लोभ-त्याग, (4) भय-त्याग, (5) हास्य-त्याग। वाणी-विवेक अर्थात् सोच समझ कर भाषा का प्रयोग करना। क्रोध अर्थात् गुस्सा न करना। लोभ-त्याग अर्थात् लालच में न फंसना। भय-त्याग अर्थात् निर्भीक रहना। हास्य-त्याग अर्थात् हँसी मजाक न करना। इसके अतिरिक्त इसी प्रकार की अन्य प्रशस्त भावनाओं से सत्यव्रत की सुरक्षा होती है।

प्रश्न:- अस्तेय व्रत की दृढ़ता एवं सुरक्षा के लिए कौनसी भावनाएँ बतलाई गई हैं?

उत्तर:- (1) सोच-विचार कर वस्तु की याचना करना।
(2) आचार्य आदि की अनुमति से भोजन करना।
(3) परिमित पदार्थ स्वीकार करना।
(4) पुनःपुनः पदार्थों की मर्यादा करना।
(5) साधर्मिक (साथी श्रमण) से परिमित वस्तुओं की याचना करना।

प्रश्न:- उत्तराध्ययन सूत्र में श्रमण के लिए 5 महाव्रतों की 25 भावनाओं के विषय में क्या कहा गया है?

उत्तर:- जो श्रमण 5 महाव्रतों की 25 भावनाओं में सदा यत्नशील रहता है, मनोयोगपूर्वक उनका गहराई से अनुचिन्तन करता रहता है, वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता। इन भावनाओं के अनुचिन्तन से महाव्रतों में स्थिरता आती है। मनोबल पूर्ण रूप से सुदृढ़ होता है। मन में पवित्र संस्कार सुस्थिर होते हैं।

प्रश्न:- रात्रि के अन्तिम प्रहर से सूर्य उदय तक साधु की दिनचर्या क्या होती है?

उत्तर:- साधु की दिनचर्या रात्रि के अन्तिम प्रहर से प्रारम्भ होती है। वह निद्रा को त्यागकर, पंच परमेष्ठी स्मरण, आत्मनिरीक्षण तथा गुरु के चरणों में नमन करता है। यदि कुस्वप्न आता है तो उसकी आलोचना करता है। फिर ध्यान और स्वाध्याय करता है। अंत में प्रतिक्रमण कर वह वस्त्र, रजोहरण आदि की प्रतिलेखना करता है।

प्रश्न:- दिन के चौथे प्रहर में साधु की दिनचर्या क्या होती है?

उत्तर:- स्वाध्याय कर वह गुरु को वन्दन करता है फिर गोचरी में प्राप्त भोजन का सेवन करता है। तदनन्तर गुरु को वंदन कर रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय-प्रतिक्रमण आदि कर संधारा पोरीसी पढ़कर सो

जाता है।

प्रश्न:- श्रमण दिवस के चार प्रहर एवं रात्रि के चार प्रहरों में अपनी चर्या किस प्रकार सम्पन्न करें?

उत्तर:- श्रमण दिन के प्रथम प्रहर में मुख्यतः स्वाध्याय, द्वितीय में ध्यान, तृतीय में भिक्षाचर्या तथा चतुर्थ में फिर स्वाध्याय करे। इसी प्रकार रात्रि के चार प्रहरों में प्रथम में स्वाध्याय, द्वितीय में ध्यान, तृतीय में निद्रा एवं चतुर्थ में पुनः स्वाध्याय करे।

प्रश्न:- साधु को 27 गुणों के अतिरिक्त भी अनेक कार्य करने होते हैं, इनमें मुख्य कौन-कौनसे हैं?

उत्तर:- जीवन पर्यन्त पादविहार करना, एक वर्ष में दो बार अपने मस्तक के बालों का लोच करना, गृहस्थों के घरों से भिक्षा मांग कर लाना आदि।

प्रश्न:- सच्ची साधना करने का मूल उद्देश्य क्या है?

उत्तर:- संसार के जन्म-मरण, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, रोग, शोक, आधि, व्याधि, उपाधि और कर्मों की दासता से छुटकारा पाकर मोक्ष प्राप्त करना ही सच्ची धर्म-साधना का मूल उद्देश्य है।

प्रश्न:- जैन आचार-शास्त्रों में अहिंसा व्रत की सम्पूर्ण साधना के लिए रात्रि-भोजन का त्याग अनिवार्य क्यों कहा गया है?

उत्तर:- दशवैकालिक सूत्र के 'क्षुल्लाकाचार-कथा' नामक तृतीय अध्ययन में निर्ग्रन्थों के लिए औद्देशिक भोजन, क्रीत भोजन, आमन्त्रण स्वीकार कर ग्रहण किया हुआ भोजन यावत् रात्रि भोजन का निषेध किया गया है। षड्-जीवनिकाय नामक चतुर्थ अध्ययन में पाँच महाव्रतों के साथ रात्रि भोजन विरमण का भी प्रतिपादन किया गया है एवं उसे छठा व्रत कहा गया है। आचारप्रणिधि नामक आठवें अध्ययन में स्पष्ट कहा गया है कि रात्रि भोजन हिंसादि दोषों का जनक है। इस प्रकार जैन आचार-ग्रन्थों में सर्वविरत के लिए रात्रि भोजन का सर्वथा निषेध किया गया है।

प्रश्न:- मुनि के ग्रहण करने योग्य पदार्थों के विषय में क्या कहा गया है?

उत्तर:- आवश्यक सूत्र में मुनि के ग्रहण करने योग्य 14 प्रकार के पदार्थों का उल्लेख है:-

1. अशन, 2. पान, 3. खादिम, 4. स्वादिम, 5. वस्त्र, 6. पात्र, 7. कम्बल, 8. पादपोंछन, 9. पीठ, 10. फलक, 11. शय्या, 12. संस्तारक, 13. औषध, 14. भेषज।

प्रश्न:- उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी नामक छब्बीसवें अध्ययन के अनुसार आहार किन कारणों से ग्रहण करना चाहिए?

- उत्तर:-**
- (1) वेदना अर्थात् क्षुधा की शान्ति के लिए।
 - (2) वैयावृत्य अर्थात् सेवा करने के लिए।
 - (3) ईर्यापथ अर्थात् मार्ग में गमनागमन की निर्दोष प्रवृत्ति के लिए।

(4) संयम अर्थात् मुनि धर्म की रक्षा के लिए।

(5) जीवन-रक्षा के लिए।

(6) धर्म-चिन्ता अर्थात् स्वाध्यायादि के लिए।

इनमें से किसी भी कारण की उपस्थिति में मुनि को आहार की गवेषणा करनी चाहिये।

प्रश्न:- श्रमण की दिनचर्या कैसी होनी चाहिए, इस सम्बन्ध में शास्त्रों में क्या वर्णन आया है?

उत्तर:- इसका उत्तर जैन आचार-शास्त्र में व्यवस्थित रूप से दिया गया है। यह उत्तर दो रूपों में है। सामान्य दिनचर्या व पर्युषणाकल्प। उत्तराध्ययन सूत्र आदि में मुनि की सामान्य दिनचर्या पर प्रकाश डाला गया है तथा कल्प सूत्र आदि में पर्युषणा कल्प अर्थात् वर्षावास (चातुर्मास) सम्बन्धी विशिष्ट चर्या का वर्णन किया गया है।

प्रश्न:- श्रमणजीवन का आदर्श एवं हृदयस्पर्शी चित्र किस सूत्र में आया है?

उत्तर:- यदि श्रमण जीवन का आदर्श एवं हृदयस्पर्शी चित्र देखना हो तो आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध का नवम अध्ययन पढ़ना चाहिए। इस अध्ययन का नाम उपधान श्रुत है। उपधान शब्द की व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार ने बताया है कि तकिया द्रव्य उपधान है जिससे शयन में सुविधा मिलती है तथा तपस्या भाव उपधान है जिससे चारित्र पालन में सहायता मिलती है। जिस प्रकार जल से मलिन वस्त्र शुद्ध होता है, उसी प्रकार तपस्या से आत्मा के कर्म-मल का नाश होता है।

प्रश्न:- उत्तराध्ययन सूत्र के सम्यक्त्व पराक्रम नामक अध्ययन में षडावश्यक का संक्षिप्त फल क्या बताया गया है?

उत्तर:- सामायिक से सावद्य योग (पाप कर्म) की निवृत्ति होती है। चतुर्विंशतिस्तव से दर्शन-विशुद्धि (श्रद्धा-शुद्धि) होती है। वन्दना से नीच गोत्र कर्म का क्षय होता है, उच्च गोत्र का बन्ध होता है। प्रतिक्रमण से व्रतों के दोषरूप छिद्रों का निरोध होता है। आस्रव द्वार बन्द होता है तथा शुद्ध चारित्र का पालन होता है। कायोत्सर्ग से प्रायश्चित्त-विशुद्धि होती है, अतिचारों की शुद्धि होती है, आस्रव द्वार बन्द होते हैं तथा इच्छा का निरोध होता है। सर्वविरत श्रमण के लिए इनका पालन आवश्यक बताया गया है।

प्रश्न:- दशाश्रुत स्कन्ध के सप्तम उद्देशक में द्वादश भिक्षु-प्रतिमाओं के क्या नाम हैं?

उत्तर:- प्रतिमा का अर्थ है- तप-विशेष। द्वादश भिक्षु-प्रतिमाओं के नाम इस प्रकार हैं:- (1) मासिकी, (2) द्विमासिकी, (3) त्रिमासिकी, (4) चातुर्मासिकी, (5) पंचमासिकी, (6) षट्मासिकी, (7) सप्तमासिकी, (8) प्रथमसप्तअहोरात्रिकी, (9) द्वितीयसप्तअहोरात्रिकी, (10) तृतीयसप्तअहोरात्रिकी, (11) अहोरात्रिकी, (12) रात्रिकी।

- प्रश्न:-** आचार्य कुन्दकुन्द ने 'द्वादशानुप्रेक्षा' ग्रन्थ में कौन से दस धर्मों की व्याख्या की है?
- उत्तर:-** (1) क्षमा, (2) भार्दव, (3) आर्जव, (4) सत्य, (5) शौच, (6) संयम, (7) तप, (8) त्याग, (9) आर्किंचन्य और (10) ब्रह्मचर्य।
- प्रश्न:-** समवायांग एवं तत्त्वार्थ सूत्र में श्रमणों के बाईस परीषह कौन-कौन से बताये गये हैं?
- उत्तर:-** (1) क्षुधा, (2) पिपासा, (3) शीत, (4) उष्ण, (5) दंश-मशक, (6) अचेल, (7) अरति, (8) स्त्री, (9) चर्या, (10) निषद्या, (11) शय्या, (12) आक्रोश, (13) वध, (14) याचना, (15) अलाभ, (16) रोग, (17) तृण-स्पर्श, (18) जल्ल, (19) सत्कार-पुरस्कार, (20) अज्ञान, (21) दर्शन, (22) प्रज्ञा।
- प्रश्न:-** साधु को वस्त्र की गवेषणा किस प्रकार करनी चाहिए?
- उत्तर:-** आचारांग के द्वितीय श्रुत स्कन्ध की प्रथम चूला के पांचवें अध्ययन में यह बताया गया है कि वस्त्र की गवेषणा के लिए साधु को अर्धयोजन से अधिक नहीं जाना चाहिए। अपने निमित्त खरीदा गया, धोया गया आदि दोषों से युक्त वस्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिए। बहुमूल्य वस्त्र की याचना नहीं करना चाहिए और न प्राप्त होने पर ग्रहण करना चाहिए। निर्दोष एवं सादा वस्त्र की कामना, याचना एवं ग्रहण करना श्रमण के लिए कल्पता है। वस्त्र को धोना व रंगना निषिद्ध है। वस्त्र की गवेषणा करते समय तथा वस्त्र का उपयोग करते हुए इन सब बातों का पूरा ध्यान रखना चाहिए।
- प्रश्न:-** उत्तराध्ययन के सतरहवें अध्ययन में साधुओं की अनासक्ति के विषय में क्या कहा गया है?
- उत्तर:-** उत्तराध्ययन के सतरहवें अध्ययन में कहा गया है कि साधु अलोलुप, रस में अगृह्य, जिह्वाजयी एवं अमूर्च्छित होता है और अपने लक्ष्य बिन्दु पर एकाग्र होकर चलता है। अनासक्ति उसके जीवन का मूलाधार होती है।
- प्रश्न:-** 'साधु हमेशा अकेला रहता है' - इस कथन का क्या आशय है?
- उत्तर:-** साधु भीतर में स्थित अपने विकारों से अकेला ही लड़ता है। वह अन्य साधुओं के साथ रहकर भी विकार-विजय की साधना हेतु स्वयं सजग रहता है।
- प्रश्न:-** जो परिचय नहीं करता, वह भिक्षु है- यह कथन किस प्रकार सही है?
- उत्तर:-** जो साधु परिचय नहीं करता, वह भिक्षु है। भिक्षु कोई ऐसा परिचय नहीं करता, जिससे उसे सुविधाएँ मिलें। आराम मिले, सुख मिले। उसका मार्ग सुविधा-भोग का मार्ग नहीं है। वह कंटकाकीर्ण रास्ता है। वह सुविधा की याचना नहीं करता, असुविधा या संकट में विचलित नहीं होता। संकट में वह परीक्षित होता है और हर आपदा को उपसर्ग को एक सुविधा मानता है, आध्यात्मिक संपदा की तरह स्वीकार करता है।
- प्रश्न:-** पंडित मरण को समाधिमरण क्यों कहते हैं?

- उत्तर:-** जो विषयों में अनासक्त होते हैं तथा मृत्यु से निर्भय रहते हैं, वे ज्ञानी पंडित मरण से मरते हैं। चूंकि पंडित मरण में संयमी का चित्त समाधियुक्त होता है अर्थात् संयमी के चित्त में स्थिरता एवं समभाव की विद्यमानता होती है अतः पंडित मरण को समाधिमरण भी कहते हैं।
- प्रश्न:-** भिक्षु किन परिस्थितियों में समाधिमरण ग्रहण करे?
- उत्तर:-** जब भिक्षु को यह प्रतीति हो जाय कि मेरा शरीर तप आदि कारणों से अत्यन्त कृश हो गया है अथवा रोग आदि कारणों से अत्यन्त दुर्बल हो गया है अथवा अन्य किसी आकस्मिक कारण से मृत्यु समीप आ गई है एवं संयम का निर्वाह असंभव हो गया है, तब वह क्रमशः आहार का संकोच करता हुआ कषाय को कृश करे, शरीर को समाहित करे एवं शांत चित्त में शरीर का परित्याग करे। इसी का नाम समाधिमरण या पंडितमरण है। इसे संलेखना भी कहते हैं। संलेखना में निर्जीव एकान्त स्थान में तृणशय्या बिछाकर आहारादि का परित्याग किया जाता है अतः इसे संथारा भी कहते हैं।
- प्रश्न:-** जैन दर्शन में बताए गए पाँच प्रकार के संयम(चारित्र) में सभी प्रकार के चारित्र की आराधना वर्तमान में सम्भव क्यों नहीं है?
- उत्तर:-** जैन दर्शन में संयम (चारित्र) के पाँच प्रकार बतलाए गए हैं- (1) सामायिक, (2) छेदोपस्थापनिक, (3) परिहारविशुद्धि, (4) सूक्ष्मसम्पराय, (5) यथाख्यात। इन पाँचों प्रकार के संयमों में वर्तमान में केवल दो चारित्र की आराधना मानी गई है। बाकी के चारित्र की आराधना के लिए विशेष संहनन, सामर्थ्य व धैर्य की आवश्यकता होती है।

-89, Audiappa Naicken Street, Sowcarpet, Chennai-600079(T.N.)



साधना के गुरुशिखर पर

डॉ. रमेश 'मयंक'

एक भ्रमण गुरु की विशेषताओं को इस लघुनाटिका के माध्यम से लेखक ने भली भांति प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। युवक-युवतियों को भ्रमण-जीवन की संक्षिप्त झंझोतों से प्राप्त हो सहेगी।—सम्पादक

पात्र परिचय

| | |
|--------------|---------------------|
| आचार्यप्रवर- | वय से वृद्ध |
| युवक- | एक - दो - तीन - चार |
| युवती- | एक - दो |
| साध्वी- | एक - दो |

मंच पर धीरे-धीरे प्रकाश की हलचल होने लगती है। मंच की पीठिका श्वेत है। मध्य भाग में एक तख्त पर विराजमान दिव्य-व्यक्तित्व आचार्यप्रवर जो वय से वृद्ध हैं, श्वेत वस्त्र धारण किए हुए हैं। चित्त शान्त, तेजस्वी आभा से मण्डित है। युवक-युवती का प्रवेश होता है -

युवक- आचार्यप्रवर को तिकखुतो के पाठ से वन्दन!

युवती- मत्थएण वन्दामि।

(दोनों बैठ जाते हैं)

आचार्यप्रवर- दया पालो। धर्मराधन कैसा चल रहा है?

युवक- गुरुदेव! धर्मराधन ठीक नहीं चल रहा है, मन अशान्त है। भाईसाहब असमय में ही चले गए।

आचार्यप्रवर- दुःख का मूल है-वस्तु को अपना समझना या अपने को वस्तु समझना। अहंकार-ममकार तो छोड़ना ही पड़ता है।

युवती- परन्तु गुरुदेव अकाल-मरण।

आचार्यप्रवर- स्थानांग सूत्र में आयुर्भेद (अकाल मरण) के सात कारण बताए हैं- राग, द्वेष, भय आदि भावों की तीव्रता, शस्त्राघात, आहार की हीनाधिकता या निरोध, ज्वर-आतंक, रोग की तीव्रता, पर का आघात, खड्गे में गिरना, सर्पदंश, श्वासोच्छ्वास का निरोध आदि।

युवक- पर वे तो.....

आचार्यप्रवर- अकाल मरण रक्त क्षय, हिमपात, वज्रपात, अग्नि, उल्कापात, जल प्रवाह, गिरि वृक्षादि के गिरने से भी होता है।

युवती- उन्हें तो हृदयाघात हुआ था।

आचार्यप्रवर- मृत्यु आने के कई बहाने हैं। समझदारी इसी में है कि जन्म और मृत्यु के बीच के समय का सदुपयोग हो। मानव-जीवन परम दुर्लभ है क्योंकि मानव भव में ही राग-द्वेष-मोह का क्षय किया जाना सम्भव है। अतः मृत्यु का शोक न कर आप लोग इस सच्चाई को जानकर उनके प्रति उठने वाले मोह को कम करने का प्रयत्न करें।

युवक-युवती- गृहस्थी के जीवन में आने वाले दुःख उसे तोड़ते हैं तो साथ में अध्यात्म से जोड़ते भी हैं। हम तो धर्मानुरागी हैं- धर्म की राह के राहगीर और आप पथ प्रदर्शक ही नहीं, पथ अन्वेषक भी हैं।

गुरुदेव आपने दिया हमें ज्ञान

गुरुवर महान् गुणी विद्वान

साधक को उन्नति पथ दिखलाने वाले

तलहटी से शिखर पर पहुँचाने वाले।

(दो साध्वियों का प्रवेश होता है)

साध्वी-एक- गुरु का जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।

साधना के क्षेत्र में गुरु शिखर समान होता है।।

साध्वी-दो- गुरुवर प्रेरणा देते हैं, गुरुवर घड़ते हैं। गुरुवर जैसा घड़ने वाला कोई दूसरा नहीं होता है। गुरु के प्रति श्रद्धा रखकर, जीवन में आचरण करने वाला सुख का अधिकारी बनता है।

साध्वी-एक- गुरु जड़ को नहीं, चेतन को घड़ता है। जाग्रत कर अंतश्चेतना, अवगुणों को हटाता है। मन की चंचलता को, मिटाकर दिखाता है।

साध्वी-दो- गुरुदेव कारीगर है, पथ-प्रदर्शक है, सर्जक है, निर्माता है। गुरुदेव ने ही मुझे श्रमशील बनाया। समभाव का साधक बनना सिखाया। मैंने सीखा-कषायों को शान्त करना। मेरा मन सबके प्रति हित कामना से आप्लावित है। मेरा जीवन ज्ञानामृत की कृपा दृष्टि पाने हेतु रत है।

युवक-युवती- हम सब गुरुदेव के अनुयायी हैं।

सर्वत्र गुरुदेव की महिमा छाई है।

गुरुदेव से मिलता पावन दिशा बोध

मन-वचन-काया को साधना से

जोड़ने का विनम्र अनुरोध।

समवेत स्वर- हम सभी धर्मानुरागी प्रतिज्ञा करते हैं कि जीवन में धीरता, गम्भीरता, सहनशीलता लायेंगे।

वत्सलता, आत्मीयता सेवा-भावना को अपनायेंगे। दम्भ का प्रतिकार करके, मान पर प्रहार करके सच्चे मन से सेवा का आचार-विचार अपनायेंगे। गुरुदेव की जय! आचार्य श्री की जय! जय! जय!

दृश्य - दो

पार्श्व में संगीत का स्वर धीरे-धीरे उभरता एवं तीव्र होता है, सुमधुर स्वर लहरी के साथ सुनाई देता है-

गुरुदेव हुए गुणी विद्वान, गुरुदेव बारम्बार प्रणाम।
पढ़कर विद्याज्ञान बढ़ाया, विनयशीलता गुण अपनाया।
विद्या सागर सा श्रम करके, सबको दिया साधना ज्ञान ॥

गुरुदेव हुए गुणी विद्वान ॥ 1 ॥

गौतम सी पायी ज्ञान पिपासा, श्रमण सी रही सदा जिज्ञासा।
धैर्य दृढ़ता और उदारता से, गुरु शिखर बन किया उत्थान ॥

गुरुदेव हुए गुणी विद्वान ॥ 2 ॥

(धीरे-धीरे स्वर मंद होता है एवं थम जाता है)

युवक-एक- मुझे गुरुदेव ने शील आचरण की शिक्षा दी।
शील रतन मोटो रतन, सब रतनों की खान।
तीन लोक की सम्पदा, रही शील में आन ॥

युवक-एक- शील के कारण माता को कुल की रक्षा करने वाली कहा गया है।

युवक-एक- शील हमारे धर्म की आधार शिला है।
शील संस्कारों का सुदृढ़ किला है ॥
शील बुद्धि बढ़ाता, करता शक्ति-संचार
शीलव्रतधारी की महिमा अपरम्पार।

साध्वी-एक- हम शीलव्रत की शिक्षा को अपनाएँ।
तप त्याग का आचरण करते चले जाएँ ॥
मन पुष्पोद्यान समान प्रसन्न होगा।
संत-संगत से आत्मोत्थान का आगमन होगा ॥

साध्वी-दो- शीलव्रत आचरण से दूर होगी-

देश समाज की अनैतिकता।

दुष्प्रवृत्तियों का अन्त होगा। सन्तों की वाणी से समाज सतत, दिशा बोध पाएगा;
व्यसनों के कीटाणुओं से मुक्त जगत कहलाएगा।

(युवक एक एवं युवती एक-मंच से प्रस्थान करते हैं तथा मंच पर युवक-दो एवं युवती दो का आगमन होता है।)

- युवक-दो- गुरुदेव ने साधना का पथ बतलाया। साधना का पथ सर्वोत्तम है। यह सरल भी है और दुर्गम भी। इस पथ पर चलकर साधक तहलटी से शिखर तक की उन्नति कर सकता है। गुरु शिखर पर गूंजती घंटा-ध्वनि की तरह गुरुदेव की वाणी भी गुंजायमान है। गुरुदेव प्रेरक हैं और निर्माता हैं।
- युवती-दो- गुरुदेव की वचन वाणी साधना का उत्कृष्ट सोपान है। सौहार्द-भाव का संधान है। अहं विगलन का विज्ञान है। आत्मशोधन की प्रक्रिया में परिष्कार है। गुरुदेव का आभार है।
- युवक-दो- साधना पथ के कारण सात्त्विक जनों का सम्मान है। साधना पथ तप में प्रधान है।
- युवती-दो- गुरुदेव! धर्मवीर, दयावीर, दानवीर हैं।
- साध्वी-एक- साधना पथ तो जिनशासन का विधान है।
- साध्वी-दो- इसमें सम्यक्त्व की सुवास है। इसमें मुक्ति की प्यास है। धर्म की राह का अहसास है।
- साध्वी-एक- साधना के पथ से जाग्रत होता आत्म-विश्वास है। साधना के कारण अंधकार से होता प्रकाश है।
- साध्वी-दो- साधना का पथ जीवन में परिवर्तन लाता।
असत्य से सत्य के मार्ग पर ले जाता ॥
मृत्यु से अमरत्व का बोध कराता।
अशान्ति से आनन्द लोक में पहुँचाता ॥
- युवक-युवती- साधक सेवा धर्म बड़ा गम्भीर,
पार कोई बिरला ही पावेगा।
गुरुदेव आपकी वचनमृत वाणी से,
साधक गुरु शिखर सा बन जायेगा ॥
- साध्वी-एक- गुरुदेव- आप हस्ती हैं-
सदा समाज ऋणी रहेगा
समाज को आपने गति दी,
शुद्ध मन-वचन-कर्म ज्ञान से
सदा समाज की प्रगति की
- साध्वी-दो- कल्याण रूप हो मंगल आप,
संत रूप के धारी थे।
ज्ञानवन्त हुए गुरु शिखर से,
इस युग के अवतारी थे ॥

समवेत स्वर- हम सब धर्मावलम्बी प्रतिज्ञा करते हैं कि-
 प्रतिपल साधना मय जीवन बनायेंगे।
 गुरुदेव के वचनों को आत्मसात् कर दिखायेंगे।
 मिट सके सभी का इस भव से भ्रमण
 ऐसा उत्तम आचरण का कीर्तिमान बनायेंगे।

(एक पल का अन्तराल)

जिन्होंने स्वयं को साधना से सक्षम बनाया, फिर
 जगत को कल्याण हेतु साधना का पथ बताया।
 उनकी शिक्षा ज्योति को घर-घर फैलायेंगे।
 धर्म-साधना की सुरभि से दिग्दिगंत महकायेंगे।

(एक पल का अन्तराल)

हम श्रमण-जीवन की महत्ता को प्रकाश में लायेंगे।
 साधना के गुरु शिखर पर विराजमान गुरुदेव की जय! आचार्य श्री की जय! जय!

दृश्य तीन

नेपथ्य में स्वर धीरे-धीरे उभरता है, तीव्र होता है, सुमधुर स्वर लहरी के साथ स्पष्ट सुनाई देता है-

धन्य-धन्य प्रभु तोहे, वन्दना हमारी है।

आचार्य श्री ज्ञानवन्त, गुणवन्त जग हितकारी है ॥

सौम्यता झलकाने वाले

ज्ञान-गंगा बहाने वाले

जिनके आप वचनों पर मुग्ध होते नर नारी हैं।

धन्य-धन्य प्रभु तोहे, वन्दना हमारी है ॥ 1 ॥

आगमों का गहरा ज्ञान

संघ की थामे रहे कमान

भाव से निष्काम हुए जो, गुरु तपस्वी सेवाव्रत धारी हैं।

धन्य-धन्य प्रभु तोहे, वन्दना हमारी है ॥ 2 ॥

(धीरे-धीरे स्वर मंद होता है एवं थम जाता है।)

साध्वियों का

समवेत स्वर- हम साध्वियां हैं। श्रमण हैं। हम श्रमशील हैं, समभाव की साधक हैं।

साध्वी-एक- श्रमण का जीवन संयम और विरक्ति का प्रतीक होता है। श्रमण बाह्य वस्तुओं के स्वामित्व का

अधिकार त्याग कर दीक्षा अंगीकार करता है।

- साध्वी-दो-** अपार ऐश्वर्य और अतुलित सम्पत्ति को भी श्रमण तृणवत् त्याग देता है। उसके मानस में मोह व्याप्त नहीं होता। श्रमण भाव से निर्मल होता अंतःकरण है।
- साध्वी-एक-** श्रमण का शरीर भी अध्यात्म-साधना का एक अनिवार्य साधन है। श्रमण न्यूनतम आवश्यकताओं पर जीवन निर्वाह करता है।
- साध्वी-दो-** श्रमण उपार्जन नहीं करता, संयम अपनाता है।
- साध्वी-एक-** अणगार श्रमण नौ प्रकार के बाह्य संयोग से- क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य से मुक्त रहता है और शाश्वत मुक्ति तलाशता है।
- साध्वी-दो-** चौदह प्रकार के आभ्यन्तर संयोग से भी मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसंक वेद, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ से मुक्त रहता है। श्रमण धर्म की राह के पथिक है।
- साध्वी-एक-** श्रमण के लिए पिण्ड, शय्या, वस्त्र तथा पात्र न्यूनतम आवश्यकताओं के उपकरण माने जाते हैं।
- साध्वी-दो-** श्रमण के वस्त्र धारण के तीन प्रयोजन-लज्जा निवारण, जन घृणा निवारण और शीतादि प्राकृतिक प्रहार से सुरक्षा है।
- साध्वी-एक-** श्रमण के लिए बहत्तर हाथ और श्रमणी के लिए तिरावने हाथ वस्त्र उपयोग का विधान है।
- साध्वी-दो-** श्रमणों के लिए मुख वस्त्रिका, रजोहरण, पात्र, चोल पट्टक, वस्त्र, कम्बल, आसन, पाद-प्रोच्छन, शय्या, बिछाने के लिए घास-पुआल, फलक, पात्र बन्ध, पात्र स्थापन, पटल, पात्र केसरिका, रजस्त्राण आदि उपकरण होते हैं।
- साध्वी-एक-** श्रमण की भिक्षा प्रणाली विशिष्ट कोटि की होती है। यह तपश्चर्या का एक रूप है-गोचरी।
- साध्वी-दो-** श्रमण रसना-तुष्टि अथवा स्वाद के लिए आहार ग्रहण नहीं करते।
- साध्वी-एक-** श्रमण के आहार ग्रहण करने के कारणों में क्षुधा वेदना सहन न होना, वैय्यावृत्य, ईर्या शोधन, संयम-पालन, जीव-रक्षा एवं धर्म-चिन्तन प्रमुख हैं।
- साध्वी-दो-** श्रमण के आहार-त्याग के कारणों में रोगव्याधि, संयम-त्याग का उपसर्ग, ब्रह्मचर्य रक्षा, जीव-रक्षा, तपस्या, शरीर त्याग का अवसर आदि प्रमुख होते हैं।
- साध्वी-एक-** श्रमण की दिनचर्या सामाचारी में विश्लेषित होती है। वह स्वाध्याय से ज्ञान चक्षुओं को अनावृत्त करता है।
- साध्वी-दो-** स्थानांग सूत्र में सामाचारी का स्वरूप आवश्यक, नैषधिकी, आपृच्छना, छन्दना, इच्छाकार, मिथ्याकार, तथेतिकार, अभ्युत्थान एवं उपसंपदा है।
- (एक पल का अन्तराल, मंच पर सभी युवक-युवतियों (पात्रों) का प्रवेश होता है।)

- युवक-एक- धार्मिक आस्थाभाव रखने वाले सहयात्रियों में श्रमण जीवन एक पवित्र जीवन है। इसमें स्वाध्याय का अति महत्वपूर्ण स्थान है। ज्ञान के अनुरूप आचरण ही दुःख मुक्ति का मार्ग है।
- युवक-दो- श्रमण दिन एवं रात्रि को दो-दो कालों में विभाजित कर दिन में स्वाध्याय एवं ध्यान करते हैं।
- युवक-तीन- रात्रि में भी स्वाध्याय एवं ध्यान कर ज्ञानवान हो उत्कर्ष को पाते हैं, दिन में भिक्षा एवं रात्रि में निद्रा भी दिनचर्या का भाग है।
- युवक-चार- श्रमण-जीवन जागृति का प्रतीक है।
- युवती-एक- श्रमणत्व आत्म-शुद्धि और प्रशम सुख-प्राप्ति का पथ है। जो विकारों से रहित होते हैं, वे पूज्य हो जाते हैं।
- युवती-दो- यह सुख आत्मिक है, लौकिक नहीं।
(एक पल का अन्तराल)
- युवक-एक- श्रमण का लक्ष्य परम अनन्त सुख है।
- युवती-एक- श्रमण की साधना-अनन्त और वास्तविक सुख प्राप्ति के लिए है।
- युवती-दो- श्रमण की यात्रा निरापद भी नहीं है।
- युवक-एक- श्रमण के साधना मार्ग में शूल भी हैं और फूल भी हैं। धर्म की राह चरित्रवान् बनाती है।
- युवक-दो- सहनशीलता से संवेदनशीलता बढ़ती है।
- युवक-तीन- धर्म का प्रत्येक चरण जीव के लिए हितकारी होता है। धर्म की राह संस्कारवान् बनाती है।
- युवक-चार- श्रमण दीक्षा की पाठशाला एकान्त एवं दीक्षा का पाठ मौन है। धर्म की राह मुक्ति का माध्यम है।
- युवती-एक- धर्म आत्मसाक्षी से होता है।
- युवती-दो- प्रज्ञा से धर्म की समीक्षा करनी चाहिए।
- साध्वी-एक- वीतराग वाणी समग्र है।
- साध्वी-दो- गुरुदेव ने हमें प्रेरित किया और जिनेश्वर वाणी को हम तक पहुँचाया है। हम सब गुरुदेव के आभारी हैं।
- साध्वी-एक- गुरुदेव ने अपने उद्बोधन में बताया- “मानव! आ जाओ। तुम भी मेरी तरह राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करके जिन बन जाओ। तुम भी इस मार्ग पर चलोगे, पुरुषार्थ करोगे तो कर्म का आवरण टूटेगा और तुम भी जिन बन जाओगे।”
- साध्वी-दो- गुरुदेव ने हमें प्रेरित किया-
पर-निन्दा का त्याग करने के लिए।
अपने अन्तर्मन को टटोलने के लिए॥
जो बीत गया है उसकी चिन्ता न करना।

जो शेष रहा जीवन घट, उसमें अमृत भरना ॥

युवक-एक- गुरुदेव का बड़ा उपकार है,
हमें सन्मार्ग दिखलाते हैं।
प्रतिफल की नहीं करते आस,
पग-पग पर फर्ज निभाते हैं ॥

युवक-दो- हम धर्म की राह पर चलते,
महावीर पथ का अनुसरण करते।
गुरुदेव ने धर्मवचनों को सुनाया,
साधना के शिखर तक पहुँचाया ॥

युवक-तीन- जाजरी नदी तट पर पीपाड़ ग्राम में जन्म लिया।

युवक-चार- निमाज ग्राम में देह त्याग किया।

साध्वी-एक- आओ निमाज को पावापुरी सा मान दिलाएं।

साध्वी-दो- आओ महावीर की हस्ती को शीश नवाएँ।

युवती-एक- गुरुदेव की वाणी मानव मात्र के लिए कल्याणी।

युवती-दो- आओ मिलकर गाएं-
अन्तर्मन में प्रकाश जगायेंगे
मोह पाश बंधन कट जायेंगे।
काम-क्रोध मद लोभ को त्याग
जीवन सफलतम बनायेंगे ॥

सभी युवकों का समवेत स्वर-

भेद ज्ञान की पैनी धार से गुरुदेव ने, काट दिए जग के पाश।

मोह मिथ्या की गाँठ गलाकर, अन्तर किया प्रकाश ॥

समवेत स्वर- “आज गुरुदेव की वाणी हमारी अध्यात्म-चेतना को झंकृत करती है। यह झंकार गुरु शिखर सम अहसास है। यह उद्घोष है- हम पतित से पावन हो सकते हैं। हमें स्वाध्याय और श्रमण को जीवन का अंग बनाना चाहिए। स्वाध्याय से हमारे विचारों का शोधन होगा और मनोमालिन्य दूर होगा।”

(एक पल का अन्तराल)

धर्म की राह पर चलने वाले, साधना के गुरु शिखर पर पहुँचाने वाले गुरुदेव की जय! जय! जय!

-बी-8, मीरा नगर, चित्तौड़गढ़-312001 (रज.) फोन: 01472-246479, 9461189254

आचार्य का स्वरूप एवं महिमा

श्री प्रकाशचन्द्र जैन

प्रस्तुत आलेख में श्रमण के एक प्रकार 'आचार्य' के स्वरूप एवं महत्त्व का प्रतिपादन आगमिक आधारों के साथ किया गया है। आचार्य सम्प्रति तीर्थंकर के प्रतिनिधि श्रमण के रूप में धर्मतीर्थ के नायक होते हैं। -सम्पादक-

नवकार मंत्र के तीसरे पद में जिन्हें नमस्कार किया गया है, वर्तमान में जो तीर्थंकर का प्रतिनिधित्व करते हुए धर्मसंघ का संचालन करते हैं तथा स्वयं पंचाचार का पालन करते हुए अपने शिष्य समुदाय से भी शुद्ध पालना करवाते हैं, ऐसे आचार्य भगवन्त 36 गुणों के धारक, आठ सम्पदा के स्वामी तथा संघ के नायक हैं।

आचार्य का स्वरूप-

1. आचर्यन्ते असावाचार्यः सूत्रार्थावगमार्थं मुमुक्षुभिरासेव्यते इत्यर्थः (आवश्यकसूत्र की टीका) अर्थात् जो सूत्र और अर्थ के ज्ञान के लिए मुमुक्षुओं द्वारा सेवा किये जाते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं।
2. आयरियाणं-आ-मर्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्यन्ते-सेव्यन्ते जिनशासनार्थोपदेशकतया तदाकांक्षिभिरित्याचार्याः। उक्तं च-

श्रुततथविऊ लवखण-जुतो, गच्छस्स मेढि भूओ य।

गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ ॥

अर्थात् आकांक्षियों के द्वारा जो मर्यादापूर्वक जिनप्रवचन के अर्थ का उपदेश देने के कारण सेवन किये जाते हैं वे आचार्य कहे जाते हैं।

3. आयारो- ज्ञानाचारादि पंचधा, आ-मर्यादया वा आचारो-विहारः।
आचारस्तत्र साध्यः स्वयं करणात्प्रभाषणात्प्रदर्शनाच्चेत्याचार्याः।
आह च- पंचविहं आयारं, आयरमाणा तथा पयासंता।
आयारं दंसत्तां, आयरिया तेण वुच्चंति ॥

आवश्यकनिर्युक्ति 994

अर्थात् ज्ञानादि पांच प्रकार का आचार एवं मर्यादा पूर्वक विहार आचरणीय है। जो साधु स्वयं पंचाचार का पालन करते हैं, दूसरों से करवाते हैं और आचार को दिखाते हैं वे आचार्य कहलाते हैं।

4. अङ्गरससीलंगसहस्साहिद्वियं तणू छत्तीसइविहयायारं जहद्वियं मे गिलाए महत्ति साणुसम्यं आयरंति ति वत्तयंति ति आयरिया। परमप्पणो य हियमायरंति आयरिया।

सव्वसत्तसीसग्गणाणं च हियमायरंति आयरिया । पाणपरिच्चाए वि उ पुढवीदीणं समारंभं
नाऽऽयरंति, नारभंति, पाणुजाणंति आयरिया । सुहुमावरद्धे वि ण करसइ मणसाऽवि
पावमायरंति सि वा आयरिया

-(महानिशीथ, अध्याय 3)

अर्थात् अठारह हजार शीलांग से युक्त, 36 गुणों से सहित जो सिद्धान्त के अनुसार वर्तन करते हैं। अपने व
दूसरे के हित का आचरण करने वाले, सभी जीव व शिष्यों के हित का आचरण करने वाले, प्राणों का परित्याग
करके भी जो पृथ्वीकाय आदि का समारंभ नहीं करते, नहीं कराते, न अनुमोदन करते। सूक्ष्म अपराध होने पर भी
जो किसी का मन से भी बुरा नहीं चाहते, वे आचार्य कहलाते हैं।

5. आचार्यस्सूत्रार्थदाता, दिग्गाचार्य्यो वा ।
आचार्यस्सूत्रार्थोभ्यवेत्ता लक्षणादियुक्तश्च ।

आवश्यकसूत्र, अध्ययन 3, गाथा 95

अर्थात् आचार्य सूत्र एवं अर्थ के दाता अथवा आचार्य सूत्र, अर्थ व उभय के जानने वाले, लक्षणों से युक्त
होते हैं।

सारांश- उन महापुरुषों को आचार्य कहते हैं जो स्वयं ज्ञानादि पंचाचार का पालन करते हैं, करवाते हैं। वे 36
गुणों के धारक, स्व-पर हितैषी तथा सूत्र व अर्थ के दाता होते हैं।

आचार्य की महिमा

1. चतुर्विध संघ में आचार्य की महिमा अपरम्पार है। वे तीर्थंकर का प्रतिनिधित्व करते हैं, उन्हें
तीर्थंकर के समान माना जाता है-

तित्थयरसमोऽसूरि संभं जो जिणमयं पयासेइ ।

आणं अइक्कमन्तो, सो कापुरिसो व सप्पुरिसो ॥

महानिशीथ के पंचम अध्ययन में भावाचार्य को तीर्थंकर के समान कहा है- जे ते भावायरिया ते
तित्थयरसमा चेव दड्डव्वा तेसि सन्तिअं आणं नाइक्कमेज्जति । उनकी आज्ञा का उल्लंघन करने वाला कापुरुष
है, सत्पुरुष नहीं ।

2. आयरियनमोक्कारो जीवं मोएइ भवसहस्सातो ।
भावेण कीरमाणो, होउ पुणो बोहिलाभाए ॥
आयरियनमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसि तइयं हवइ मंगलं ॥

-अभिधान राजेन्द्र कोष

भावपूर्वक आचार्य को किया गया नमस्कार हजारों भवों से छुटकारा दिलाता है तथा बोधि को देता है।

सभी मंगलों में तीसरा मंगल है।

3. आचार्य के बिना कोई संघ नहीं रह सकता। यदि आचार्य कालधर्म को प्राप्त हो जाये तो तत्काल नये आचार्य का मनोनयन अनिवार्य है, अन्यथा साधु-साध्वियों के लिए प्रायश्चित्त का विधान है।
4. आचार्य संघ के लिए मेढीभूत आदि होते हैं-

मेढी आलंबणं खंभं दिद्धि जाणसुउत्तमं।

सूरि जं होइ गच्छस्स..... ॥

अभिधान राजेन्द्र कोष

आचार्य संघ के लिए मेढीभूत- गाय को बांधने के खंभे के समान गच्छ को मर्यादा से प्रवृत्ति कराते हैं। आलम्बन रूप हैं- भव गर्त में गिरते हुए संघ को धारण करने से खंभे के समान हैं- जैसे खम्भा भवन का आधार होता है उसी प्रकार आचार्य भी संघ के आधार होते हैं। नेत्र के समान- जैसे नेत्र वस्तुओं को दिखाते हैं वैसे ही आचार्य संघ के भावी शुभाशुभ के प्रदर्शक होते हैं। यानपात्र के समान- जैसे यान तीर के पार पहुँचा देता है वैसे ही आचार्य भी गच्छ को तीर पार करवा देते हैं।

5. आचार्य पद का सम्यक्तया निर्वहन करने वाले महापुरुष या तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं अथवा तीसरे भव का तो उल्लंघन नहीं करते। भगवतीसूत्र में उल्लिखित आचार्य की महिमा का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है।

-व्यंकटेश अयार्टमेन्ट, 12- अजय कॉलोनी,

जे.डी.सी.सी. बैंक के सामने, सिंग रोड, जलगाँव-425001 (महा.)



आचार्यपद की महत्ता

श्री हस्तीमल गोलेच्छा एवं श्रीमती शर्मिला खीवसर

तीर्थकर के प्रतिनिधि आचार्य होते हैं। वे 36 गुणों के धारक तथा आठ सम्पदाओं से युक्त होते हैं। वे अगीतार्थ साधुओं के कवच होने के साथ शिष्य को चार प्रकार का विनय प्रदान करते हैं। आगमों में भी उनकी महिमा गायी गई है। आचार्य की अविनय आशातना करने वाला शिष्य मार्गच्युत हो जाता है तथा दुष्परिणाम भोगता है। आलेख आगमिक प्रमाणों से उपेत है। -सम्पादक

जह दीवा दीवस्यं पईप्पल, सो य दीप्पल दीवो।

दीवसम्मा आयसिया अप्पं च परं च दीवंति॥

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने आचार्यों को उस दीपक की उपमा दी है, जो स्वयं प्रकाशित होते हुए दूसरों को भी प्रकाशित करता है और जिससे अन्य सैकड़ों-सहस्रों दीप प्रदीप्त किए जा सकते हैं।

सुहुम्भं अग्गिवेसाणं, जंबू नामं च कासवं।

पभवं कच्चायणं वंदे, वच्छं सिज्जं भवं तथा॥

(नन्दी सूत्र, गाथा-25 युग प्रधान पट्टावली)

आर्य सुधर्मा से लेकर आज पर्यन्त दीर्घावधि में हुई क्रमबद्ध आचार्य-परम्परा में हुए त्यागी तपस्वी आचार्यों ने और उनसे ही संयम की सीख लेकर सहस्रों प्रभावक श्रमण-श्रमणियों ने प्राणिमात्र को अभय देने वाले पंच महाव्रत रूप धर्म को अध्ययन, अध्यापन, प्रवचन, प्रख्यापन एवं गहन चिन्तन-मनन के स्नेह से सिंचित कर अक्षुण्ण रखा है और अनगिनत लोगों को सम्यक्त्व प्रदान कर प्राणिमात्र पर अनुकम्पा की है। उसी से आज तक भव्यजनों के हितार्थ कहा गया कल्याणकारी धर्म पंचम आरे में भी पढ़ा और आचरित किया जा रहा है।

सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने तीर्थ प्रवर्तन काल में ही गणधरों को पद प्रदान करते समय आर्य सुधर्मा को दीर्घजीवी समझकर धुरी के स्थान पर रख कर गण की अनुज्ञा दी, अपना उत्तराधिकारी बनाया।

‘पछी श्री वीर पाटे पांचवा गणधर श्री सुधर्मा स्वामी पहले पाटे थया।’

-वीर वंशावलि/तपागच्छ वृद्ध पट्टावली-मुनि जिन विजय जी

‘भगवान् महावीर ने पहली पाट पर श्री सुधर्म स्वामी निराज्या।’

-प्रभु वीर पट्टावली- मुनि मणिलाल जी- जैन धर्म का मौलिक इतिहास में उल्लेख।

प्रभु वीर सर्वज्ञ थे। उन्हें ज्ञात था कि नौ गणधर उनके जीवनकाल में ही अपना आत्मार्थ सिद्ध कर मोक्ष में चले जायेंगे। शेष इन्द्रभूति गौतम और सुधर्मा में से गौतम स्वामी को भगवान के निर्वाण के बाद ही केवल ज्ञान हो जाता, अतः गौतम ऐसा कहते- “मैं ऐसा देखता हूँ, मैं ऐसा कहता हूँ।” जबकि कोई भी पट्टधर अपने पूर्ववर्ती आचार्य के आदेशों, आदर्शों एवं सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करता है तथा आज्ञाओं का पालन करवाता है।

भगवान के निर्वाण के समय आर्य सुधर्मा चार ज्ञानधारी और 14 पूर्वों के ज्ञाता थे, केवली नहीं, अतः वे ऐसा कह सकते थे “भगवान् ने फरमाया है” अतः तीर्थंकर महावीर द्वारा प्ररूपित श्रुत परम्परा को अविच्छिन्न रूप से यथावत् रखने की दृष्टि से आर्य सुधर्मा को प्रथम पट्टधर नियुक्त किया गया।

मूलतः जिनेन्द्र भगवान द्वारा स्थापित तीर्थ की महत्ता बतलाने के लिए आचार्य परम्परा स्थापित की गई। आचार्यों ने प्रवचन को सुरक्षित रखा और अपने-अपने उत्तराधिकारी को इस रूप में दिया-

“सुयं मे आउसं, तेणं भगवया एवमक्खायं।”

‘हे आयुष्मन् मैंने सुना है, उन भगवान के द्वारा ऐसा कहा गया है। जैनागमों में आचार्यों की महिमा का विविध स्थानों पर विविध रूपों में वर्णन है। “अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंधंति गणहरा निउणं।” तीर्थंकरों की वाणी मुक्त सुमनों की वृष्टि के समान होती है, महान् प्रज्ञावान् गणधर उसे सूत्र रूप में ग्रथित करके व्यवस्थित आगम का रूप देते हैं। इसलिए आगमों में वर्णित आचार्य-महिमागान को यह भी कह सकते हैं कि तीर्थंकरों ने स्वयं अपने मुख से आचार्य महिमा गाई है।

जैनागमों में आचार्य महिमा

व्याख्याप्रज्ञसिद्धसूत्र, शतक 5, उद्देशक 6 में गौतम की पृच्छा पर प्रभु वीर के द्वारा गण-संरक्षण तत्पर एवं अपने कर्तव्य और दायित्व का भली-भांति वहन करने वाले आचार्य और उपाध्याय के लिए एक, दो या अधिकाधिक तीन भव में सिद्धत्व प्राप्ति की प्ररूपणा की गई है।

“गोयम्मा! अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिउइंति अत्थेगइए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिउइंति, तच्चं पुण भवग्गहणं नातिवकमंति।”

श्रावक आवश्यकसूत्र की बड़ी संलेखना में वर्णित है “तीर्थंकर भगवान को नमस्कार करके अपने धर्माचार्य जी को नमस्कार करता हूँ।”

“नमोत्थुणं मम धम्मआयरियस्स धम्मोवदेसगस्स”

अन्तकृदशा सूत्र के वर्ग 6, अध्ययन 15 में अतिमुक्त- गौतम संवाद में गौतम ने भगवान को आचार्य कहा है। “मेरे धर्माचार्य और धर्मोपदेशक भगवान महावीर।”

“मम धम्मआयरिए धम्मोवएसए भगवं महावीरे जाव संपावित्कामे।”

दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन 9 विनय समाधि के द्वितीय उद्देशक, गाथा 12 में कहा है-

जे आयरिय उवज्झायाणं, सुस्सूया वयणंकरा।
तेसिं सिक्खे पवइढंति, जलसित्ता इव पायवा।।

जो शिष्य आचार्य और उपाध्याय की सेवा-शुश्रूषा करने वाले हैं और उनकी आज्ञा का पालन करने वाले हैं, उनकी शिक्षा जल से सींचे गए वृक्षों के समान बढ़ती रहती है।

आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययन 5 के उद्देशक 5 में शास्त्रकार ने कहा है, “इस मनुष्य लोक में वे आचार्य मन, वचन और काया से गुप्त, इन्द्रिय संयम से युक्त, प्रबुद्ध आगम ज्ञाता और आरम्भ से विरत महर्षि हैं- जो समाधिमरण के इच्छुक और मोक्षमार्ग में उद्यम करने वाले हैं।”

रायप्पसेणीय सूत्र में राजा प्रदेशी ने संधारे के समय आचार्य केशीकुमार को नमन किया है। उववाइय सूत्र में कोणिक द्वारा भगवान को परोक्ष वन्दन में ‘धर्माचार्य’ शब्द का प्रयोग किया गया है। अम्बड़ के 700 शिष्यों ने संधारा ग्रहण करते हुए अरिहंतों और सिद्धों के बाद धर्माचार्य अम्बड़ को नमन किया है।

आचार्यों की आठ सम्पदा

दशाश्रुतस्कन्ध की चौथी दशा और स्थानांग सूत्र के अष्टम स्थान में गणिसम्पदा सूत्र में आचार्यों की आठ सम्पदाओं का वर्णन है। साधु-समुदाय, गण या गच्छ के स्वामी को आचार्य, गणी या गच्छाधिपति कहते हैं और उनके गुणों के समूह को गणि सम्पदा। इन्हीं गुणों से आचार्य अपने मुख्य कर्तव्य ‘गण की रक्षा’ का निर्वाह करते हैं।

“इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं अट्ठविहा गणिसंपया पण्णत्ता” (दशाश्रुतस्कन्ध)

स्थविर भगवन्तों के द्वारा कथित आठ गणिसम्पदाएँ इस प्रकार हैं-

1. **आयारसंपया (आचारसंपदा)**- आचारसम्पन्न आचार्य का व्यवहार शुद्ध होगा तो संयम की समृद्धि होगी।
2. **सुयसंपया (श्रुतसंपदा)**- अनेकों का मार्गदर्शक एवं निर्भय विचरण कर्ता होने के लिए आचार्य का बहुश्रुत होना आवश्यक है।
3. **सरिरसंपया (शरीरसंपदा)**- ज्ञान और क्रिया भी शारीरिक सौष्ठव होने पर ही धर्म प्रभावना में सहायक होते हैं।
4. **वयणसंपया (वचनसंपदा)**- आचार्य महाराज को आदेय, मधुर, आगम सम्मत स्पष्ट एवं निष्पक्ष वचन बोलने चाहिए।
5. **वायणासंपया (वाचनासंपदा)**- वाचनाओं के द्वारा बहुश्रुत गीतार्थ प्रतिभा सम्पन्न शिष्यों को तैयार करना भी आचार्य का गुण है।
6. **मतिसंपया (मतिसंपदा)**- औत्पत्तिकी, वैनथिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी इन चार प्रकार की

बुद्धियों से आचार्य सम्पन्न होते हैं।

7. पओगसंपया (प्रयोगमति-संपदा)- पक्ष-प्रतिपक्ष युक्त शास्त्रार्थ के समय वाद प्रवीणता, बुद्धि कुशलता होनी चाहिए।
8. संग्रहपरिण्णा-संपया (संग्रहपरिज्ञा-संपदा)- आचार्य संघ-व्यवस्था में निपुण हो। अध्ययन, विनय, विचरण, समाचारी को सुव्यवस्थित रखे।

अगीतार्थ साधु के कवच आचार्य

व्यवहारसूत्र के उद्देशक 6 में अगीतार्थ साधु के अकेले रहने का निषेध किया गया है। उसे आचार्य के चरणों में रहना चाहिए।

आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध, अध्ययन 5 के चतुर्थ उद्देशक में अव्यक्त साधु के द्वारा आचार्य में एक मात्र दृष्टि रखने, उनके द्वारा प्ररूपित मुक्ति में मुक्ति मानने और उनके सान्निध्य में रहने का संकेत किया गया है। 'एयं कुसलस्स दंसणं' यह कुशल महावीर का दर्शन है। आचारांग टीका में-

जहा दिया पोयमपक्खजायं सवासया पविउमणं म्णाणं।

तम चाइया तरुण पत्तजाय ढंकादि अठ्वत्तगमं हरेज्जा ॥

जैसे नवजात पक्षरहित पक्षी को ढंकादि पक्षियों से भय रहता है। वैसे ही अव्यक्त अगीतार्थ को अन्यतीर्थिकों का भय बना रहता है। ऐसे भय समय में आचार्य ही अगीतार्थ के रक्षा कवच होते हैं।

विनय प्रदाता आचार्य

दशाश्रुत स्कन्ध- की चौथी दशा में आचार्य शिष्य को चार प्रकार का विनय सिखाते हैं।

1. आयार-विणएणं (आचारविनय)- वे महाव्रत, समिति-गुप्ति, विधि-निषेध, तप, समाचारी एवं एकाकी विहार का ज्ञान कराते हैं। शिष्यों को व्यवहार का विनय सिखाते हैं।
2. सुय-विणएणं (श्रुतविनय)- शिष्यों को बहुश्रुत बनाने के लिए सूत्रार्थ की समुचित वाचना देते हैं।
3. विक्खेवणा-विणएणं (विक्षेपणाविनय)- यथार्थ संयमधर्म एवं उसमें स्थिर रहना सिखाते हैं।
4. दोस-निग्घायण विणएणं (दोष निर्घातना विनय)- शिष्य समुदाय में उत्पन्न दोषों को दूर करते हैं।

तिन्नाणं तारयाणं आचार्य महाराज

पंचम काल में आचार्य महाराज स्वयं संसार सागर से तिरते हैं तथा दूसरों को तिराते हैं। आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुत स्कन्ध के पंचम अध्ययन के पंचम उद्देशक में सूत्र 166 में आचार्य महिमा का वर्णन है। शास्त्रकार कहते हैं, "जैसे एक जलाशय/ हृद जो जल, कमल से परिपूर्ण अनेक जलचर जीवों का संरक्षक होता है इसी प्रकार आचार्य की महिमा है।" व्याख्या में आचार्य को सीता और

सीतोदा नामक नदियों के प्रवाह में स्थित हृद के समान बताया है जिसमें से जल प्रवाह निकलता भी है और मिलता है। इसी भांति आचार्यों में दान और आदान दोनों हैं। वे शास्त्रज्ञान एवं आचार का उपदेश देते भी हैं तथा स्वयं भी ग्रहण एवं आचरण करते हैं। इस प्रकार वे 'तिन्नाणं' भी हैं और 'तारयाणं' भी।

सुधर्मा स्वामी से लेकर आज तक परम्परागत रूप से आचार्य प्रभुवीर की जन-कल्याण हेतु दी गई जिनवाणी को ही नगर-डगर जन-जन तक पहुँचा रहे हैं। ऐसे में आचार्यों की राह पर चलना तो प्रभु महावीर की राह पर चलने के समान है।

कुशल नेतृत्वकर्ता आचार्य वह मजबूत धुरी है, जिसके सहारे चतुर्विध संघरूप चक्र घूमता हुआ प्रगति करता है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल चरण बढ़ाता है।

आचार्य महाराज के 36 गुण

ज्ञानीजनों ने आचार्य के 36 गुण प्ररूपित किए हैं, इनमें जितने गुण उत्कृष्ट होते हैं उतना ही आचार्य धर्म-प्रभावक होता है, यथा-

- | | | |
|--------------------------------|-------------------|-------------------|
| 1. जाति सम्पन्न | 2. कुल सम्पन्न | 3. बल सम्पन्न |
| 4. रूप सम्पन्न | 5. विनय सम्पन्न | 6. ज्ञान सम्पन्न |
| 7. शुद्ध श्रद्धा सम्पन्न | 8. निर्मल चारित्र | 9. लज्जाशील |
| 10. लाघव सम्पन्न | 11. ओजस्वी | 12. तेजस्वी |
| 13. वर्चस्वी | 14. यशस्वी | 15. जित क्रोध |
| 16. जित मान | 17. जित माया | 18. जित लोभ |
| 19. जितेन्द्रिय | 20. जित निंदा | 21. जित परीषह |
| 22. जीविताशा मरण भय विप्रमुक्त | 23. व्रत प्रधान | 24. गुण प्रधान |
| 25. करण प्रधान | 26. चरण प्रधान | 27. निग्रह प्रधान |
| 28. निश्चय प्रधान | 29. विद्या प्रधान | 30. मंत्र प्रधान |
| 31. वेद प्रधान | 32. ब्रह्म प्रधान | 33. नय प्रधान |
| 34. नियम प्रधान | 35. सत्य प्रधान | 36. शौच प्रधान |

अन्य विवक्षा से भी आचार्य भगवन्तों के 36 गुण कहे गए हैं- 5 महाव्रतों का पालन, 5 आचारों का पालन, 5 इन्द्रियों का संवर, 4 कषाय का त्याग, नववाड़ सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन, 5 समिति, 3 गुप्ति (अष्ट प्रवचन माता का आराधन-पालन) इन 36 गुणों से पूर्ण होते हैं।

आचार्यों के प्रति शिष्यों का विनय-व्यवहार-

गण और गणी के प्रति योग्य शिष्य के प्रमुख कर्तव्य दशाश्रुतस्कन्ध की चौथी दशा में बताए गए हैं, यथा-

1. **उवगरण उप्पायणया (उपकरण उत्पादन)**- उपकरण संबंधी कर्तव्यपालन। गवेषणा करके वस्त्र, पात्र, उपकरण प्राप्त करना, फिर सुरक्षित रखना, जो जिसके योग्य हो उसे गुरु आज्ञा से यथायोग्य देना।
2. **साहिल्लणया (सहायक होना)**- गुरुजनों के अनुकूल हितकारी वचन बोलना, शारीरिक हलन-चलन विवेक से करना, सेवा करना, रुचिकर व्यवहार करना।
3. **वण्णसंजलणया (गुणानुवाद)**- आचार्यादि का गुणकीर्तन करना। अवर्णवादी को प्रत्युत्तर देकर निरुत्तर करना, सेवा-भक्ति करना एवं यथोचित आदर देना।
4. **भारपच्चोरुहणया (भार प्रत्यारोहण)**- आचार्य के कार्यभार को सम्हालना, धर्म-प्रचार, शिष्यों को शुद्ध आचार का अभ्यास कराना, विवाद निराकरण एवं गण के साधु-साध्वियों की संयम-समाधि की उत्तरोत्तर वृद्धि के प्रयास करना।

आचार्यों की अविनय आशातना का दुष्परिणाम-

धम्मज्जियं च ववहारं बुद्धेहायरियं सया।

तमयरंतो ववहारं गरहं नामिगच्छइ ॥

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 1, गाथा-42

धर्माजित व्यवहार सदा आचार्यों ने आचरित किया।

गर्ह को प्राप्त नहीं होता, जिसने वैसा आचार किया ॥

तीर्थंकर के अभाव में साधक के पथ प्रदर्शक आचार्य की जो अविनय आशातना और अवहेलना करते हैं उनके लिए उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम अध्ययन 'विनय श्रुत' में कहा गया है, आज्ञा पालन और सेवा शुश्रूषा से दूर भागने वाला साधु मिथ्या आलोचक, अविनीत, दुर्बोध होकर सभी प्रकार के उत्तम लाभों से वंचित रहता है एवं दुष्परिणाम भोगता है।

दूषित विचार आचार स्वभाव वाले शिष्य को "जहा सुणी पूइ कणी" (उत्तराध्ययन, प्रथम अध्ययन, गाथा-4) सड़े कान वाली कुतिया की तरह गण, गच्छ, संघ सभी से तिरस्कार पूर्वक निकाल दिया जाता है। उत्तम शील को छोड़कर आचार्य का अविनय करने वाला दुःशील में रमण करता है। (उत्तरा. 1.5) दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन-9 विनय समाधि, उद्देशक-1 में गुरु एवं आचार्य की अविनय आशातना के दुष्परिणाम दिए गए हैं, यथा-

जे यावि मंढिति गुरुं विद्धता, डहरे इमे अप्पसुए ति णच्चा।

हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा, करंति आसायणं ते गुरुणं ॥ (गाथा-2)

जो शिष्य गुरु को अल्पश्रुत और मंद बुद्धि जानकर गुरु की हीलना करते हैं वे अपने ज्ञानादि भाव की कमी करते हुए मिथ्यात्व भाव को प्राप्त होते हैं।

एवायरियं पि हु हीलयंतो पियच्छइ जाइ पंहं खु मंदो ॥ (गाथा-4)

अर्थात् आचार्य का अनादर करने वाला मंदमति एकेन्द्रिय आदि विविध जातियों, योनियों में जन्म मरण प्राप्त करता है।

आयरियपाया पुण अप्पसण्णा अबोहि-आसायण णत्थि मुक्खो ॥ (गाथा 5,10)

अर्थात् आचार्यचरण की अप्रसन्नता अबोधि जनक होती है! अतः आचार्य की अविनय आसातना या अवहेलना करने वालों को सम्यक् दर्शन आदि आत्मगुणों की प्राप्ति नहीं होती, उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

न या वि मुक्खो गुरु हीलणाए ॥ (गाथा-7)

अतः गुरु आशातना को हानिप्रद जानकर उन दोषों से विरत रहने वाला साधु गुरु-इच्छा के अनुरूप चलने में एवं श्रुत-चारित्र की आराधना में ऊर्ध्वगामी बनकर संसार में पूजनीय होता है।

भगवतीसूत्र शतक 20, उद्देशक 8 के अनुसार भगवान महावीर का यह शासन पंचम आरे के चरम दिवस तक इन्हीं आचार्यों की धर्म प्रभावना से जयवंत रहेगा।

पंचम आरे के अंत में भी एक साधु, एक साध्वी, एक श्रावक, एक श्राविका रहेंगे जो एकभवतारी होंगे।

सम्यक्त्व प्रदान करने वाले उन सत्पुरुषों के उपकार से यह जीव अनेक जन्मों तक करोड़ों प्रकार के उपकार करके भी उन्नत नहीं हो सकता। जगत् के उन समस्त ज्ञानवान्-क्रियावान् आचार्य भगवन्तों के पावन सरोजों में हृदय की असीम आस्था के साथ सादर समर्पित।

- 'अंकुर' एम-51-ए, राजा सागर लिंक रोड, अजमेर-305001 (राज.)



उपाध्याय का स्वरूप एवं महिमा

प्रो. चॉदमल कर्णावट

उपाध्याय आगमवेत्ता होते हैं तथा चरण एवं करण में भी निष्णात होते हैं। अध्यापन अथवा वाचनी देना उनका प्रमुख कार्य होता है। वे धर्मकथा, शास्त्रार्थ, निमित्तज्ञता, कवित्व आदि से धर्म की प्रभावना करते हैं। वे श्रुत के संरक्षक होते हैं। प्रस्तुत आलेख में उपाध्याय की महिमा पर भी प्रकाश डाला गया है। -सम्पादक

नवकार मंत्र या पंच परमेष्ठी मंत्र जैन धर्म का मूल मंत्र है। इस मंत्र में परम इष्ट परम पद स्थित अरिहंत, सिद्ध और परमपद की साधना में निरत आचार्य, उपाध्याय एवं साधु-साध्वीजी को नमस्कार किया गया है। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु-साध्वी ये पंच परमेष्ठी हैं। जैन धर्म गुणपूजक है, व्यक्ति पूजक नहीं। यही कारण है कि इस पंचपरमेष्ठी मंत्र या नवकार मंत्र में किसी अरिहंत, सिद्ध, आचार्यादि का नामोल्लेख नहीं करके तद्तद्पद के योग्य गुणी आत्माओं को ही नमन किया गया है। उपाध्याय पंच परमेष्ठी में चतुर्थ पद के अधिकारी श्रमण हैं जो उपाध्याय के गुणों से अलंकृत और शोभित होते हैं तथा साधना में निरत रहते हुए मोक्ष सिद्धि करते हैं।

उपाध्याय कौन? - जो श्रमण के सभी गुणों से युक्त होकर स्वयं संपूर्ण जिनागमों या जैन शास्त्रों के गूढ ज्ञाता होने के साथ अन्य साधु-साध्वी एवं गृहस्थों को पात्रापात्र के विचारपूर्वक यथा योग्य ज्ञान सिखाते एवं अध्ययन कराते हैं।

भगवती सूत्र (1.1.1.) में मंगलाचरण वृत्ति में कहा गया है-

बा२संगो जिणक्खवाओ, सज्झाओ कहिओ बुहेहिं।

तं उवदिस्संति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चंति॥

अर्थात् जिन प्रतिपादित द्वादशांग रूप स्वाध्यायसूत्र वाङ्मय ज्ञानियों द्वारा कथित, वर्णित या ग्रथित किया गया है। जो उसका उपदेश करते हैं वे (उपदेश श्रमण) उपाध्याय कहे जाते हैं।¹

“आगमों की अर्थवाचना आचार्य देते हैं। यहाँ उपाध्याय द्वारा स्वाध्यायोपदेश पर सूत्रवाचना का उल्लेख है। उसका तात्पर्य यह है कि सूत्रों के पाठोच्चारण की शुद्धता, स्पष्टता, विशुद्धता, अपरिवर्त्यता तथा स्थिरता बनाए रखने के हेतु उपाध्याय पारम्परिक एवं भाषावैज्ञानिक आदि दृष्टियों से अंतेवासी श्रमणों को मूलपाठ का सांगोपांग शिक्षण देते हैं।”²

आगम गाथाओं का उच्चारण कर देना मात्र पाठ या वाचन नहीं है। अनुयोगद्वार सूत्र 8 में पद के

शिक्षित, जिनस्थित आदि 16 विशेषण दिए गए हैं।¹ सूत्र पाठों को अक्षुण्ण एवं अपरिवर्त्य बनाए रखने के लिए उपाध्याय को सूत्र वाचना देने में कितना जागरूक एवं प्रयत्नशील रहना होता था, यह अनुयोगद्वारा सूत्र कथित 16 विशेषणों से सुस्पष्ट है। आगम पाठों को यथावत् बनाए रखने के लिए जहाँ इतने उपाय प्रचलित थे, वहाँ आगमों का मूल स्वरूप क्यों नहीं अव्याहत एवं अपरिवर्तित रहता।

मूलपाठों को परम्परा रूप से शुद्ध स्पष्ट बनाए रखने हेतु अर्थ के साथ उनके मूल उच्चारण, भाषायी गुणों की सुरक्षा उपाध्याय का महनीय दायित्व कितना कठिन एवं महत्त्वपूर्ण है। क्या उपाध्याय की यह भूमिका मूलरूप में आज भी सुरक्षित है अब जिनागमों का ज्ञान गुरुशिष्य परम्परा से मौखिक नहीं रहा, अब तो जिनागम लिपिबद्ध ही नहीं मुद्रित भी हो चुके हैं?

उपाध्याय का स्वरूप- उपाध्याय के सामान्य स्वरूप का निरूपण किया जा चुका है। अब उपाध्याय पद के स्वरूप का विशेष वर्णन किया जा रहा है।

उपाध्याय 25 गुणों से युक्त होते हैं। वे 11 अंग 12 उपांग सूत्र तथा चरण सत्तरी एवं करण सत्तरी के धारक होने से उपाध्याय 25 गुणों के धारी होते हैं। अन्य प्रकार से 12 अंग (द्वादशांगी) के पाठक 13-14 चरणसत्तरी एवं करणसत्तरी के गुणों से युक्त 15-22 आठ प्रकार की प्रभावना से प्रभावक 23-25 तीनों योगों को वश में करने वाले। इन 25 गुणों के धारक बताए गए हैं। इनका उल्लेख भगवती सूत्र की पूर्वोक्त गाथा बारस्संगो जिणक्खाओ के अनुसार किया गया है।⁴

चरणसत्तरी- चरणसत्तरी में निहित 70 गुणों का उल्लेख निम्न प्रकार बताया गया है- चरणसत्तरी में चरण का अर्थ है चारित्र। नित्य क्रिया जिसका निरंतर पालन किया जाता है वे चरणगुण कहलाते हैं। उसके 70 भेद हैं- 5 महाव्रत, 10 प्रकार का खंति आदि यति धर्म, 17 प्रकार का संयम, 10 प्रकार का वैयावृत्त्य, 9 बाइसहित ब्रह्मचर्य, 3 ज्ञानादि रत्नत्रय, 12 प्रकार का तप, 4 क्रोधादि चतुष्टय का निग्रह।⁵

करणसत्तरी- करण का अर्थ है नैमित्तिक क्रिया। जिस अवसर पर जो करणीय हो। चरण नित्यक्रिया को बताया गया है जब कि करण नैमित्तिक क्रिया है। करणसत्तरी के 70 भेद हैं- 4 पिण्डविशुद्धि (आहार, वस्त्र, पात्र और स्थान निर्दोष भोगना) अनित्यादि 12 भावना, पाँच समिति, 12 पडिमा, 5 इन्द्रियनिग्रह, 25 प्रतिलेखन, 3 गुप्ति एवं चार अभिग्रह (द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा)⁶

12 भिक्षु प्रतिमाओं (पडिमाओं) का वर्णन दशाश्रुतस्कंध शास्त्र की सातवीं दशा में हुआ है। वहाँ देखा जा सकता है एवं 25 प्रतिलेखना का उल्लेख उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 26 में किया गया है। उपाध्याय महाराज प्रभावक होते हैं। वे 8 प्रभावना से जिन धर्म की प्रभावना करते हैं। आठ प्रभावना निम्न प्रकार हैं-

प्रवचनी- वे जैन एवं जैनेतर शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान होते हैं।

धर्मकथा- धर्मोपदेश करने में कुशल होते हैं।

वादी- उपाध्याय जी स्वपक्ष के मण्डन और परमत के खंडन में सिद्धहस्त होते हैं।

नैमित्तिक- भूत, भविष्य और वर्तमान में होने वाले हानि-लाभ के ज्ञाता होते हैं।

तपस्वी- विविध प्रकार के तप करने में कुशल होते हैं।

विद्यावान- रोहिणी प्रज्ञप्ति आदि 14 विद्याओं में निष्णात होते हैं।

सिद्ध- अंजन आदि विविध प्रकार की सिद्धियों के ज्ञाता होते हैं।

कवि- गद्य-पद्य-कथ्य-गेय चार प्रकार के काव्यों की रचना करने वाले होते हैं।

उपाध्याय जी का यह प्रभावक स्वरूप जहाँ उनकी बहुआयामी विद्वत्ता का द्योतक है, वहीं वह जिनधर्म की प्रभावना का महान् कारण बनता है।

इसके अतिरिक्त उपाध्याय जी को बहुश्रुत की 17 उपमाओं से उपमित किया गया है। ये उपमाएँ हैं- शंख, आकीर्ण अश्व, अश्वारूढ योद्धा, कुंजर, वृषभ, सिंह, वासुदेव चक्रवर्ती, इन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा, कोष्ठागार, जम्बूवृक्ष, सीतानदी, मन्दरगिरी एवं स्वयंभूरमण समुद्र। कुछ उपमाओं को स्पष्ट किया जा रहा है। **शंख-** शंख में रखा हुआ दूध न तो विकृत होता है न खट्टा ही और न रिसता ही है। इसी प्रकार बहुश्रुत उपाध्याय में निहित धर्म, श्रुत और कीर्ति तीनों की किसी प्रकार विकृति नहीं होती और निर्मलता बनी रहती है।

आकीर्ण अश्व- कम्बोज देश में उत्पन्न अश्व शीलादि गुणों से युक्त जातिमान और वेग में श्रेष्ठ होते हैं। इसी प्रकार बहुश्रुत उपाध्याय मुनियों में श्रेष्ठ होते हैं।

अश्वारूढयोद्धा- जैसे जातिमान अश्वारूढ योद्धा दोनों ओर होने वाले विजयवाद्यों के घोष से सुशोभित होते हैं वैसे ही उपाध्याय भी मुनिवृन्द के स्वाध्याय घोष से सुशोभित होते हैं।

कुंजर- जैसे 60 वर्ष का उत्तरोत्तर वर्धमान बलवान हाथी प्रतिद्वन्द्वी हाथियों से पराजित नहीं होता इसी प्रकार दीर्घकालिक पर्याय में नाना विद्याओं एवं शास्त्रों के अनुभवरूप बल से औत्पत्तिकी आदि चारों बुद्धियों से परिवृत्त बहुश्रुत उपाध्याय किसी भी प्रतिवादी से पराजित नहीं होते।

विस्तारमय से सभी उपमाओं का वर्णन यहाँ नहीं किया जा रहा है। शेष वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र के अध्याय 11 में देखा जा सकता है।

उपाध्याय की महिमा

उपाध्याय पद की महिमा इसी से स्पष्ट है कि जहाँ श्रमण के सात पदों का वर्णन हुआ है वहाँ आचार्य के पश्चात् उपाध्याय पद को शीर्ष स्थान दिया गया है।¹ जहाँ आचार्य, उपाध्याय और गणावच्छेदक तीन पदों की चर्चा हुई है वहाँ भी आचार्य के बाद और गणावच्छेदक के पूर्व उपाध्याय पद को प्रतिष्ठित किया गया है।

संघ में एकाधिक संघाटक हों तथा जिनमें बालसंत हो, युवा हों, नवदीक्षित हों वहाँ आचार्य के साथ उपाध्याय का होना आवश्यक बताया गया है।¹ इससे आचार्य के साथ-साथ उपाध्याय पद की महिमा सुस्पष्ट होती है।

जैसे धर्मरूप शरीर की एक आँख आचार है तो दूसरी आँख विचार है अथवा विचार आँख है तो

आचार पैर है। पक्षी के दो पर अथवा रथ के दो चक्कों की तरह ही जीवन के दो पक्ष हैं- आचार और विचार। शुद्ध आचार की शिक्षा देना आचार्य का कर्तव्य है तो विचार अर्थात् शास्त्रों के गंभीर ज्ञान का रहस्य बताना, भगवद्वाणी का ज्ञान कराना, वाचना देना, आत्मा और अनात्मा या चेतन और जड़ के भेद-विज्ञान की शिक्षा देना उपाध्याय का कार्य है।⁷ आचार और विचार के अभिन्न संबंध की तरह आचार्य और उपाध्याय का भी संघ में अभिन्न संबंध है।

उपाध्याय को जिन नहीं, परन्तु जिन सरीखे, केवली नहीं परन्तु केवली सरीखे बताया गया है।¹² 'जिणसकासा' शब्द से यह कथन स्पष्ट होता है।

उपाध्याय महाराज सूत्रपाठी बताए गए हैं।⁸ नव सूत्रों के पाठक अध्यापक रूप में उनका दायित्व अत्यन्त महिमामय है। सूत्र पाठों की शुद्धता एवं पारम्परिक भाषा के संरक्षक रूप में उनका योगदान रहता है। विशेष- पंच परमेष्ठी में चतुर्थ पद के धारी उपाध्यायजी साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका वर्ग को शास्त्रों का अध्ययन कराते हैं। अतः उनमें अध्यापन के कतिपय गुण होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में उनका अध्यापन-कला का ज्ञाता भी होना आवश्यक है।

1. प्राचीन उक्ति है- 'शिक्षा पुत्रान् वै अंतेवासिनः' अर्थात् शिक्षा पुत्रों को अथवा अंतेवासी शिष्यों को देनी चाहिए। अतः शिक्षक के रूप में उपाध्याय जी का व्यवहार शिष्यवर्ग के साथ मधुर-मृदु होना चाहिए। भय और कठोरता से शिष्यवर्ग में भय पैदा होता है और अध्ययन में वे रुचि नहीं लेते। अध्यापक के रूप में उपाध्याय जी को पाठ्यक्रम से अधिक शिक्षार्थी को महत्व देना चाहिए। क्योंकि पाठ्यक्रम शिक्षार्थी के लिए है, शिक्षार्थी पाठ्यक्रम के लिए नहीं है। आदर्श अध्यापक के रूप में उपाध्याय से यह अपेक्षित है।
2. प्रत्येक बार के शिक्षण में (वाचनी में) प्रारम्भ में पिछले दिन के पाठ पर प्रश्न करके आगे का पाठ (वाचनी) का अध्यापन किया जाना अपेक्षित है। इससे शिक्षार्थी साधु-साध्वी आदि पिछला पाठ तैयार करके आयेंगे। वाचनी के बीच-बीच में भी प्रश्न करते रहना आवश्यक है, जिससे शिक्षार्थी साधु-साध्वी एकाग्रता से वाचनी सुनेंगे, अन्यथा वे प्रमादग्रस्त हो सकते हैं। वाचनी के अन्त में पूरी वाचनी एक दिन के कुछ प्रश्न करना आवश्यक है जिससे पूरे पाठ की पुनरावृत्ति हो सके। इससे शिक्षार्थी मुनिवर्ग में जागरूकता रहेगी, वे वाचनी में पूर्ण रुचि लेंगे और नवीन ज्ञान ग्रहण करने में सफल होंगे।
3. जलता हुआ दीपक ही दूसरे दीपक को जला सकता है। तदनुसार उपाध्याय प्रवर भी अपना अध्ययन जारी रखें। नवीन टीकाओं, वृत्तियों, चूर्णियों का तथा अन्य उपयोगी शास्त्रों का, दर्शनों का अध्ययन करते रहें।
4. आचार-विचार में समन्वय होना आवश्यक है। बिना विचार के आचार की और बिना आचार के विचार की सार्थकता नहीं हो सकती। इसी प्रकार आचार के प्रतिपादक आचार्य और विचार या ज्ञान के प्रतिपादक उपाध्याय महाराज दोनों में समन्वय होना अति आवश्यक है। 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए ज्ञानदाता उपाध्याय और क्रिया या आचार के पालक एवं अन्यों से पालन कराने वाले

आचार्य दोनों समन्वित रूप में मोक्ष की साधना के कारण बनते हैं। 'पढमं नाणं तओ दया' में भी इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई है।

चतुर्विधसंघ में तीर्थरूपी श्रावक-श्राविका के रूप में हम भी उपाध्याय से ज्ञान प्राप्तकर आचार्य से आचार ग्रहण कर ज्ञान एवं क्रिया दोनों की साधना करते हुए अपना अभीष्ट मोक्ष प्राप्त कर सकें, यही मंगल भावना।

संदर्भ सूची:-

1. जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग-2, -आचार्यश्री हस्तीमल जी म.सा., जैन इतिहास समिति, आचार्य विनयचंद्र ज्ञान भंडार, लाल भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर, प्रथम संस्करण 1974, सम्पादकीय पृ-66
2. वही, पृष्ठ 67
3. अनुयोगद्वार सूत्र 8, संकलित
- 4-6. जैन तत्त्व प्रकाश, आचार्य श्री अमोलकऋषि जी महाराज, अमोल जैन ज्ञानालय, धुले, 13वीं आवृत्ति 1998
7. चाँदमल कर्णावट द्वारा लिखित 'जैन विचारधारा में शिक्षा' लेख से संगृहीत, द्रष्टव्य पुस्तक:- 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' - उपाचार्य देवेन्द्र मुनि, तारक गुरु ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राज.)
8. आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा., उत्तराध्ययन सूत्र- द्वितीय भाग, अध्ययन 11, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार, जयपुर (राज.), प्रथम आवृत्ति-1985
9. आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा., जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग 2, पृ.52 संपादकीय
10. युवाचार्य श्री मधुकर जी म.सा., 'त्रीणि छेदसूत्राणि' के अतर्गत व्यवहार सूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्रज मधुकर स्मृति भवन पीपलिया बाजार, ब्यावर, द्वि. संस्करण 2006, तीसरा उद्देशक, पृ. 312
11. श्री मधुकर मुनि 'महामंत्र नवकार', मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राज.), पृ.8
12. आवश्यक सूत्र

-प्लॉट 35, अहिंसापुरी, फतेहपुरा, उदयपुर- 313001(राज.)



ईर्या एवं भाषा समिति

श्री त्रिलोकचन्द जैन

श्रमणाचार में पाँच समितियों एवं तीन गुप्तियों का विशेष महत्त्व है। असंयम से निवृत्ति हेतु गुप्ति एवं संयम में प्रवृत्ति हेतु समिति का पालन आवश्यक है। प्रस्तुत आलेख में पाँच समितियों में से प्रथम दो ईर्या एवं भाषा समिति का आगमों के आधार पर सांगोपांग विवेचन करते हुए साधु-साध्वी के आचार से अवगत कराया गया है। ईर्या समिति जहाँ यतना से गमनागमन का विधान करती है वहाँ भाषा समिति विवेकपूर्वक वचन प्रयोग पर बल प्रदान करती है। -सम्पादक

भारतीय संस्कृति को जीवन्त रखने में श्रमणों का आधारभूत स्थान रहा हुआ है। श्रमणों ने अध्यात्म मार्ग को अपनाते हुए तन की अपेक्षा चेतन को स्वभाव में लाने पर बल दिया। अतीत का पारायण करने पर ज्ञात होता है कि श्रमणों ने संयम-साधना, तप आराधना के माध्यम से स्व-जीवन को पवित्र बनाया और सानिध्य प्राप्त करने वाले अज्ञों को भी विज्ञ बनाया और उनका जीवन भी साधना से महकाया।

श्रमण जीवन अर्थात् पाप विरति जीवन है। श्रमण को बाह्य रूप से सावद्य (पाप) क्रियाओं से बचना तथा आभ्यन्तर रूप से क्रोध, मान, माया, लोभ की वृत्ति से हटना होता है। साधु को अध्यात्म जीवन के उत्कर्ष हेतु निरन्तर गतिशीलता रखते हुए व्रत, नियम आदि के सम्यक् पालन और मर्यादा से अपने चारित्र को संवारना होता है। श्रमण-दीक्षा ग्रहण करते समय पाँच प्रतिज्ञाओं के रूप में पाँच महाव्रतों को ग्रहण करना और उन्हें जीवन पर्यन्त प्राणपण से पालना श्रमण का उत्कृष्ट कर्तव्य होता है। साथ ही 5 समिति 3 गुप्ति रूप अष्ट प्रवचन माता श्रमण के अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों की सुरक्षा एवं विशुद्धता के लिए माता के समान परिपालना देखभाल करती है। जिस प्रकार माता की भावना पुत्र को सन्मार्ग पर चलाने की होती है तथा वह पुत्र के संरक्षण और विकास के लिए सतत प्रयासरत रहती है उसी प्रकार श्रमण के लिए 5 समिति और 3 गुप्तियों को उत्तराध्ययन सूत्र में प्रवचन माता के विरुद्ध से अभिहित किया गया है।

अद्द पवयण म्मायाओ, समिई गुत्ती तहेव य।

पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीओ आहिया ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र 24.1

अर्थात्—समिति और गुप्ति मिलकर आठ प्रवचन माताएँ हैं। समितियाँ पाँच और गुप्तियाँ तीन हैं।

श्रमण धर्म निवृत्ति परक है, लेकिन संयम-जीवन के संचालन हेतु नित्य आवश्यक कर्मों में प्रवृत्ति का

आधार भी आवश्यक होता है। क्योंकि साधु को चलना, बोलना, आहार लेना, उपकरण आदि रखना और मलमूत्र त्याग आदि आवश्यक क्रियाएँ करनी ही पड़ती हैं। अतः इन क्रियाओं को संयम पूर्वक करना समिति है।

पाँच समितियों का विधान आगमों में अनेक स्थलों पर किया गया है।

इरिया भासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय।—उत्तराध्ययन सूत्र 24.2

अद्द पवयण मायाओ पण्णत्ताओ तं जहा—इरिया समिई, भाषा समिई, एसणासमिई, आयाणभंडमत्त णिवखेवणासमिई, उच्चारपासवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिद्धावणिया समिई, मण गुत्ती वय गुत्ती काय गुत्ती।—समवायांग सूत्र

पंच समितीओ पण्णत्ताओ तं जहा—इरिया समिती, भासा समिती, एसणा समिती, आयाण भंड-मत्त णिवखेवणा समिती, उच्चारपासवण-खेल-सिंघाण-जल्ल-परिठावणिया समिती।—ठाणांग सूत्र ठाणा-5

आवश्यक सूत्र में भी पाँच समितिओं में लगे दोषों का प्रतिक्रमण किया गया है।

उक्त पाँच समितियों से योग्य, शुभतर एवं विशुद्ध प्रवृत्तियों में प्रवृत्ति तो होती ही है, अशुभ से निवृत्ति भी होती है। साधक विवेकपूर्वक गमनागमन की क्रिया करे, हित-मित और संयमित भाषा का प्रयोग भी विवेक पूर्वक करे, गवेषणा पूर्वक आहार आदि को ग्रहण करे, उपकरणों का उपभोग भी सजगता से ममत्व भाव रहित होकर करे और मल-मूत्र त्याग भी उचित स्थान पर यतना पूर्वक करे। इस प्रकार साधक को प्रवृत्ति की सजगतापूर्वक पूर्णता करने को कहा गया है। गमनागमन में किस प्रकार साधक की विवेक पूर्वक प्रवृत्ति हो, इसके लिए ईर्या समिति का विधान किया है।

1. ईर्या समिति

योग्य मार्ग से, युग प्रमाण (4 हाथ) आगे की भूमि को आँखों से देखते हुए प्राणि-विराधना से बचते हुए संयमित गमनागमन करना ईर्या समिति है।

भगवती आराधना के अनुसार मार्ग शुद्धि, उद्योत शुद्धि, उपयोग शुद्धि एवं आलम्बन शुद्धि—इन चार शुद्धियों के आधार पूर्वक गमनागमन रूप प्रवृत्ति को ईर्या समिति कहा है। यहाँ मार्गशुद्धि से अभिप्राय सूक्ष्म प्राणिरहित प्रासुक मार्ग है, उद्योत शुद्धि से आशय सूर्य का प्रकाश है, उपयोग शुद्धि से अभिप्राय इन्द्रिय विषयों की चेष्टा रहित तथा ज्ञान दर्शन उपयोग सहित है और आलम्बन-शुद्धि से तात्पर्य देव-गुरु आदि हैं।

दशकालिक चूर्ण में कहा है—गमनागमन के समय दृष्टि को अधिक दूर डालने से सूक्ष्म प्राणी दिखाई नहीं देते और अधिक पास दृष्टि रखने से एकाएक पैर के नीचे आने वाले प्राणियों को नहीं रोका जा सकता है। इसलिए युग प्रमाण अर्थात् न अतिदूर, न अतिपास भूमि देखकर चलने का विधान किया गया है।

आलम्बणेण कालेण मग्गेण, जयणाइ य।

चउकारण-परिसुद्धं, संजए इरियं रिए ॥—उत्तराध्ययन सूत्र 24.4

अर्थात् संयमी-साधक आलम्बन, काल, मार्ग और यतना, इन चार कारणों से परिशुद्ध ईर्या से गमनागमन करे। साधक की प्रत्येक शारीरिक क्रिया जैसे-चलना, फिरना, उठना, बैठना आदि गति सम्बन्धी समस्त क्रियाओं का समावेश ईर्या में हो जाता है। ईर्या की शुद्धि ही ईर्या समिति का पालन है। ईर्या समिति के पालन में चार कारण अनिवार्य हैं-

1. **आलम्बन**- ज्ञान, दर्शन और चारित्र के आलम्बन से ईर्या का पालन करना होता है। निरालम्बन ईर्या से संयम की विराधना हो सकती है। उक्त तीन आलम्बन से गमनादि करना ही ईर्या की शुद्धता है।
2. **काल**- साधक के लिए रात्रि में प्रकाश का अभाव होने से ईर्या नहीं करने का विधान है। चक्षुओं से वस्तुओं का ग्रहण दिन में ही होना सम्भव है इसलिए दिन का काल ही उचित है।
3. **मार्ग**- कुपथ का त्याग कर सत्पथ पर चलना चाहिए। वनस्पति, सचित्त पृथ्वी आदि से युक्त मार्ग पर गमनागमन से संयम-विराधना सम्भव है।
4. **यतना**- द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से यतना का विचार करते हैं। द्रव्य से उपयोग पूर्वक जीव-अजीव द्रव्यों को भली-भाँति देखकर, क्षेत्र से युग प्रमाण (4 हाथ) आगे की भूमि देखकर, काल से-दिन में, वह भी यतना पूर्वक तथा भाव से सजगता पूर्वक गमन करना।

ईर्या समिति का पालन करते साधक को पाँच इन्द्रियों के विषयों तथा वाचना आदि पाँच प्रकार के स्वाध्याय का भी वर्जन विधान है। गमनागमन करते समय तन्मयता से उसी ईर्या को प्रमुखता देते हुए ईर्या की क्रिया करनी चाहिये। इस भाव को उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है-

इंद्रियत्थे विवज्जित्ता, सज्झमायं चैव पंचहा ।

तम्मुत्ती तपुरक्कारे, उवउत्ते इरियं रिह ॥

इसी प्रकार आचारांग सूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध के तृतीय अध्ययन के दूसरे उद्देशक में कहा है-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे णो परेहिं सद्धिं परिजविय
गामाणुगामं दूइज्जेज्जा । ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ।

अर्थात्-साधु अथवा साध्वी को ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए गृहस्थों के साथ अधिक वार्तालाप करते नहीं चलना चाहिए। किन्तु ईर्या समिति का पालन करते हुए यथाविधि विहार करना चाहिये।

दशवैकालिक सूत्र के पाँचवें अध्ययन की 7वीं गाथा भी ईर्या समिति के पालन का सन्देश देती है-

तहेवुच्चावया पाणा, भत्तद्धाए सम्मगया ।

तउज्जुयं न गच्छेज्जा, जयमेव परक्कमे ॥

अर्थात्-भिक्षा के लिए गमनागमन करते समय यदि रास्ते में भोजनार्थ एकत्रित हुए नाना प्रकार के प्राणी दिखाई दें तो वह साधक उनके पास नहीं जाए, किन्तु यतना पूर्वक वहाँ से अलग गमन करे ताकि उन प्राणियों को किसी भी प्रकार का कष्ट सेवन न हो। दशवैकालिक के ही चौथे अध्ययन में भी 'जयं चरे' के

माध्यम से साधक को यतना से चलने के रूप में ईर्या समिति के पालन का निर्देश किया है।

जैन सिद्धान्तों का प्राण अहिंसा है और अहिंसा को जीवन्त रखने में साधक की सजगता अनिवार्य है। अहिंसा के पूर्णतः पालन हेतु रुचि, जिज्ञासा, श्रद्धा, उत्साह, धृति, प्रेरणा, दृढता और तीव्रता की जननी के सदृश पाँच भावनाओं की साधना जीवन में आवश्यक है। उनमें भी प्रधान रूप से ईर्या समिति को प्रथम स्थान देते हुए कहा है—

पाणाइवायवेरमण-परिश्वरणद्वाए पढमं ठाणगमण-गुण-जोगजुंजण-जुगंत-
रणिवाइयाए दिड्ढिए ईरियव्वं। कीडपयंग-तस-थावर-दयावरेण णिच्चं सव्व पाणा ण
हीलियव्वा, ण निदियव्वा, ण गरिहियव्वा, ण हिंसीयव्वा, ण छिदियव्वा, ण मिदियव्वा, ण
वहेयव्वा किंचि भयं य दुक्खं ण लब्भा पावेउं एवं ईरियासमिइजोगेण अंतरप्पा भाविओ भवइ ।

—प्रश्नव्याकरण, द्वितीय श्रुत स्कन्ध, प्रथम अध्ययन

अर्थात्—प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रत की रक्षा के लिए और स्व-पर गुण-वृद्धि के लिए साधु चलने और ठहरने में युगप्रमाण भूमि पर दृष्टि रखता हुआ ईर्या समिति पूर्वक चले। जिससे उसके पाँव के नीचे दबकर कीट, पतंगादि त्रस और स्थावर जीवों का घात न हो जाए। ईर्या समिति से चर्चा करने वाला किसी भी प्राणी की न अवहेलना करता है, न निन्दा करता है, न बुराई करता है, न हिंसा करता है, न छेदन करता है, न भेदन करता है, न ही वध करता है। और किसी भी प्राणी को किंचित् मात्र भी भय और दुःख नहीं देता है। इस प्रकार ईर्या समिति में त्रियोग की प्रवृत्ति से जो अन्तरात्मा भावित होती है वह अक्षत चारित्र की भावना से ओतप्रोत होती है। अतः कहा जा सकता है कि यह भावना अहिंसा के साधक की रक्षा हेतु बाड़ के समान है। जैसे बाड़ से अनाज के लहलहाते खेत की रक्षा हो जाती है, वैसे ही ईर्या समिति भावना रूपी बाड़ से अहिंसा व्रत की रक्षा हो जाती है। ईर्या समिति के रक्षणार्थ साधक काल से दिन को ही गमन करे, इस सिद्धान्त के पोषणार्थ कहा गया है—

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीणं वा राओ वा वियाले वा अह्हाणगमणं एत्तए ।

—बृहत्कल्प सूत्र

अर्थात्—रात्रि या सन्ध्याकाल में साधु और साध्वियों को विहार करने का सर्वथा निषेध किया गया है। क्योंकि उस समय गमन करने पर मार्ग में चलने वाले जीव दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। अतः ईर्या समिति का पालन नहीं होता और संयम की विराधना होती है।

इस प्रकार आत्मा के उत्कृष्ट अध्यवसाय में रमण करने वाला साधक ईर्या समिति का सर्वकाल, सर्वदेश में सर्वतोभावेन सजगता एवं समर्पणता के साथ पालन करता है। साधक के लिए ईर्या समिति अमूल्य रत्न के समान है, क्योंकि इस रत्न के नहीं होने पर निश्चय साधना पक्ष तो धूमिल होता ही है व्यवहार साधना पक्ष भी मटिया मेट हो जाता है। इस प्रकार ईर्या समिति का पालक साधक उत्कृष्टता की ओर अग्रसित होता हुआ सिद्धि को प्राप्त होता है।

2. भाषा समिति— हित, मित, सत्य और सन्देह रहित बोलना, सावधानी पूर्वक भाषण-सम्भाषण करना भाषा समिति है। भाषा का महत्त्व जग जाहिर है। भाषा व्यक्ति के व्यक्तित्व की परिचायक होती है। मधुर, आकर्षक, प्रिय भाषा व्यवहार में लोकप्रिय बनाती है। उसी प्रकार रागद्वेष रहित भाषा निश्चय में आत्मा को पवित्र करने वाली होती है। मौन ही मुनि शब्द का अर्थ प्रकट करता है। अर्थात् मौन से ही मुनि होता है। लेकिन संयम-जीवन के निर्वाहार्थ साधक को कदाचित् वचन योग का आलम्बन लेना पड़ता है। उस समय सम्यक् प्रकार से किया गया भाषा का प्रयोग भाषा समिति कहलाता है। उत्तराध्ययन सूत्र के 24वें अध्ययन की 9-10वीं गाथा भाषा समिति के स्वरूप का प्रतिपादन करती है।

कोहे म्माणे य म्मायाए, लोभे य उवउत्तया।
 हासे भए मोहरिण, विगहासु तहेव य॥
 एयाइं अद्दु ठाणाइं, परिवज्जित्तु संजए।
 असावज्जं मियं काले, मासयासेज्ज पन्नवं ॥

अर्थात्—साधक क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मौख्य और विकथाओं के प्रति सतत उपयोग युक्त होकर रहे। प्रज्ञा सम्पन्न साधन उक्त आठ प्रकारों को त्यागकर उचित समय पर निरवद्य एवं परिमित भाषा का उपयोग करे। तात्पर्य यह है कि कदाचित् क्रोध, मान आदि के कारण असत्य की सम्भावना हो जाए तो विवेकशील साधक उस पर विचार करके उससे बचने का प्रयास करे, क्योंकि विवेक रहित अवस्था में ही प्रायः असत्य का प्रयोग होता है। अतः भाषा समिति के संरक्षणार्थ निर्दोष एवं समयानुकूल भाषा का ही प्रयोग करे।

अतः द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से वाक् प्रयोग होना चाहिये। द्रव्य से—सत्य भाषा और व्यवहार भाषा का ही उपयोग करे। कर्कश, कठोर आदि सावद्य भाषा का प्रयोग नहीं करे।

क्षेत्र से—मार्ग में चलते हुए वार्ता नहीं करे।

काल से—रात्रि काल में प्रथम प्रहर के बीत जाने पर ऊँचे स्वर में न बोले, सूर्योदय तक।

भाव से—किसी को कष्ट न हो ऐसी भाषा का उपयोग सहित प्रयोग करे।

भाषा विवेक को आगम के अनेक स्थलों पर बताते हुए भाषा का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। आचार के प्रतिपादक आगम आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के चौथे अध्ययन के प्रथम उद्देशक में कहा है—

अणुवीयी णिद्धाम्भासी समिताए संजते मासं मासेज्जा।

अर्थात्—संयमी साधु या साध्वी विचारपूर्वक भाषा समिति से युक्त निश्चितभाषी एवं संयत होकर भाषा का प्रयोग करे। आचारांग सूत्र के भाषाजात अध्ययन में साधु-साध्वी की प्रत्येक क्रियान्विति में भाषा के प्रयोग का वर्णन किया गया है। साधकों को किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करना है तथा कौनसी भाषा का प्रयोग नहीं करना है, इस पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए भाषा के विवेक को प्रकाशित किया गया है। अन्त में इसे आचार की पवित्रता की द्योतक बताते हुए कहा है—

एयं खलु तस्स भिवखुस्स वा भिवखुणीय वा सामग्गियं जं सव्वद्वेहिं सहित्तेहिं सदा जएज्जासि त्ति बेमि ।

अर्थात्—भाषा के प्रयोग का विवेक ही वास्तव में साधु-साध्वी के आचार का सामर्थ्य है, जिसमें वह सभी ज्ञानादि अर्थों से युक्त होकर सदा प्रयत्नशील रहे।

सूत्रकृतांग सूत्र के नवें अध्ययन में भी साधु के भाषा विवेक के सम्बन्ध में कहा है—

भासमाणो न भासेज्जा, पेय वंपेज्ज मम्मयं ।

मातिद्वाणं विवजेज्जा, अपुवियिं वियागरे ॥

अर्थात्—रत्नाधिक साधु किसी से वार्ता कर रहे हों तो, उस समय अपना पाण्डित्य प्रदर्शन करने या बड़े की लघुता प्रकट करने की दृष्टि से बीच में न बोले। भाषा समिति से युक्त साधु धर्मोपदेश का भाषण करता हुआ भी भाषण न करने वाले भौनी के समान है। साधु मर्मस्पर्शी एवं कपट प्रधान भाषा का त्याग करता है। वह साधु भाषा समिति सहित भी अभाषक ही होता है। अतः वह जब बोलना चाहे तब वह पूर्व पश्चात् का चिन्तन कर, ज्ञान करके बोलता है।

साधक के इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए दशवैकालिक निर्युक्ति में भी लिखा है—

वयण विभत्ति कुसलो, वयोगतं बहुविधं वियाणेतो ।

दिवसं पि जंपमाणो, सो वि हु वड्ढुत्तं पत्तो ॥

अर्थात्—जो साधक भाषाविज्ञ है, वचन और विभक्ति को जानता है तथा अन्यान्य नियमों का ज्ञाता है, वह सारे दिन बोलता हुआ भी वचन गुप्त है।

प्रज्ञापना सूत्र के 11वें भाषापद में साधक के भाषा प्रयोग के सम्बन्ध में कहा है—

गोयम्म । इच्चेयाइं चत्तारि भासज्जायाइं आउत्तं भासमाणे आराहए, णो विराहए ।

अर्थात्—साधक सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार भाषाओं को सम्यक् प्रकार से उपयोग रखकर, संघ पर आधी मलिनता की रक्षार्थ तत्पर होकर बोलता है तो वह आराधक होता है, विराधक नहीं।

प्रश्नव्याकरणसूत्र के द्वितीय श्रुत स्कन्ध में भी स्पष्ट कहा है—

तइयं च वड्ढए पावियाए पावगं ण किंचि वि भासियत्वं एवं वयसमिड्ढजोणेण भाविओ भवइ अंतरप्पा असबलम—संकिलिड्ढणित्त्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू ।

अर्थात्—अहिंसा महाव्रत की तीसरी भावना के रूप में साधक को किंचित् भी पापकारी, आरम्भकारी वचन नहीं बोलना चाहिये। भाषा समिति पूर्वक वाक् व्यापार से आत्मा की निर्मलता बढ़ती है। उसका चारित्र एवं भाव विशुद्ध एवं परिपूर्ण होता है और उसकी साधुता प्रशंसनीय होती है।

भाषा के विशुद्ध प्रयोग के कारण जीव अपने आत्म-परिणामों को निर्मल से निर्मलतम बनाता हुआ अपने परम व चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। दशवैकालिक सूत्र के वाक्य शुद्धि नामक अध्ययन में कहा है—

परिक्ख भासी सुसमाहि इंदिय, चउक्कसायावग्गए अणिसिअए।

अ निद्धुणे धुण्णमत्तं पुरेकडं, आराहए लोअगमिणं तथा परं॥

अर्थात्—जो साधु इन्द्रियों के उपयोग में सुसमाधि से युक्त है; कषायों से रहित है, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के बन्धन से मुक्त है; वही साधक वचन के गुणदोषों को परख कर बोल पाता है। वह साधना के प्रभाव से पूर्वकृत पापकर्म को नष्ट कर डालता है। अपने सुन्दर भाषा प्रयोग एवं व्यवहार से लोक में मान्य बनता है तथा परलोक में उत्तम देवलोक या सिद्ध गति को प्राप्त कर लेता है। जो कि साधक की सर्वोत्तम उपलब्धि है।

श्रमण साधना की श्रेष्ठ भूमि पर अवस्थित होता है, अतः वह स्व कथ्य पर पूर्ण नियन्त्रण और सजगता रखता है। श्रमण भाषा में सावद्यता एवं निरवद्यता का विचार हर क्षण करके ही बोलता है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने भाषा समिति से सम्पन्न विवेकशील साधु को मौनी अर्थात् मुनि कहा है। आचार्य मनु ने साधक को सत्य ही बोलने को कहा है। महाभारत के शान्तिपर्व में भी वचन विवेक पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

उपसंहार—अस्तु आचार के सजग प्रहरी साधक आत्माओं को प्रबल वेग का अनुसरण करती भौतिकता की चकाचौंधती आँधी से अप्रभावित हो सहजता से संयमी-मर्यादाओं का पालन करना चाहिए। ईर्या समिति और भाषा समिति के लिए साधक को 'जयं चरे, जयं भासे' का सिद्धान्त अपनाकर अपना जीवन आत्म-कल्याणार्थ समर्पित कर सिद्धत्व को प्राप्त करना चाहिए। हम वर्तमान और अतीत का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि अतीत में साधक का आचार नियत और विहार अनियत था। लेकिन आज शिथिलता के पोषकों ने विपरीतता को प्रस्रवित कर दिया और आज आचार अनियत और विहार नियत होता जा रहा है। लेकिन उक्त आगम-वाक्यों के अवलोकन से निश्चित ही हमें ज्ञात होता है कि हम आचार के उत्कृष्ट पालक बनकर ही श्रेष्ठत्व एवं निजत्व को प्राप्त कर सकते हैं। ईर्या समिति, भाषा समिति के पालक का लक्ष्य यही हो कि 'वह दिन धन्य होगा जब मैं ईर्या का अन्त कर अचल पद को प्राप्त करूँगा तथा वह दिन धन्य होगा जब मैं वचन वर्गणा के पुद्गलों से अनाश्रित रह वचन योग का अन्त करके अभाषक बनूँगा और अशरीरी होकर आत्म प्रदेशों के अखण्डित स्वरूप में रमण कर अनन्त सुख को प्राप्त करूँगा।'

अतः असम्यक् आचरण से निवृत्त हो समितियों का सम्यक् आचरण होगा तो आत्मा उज्ज्वलता की ओर अग्रसर होगी और सिद्धत्व को प्राप्त कर एक प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करेगी।

- 37/67, रजत पथ, मानसरोवर, जयपुर-302020 (राजस्थान)



एषणा समिति

श्री सौभाग्यमल जैन

संयम में प्रवृत्ति हेतु आगम में पाँच समितियों का प्रतिपादन हुआ है। इनमें एषणा समिति तीसरी समिति है। आहार, जल आदि की निर्दोष रूप से प्राप्ति एवं समतापूर्वक उनका उपभोग या परिभोग एषणा समिति का प्रतिपाद्य है। गवेषणा, ग्रहणैषणा एवं परिभोगैषणा के रूप में इसके मुख्यतः तीन भेद हैं, जिनमें 47 दोषों को टालकर आहार, जल, औषधि, वस्त्र, मकान, उपाधि आदि का श्रमण-श्रमणियों द्वारा संयम-रक्षार्थ सेवन किया जाता है। लेखक ने एषणा समिति के सभी पक्षों की आलेख में चर्चा की है। -सम्पादक

अगाध करुणासिंधु, जगत कल्याणक परमोपकारी, विश्वबंध, चरम तीर्थकर भगवान महावीर स्वामी ने अपनी भव भय हारिणी, दुःख विनाशिनी अमृतोपम वागरणा में “दुविहे चरित्तधम्मे-अगारचरित्तधम्मे, अणगारचरित्तधम्मे चेव।” के भाव फरमाते हुए अगार और अणगार धर्म का निरूपण किया।

इस द्विविध चारित्र धर्म में (1) अगार धर्म के अन्तर्गत चतुर्विध संघ के उन साधकों का समावेश हुआ जो श्रावक-श्राविका के नाम से अभिहित हुए। यह वर्ग सद्गृहस्थ का जीवन थापन करने के साथ तीर्थकर भगवन्तों द्वारा प्ररूपित 5 अणुव्रतों, 3 गुणव्रतों और 4 शिक्षाव्रतों का पालन, तीन मनोरथ व चौदह नियमों का चिन्तन आदि करते हुए जीवन-पथ को प्रशस्त एवं आत्म-साधना में विकासोन्मुखी बनाता है। इसके लिए देशतः पाप-प्रवृत्तियों से विरत रहने, धन-जन-कुटुम्ब-वैभव को बड़ा न मानकर धर्म एवं चारित्र को बड़ा मानने की व्यवस्था की गई है। (2) चारित्र धर्म का दूसरा रूप अणगार धर्म के नाम से विश्रुत हुआ। इसके अन्तर्गत पंच महाव्रतधारी, ज्ञान-धन-साधक, महान् चारित्रात्माओं को स्थान दिया गया। इस चारित्र धर्म के आराधक, श्रमण-श्रमणी वर्ग के लिए 5 महाव्रत मूलगुण रूप एवं 5 समिति + 3 गुप्ति=8 गुण उत्तरगुण रूप का विधान किया गया। ये सर्वथा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील सेवन एवं परिग्रह से परे हटकर इन्द्रिय दमन, कषायों का वमन, मन का समन और आत्मा का दमन रूप साधना में अहर्निश निरत रहते हैं।

चतुर्विध संघ में साधु-साध्वी वर्ग का स्थान सर्वोपरि है। वे तीन करण और तीन योग से सम्पूर्ण पापों के त्याग की प्रतिज्ञा धारण करते हैं। वे दैनिक-क्रिया कलापों के साथ साधना विषयक गतिविधियों में सूक्ष्मातिसूक्ष्म पापप्रवृत्ति युक्त क्रियाओं से अपनी आत्मा को विरत बनाते हुए पूर्ण निर्दोष धार्मिक

प्रवृत्तियों को साधक जीवन में अपनाते हैं। स्वयं धर्माचरण में लीन रहते हुए, अन्य भावी आत्माओं को भी आत्मोत्थान की प्रेरणा कर जीवन को सार्थक बनाने हेतु सत्पुरुषार्थ करते हैं। वे सतत जागरूक रहते हैं कि आत्मा कषाय-भावों, योग की दुष्प्रवृत्तियों अथवा प्रमादवश शुभ अध्यवसायों से हटकर अशुभ की ओर प्रवृत्त न हो जाये।

साधक आत्मा को शरीर विषयक दैनिक एवं कई आवश्यक कृत्य संपादित करने होते हैं, फलस्वरूप किन्हीं भी कारणों से आत्मा पाप-कार्यों की ओर प्रवृत्त हो अशुभ कर्मों का बंध कर लेती है। इस कारण वीतराग भगवंतों ने महान् चारित्र आत्माओं का संयमी जीवन ऐसा बताया है जो किन्हीं दोषों को लगाये बिना शुभ अध्यवसायों की उपस्थिति में अशुभ कर्मों की निर्जरा एवं शुभ कर्मों का उपार्जन कर अंततोगत्वा सभी शुभाशुभ कर्मों से मुक्त होकर निर्बाध गति से चरम एवं परम लक्ष्य की प्राप्ति में सक्षम बन सके एवं प्राप्त जीवन को सार्थकता प्रदान कर सके। यही परम उपकार की भावना वीतराग भगवंतों की साधक आत्माओं के प्रति रही है। अतः इन्हीं शुभ भावनाओं का मूर्त रूप हमें आगम-शास्त्रों का अनुशीलन करने पर दृग्गोचर होता है।

साधक आत्माएँ (साधु-साध्वी) अपने संयमी-जीवन को निष्पाप-निर्दोष रूप में किस प्रकार संरक्षित सुरक्षित रखते हुए आत्म-लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हो सकें, इस हेतु वीतराग भगवंतों ने विशेष रूप में जिनका शासन प्रवर्तमान है, ने अपनी जन-कल्याण कारिणी वागराणा में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति रूप नियमों, मर्यादाओं का कथन किया- जिसके आलोक में साधक आत्माएँ शुभ की ओर प्रवृत्ति तथा अशुभ से निवृत्ति (दूर हटना) करते हुए अपनी आत्मा को ऊर्ध्वगामी बनाने में सक्षम होती हैं। आगमवाणी में वर्णित प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप नियम-उपनियम समिति-गुप्ति के नाम से आख्यायित हैं- जिन्हें अपरनाम अष्ट प्रवचन माता के नाम से भी जाना जाता है। प्रतिपाद्य विषय की पूर्णता एवं पुष्टि हेतु तद्विषयक संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रासंगिक है।

पाँच समिति और तीन गुप्ति की मर्यादा का पालक साधक समितियों का पालन करता हुआ शीघ्र पूर्व संचित कर्मों को निर्जरित कर उन कर्मों को क्षय करता है तथा गुप्ति के द्वारा नवीन आगन्तुक कर्मों का निरोध करता हुआ आत्मा को कर्म-रज रहित कर आत्मा को ऊर्ध्वगति की ओर अग्रसर करने में समर्थ बन जाता है।

समिति-गुप्ति का दूसरा नाम- 'अष्ट प्रवचन माता' के रूप में आगमों में उपलब्ध है जो पूर्ण रूपेण सार्थकता के साथ यथार्थता भी लिए हुए है। द्रव्य माता जिस प्रकार अपने बालक की देखभाल, पालन-पोषण, संरक्षण-संवर्धन करती हुई उसका सुखद, समुज्ज्वल व मंगलमय जीवन बनाने में योगदान करती है। उसी प्रकार मातृ-स्वरूपा, प्रभु महावीर स्वामी प्रणीत द्वादशांगी- प्रवचन रूप ये आठ भाव माताएँ भी साधक के संयमी-जीवन के उत्थान में अपनी अहम् भूमिका का निर्वहन करती हैं। वस्तुतः ये अष्ट कल्याणकारिणी भाव माताएँ ही साधु-साध्वियों के संयमी-जीवन का सर्वथा पोषण करने वाली हैं।

इनका स्वरूप अत्यन्त व्यापक और विस्तृत है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवन्तो के श्रीमुख से निसृत अर्थ रूप प्रवचनों एवं ज्ञानी गणधरों द्वारा सूत्र रूप में ग्रथित आगम-शास्त्रों में इनका विशद उल्लेख उपलब्ध है। पश्चाद्वर्ती नियुक्तिकार, भाष्यकार व टीकाकार, ज्ञानगुण सम्पन्न पूज्य आचार्य भगवन्तो ने अपनी बहु आयामी व्याख्याओं/ रचनाओं में इनका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए सारगर्भित विस्तृत प्रतिपादन किया है- जो मूल आगमों के संदर्भ में मौलिकता लिए हुए साधक समुदाय के उत्थान मार्ग को आलोकित करता है। परिचयात्मक दृष्टि से यहाँ 'समिति-गुप्ति' या 'अष्ट प्रवचन-माता' का स्वरूप व उपयोगिता का संक्षिप्त विवेचन आगमिक संदर्भों से कराया जाना संगत प्रतीत होता है। चरम तीर्थंकर भगवान महावीर की अंतिम देशना, उत्तराध्ययन सूत्र का चौबीसवाँ अध्ययन सम्पूर्ण रूप से इसी विषय के भावों को अंतर्निहित किये हुए है। नाम-परिचय, भेद-प्रभेद एवं महत्त्व का प्रतिपादन अतिविशिष्टता युक्त होने से उल्लेखनीय है। उक्त अध्ययन की गाथा प्रथम एवं द्वितीय में उनका नामोल्लेख कर शेष 25 गाथाओं में भेद-प्रभेद आदि का विस्तार से वर्णन दिया हुआ है। इस अध्ययन की प्रथम गाथा के प्रथम चरण में 'अद्वयवयण' गाथाओं के उल्लेख कर- इसे 'अष्ट प्रवचन माता' के नाम से नामांकित किया है। वहीं इसी गाथा के द्वितीय चरण में 'समिई गुप्ति' के नाम का भी कथन उपलब्ध होता है। विवेचनकार महापुरुषों ने जिनेश्वर द्वारा कथित द्वादशांग प्रवचन का सार इसी में समाविष्ट माना है। आत्मा की प्रवृत्ति, गुप्तियों में भी निहित है अतः गाथा 3 के प्रथम चरण में 'एयाओ अद्व समिइओ' का उल्लेख कर गुप्तियों का भी इन्हीं में ग्रहण करते हुए 'आठ समितियाँ' भी मान्य की है। इस कारण यहाँ 'समिति' का महत्त्व व्यापक स्तर पर होने से उसी के अनुरूप चिंतन व लेखन करना इष्ट प्रतीत होता है।

ज्ञातपुत्र प्रभु महावीर ने अपनी वागरणा, साररूप संक्षिप्त विधि में अर्थ रूप वागरित की, जिसे गणधरों ने उसे सूत्र रूप में निबद्ध कर भव्यजनों के कल्याणार्थ संघ को समर्पित किया। पूर्वधारी एवं पश्चात् वर्ती आचार्यों ने गृहीत गहन-गंभीर ज्ञान के आधार पर मूल भावनाओं (हार्द) को यथावत् सुरक्षित रखते हुए उन पर तत्कालीन प्रचलित मान्य जनभाषा में भाष्य-टीकाएँ लिखकर उन्हें सर्वजनोपयोगी बनाने की कृपा की।

उत्तराध्ययन सूत्र के 'समिइओ चउवीसइमं अज्झयणं' में केवल समिति-गुप्ति का ही अधिकार चलता है। अनेक अधिकारी विद्वान् महापुरुषों ने इस पर अपनी टीकाएँ लिखी हैं, जिसकी सम्पूर्ण विषय सामग्री का सार समरूपता लिये हुए है। सार-संक्षेप इस प्रकार है-

इस अध्ययन में साधु द्वारा अष्ट प्रवचन माता के पालन के विषय में विधि-विधान का निरूपण किया गया है। संयमी साधकों के जीवन-रक्षण के लिए समिति-गुप्ति का पालन अवश्य करणीय है। इनका पालन संयमी-जीवन को सुरक्षित ही नहीं रखता, प्रत्युत उसका संरक्षण और संवर्द्धन भी करता है। इनका यथा विधिपालन कर्ता साधक चतुर्गति रूप संसार-परिभ्रमण से सर्वथा मुक्त हो मोक्ष को प्राप्त हो

जाता है।

समवायांग सूत्र का द्वादशांगी में चतुर्थ स्थान है। जिसका आगमिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व है। इसमें भी समिति-गुप्ति रूप अष्ट-प्रवचन माता का अधिकार उपलब्ध होता है। इस अंगशास्त्र के पाँचवें समवाय के सातवें सूत्र में “पंच समिईओ पण्णत्ताओ तं जहा.....” का कथन कर उसके भेदों का भी नामोल्लेख किया है। इसी अंगशास्त्र के आठवें समवाय के सूत्र दो में “अट्ट पवयण मायाओ पण्णत्ताओ तं जहा.....” के माध्यम से विश्वबंधु प्रभु महावीर ने अष्ट प्रवचन माता को साधक आत्माओं के संयम पालन में आवश्यक निरूपित किया है।

उपर्युक्त विवेचित भावों पर आधारित निष्कर्ष रूप में प्राप्त होने वाले अर्थ को निम्नांकित बिन्दुओं में रखा जा सकता है-

1. सम्यक् प्रकार से क्रिया करने का नाम समिति है।
2. समिति से अभिप्राय है- उचित, शुभ एवं शुद्ध में प्रवृत्ति- दूसरे शब्दों में एकाग्र परिणाम पूर्वक की जाने वाली आगमोक्त सम्यक् प्रवृत्ति।
3. समिति का अर्थ सम्यक् प्रवृत्ति है। सम्यक् और असम्यक् का मापदण्ड है अहिंसा। इस कारण अहिंसा मूलक प्रवृत्ति या आचार को समिति कहा है- जिसकी फलश्रुति मोक्ष है।

साधक की साधना के निर्दोष निर्वहन में समिति का स्थान सर्वोपरि एवं महत्त्वपूर्ण है। इनकी संख्या पाँच हैं, जिन्हें समिति के पाँच भेदों के रूप में दर्शाया गया है। विस्तार भय से मात्र उक्त भेदों का नामोल्लेख ही निम्नानुसार किया जा रहा है।

समिति के भेद:-

1. ईर्या समिति
2. भाषा समिति
3. एषणा समिति
4. आदान भण्डमत्त निक्षेपण समिति और
5. उच्चार प्रस्रवण खेल सिंघाण जल्ल परिस्थापनिका समिति

ये उपर्युक्त 5 भेद समिति के हैं। उल्लिखित 5 भेदों में से हमें प्रतिपाद्य विषय की पूर्णता की दृष्टि से समिति का तृतीय भेद ‘एषणा समिति’ का सांगोपांग विवेचन अभीष्ट है।

एषणा समिति

अर्थ एवं परिभाषा- एषणा समिति क्या है? इस सम्बन्ध में सभी व्याख्याकारों के मूलभाव पूर्णरूप में एकरूपता लिये हुए हैं। किसी भी दृष्टि से विरोधाभास की स्थिति परिलक्षित नहीं होती है। जैसा कि अग्रांकित कतिपय महापुरुषों द्वारा अभिव्यक्त आगम आधारित भावों से सिद्ध होता है-

1. उत्तराध्ययन सूत्र की टीकाओं के आधार पर:-

- (1) शुद्ध एषणीय बयालीस दोष टालकर आहार पानी ग्रहण करना एषणा समिति है।

- (2) जीवन-निर्वाह हेतु आवश्यक वस्त्र, पात्र, शय्या एवं आहार को ग्रहण करते हुए यतना व अहिंसा का विवेक रखना, बयालीस दोष टालकर लेना और सैंतालीस दोष टालकर उपभोग करना एषणा समिति कहलाती है।
- (3) पदार्थों को देखने, ग्रहण करने एवं उपभोग करने में शास्त्रीय विधि के अनुसार निर्दोषता का विचार करके सम्यक् प्रवृत्ति करना ही एषणा समिति है।

2. समवायांग सूत्र में वागरित प्रवचन के आधार पर:-

- (1) समवायांग सूत्र के पाँचवें समवाय की टीका के अनुसार “निर्दोष आहार की गवेषणा करना एषणा समिति कहलाती है।”

- (2) समवायांग सूत्र के आठवें समवाय की टीकानुसार भी ऊपर लिखे गये भाव ही वर्णित हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त अर्थ और परिभाषाओं के परिप्रेक्ष्य में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि-“आहार, उपधि, और शय्या की गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा (ग्रासैषणा)-उक्त तीनों की तीन-तीन एषणाएँ हैं, उनकी विशुद्धि का अर्थात् उन तीनों सम्बन्धी दोषों से अदूषित, विशुद्ध आहार-पानी, रजोहरण, मुख वस्त्रिका आदि उपधि तथा शय्या के अन्तर्गत स्थान, पाट-पाटला आदि का ग्रहण करना ही एषणा समिति है।

‘एषणा’ शब्द संस्कृत भाषा में ‘एष्’ धातु में युच् प्रत्यय लगकर निर्मित है। जिसका अर्थ हिन्दी, उर्दू भाषा में - इच्छा, अन्वेषण, छानबीन, खोज, तलाश, गमन, अभिलाषा के रूप में शब्द कोष में उपलब्ध होता है। यहाँ यह शब्द जैन वाङ्मय का परिभाषिक शब्द है जो साधक की भिक्षाचरी आदि के संदर्भ में तीर्थंकर भगवंत ने अपने मुखारविन्द से निसृत वाग्धारा तत्कालीन लोकभाषा में व्यवहृत किया है, जो गोचरी ग्रहण करने से पूर्व, ग्रहण करते समय और उसका उपभोग करते समय के नियमों के मूल शब्दों के साथ जुड़ा हुआ है।

साधक आत्माओं को संयमी-जीवन चलाने हेतु आहारादि की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता-पूर्ति निर्दोषता पूर्वक प्राप्त आहारादि से हो, यह साधु-साध्वी के लिए अनिवार्य है। आचारांग सूत्र अध्ययन 2, उद्देशक 5 में आहार परिज्ञा का अधिकार चलता है। उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 2 की गाथा 28 के अनुसार साधु ‘परदत्त भोई’ है। उन्हें आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु याचना करके ही लेनी पड़ती है। इसके लिए वे सारे नियम एवं विधि-विधान आगम-शास्त्रों में अंकित एवं वर्णित किये गये हैं, जिनकी संयमी जीवन के लिए आवश्यकता होती है। उल्लिखित विधि-विधान अत्यंत निर्दोष हैं, जिनकी अनुपालना करने पर साधक को किंचित् मात्र भी दोष नहीं लगता।

एषणा समिति साधु-साध्वी की मार्ग-दर्शिका रूप है। वह वस्तु की याचना करने और उसे उपभोग में लाने की निर्दोष रीति बतलाती है। शरीर-विज्ञान के अनुसार शरीर में जठराग्नि रही हुई है। उसकी शान्ति हेतु आहार-पानी ग्रहण करना ही पड़ता है। इस अग्नि का क्षुधा वेदनीय कर्म से सीधा सम्बन्ध है।

शरीर में समता, शान्ति और ज्ञान-ध्यान की प्रवृत्ति निर्बाध गति से चलती रहे, इसके लिए भोजन-पानी की आवश्यकता होती है। वैसे तो यह क्षुधाग्नि समस्त संसारी प्राणियों के साथ जुड़ी हुई है, और सभी जीव आहार-प्राप्ति के लिए अपने-अपने स्तर पर, अपने ढंग से प्रयास करते हैं। 'किन्तु जैन साधु-साध्वी 'येन-केन प्रकारेण' आहार-पानी प्राप्त कर उस अग्नि को शान्त नहीं करते, अपितु वे वीतराग भगवंतों द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार क्षुधा-शान्ति का प्रयास करते हैं।

आहार-प्राप्ति की निर्दोष विधि का उल्लेख दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन में बहुत ही सुन्दर ढंग से उपलब्ध होता है जिससे 'मधुकरी' और 'गोचरी' के नाम से सम्पूर्ण जैन जगत भली प्रकार से परिचित है। यह विधि इतनी निर्दोष होती है कि श्रमण संख्या कितनी भी हो, पर वे साधु-साध्वी, किसी पर भी भार नहीं होते, और उनके खाने-पीने का खर्च भी किसी के लिए असह्य और कष्टप्रद नहीं होता। उपर्युक्त नियम एवं प्रक्रिया साधक के लिए आहार-पानी तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत इनके अतिरिक्त साधु-जीवन में कल्पनीय वस्तुओं जैसे वस्त्र, पात्र, शय्या, पाट-पाटला आदि की पूर्ति के लिए भी अनिवार्यतः पालनीय होते हैं, और वे सब वस्तुएँ गृहस्थों के घरों से याचनापूर्वक ही प्राप्त की जाती हैं।

एषणा समिति का अर्थ-परिभाषा-स्वरूप-महत्त्व एवं उपयोगिता आदि के विवेचन के पश्चात् एषणा समिति के प्रकार अर्थात् भेदों की विस्तार से जानकारी अपेक्षित है, क्योंकि दोषों की जानकारी होने पर ही उनसे बचाव करना संभव हो सकता है। उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 24 की गाथा संख्या 11 के प्रथम एवं द्वितीय चरण में एषणा समिति के तीन प्रकार अथवा तीन भेदों का उल्लेख है, यथा-

“गवेसणाए गहणे य, परिभोगेसणा य जा।

आहारोवहिसेज्जाए, एए तिण्णि विशोहए॥”

अर्थात् (1) गवेषणा, (2) ग्रहणैषणा और (3) परिभोगैषणा। इन तीनों प्रकार की एषणा का पालन तभी माना जा सकता है जबकि इनसे लगने वाले दोषों को टाला जाय। अतः इनमें से प्रत्येक का संक्षेप में विवेचन एवं विशुद्धि का परिचय निम्न प्रकार से अंकित किया जा रहा है।

(1) गवेषणा - 'गवेषणा' का प्रचलित भाषा में शाब्दिक अर्थ 'खोज करना' होता है। अतः गवेषणा का आगमिक भाषा में व्यावहारिक अर्थ है, साधु-साध्वी द्वारा शुद्ध आहारादि की खोज करना। खोजने पर ही इच्छित वस्तु की प्राप्ति संभव है, कहावत भी है-“जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।” साधक की साधना में आहार, पानादि का विशेष महत्त्व रहा है, जैसा कि लोकोक्ति प्रसिद्ध है-“जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन। जैसा पीवे पाणी, वैसी बोले वाणी।” ये पंक्तियाँ आहारादि की शुद्धता का महत्त्व प्रतिपादित कर रही है। साधना की सफलता को भोजन की शुद्धता प्रभावित करती है। इसीलिए भगवान ने साधु-साध्वी द्वारा गोचरी हेतु पधारते समय, गोचरी ग्रहण करने से पूर्व ध्यान रखने योग्य निर्देश फरमाये हैं- जिनकी संख्या 16 है। ये उद्गम के दोष कहलाते हैं। ये दोष गोचरी बहराने वाले दाता

को लगते हैं। अतः साधु-साध्वी के साथ सद्गृहस्थ को भी इन नियमों की जानकारी होना परमावश्यक है, अन्यथा सुपात्र को दान दिये जाने पर भी दायक अशुभ कर्मों के बंध का भागी बन सकता है। यहाँ साधु का भी दायित्व बनता है कि उसको आहार देने के निमित्त से 'दाता' कर्म-निर्जरा के स्थान पर कर्म-बंध का भागी न बने। इस कारण उद्गम के सोलह दोषों को टालकर उपयोग की वस्तु ग्रहण करे। सभी दोष आगमोक्त हैं- जिनके नामोल्लेख के साथ अर्थ मूलक संक्षिप्त परिचय और कोष्ठक में आगम का अति लघुरूप में नाम व तत्सम्बन्धी अन्य संकेतों का लेखन किया गया है। गवेषणा के अंतर्गत 16 दोष उद्गम के, 16 दोष उत्पादन के कुल 32 दोष निम्नांकित हैं।

उद्गम के 16 दोष:-

1. **आधा कर्म:-** किसी साधु के निमित्त से आहारादि बनाकर देना (आचारांग 2.1.2 तथा दशा.2)।
 2. **औद्देशिक:-** जिस साधु के लिए आहार बना हो, उसे दूसरा साधु ग्रहण करे। (दशवै.5.1.55 तथा आचारांग सूत्र 2.1.1)
 3. **पूति कर्म:-** शुद्ध आहार में आधाकर्मी आहार का कुछ अंश मिला होना। (दशवै.5.1.55 तथा सूत्रकृ.1.1.3.1)
 4. **मिश्रजात:-** अपने और साधुओं के लिए बनाया आहार (प्र.व्या.2.5, भग. 9.33)
 5. **स्थापना:-** साधु को देने के लिए अलग रख छोड़ना (प्र.व्या. 2.5)
 6. **पाहुडिया:-** साधु को अच्छा आहार देने के लिए समय को आगे-पीछे करना (प्र.व्या.2.5)
 7. **प्रादुष्करण:-** अँधेरे में रखी चीज को प्रकाश में लाकर देना (प्र.व्या.2.5)
 8. **क्रीत:-** साधु के लिए खरीद कर देना (दशवै. 5.1.55, आचा. 2.1.1)
 9. **प्रामीत्य:-** उधार लेकर साधु को देना (दशवै. 5.1.55, आचारां. 2.1.1)
 10. **परिवर्तित:-** साधु के लिए अदल-बदल करके ली हुई वस्तु देना (निशीथ 14.18.19)
 11. **अभिहत:-** साधु के लिए वस्तु को सामने ले जाकर देना (दशवै. 3.2, आचा. 2.1.1)
 12. **उद्भिन्न:-** बंद या लेप लगी बंद वस्तु को साधु के लिए खोलकर देना (दशवै. 5.1.45, आचा.2.1.7)
 13. **मालापहत:-** ऊँचे-नीचे, तिरछे स्थान जहाँ से सरलता से वस्तु न ली जा सके। (दशवै. 5.1.67, आचा.2.1.7)
 14. **अच्छेद्य:-** निर्बल या अधीनस्थ से छीन कर देना (आचा. 2.1.1, दशा.2)
 15. **अनिसृष्ट:-** भागीदारी की वस्तु बिना भागीदार के पूछे देना (दशवै. 5.1.37)
 16. **अध्यवपूरक:-** साधुओं का आगमन सुन बनते भोजन में कुछ सामग्री बढ़ाना (दशवै. 5.1.55)
- उद्गम के ये सोलह दोष, गृहस्थ दाता से लगते हैं- श्रमण का कर्तव्य है कि वह गवेषणा करते

समय उपर्युक्त दोषों को नहीं लगने देने का ध्यान रखे।

उत्पादन के 16 दोष:-

निम्नलिखित सोलह दोष साधु के द्वारा लगाये जाते हैं। ये दोष निशीथ सूत्र के 13 वें उद्देशक में लिखे हैं, और कुछ अन्यत्र भी कहीं-कहीं मिलते हैं।

1. धात्री कर्म- बच्चे की सार सँभाल करके आहार प्राप्त करना।
2. दूति कर्म- एक का सन्देश दूसरे को पहुँचा कर आहार लेना।
3. निमित्त- भूत, भविष्य और वर्तमान के शुभाशुभ निमित्त बताकर आहार लेना।
4. आजीव- अपनी जाति अथवा कुल आदि बताकर लेना।
5. वनीपक- दीनता प्रकट करके लेना।
6. चिकित्सा- औषधि देकर अथवा बताकर लेना।
7. क्रोध- क्रोध कर अथवा शाप का भय दिखाकर लेना।
8. मान- अभिमान पूर्वक अपना प्रभाव बताकर लेना।
9. माया- कपट का सेवन अथवा वंचना करके लेना।
10. लोभ- लोलुपता से अच्छी वस्तु अधिक लेना।
11. पूर्व-पश्चात् संस्तव- आहार लेने के पूर्व एवं बाद में दाता की प्रशंसा करना।
12. विद्या- चमत्कारिक विद्या का प्रयोग अथवा विद्यादेवी की साधना के प्रयोग से वस्तु प्राप्त करना।
13. मन्त्र- मंत्र प्रयोग से आश्चर्य उत्पन्न करके लेना।
14. चूर्ण- चमत्कारिक चूर्ण का प्रयोग करके लेना।
15. योग- योग का चमत्कार अथवा सिद्धियाँ बताकर लेना।
16. मलकर्म- गर्भ स्तंभन, गर्भाधान, गर्भपात जैसी पापकारी औषधि बताकर लेना। (प्र.व्या. 1.2 तथा 2.1)

ये सोलह दोष साधु से लगते हैं। ऐसे दोषों के सेवन करने वाले का संयम सुरक्षित नहीं रहता। सुसाधु इन दोषों से दूर ही रहते हैं। उद्गम और उत्पादन के कुल बत्तीस दोषों का समावेश 'गवेषणा' में होता है।

(2) ग्रहणैषणा- ग्रहणैषणा का अर्थ निर्दोष आहारादि ग्रहण करना है। इसके अन्तर्गत साधक को अपने जीवन-निर्वाह हेतु आवश्यक वस्त्र, पात्र, शय्या एवं आहार-पानी को ग्रहण करते हुए यतना एवं अहिंसा का विवेक रखना होता है। निम्नांकित दस दोष साधु और गृहस्थ दोनों में लगते हैं- ये 'ग्रहणैषणा' के दोष हैं। इन दोषों को टालकर साधु वस्तु ग्रहण करें।

1. शंकित- दोष की शंका होने पर लेना (दशवै. 5.1.44, आचा. 2.10.2)

2. **प्रक्षित-** देते समय हाथ, आहार या भाजन का सचित पानी से युक्त होना (दशवै. 5.1.33)
3. **निक्षिप्त-** सचित वस्तु पर रखी हुई अचित्त वस्तु देना (दशवै. 5.1.30)
4. **पिहित-** सचित वस्तु से ढँकी हुई अचित्त वस्तु देना (उपासक. 1)
5. **साहरिय-** जिस पात्र में दूषित वस्तु पड़ी हो, उसे अलग कर उसी बरतन से देना (दशवै. 5.1.30)
6. **दायग-** अशुद्ध व अयोग्य दायक बालक, अंधे, गर्भवती आदि के हाथ से लेना (दशवै. 5.1.40)
7. **उन्मिश्र-** कुछ कच्चा कुछ पका, सचित-अचित्त मिश्रित आहार लेना (दशवै. 3.6)
8. **अपरिणत-** जो पूर्ण रूप से शस्त्र परिणत न हुआ हो, उसे लेना (दशवै. 5.2.23)
9. **लित्त-** जिस वस्तु को लेने से हाथ या पात्र में लेप लगे अथवा तुरन्त की लीपी गीली भूमि को लाँघ कर लेना (दशवै. 5.1.21)
10. **छर्दित-** जिसके छींटे नीचे गिरते हों ऐसी वस्तु को टपकाते हुए देने पर लेना (प्र. व्या. 2.5)

उपर्युक्त दस दोष टालकर साधु-साध्वी वस्तु को ग्रहण करे। ये दस दोष साधु और गृहस्थ दोनों से लगते हैं।

(3) **परिभोगैषणा:-** साधु द्वारा वस्तु का उपभोग करते समय जो दोष लगते हैं उन्हें टालकर आहारादि को ग्रहण करना परिभोगैषणा है। इसका दूसरा नाम 'ग्रासैषणा' भी है। नीचे लिखे पाँच दोष जो साधु से लगते हैं, 'परिभोगैषणा' के दोष हैं:-

1. **संयोजना दोष-** स्वाद बढ़ाने के लिए एक वस्तु में दूसरी वस्तु मिलाना, जैसे दूध में शक्कर (भग.7.1)
2. **अप्रमाण दोष-** प्रमाण से अधिक भोजन (आहार) करना (भग. 7.1)
3. **अंगार दोष-** निर्दोष आहार को भी लोलुपता सहित खाना, रस-गृद्ध होना। लोलुपता संयम में आग लगाने वाली होती है। (भग.7.1)
4. **धूम दोष-** स्वाद रहित, अरुचिकर आहार की या दाता की निंदा करते हुए खाना। (भग. 7.1)
5. **अकारण दोष-** आहार करने के छह कारण उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 26, गाथा 33 में बताये हैं। उनमें से कोई भी कारण नहीं होने पर भी स्वाद अथवा पुष्टि आदि के लिए आहार (भोजन) करना। ज्ञानादि की आराधना के लिए आहार करना विहित है। लोलुपता या शारीरिक बलवृद्धि हेतु नहीं। (ज्ञाता.2)

उद्गम के 16, उत्पादन के 16, ग्रहणैषणा के 10, और परिभोगैषणा (मांडले) के 5 यों कुल 47 दोष हुए। इन सैंतालीस दोषों को टालकर जो शुद्ध आहार करते हैं, वे साधु-साध्वी जिनेश्वर भगवंत की आज्ञा के आराधक होते हैं।

विशेष- एषणा समिति के सभी मूल भावों एवं विशेषताओं के अनुसार स्तोक रचना कर महापुरुषों ने

बोलों के रूप में एषणा समिति का स्वरूप प्रकट करते हुए उसका सार संक्षेप में इस प्रकार रखा है:-

एषणा समिति- शुद्ध एषणीय 42 दोष टालकर आहार-पानी ग्रहण करे, 5 दोष टालकर भोगवे। एषणा समिति को 4 बोलों से पहचानें। (1) द्रव्य से, (2) क्षेत्र से, (3) काल से और (4) भाव से।

(1) **द्रव्य से-** एषणा के तीन प्रकार- (1) गवेषणा (ग्रहण करने से पहले) 16 उद्गम के, 16 उत्पादन के 32 दोष टालकर शुद्ध आहार की गवेषणा करे। (2) ग्रहणैषणा (ग्रहण करते समय)- ग्रहणैषणा के 10+गवेषणा के 32=42 दोष टालकर लेवे। (3) परिभोगैषणा/ग्रासैषणा (भोगते समय के)- 5 दोष+42=47 दोष टालकर भोगवे।

(2) **क्षेत्र से-** दो कोस उपरान्त ले जाकर आहार नहीं भोगे।

(3) **काल से-** पहले प्रहर का आहार चौथे प्रहर में नहीं भोगे।

(4) **भाव से-** राग-द्वेष रहित व मांडला के 5 दोष टाल कर भोगे।

उक्त चार बोलों के माध्यम से एषणा समिति के स्वरूप का परिचय संक्षेप में ज्ञात होता है।

आहारदि के उद्गम आदि 47 दोष प्रसिद्ध हैं। पूर्वाचार्यों ने 'पिण्ड निर्युक्ति' आदि अनेक ग्रंथों में इनका एक ही स्थान पर वर्णन किया है। ये दोष आगमों के मूल पाठों में भी वर्णित हैं, किन्तु एक स्थान पर सभी उपलब्ध नहीं होते। निर्युक्ति आदि ग्रंथों में एक साथ दिये हुए होने से एषणा के 47 दोष ही प्रचलित हैं, जो सभी साधकों व श्रावकों के अधिक परिचय में हैं। किन्तु उक्त 47 दोषों के अतिरिक्त भी आगमों में अन्य कई दोषों का वर्णन है जिन्हें ज्ञानी महापुरुषों ने उनके नामों को संक्षिप्त विवेचन के साथ आगमिक संदर्भ में अंकित करने की कृपा की है। इनकी संख्या लगभग 64 है।

विस्तार भय से यहाँ केवल सान्दर्भिक आगम-सूत्रों के अंतर्गत समाविष्ट दोषों की नामावली के अंकन की ही भावना है, उनका अर्थ-विवेचन एवं संदर्भ साहित्य के अध्ययन, शतक, उद्देशक, चूलिका, गाथा इत्यादि का परिचय नहीं। केवल नामों का अंकन, मात्र नाम-परिचय की दृष्टि से प्रस्तुत है।

दशवैकालिक सूत्र के अंतर्गत समाविष्ट दोषों के नाम:-

- | | | |
|------------------|-----------------|-------------------|
| 1. दानार्थ | 2. पुण्यार्ण, | 3. वनीपक, |
| 4. श्रमणार्थ | 5. नियाग, | 6. शय्यातर पिण्ड, |
| 7. राज पिण्ड, | 8. किमिच्छक, | 9. संघट्ट |
| 10. बहुउज्झिए, | 11. पूर्व कर्म, | 12. पश्चात् कर्म, |
| 13. नशीली वस्तु, | 14. एलग, | 15. श्वान, |
| 16. दारग, | 17. वच्छक, | 18. अवगाहक, |
| 19. चलकर, | 20. गुर्विणी, | 21. स्तनपायी, |

22. नीचाद्वार,
25. परिसाडिय,
27. वेश्या-निवास के निकट भिक्षार्थ जाना।
23. अन्धकार,
26. बरसते पानी, धुँअर, मच्छर, पतंग अधिक उड़ने, आँधी,
24. घृणित कुल (निशीथ में भी)

निशीथ सूत्रांतर्गत नाम:-

1. नीच कुल,
4. पुकारना,
7. घृणित कुल (दशवै.में भी),
10. अन्य तीर्थिक भक्त,
2. वर्जित घर,
5. पासत्थभक्त,
8. अग्रपिण्ड,
11. अखण्ड
3. अविश्वसनीय घर
6. अटवी भक्त
9. सागारिक निश्राय

3. भगवती सूत्रांतर्गत नाम:-

1. क्षेत्रातिक्रान्त,
5. कन्तार भक्त,
2. कालातिक्रान्त,
6. दुर्भिक्ष भक्त,
3. मार्गातिक्रान्त,
7. बदली भक्त,
4. प्रमाणातिक्रान्त
8. ग्लान भक्त

4. आचारांग सूत्रांतर्गत समाविष्ट नाम:-

1. संखड़ी,
2. अन्तरायक,
3. फुमेज्ज, वीएज्ज।

5. प्रश्नव्याकरण सूत्रांतर्गत नाम:-

1. रइयग,
6. सासणा,
11. प्रार्थना,
2. पर्यवजात,
7. निन्दना,
12. सेवा,
3. मौखर्य,
8. तर्जना,
13. करुणा।
4. स्वयं ग्रहण,
9. गारव,
10. मित्रता,

6. उत्तराध्ययन सूत्रांतर्गत समाविष्ट दोष:- (1) ज्ञाति पिण्ड

7. ठाणांग सूत्रांतर्गत दोषों के नाम:- (1) पाहुण भक्त

इस प्रकार के और भी कई प्रकार के निषेधक नियम आगमों में हैं। उपर्युक्त नियमों को भावपूर्वक उपयोग सहित पालने वाले, श्रद्धेय श्रमण-श्रमणी वर्ग का जीवन उच्चकोटि का और पवित्र होता है। शासनेश प्रभु महावीर ने निर्ग्रन्थ मुनिराजों को निम्नांकित पाँच प्रकार का आहार ग्रहण कर, साधना को उत्कृष्ट बनाने की प्रेरणा प्रदान की है:-

1. अरसाहार, 2. विरसाहार, 3. अन्ताहार, 4. प्रान्ताहार और 5. रूक्षाहार।

एषणीय अन्य वस्तुएँ:-

श्रमण-जीवन में आहार, पानी और स्थान के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ भी उपयोगी होती हैं जो सदगृहस्थों के घरों से प्राप्त की जाती हैं, यथा:- 1. रजोहरण, 2. मुख-वस्त्रिका, 3. चोल पट्टक, 4. पात्र, 5. वस्त्र, 6. आसन, 7. कम्बल, 8. पाद पोंछन, 9. शय्या, 10. संस्तारक, 11. पीठ, 12. फलक, 13. पात्र बंध, 14. पात्र स्थापन, 15. पात्र केसरिका, 16. पटल, 17. रजस्त्राण, 18.

गोच्छक और 19. दण्डक आदि। (प्रश्न व्या. द्वि. श्रुत. अध्या.3 तथा 5 में)। इनमें प्रथम दो वस्तुएँ तो सभी साधु-साध्वियों की पहचान होती हैं, साथ ही स्थावर और त्रसकाय जीवों का संयम भी पलता है। प्रथम महाव्रत के निर्दोष रूप से पालने के साथ समितियों का पालन भी भली प्रकार से होता है।

एषणीय वस्तुएँ और भी हैं, जैसे लिखने-पढ़ने के साधनों में लेखन-सामग्री, पुस्तकें आदि। आवश्यकता पड़ने पर औषधि, कैची, सूई, धागा, चाकू आदि भी लेने पड़ते हैं। कई उपकरण काम हो जाने पर लौटाने के उद्देश्य से भी लिये जाते हैं, जैसे मकान, पाट, बाजोट, पुस्तकें, सूई, कैची, चाकू, पराल आदि। इनको उपधि के नाम से जाना जाता है। उपधि दो प्रकार की होती है- (1) औधिक उपधि और, (2) औपग्रहिक उपधि। इनके नाम व परिचय पूर्व पंक्तियों में वर्णित विषय-सामग्री से स्पष्ट हो जाते हैं। उपकरण (साधन/वस्तु) आवश्यकता के अनुसार लिये व रखे जाते हैं। अधिक रखना स्वयं को परिग्रही बनाना है। कम से कम उपकरण रखने वाले श्रमण लघुभूत होते हैं। उनका चारित्र निर्मल होता है। जितनी कम उपधि होगी, स्वाध्याय की अधिकता और इच्छा की कमी होगी। (उत्तरा.अध्ययन 29 गाथा-34,42) अतः आवश्यकता को सीमित रखकर कम लेना संयम-वृद्धि का कारण एवं अधिक लेना संयम में दूषण है।

उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन 24 की 27 गाथाओं में 27 गुणों से युक्त श्रमण-श्रमणी की पूर्ण साधुचर्या की आधार-शिला अहिंसा और उस अहिंसा को साधने वाली प्रवृत्ति 'एषणा समिति' का सांगोपांग वर्णन किया गया है। पाँच समितियों में 'एषणा समिति' का सम्यक् परिपालन संयम-जीवन में चार चाँद लगाता है। साधक की साधना महाव्रतों से सधती है और महाव्रतों का मूलाधार अहिंसा है। अतः महाव्रतों अथवा अहिंसा की सुरक्षा के लिए निर्दिष्ट साधनों में अष्ट प्रवचनमाता महत्त्वपूर्ण साधन है। एषणा समिति भी इस प्रकार अहिंसा एवं संयम की रक्षक है।

-सेवानिवृत्त व्याख्याता, रिडकी दरवाजा, अलीगढ़, जिला-टोंक (राज.)



आर्यिकाओं की आचार-पद्धति

प्रो. (डॉ.) फूलचन्द जैन

'आर्यिका' शब्द का प्रयोग दिगम्बर परम्परा में समणी अथवा साध्वी के लिए हुआ है जो पंच महाव्रतधारी होने पर भी विशिष्ट मर्यादाओं में रहकर आचार का पालन करती है। विद्वान् लेखक ने आर्यिका के वेष, वसतिका, समाचारी, आहारार्थगमन-विधि आदि पर प्रकाश डालने के साथ श्रमणों के साथ व्यवहार में मर्यादाओं का भी उल्लेख किया है।

-सम्पादक

चतुर्विध संघ में आर्यिकाओं का स्थान

मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ में 'आर्यिका' का दूसरा स्थान है। श्वेताम्बर जैन परम्परा के प्राचीन आगमों में भी यद्यपि इन्हें अज्जा, आर्या, आर्यिका कहा है, किन्तु इस परम्परा में प्रायः 'श्रमणी' एवं 'साध्वी' शब्द का अधिक प्रयोग हुआ है। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर तथा इनकी उत्तरवर्ती परम्परा में आर्यिका संघ की एक व्यवस्थित आचार पद्धति एवं उनका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। श्रमण संस्कृति के उन्नयन में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका की सभी सराहना करते हैं। यद्यपि भगवान् महावीर के जीवन के आरम्भिक काल में स्त्रियों को समाज में पूर्ण सम्मान का दर्जा प्राप्त नहीं था, किन्तु इन्होंने जब समाज में स्त्रियों की निम्नस्थिति तथा घोर उपेक्षापूर्ण जीवन देखा तो भगवान् महावीर ने स्त्रियों को समाज और साधना के क्षेत्र में सम्मानपूर्ण स्थान देने में सबसे पहले पहल की और आगे आकर इन्होंने अपने संघ में स्त्रियों को 'आर्यिका' (समणी या साध्वी) के रूप में दीक्षित करके इनके आत्म-सम्मान एवं कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। इसका सीधा प्रभाव तत्कालीन बौद्ध संघ पर भी पड़ा और महात्मा बुद्ध को भी अन्ततः अपने संघ में स्त्रियों को भिक्षुणी के रूप में प्रवेश देना प्रारम्भ करना पड़ा।

आचार विषयक दिगम्बर परम्परा के प्रायः सभी ग्रन्थों में जिस विस्तार के साथ मुनियों के आचार-विचार आदि का विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन मिलता है, आर्यिकाओं के आचार-विचार का उतना स्वतन्त्र विवेचन नहीं मिलता। साधना के क्षेत्र में मुनि और आर्यिका में किञ्चित् अन्तर स्पष्ट करके आर्यिका के लिए मुनियों के समान ही आचार-विचार का प्रतिपादन इस साहित्य में मिलता है। मूलाचारकार आचार्य वड्डकेर एवं इसके वृत्तिकार आचार्य वसुनन्दि ने कहा है कि जैसा समाचार (सम्यक्-आचार एवं व्यवहार आदि) श्रमणों के लिए कहा गया है उसमें वृक्षमूल, अन्ध्रावकाश एवं आतापन आदि योगों को छोड़कर अहोरात्र सम्बन्धी सम्पूर्ण समाचार आर्यिकाओं के लिए भी यथायोग्य

रूप से समझना चाहिए।' इसीलिए स्वतंत्र एवं विस्तृत रूप में आर्यिकाओं के आचारादि का प्रतिपादन आवश्यक नहीं समझा गया।

वस्तुतः वृक्षमूलयोग (वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे खड़े होकर ध्यान करना), आतापनयोग (प्रचण्ड धूप में भी पर्वत की चोटी पर खड़े होकर ध्यान करना), अभ्रावकाश (शीत ऋतु में खुले आकाश में तथा ग्रीष्म ऋतु में दिन में सूर्य की ओर मुख करके खड्गासन मुद्रा में ध्यान करना) एवं अचेलकत्व (नम्रता) आदि कुछ ऐसे पक्ष हैं, जो स्त्रियों की शारीरिक-प्रकृति के अनुकूल न होने के कारण आर्यिकाओं के लिए मुनियों जैसे आचार का पालन सम्भव नहीं है। इसीलिए उन्हें उपचार से मूलगुणों का धारक माना है। इसलिए दिगम्बर परम्परा में स्त्रियों को तद्भव मोक्षगामी नहीं माना गया। क्योंकि मोक्ष के कारणभूत जो ज्ञानादि गुण तथा तप हैं, उनका प्रकर्ष स्त्रियों में सम्भव नहीं है। इसी तरह वे सबसे उत्कृष्ट पाप के फलभूत अन्तिम (सप्तम) नरक में भी नहीं जा सकतीं, जबकि पुरुष जा सकता है।

इसी तरह वस्त्र-ग्रहण की अनिवार्यता के कारण बाह्य परिग्रह तथा स्व-शरीर का अनुरागादि रूप आभ्यन्तर परिग्रह भी स्त्रियों में पाया जाता है और फिर शास्त्रों में वस्त्ररहित संयम स्त्रियों को नहीं बतलाया है। अतः विरक्तावस्था में भी स्त्रियों को वस्त्र धारण का विधान है। अतः निर्दोष होने पर भी उन्हें अपना शरीर सदा वस्त्रों से ढके रहना पड़ता है।¹ इसीलिए दिगम्बर परम्परा में स्त्रियों को तद्भव मोक्षगामी होने का विधान नहीं है।² आर्यिकाओं में उपचार से महाव्रत भी श्रमण संघ की व्यवस्था मात्र के लिए कहे गये हैं, किन्तु उपचार में साक्षात् होने की सामर्थ्य नहीं होती। यदि स्त्री तद्भव से मोक्ष जाती होती तो सौ वर्ष की दीक्षिता-आर्यिका के द्वारा आज का नवदीक्षित मुनि भी वंदनीय कैसे होता? वह आर्यिका ही उस श्रमण द्वारा वंदनीय क्यों न होती?³

विरक्त स्त्रियों को भी वस्त्र धारण के विधान में उनकी शरीर-प्रवृत्ति ही मुख्य कारण है, क्योंकि प्रतिमास चित्तशुद्धि का विनाशक रक्त-स्रवण होता है, कोख, योनि और स्तन आदि अवयवों में कई तरह के सूक्ष्मजीव उत्पन्न होते रहने से उनसे पूर्ण संयम का पालन सम्भव नहीं हो सकता।⁴ इसीलिए इन्हीं सब कारणों के साथ ही⁵ स्वभाव से पूर्ण निर्भयता, निराकुलता एवं निर्मलता का अभाव, परिणामों में शिथिलता का सद्भाव तथा निःशंक रूप में एकाग्रचिन्ता निरोध रूप ध्यान का अभाव होने के कारण ऐसा कहा गया है।⁶ इस प्रकार पूर्वोक्त कारणों के साथ ही उत्तम संहनन के अभाव के कारण शुद्धोपयोग रूप परिणाम एवं सामायिक चारित्र की प्राप्ति होना सम्भव नहीं है, अतः इनमें उपचार से ही महाव्रत कहे गये हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के बृहत्कल्प में भी कहा है कि साध्वियाँ भिक्षु-प्रतिमाएँ धारण नहीं कर सकतीं। लकुटासन-उत्कटुकासन, वीरासन आदि आसन नहीं कर सकतीं। गाँव के बाहर सूर्य के सामने हाथ ऊँचा करके आतापना नहीं ले सकतीं तथा अचेल एवं अपात्र (जिनकल्प) अवस्था धारण नहीं कर

सकती।* इस सबके बावजूद श्वेताम्बर परम्परा में स्त्रियों को मोक्ष-प्राप्ति का अधिकारी माना गया है। बौद्ध परम्परा में भी स्त्री सम्यक्-सम्बुद्ध नहीं हो सकती।*

आर्यिका के लिए प्रयुक्त शब्द

वर्तमान समय में सामान्यतः दिगम्बर परम्परा में महाव्रत आदि धारण करने वाली दीक्षित स्त्री को 'आर्यिका' तथा श्वेताम्बर परम्परा में इन्हें 'साध्वी' कहा जाता है। दिगम्बर प्राचीन शास्त्रों में इनके लिए आर्यिका,¹⁰ आर्या,¹¹ विरती,¹² संयती,¹³ संयता,¹⁴ श्रमणी¹⁵ आदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। प्रधान आर्यिका को 'गणिनी'¹⁶ तथा संयम, साधना एवं दीक्षा में ज्येष्ठ वृद्धा आर्यिका को स्थविरा (थेरी)¹⁷ कहा गया है।

आर्यिकाओं का वेष

आर्यिकाएँ निर्विकार, श्वेत, निर्मल वस्त्र एवं वेष धारण करने वाली तथा पूरी तरह से शरीर-संस्कार (साज-शृंगार आदि) से रहित होती हैं। उनका आचरण सदा अपने धर्म, कुल, कीर्ति एवं दीक्षा के अनुरूप निर्दोष होता है।¹⁸ वसुनन्दी के अनुसार-आर्यिकाओं के वस्त्र, वेष और शरीर आदि विकृति से रहित, स्वाभाविक-सात्त्विक होते हैं अर्थात् वे रंग-बिरंगे वस्त्र, विलासयुक्त गमन और भूविकार-कटाक्ष आदि से रहित वेष को धारण करने वाली होती हैं। जो किसी भी प्रकार का शरीर-संस्कार नहीं करती- ऐसी ये आर्यिकायें क्षमा, मार्दव आदि धर्म, माता-पिता के कुल, अपना यश और अपने व्रतों के अनुरूप निर्दोष चर्या करती हैं।¹⁹

सुत्तपाहुड तथा इसकी श्रुतसागरीय टीका में तीन प्रकार के वेष (लिंग) का कथन है-1. मुनि, 2. ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक-ऐलक एवं क्षुल्लक तथा 3. आर्यिका²⁰। तीसरा लिंग (वेष) स्त्री (आर्यिका) का है। इसे धारण करने वाली स्त्री दिन में एक बार आहार ग्रहण करती है। वह आर्यिका भी हो तो एक ही वस्त्र धारण करे तथा वस्त्रावरण युक्त अवस्था में ही आहार ग्रहण करे।²¹

वस्तुतः स्त्रियों में उत्कृष्ट वेष को धारण करने वाली आर्यिका और क्षुल्लिका- ये दो होती हैं। दोनों ही एक बार आहार लेती हैं। आर्यिका मात्र एक वस्त्र तथा क्षुल्लिका एक साड़ी के सिवाय ओढ़ने के लिए एक चादर भी रखती हैं। भोजन करते समय एक सफेद साड़ी रखकर ही दोनों आहार करती हैं। अर्थात् आर्यिका के पास तो एक साड़ी है, पर क्षुल्लिका एक साड़ी सहित किन्तु चादर रहित होकर आहार करती है।²² भगवती आराधना में भी क्षुल्लिका का उल्लेख मिलता है।²³

भगवती आराधना में सम्पूर्ण परिग्रह के त्यागरूप में औत्सर्गिक लिंग में चार बातें आवश्यक मानी गई हैं-अचेलता, केशलोच, शरीर-संस्कार-त्याग और प्रतिलेखन (पिच्छी)²⁴ किन्तु स्त्रियों के अचेलता (नग्नता) का विधान न होते हुए भी अर्थात् तपस्विनी स्त्रियाँ एक साड़ी मात्र परिग्रह रखते हुए भी उनमें औत्सर्गिक लिंग माना गया है। अर्थात् उनमें भी ममत्व त्याग के कारण उपचार से निर्ग्रन्थता का

व्यवहार होता है। परिग्रह अल्प कर देने से स्त्री के उत्सर्ग लिंग होता है।²⁵ इसीलिये सागार धर्माभृत में भी कहा है कि एक कौपीन (लंगोटी) मात्र में ममत्व भाव रखने से उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक) भी महाव्रती नहीं कहलाता, जबकि आर्यिका साड़ी में भी ममत्व भाव न रखने से उपचरित महाव्रत के योग्य होती है।²⁶

वस्तुतः स्त्रियों की शरीर-प्रकृति ही ऐसी है कि उन्हें अपने शरीर को वस्त्र से सदा ढके रखना आवश्यक होता है। इसीलिए आगम में कारण की अपेक्षा से आर्यिकाओं को वस्त्र की अनुज्ञा है।²⁷ श्वेताम्बर परम्परा के बृहत्कल्पसूत्र (5/19) में भी कहा है- नो कप्पइ निगंथीए अचेलियाए होत्तए- अर्थात् निर्ग्रन्थियों (आर्यिकाओं) को अचेलक (निर्वस्त्र) रहना नहीं कल्पता। आचार्य कुन्दकुन्दकृत प्रवचनसार की प्रक्षेपक गाथा में कहा होने पर भी आर्यिकाओं को अपना शरीर वस्त्रों से ढके रहना पड़ता है अतः विरक्तावस्था में भी उन्हें वस्त्र धारण का विधान है।²⁸

दौलत 'क्रियाकोश' में कहा है कि आर्यिकार्ये एक सादी सफेद धोती (साड़ी), पिच्छी, कमण्डलु एवं शास्त्र रखती हैं। बैठकर करपात्र में आहार ग्रहण करती हैं तथा अपने हाथों से केशलुञ्चन करती हैं।²⁹ इस प्रकार अट्टाईस मूलगुण (उपचार से) और समाचार विधि का आर्यिकाएँ पालन करती हैं। साड़ी मात्र परिग्रह धारण करती हैं अर्थात् एक बार में एक साड़ी पहनती हैं- ऐसे दो साड़ी का परिग्रह रहता है।³⁰

श्वेताम्बर परम्परा में साध्वी को चार वस्त्र रखने का विधान है। एक वस्त्र दो हाथ का, दो वस्त्र तीन हाथ के और एक वस्त्र चार हाथ का।³¹ किन्तु ये वस्त्र श्वेत रंग के ही होने चाहिए। श्वेत वस्त्र छोड़कर विविध रंगों आदि से विभूषित जो वस्त्र धारण करती है वह आर्या नहीं, अपितु उसे शासन की अवहेलना करने वाली वेष-विडम्बनी कहा है।

आर्यिकाओं की वसतिका

श्रमणों की तरह आर्यिकाओं को भी सदा अनियत विहार करते हुए संयम-धर्म की साधना करते-कराते रहने का विधान है, किन्तु उन्हें विश्राम हेतु रात्रि में या कुछ दिन या चातुर्मास आदि में जहाँ - जब रुकना पड़ता है, तब उनके ठहरने की वसतिका कैसी होनी चाहिए? इस सबका यहाँ शास्त्रोक्त रीति से प्रतिपादन किया है।

गृहस्थों के मिश्रण से रहित वसतिका, जहाँ परस्त्री-लंपट, चोर, दुष्टजन तिर्यञ्चों एवं असंयत जनों का सम्पर्क न हो, साथ ही जहाँ यतियों का निवास या उनकी सन्निकटता न हो, असंशियों (अज्ञानियों) का आना-जाना न हो ऐसी संक्लेश रहित, बाल, वृद्ध आदि सभी के गमनागमन योग्य, विशुद्ध संचार युक्त प्रवेश में दो, तीन अथवा इससे भी अधिक संख्या में एक साथ मिलकर आर्यिकाओं को रहना चाहिए।³² श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार जहाँ मनुष्य अधिक एकत्रित होते हैं- ऐसे राजपथ-मुख्यमार्ग, धर्मशाला और तीन-चार रास्तों के संगम स्थल पर आर्यिकाओं को नहीं ठहरना चाहिए। खुले

स्थान पर तथा बिना फाटक वाले स्थान पर भी नहीं रहना चाहिए।³³ जिस उपाश्रय के समीप गृहस्थ रहते हों वहाँ साधुओं को नहीं रहना चाहिए, किन्तु साध्वियाँ रह सकती हैं।³⁴

वसतिकाओं में आर्थिकार्ये मात्सर्यभाव छोड़कर एक दूसरे के अनुकूल तथा एक दूसरे के रक्षण के अभिप्राय में पूर्ण तत्पर रहती हैं। रोष, वैर और मायाचार जैसे विकारों से रहित, लज्जा, मर्यादा और उभयकुल- पितृकुल, पतिकुल अथवा गुरुकुल के अनुरूप आचरण (क्रियाओं) द्वारा अपने चारित्र की रक्षा करती हुई रहती है।³⁵ आर्थिकार्यों में भय, रोष आदि दोषों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। तभी तो ज्ञानार्णव में कहा है शम, शील और संयम से युक्त अपने वंश में तिलक के समान, श्रुत तथा सत्य से समन्वित ये नारियाँ (आर्थिकार्ये) धन्य हैं।³⁶

समाचार : विहित एवं निषिद्ध

चरणानुयोग विषयक जैन साहित्य में श्रमण और आर्थिकार्यों दोनों में समाचार (समाचारी) आदि प्रायः समान रूप से प्रतिपादित हैं।³⁷ मूलाचारकार ने इनके समाचार के विषय में कहा है कि आर्थिकार्ये अध्ययन, पुनरावृत्ति (पाठ करने), श्रवण-मनन, कथन, अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन, तप, विनय तथा संयम में नित्य ही उद्यत रहती हुई ज्ञानाभ्यास रूप उपयोग में सतत तत्पर रहती हैं तथा मन, वचन और कायरूप योग के शुभ अनुष्ठान से सदा युक्त रहती हुई अपनी दैनिक चर्या पूर्ण करती हैं।³⁸

किसी प्रयोजन के बिना परगृह चाहे वह श्रमणों की ही वसतिका क्यों न हो या गृहस्थों का घर क्यों न हो, वहाँ आर्थिकार्यों का जाना निषिद्ध है। यदि भिक्षा, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि विशेष प्रयोजन से वहाँ जाना आवश्यक हो तो गणिनी (महत्तरिका या प्रधान आर्थिकार्य) से आज्ञा लेकर अन्य कुछ आर्थिकार्यों के साथ मिलकर जा सकती है, अकेले नहीं।³⁹ स्व-पर स्थानों में दुःखार्त को देखकर रोना, अश्रुमोचन, स्नान (बालकों को स्नानादि कार्य) कराना, भोजन कराना, रसोई पकाना, सूत कातना तथा छह प्रकार का आरम्भ अर्थात् जीवघात की कारणभूत क्रियायें आर्थिकार्यों के लिए पूर्णतः निषिद्ध हैं। संयतों के पैरों में मालिश करना, उनका प्रक्षालन करना, गीत गाना आदि कार्य पूर्णतः निषिद्ध हैं।⁴⁰ असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और लेख- ये जीवघात के हेतुभूत छह प्रकार की आरम्भ क्रियाएँ हैं।⁴¹ पानी लाना, पानी छानना (छेण), घर को साफ करके कूड़ा-कचरा उठाना, फेंकना, गोबर से लीपना, झाड़ू लगाना और दीवाल्लों को साफ करना- ये जीवघात करने वाली छह प्रकार की आरंभ क्रियायें भी आर्थिकार्ये नहीं करतीं।⁴² मूलाचार के पिण्डशुद्धि अधिकार में आहार-सम्बन्धी उत्पादन के सोलह दोषों के अन्तर्गत धायकर्म, दूतकर्म आदि कार्य भी इनके लिए निषिद्ध हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के गच्छाचारपइन्ना नामक प्रकीर्णक ग्रंथ में कहा है- जो आर्थिकार्य गृहस्थ सम्बन्धी कार्य जैसे- सीना, बुनना, कढ़ाई आदि कार्य अपनी या दूसरे की तेल मालिश आदि कार्य करती है वह आर्थिकार्य नहीं हो सकती।⁴³ जिस गच्छ में आर्थिकार्य गृहस्थ सम्बन्धी जकार, मकार आदि रूप

शासन की अवहेलना सूचक शब्द बोलती है वह वेश-विडम्बनी तथा अपनी आत्मा को चतुर्गति में घुमाने वाली है।”

आहारार्थ गमन-विधि

आहारार्थ अर्थात् भिक्षाचर्या के लिए वे आर्यिकायें तीन, पाँच अथवा सात की संख्या में स्थविरा (वृद्धा)आर्यिका के साथ मिलकर उनका अनुगमन करती हुई तथा परस्पर एक दूसरे के रक्षण (सँभाल) का भाव रखती हुई ईर्या समितिपूर्वक आहारार्थ निकलती हैं।⁴⁵ देव-वन्दना आदि कार्यों के लिए भी उपर्युक्त विधि से गमन करना चाहिए।⁴⁶ आर्यिकाएँ दिन में एक बार सविधि बैठकर करपात्र में आहार ग्रहण करती हैं।⁴⁷ गच्छाचार पद्मना में कहा है- कार्यवश लघुआर्या मुख्यआर्या के पीछे रहकर अर्थात् स्थविरा के पीछे बैठकर श्रमण-प्रमुख के साथ सहज, सरल और निर्विकार वाक्यों द्वारा मृदु वचन बोले तो वही वास्तविक गच्छ कहलाता है।⁴⁸

स्वाध्याय सम्बन्धी विधान-

मुनि और आर्यिका सभी के लिए स्वाध्याय आवश्यक होता है। वट्टकेर ने स्वाध्याय के विषय में आर्यिकाओं के लिए लिखा है कि गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली तथा अभिन्नदशपूर्वधर- इनके द्वारा कथित सूत्रग्रंथ, अंगग्रंथ तथा पूर्वग्रंथ- इन सबका अस्वाध्यायकाल में अध्ययन मन्दबुद्धि के श्रमणों और आर्यिका समूह के लिए निषिद्ध है। अन्य मुनीश्वरों को भी द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि की शुद्धि के बिना उपर्युक्त सूत्रग्रंथ पढ़ना निषिद्ध है। किन्तु इन सूत्रग्रंथों के अतिरिक्त आराधनानिर्युक्ति, मरणविभक्ति, स्तुति, पंचसंग्रह, प्रत्याख्यान, आवश्यक तथा धर्मकथा सम्बन्धी ग्रंथों को एवं ऐसे ही अन्यान्य ग्रन्थों को आर्यिका आदि सभी अस्वाध्याय काल में भी पढ़ सकती हैं।⁴⁹

वन्दना-विनय संबंधी व्यवहार-

यह पहले ही कहा गया है कि शास्त्रों के अनुसार सौ वर्ष की दीक्षित आर्यिका से भी नवदीक्षित श्रमण को पूज्य और ज्येष्ठ माना गया है। अतः स्वाभाविक है कि आर्यिकायें श्रमण के प्रति अपना विनय प्रकट करती हैं। आर्यिकाओं के द्वारा श्रमणों की वन्दना विधि के विषय में कहा है कि आर्यिकाओं को आचार्य की वन्दना पाँच हाथ दूर से, उपाध्याय की वन्दना छह हाथ दूर से एवं साधु की वन्दना सात हाथ दूर से गवासन पूर्वक बैठकर ही करनी चाहिए।

यहाँ सूरि (आचार्य), अध्यापक (उपाध्याय) एवं साधु शब्द से-यह भी सूचित होता है कि आचार्य से पाँच हाथ दूर से ही आलोचना एवं वन्दना करना चाहिए। उपाध्याय से छह हाथ दूर बैठकर अध्ययन करना चाहिए एवं सात हाथ दूर से साधु की वन्दना, स्तुति आदि कार्य करना चाहिए, अन्य प्रकार से नहीं। यह क्रमभेद आलोचना, अध्ययन और स्तुति करने की अपेक्षा से हो जाता है।⁵⁰ मोक्षपाहुड (गाथा 12) की टीका के अनुसार श्रमण और आर्यिका के बीच परस्पर वन्दना उपयुक्त तो

नहीं है, किन्तु यदि आर्यिकायें वन्दना करें तो श्रमण को उनके लिए 'समाधिरस्तु' या कर्मक्षयोऽस्तु' कहना चाहिए। श्रावक जब इनकी वन्दना करता है तो उन्हें सादर 'वन्दामि' शब्द बोलता है।

आर्यिका और श्रमण संघ : परस्पर सम्बन्धों की मर्यादा-

आचार-विषयक जैन आगम-साहित्य में श्रमण संघ को निर्दोष एवं सदा अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अनेक दृष्टियों से स्त्रियों के संसर्ग से, चाहे वह आर्यिका भले ही हो, दूर रहने का विधान किया है। यही कारण है कि श्रमण संघ आरम्भ से अर्थात् प्राचीन काल से आज तक बिना किसी बाधा या अपवाद के अपनी अक्षुण्णता बनाये हुए है।

श्रमणों और आर्यिकाओं का सम्बन्ध (परस्पर व्यवहार) धार्मिक कार्यों तक ही सीमित है। यदि आवश्यक हुआ तो कुछ आर्यिकाएँ एक साथ मिलकर श्रमण से धार्मिक शास्त्रों के अध्ययन, शंका-समाधान आदि कार्य कर सकती हैं, अकेले नहीं। अकेले श्रमण और आर्यिका को परस्पर बातचीत तक का निषेध है। कहा भी है कि तरुण श्रमण किसी भी तरुणी आर्यिका या अन्य किसी स्त्री से कथा-वार्तालाप न करे। यदि इसका उल्लंघन करेगा तो आज्ञाक्रोप, अनवस्था (मूल का ही विनाश), मिथ्यात्वाराधना, आत्मनाश और संयम-विराधना- इन पाप के हेतुभूत पाँच दोषों से दूषित होगा।⁵²

अध्ययन या शंका-समाधान आदि धार्मिक कार्य के लिए आर्यिकाएँ या स्त्रियाँ यदि श्रमण संघ आयें तो उस समय श्रमण को वहाँ अकेले नहीं ठहरना चाहिए और बिना प्रयोजन वार्तालाप नहीं करना चाहिए, किन्तु कदाचित् धर्मकार्य के प्रसंग में बोलना भी ठीक है।⁵³ एक आर्यिका कुछ प्रश्नादि पूछे तो अकेला श्रमण उसका उत्तर न दे, अपितु कुछ श्रमणों के सामने उत्तर दे। यदि कोई आर्यिका अपनी पुस्तक अर्थात् आर्यिका गणिनी के साथ या उसे आगे करके कोई प्रश्न पूछे तब अकेले श्रमण उसका उत्तर दे सकता है अर्थात् मार्ग-प्रभावना की इच्छा रखते हुए प्रश्नोत्तरों आदि का प्रतिपादन करना चाहिए, अन्यथा नहीं।⁵⁴

आर्यिकाओं की वसतिका में श्रमणों को नहीं जाना, ठहरना चाहिए, वहाँ क्षणमात्र या कुछ समय तक की (अल्पकालिक) क्रियाएँ भी नहीं करनी चाहिए। अर्थात् वहाँ बैठना, लेटना, स्वाध्याय, आहार, भिक्षा-ग्रहण, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग एवं मलोत्सर्ग आदि क्रियाएँ पूर्णतः निषिद्ध हैं।⁵⁵

वृद्ध, तपस्वी, बहुश्रुत और जनमान्य (प्रामाणिक) श्रमण भी यदि आर्याजन (आर्यिका आदि) से संसर्ग रखता है तो वह लोकापवाद का भागी (लोगों की निन्दा का पात्र) बन जाता है।⁵⁶ तब जो श्रमण अवस्था में तरुण हैं, बहुश्रुत भी नहीं हैं और न जो उत्कृष्ट तपस्वी और चारित्रवान् हैं वे आर्याजन के संसर्ग से लोकापवाद के भागी क्यों नहीं होंगे? अर्थात् अवश्य होंगे अतः यथासम्भव इनके संसर्ग से दूर रहकर अपनी संयम-साधना करनी चाहिए।

आर्यिकायों के उपाश्रय में ठहरने वाला श्रमण लोकापवाद रूप व्यवहार-निन्दा तथा व्रतभंग रूप

परमार्थ-निन्दा इन दोनों को प्राप्त होता है।⁵⁶ इस प्रकार साधु को केवल आर्याजनों के संसर्ग से ही दूर नहीं रहना चाहिए, किन्तु अन्य भी जो-जो वस्तु साधु को परतन्त्र करती है उस-उस वस्तु का त्याग करने हेतु तत्पर रहना चाहिए। उसके त्याग से उसका संयम दृढ़ होगा। क्योंकि बाह्य वस्तु के निमित्त से होने वाला असंयम उस वस्तु के त्याग से ही सम्भव होता है।⁵⁷

आर्यिकाओं के गणधर-

आर्यिकाओं की दीक्षा, शंका-समाधान, शास्त्राध्ययन आदि कार्यों के लिए श्रमणों के सम्पर्क में आना भी आवश्यक होता है। श्रमण संघ की व्यवस्था के अनुसार साधारण श्रमणों की अकेले आर्यिकाओं से बातचीत आदि का निषेध है। आर्यिकाओं को प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि विधि सम्पन्न कराने के लिए गणधर मुनि की व्यवस्था का विधान है।

आर्यिकाओं के गणधर (आचार्य आदि विशेष) को निम्नलिखित गुणों से सम्पन्न माना गया है। प्रियधर्मा, दृढ़धर्मा, संविन्नी (धर्म और धर्मफल में अतिशय उत्साह वाला), अवद्य (पाप) भीरू, परिशुद्ध (शुद्ध आचरण वाले), संग्रह (दीक्षा, उपदेश आदि द्वारा शिष्यों के ग्रहण-संग्रह) और अनुग्रह में कुशल, सतत सारक्षण (पापक्रियाओं से सर्वथा निवृत्ति) से युक्त, गंभीर दुर्द्धर्ष (स्थिर चित्त एवं निर्भय अन्तःकरण युक्त), मितभाषी, अल्पकौतुकयुक्त, चिरप्रवर्जित और गृहीतार्थ (तत्त्वों के ज्ञाता) आदि गुणों से युक्त गणधर (आचार्य) आर्यिकाओं के मर्यादा उपदेशक होते हैं।⁵⁸

इन गुणों से युक्त श्रमण तो अपने आप में पूर्णत्व को प्राप्त करने वाला होता है और यह तो श्रमणत्व की कसौटी भी है। ऐसे ही गणधर आर्यिकाओं को आदर्श रूप में प्रतिक्रमणादि विधि सम्पन्न करा सकते हैं। उपर्युक्त गुणों से रहित श्रमण यदि गणधरत्व धारण करके आर्यिकाओं को प्रतिक्रमण कराता एवं प्रायश्चित्तादि देता है तब उसके गणपोषण, आत्मसंस्कार, संल्लेखना और उत्तमार्थ- इन चार कालों की विराधना होती है। अथवा छेद, मूल, परिहार और पारंरिक- ये चार प्रायश्चित्त लेने पड़ते हैं। साथ ही ऋषिकुल रूप गच्छ या संघ, कुल, श्रावक एवं मिथ्यादृष्टि आदि इन सबकी विराधना हो जाती है। अर्थात् गुणशून्य आचार्य यदि आर्यिकाओं का पोषण करते हैं तो व्यवस्था बिगड़ जाने से संघ के साधु उनकी आज्ञा पालन नहीं करेंगे। इससे संघ और उसका अनुशासन बिगड़ता है।

इस प्रकार श्रमणसंघ के अन्तर्गत आर्यिकाओं की विशिष्ट आचार पद्धति और उसकी महत्ता का यहाँ प्रतिपादन किया गया, शेष नियमोपनियम श्रमणों जैसे ही हैं।

सन्दर्भ:-

1. मूलाचार सवृत्ति, 4.187
2. ण विणा वड्ढिदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि ।
ण हि संउडं च गत्तं तम्हा तासिं च संवरणं ॥ प्रवचनसार, 225. 5
3. स्त्रीणामपि मुक्तिर्न भवति महाव्रताभावात् ।- मोक्षपाहुड टीका, 12

4. वरिससयदिविखियाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू ।
अभिगमण वंदण नमंसणेण त्रिणएण सो पुञ्जो ॥ मौक्खापाहुड, टीका 12.1
5. प्रवचनसार, 225/7
6. सुत्तपाहुड, गाथा 7
7. सुत्तपाहुड, 26
8. बृहत्कल्प 5/19-34 तक (चारित्र प्रकाश, पृष्ठ 139)
9. अंगुत्तरनिकाय 1.9
10. भगवती आराधना 396 तथा वि. टीका 421
11. मूलाचार 4.177, 184,185,187,191,196, सुत्तपाहुड 22
12. वही, 4.180, 10.61
13. मूलाचार वृत्ति 4.177
14. त्यक्ताशेषगृहस्थवेषरचना मंदोदरी संयता - पद्मपुराण
15. श्रीमती श्रमणी पाश्वे बभूवुः परमार्यिका ।- पद्मपुराण
16. गणिणी...मूलाचार 4.178, 192, गणिनी महत्तरिकां- पद्मपुराण वृत्ति 4.178, 192
17. थेरीहिं सहंतरिवा भिक्खाय समोदरंति सदा ।- मूलाचार 4.194
18. मूलाचार 4.190
19. मूलाचार वृत्ति 4.190
20. सुत्तपाहुड 10, 21,22
21. लिंगं इत्थीणं हवदिं भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि ।
अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ ॥- सुत्तपाहुड 22
22. सुत्तपाहुड, श्रुतसागरीय टीका, 22
23. खुड्डा य खुड्डियाओ.....भगवती आराधना, 396
24. भगवती आराधना 79
25. भगवती आराधना 80 विजयोदया टीका सहित
26. सागारधर्मांमृत 8.37
27. आर्यिकाणामागमे अनुज्ञातं वस्त्रं कारणापेक्षया-भगवती आराधना विजयोदया, 423, पृ. 324
28. प्रवचनसार, गाथा 225 के बाद प्रक्षेपक गाथा 5
29. क्रियाकोशः महाकवि दीलतरामकृत
30. प्रायश्चित्त संग्रह, 119
31. आचारांग सूत्र 2.5.141
32. गच्छाचार पइन्ना 112
33. अगिहत्थमिस्सणिलये असण्णिवाए विसुद्धसंचारे ।
दो तिण्णि व अज्जाओ बहुगीओ वा सहत्थंति ॥ मूलाचार 4.191 वृत्तिसहित
33. बृहत्कल्प भाष्य, 1.2, 2.11,1

34. बृहत्कल्प सूत्र, प्रथम उद्देश, प्रतिबद्धशय्यासूत्र (जै.सा.का.वृ. इति. भाग 2, पृ. 241)
35. अण्णोणणणुकूलाओ अण्णोण्णाहिरक्खण्णाभिजुत्ताओ ।
गयरोसवेरमायासलज्जमज्जादकिरियाओ ।। मूलाचार 4.188
36. ज्ञानार्णव 12.57
37. हिस्ट्री ऑफ जैन मोनासिज्म, पृ. 473
38. मूलाचार 4.189
39. ण य परगेहमकज्जे गच्छे कज्जे अवस्सगमणिज्जे ।
गणिणीमापुच्छित्ता संघाडेणेव गच्छेज्ज ॥ - मूलाचार 4.192
40. रोदणणहावणभोयजपयणं सुत्तं च छव्विहारंभे ।
विरदाण पादमक्खण धोवणगेयं च ण य कुज्जा ॥ - मूलाचार 4.193
41. असिमिषिकृषि वाणिज्यशिल्पलेखक्रियाप्रारम्भास्तान् जीवघातहेतून् । - मूलाचार वृत्ति 4.193
42. कुन्द मूलाचार 4.74
43. गच्छाचार पइन्ना 113
44. वही 110
45. तिण्णि व पंच व सत्त व अज्जाओ अण्णमण्णरक्खाओ ।
धेरीहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरन्ति सदा । मूलाचार 4.194
46. मूलाचार, 4.194 की वृत्ति
47. सुत्तपाहुड श्रतुसागरीय टीका 22 तथा दौलत क्रियाकोश
48. गच्छाचार पइन्ना, 129-130
49. मूलाचार 5.80-82, वृत्तिसहित
50. पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्जावगो य साधु य ।
परिहरिऊण ज्जाओ गवासणेणेव वंदंति ॥ - मूलाचार 4.195 वृत्ति सहित
51. मूलाचार 4.179 वृत्ति सहित
52. वही 4.177 वृत्ति सहित
53. तासिं पुण पुच्छाओ इक्किस्से णय कहिज्ज एक्को दु ।
गणिणी पुरओ किच्चा जदि पुच्छइ तो कहेदव्वं ॥ वही, 4.178 वृत्ति सहित
54. मूलाचार 4.180, 10.61 वृत्ति सहित
55. मूलाचार, 331
56. मूलाचार 10.62
57. भगवती आराधना, गाथा 334, 338
58. मूलाचार 4.183, 184, बृहत्कल्प भाष्य 2050

-प्रोफेसर, जैन दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-221010



श्रमणाचार और आधुनिकता से ग्रस्त श्रावक

श्रीमती मोहनकौर जैन

वैज्ञानिक युग में श्रावकों की बदलती जीवनचर्या एवं सुविधाओं के कारण श्रमण-श्रमणियों को सरलता से शुद्ध आहार-पानी मिलना भी कठिन हो गया है। विद्युत काल बेल, कुत्ता-पालन, गैस चूल्हा, रेफ्रीजरेटर, टेलीफोन, लिफ्ट आदि अनेक ऐसे वैज्ञानिकयुगीन रोग हैं, जो श्रमणाचार के परिपालना में पालक हैं। श्रावकों को अपने आचार का बोध भी नहीं है तथा श्रमणों की चर्या से भी अनभिज्ञ हैं, अतः श्रावकों को इस दिशा में जागरूक होने की आवश्यकता है।—सम्पादक

अल्पाहारी, उग्र विहारी, अपरिग्रही, वीतराग धर्म के आराधक एवं अहिंसक जीवन शैली अपनाने वाले निर्ग्रन्थ मुनिराजों के सम्पर्क में आते ही सुखी जीवन के रहस्य का पता चलता है। उनके सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति शान्त, सौम्य, सरल, सन्तोषी, क्षमा की साक्षात् प्रतिमा के परमाणुओं से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। उसे लगता है दुनिया में सबसे सुखी यदि कोई है तो मात्र अहिंसा के पुजारी, षट्काय के प्रतिपालक, कंचन-कामिनी के त्यागी, वीतरागी जैन श्रमण। उनके दर्शन मात्र से आत्म-शान्ति की प्राप्ति होती है और ऐसा लगता है, काश! मैं भी मोह-ममत्व का त्याग कर साधनापथ पर प्रतिफल अग्रसर होते हुए मनुष्य जन्म को सार्थक करूँ, पर यह क्या? दूसरे ही क्षण विचार आता है- मेरे पीछे पेट लगा है। पेट की खुधा तो शान्त करनी ही होगी। वर्तमान में 'अम्मा पियरो' कहलाने वाले हमारे श्रावक-श्राविकाएँ अपने श्रावकाचार को भूलते जा रहे हैं। कारण स्पष्ट है वर्तमान में श्रावक-श्राविकाएँ मूल रूप में वैज्ञानिकयुगीन रोगों से ग्रस्त हैं। वे पूर्ण रूप से विज्ञान के दास बन चुके हैं, ऐसी स्थिति में भगवान् महावीर ने जो श्रमणाचार बताया है, क्या मैं उसका पालन कर सकूँगा? क्या मुझमें इतना साहस है? कहा भी है कि- "तलवार की धार पर चलना सरल है, पर जैन श्रमणाचार का पालन करना उससे कहीं कठिन है।"

अब लीजिए, मैं पहले उन आधुनिक वैज्ञानिक रोगों से भी आपका परिचय करवा दूँ।

1. प्रथम रोग है विद्युत कॉल बेल- वर्तमान में संयुक्त परिवार प्रथा विलुप्त हो चुकी है। जहाँ-तहाँ एकाकी एवं छोटे परिवार में लोग विघटित हो गए हैं। शहर के बाहर फ्लेट में रहते हैं, अड़ैस-पड़ैस से उनका कोई लेना-देना नहीं। ऐसी स्थिति में घर के पट बन्द रहते हैं। घर के बाहर कॉल बेल का स्वीच लगा रहता है। श्रमणाचार के पालक न तो बन्द द्वार खोलते हैं और न ही विद्युत कॉल-बेल का स्वीच ऑन-आफ करते हैं। ऐसी स्थिति में साथ चलने वाला श्रावक कॉल-बेल की सहायता से गृह-

स्वामी को यह सूचना देना चाहे कि 'श्रमण' पधारे हैं तो अग्निकाय की विराधना के कारण पूरे दिन के लिए वह घर अकल्पनीय (अग्राह्य) मानकर 'श्रमण' उस घर का आहार-पानी नहीं लेते। कई बार तो हमारे नादान श्रावक को यह भी कहते सुना है कि बापजी यह कॉल-बैल तो सैल की है आपको आहार-पानी लेने में ऐतराज क्यों? मगर वे यह नहीं जानते कि चाहे सैल हो या विद्युत अग्नि तो अग्नि है।

2. दूसरा रोग है देशी-विदेशी कुत्ते- कुछ श्रावक अपने घर की चौकीदारी हेतु देशी-विदेशी कुत्ते पालते हैं। स्वयं तो श्रावक होने के नाते मांस-मदिरा व अण्डे के त्यागी होते हैं, मगर कुत्ते को अण्डा, मांस आदि दूसरों के द्वारा खिलाया जाता है। ऐसी स्थिति में यदि 'श्रमण' का आगमन हो जाये और घर-आँगन में कहीं मांस या अण्डे के अवशेष मिल जायें तो जैन श्रमण उस घर में प्रवेश नहीं करते।
3. तीसरा रोग है गैस का चूल्हा- प्राचीन काल से भारत में संयुक्त परिवार प्रथा चली आ रही थी। एक ही परिवार में 30-30, 40-40 सदस्य रहते थे। 'सादा जीवन उच्च विचार' उनकी जीवन शैली थी। उनका कहना था- 'मोटा खाओ, मोटा पहनो।'

लकड़ी अथवा कोयले में भोजन बनाया जाता था। परिवार के सारे सदस्यों के भोजन करने के पश्चात् फुलकों की 'कुण्डी' पूरी भरी रहती थी, इसे वे अपने घर का शगुन मानते थे। खीच-दलिया तथा साग-भाजी की हाण्डिया चूल्हे की गरमागरम राख पर रखी रहती थीं, फलस्वरूप दिन के दूसरे प्रहर अथवा इसके पश्चात् भी हमारे निर्ग्रन्थ संत-सती मण्डल आहार-पानी के लिए अचानक पधारते तो भी उन्हें शुद्ध अचित्त आहार तथा प्रासुक जल सहज प्राप्त हो जाता था। हमारे श्रावक/श्राविकाएँ भी बड़े विवेकवान हुआ करते थे।

इसके विपरीत आज का युग है विद्युत हीटर तथा गैस-चूल्हे का। हमारी श्राविकाएँ चूल्हा जलाने के लिए जरा भी श्रम करना नहीं चाहती। वर्तमान में चूल्हा, अंगीठी और स्टोव तो बच्चों के लिए कौतूक का विषय रह गए हैं। वर्तमान में गूंथा हुआ आटा फ्रीज में रखा रहता है, जब भी घर का कोई सदस्य भोजन के लिए आता है तो उसके लिए 4-5 गरमागरम फुलके बना दिये जाते हैं, तत्पश्चात् शेष सामग्री फ्रीज में रख दी जाती है, फिर फुलकों की कुण्डी की आवश्यकता ही क्या?

4. चौथा रोग है रेफ्रीजरेटर (फ्रीज)- भोजन के पश्चात् साग-भाजी, दूध-दही, आटा आदि अचित्त अथवा सचित्त फल एवं भोज्य सामग्री फ्रिज में रख दी जाती है। ऐसी स्थिति में यदि भाग्यवश सन्त-सतियां आहार के लिए किसी श्रावक के घर पधार भी जायं तो मेरी बहिनें सकपका जाती हैं, भरे-पूरे परिवार में सब कुछ होते हुए भी मेरी बहिनें संत-साध्वीजी को क्या बहरावें। भले ही टॉफी या बिस्कुट की भावना भा लें, पर क्या इससे कभी किसी का पेट भरा है? इतना ही नहीं वर्तमान में तो अधिकतर टॉफी और बिस्कुट में भी अण्डे का रस आदि मिला होने के कारण वे जैन श्रमणों व श्रावकों को लिए सर्वथा निषिद्ध हैं।

5. **पाँचवा रोग है टी.वी.** - वर्तमान में हमारे भाई-बहिन जिस रोग से ग्रस्त हैं उससे आप और हम सभी परिचित हैं, वह है टी.वी.। टी.वी. तो वास्तव में टी.बी. की बीमारी से भी भयंकर है। जैसे ही अपने कार्य से फुर्सत मिलती कि हमारी बहिनें टी.वी. से पाश्चात्य शैली के नाटक आदि देखने में इतनी मशगूल हो जाती हैं कि उन्हें होश ही नहीं रहता कि वह एक श्राविका है। उसे यह विचार ही नहीं आता कि कहीं मेरे घर में निर्ग्रन्थ संत-साध्वीजी पधार कर खाली न लौट जायें, मुझे सुपात्रदान हेतु भावना भानी चाहिए और समय पर शुद्ध भोजन बनाकर घर के सदस्यों को खिलाना है, साथ ही होटलों के सड़े-गले या दूषित पदार्थ खाने से बच्चों को बचाना है। अफसोस इस बात का है कि वर्तमान में मेरी बहिनें अपने आपको श्राविका तो कहती हैं, पर यदि उनसे यह प्रश्न किया जाय कि क्या वे श्राविकाचार का पालन करती है? क्या उन्हें सचित्त-अचित्त की जानकारी है तो शायद वर्तमान में 95% बहिनों से नकारात्मक उत्तर ही मिलेगा। तो लीजिए मैं सर्वप्रथम अपनी श्राविका कहलाने वाली बहिनों से यह निवेदन करना चाहूँगी कि वे अपने श्राविकाचार का पालन करती हुई शुद्ध श्रमणाचार का पालन कराने में हमारे गुरु भगवन्तों का सहयोग करें।
6. **छठा रोग है फोन-** सचित्त-अचित्त की जानकारी के अभाव में यदि सौभाग्य से जैन श्रमण घर में पधारें और दूसरी ओर फोन की घण्टी आ जाए तो हमारी बहिनें अथवा बन्धु पहले फोन को महत्त्व देंगे। फोन को उठाते ही अम्निकाय की विराधना के कारण क्षमाधारी श्रमण बिना बोले उस घर से पुनः लौटे जाते हैं और उस दिन घर से कुछ भी अन्न-जल ग्रहण नहीं करते।
7. **सातवां रोग है सैल की घड़ी-** अधिकांशतः भाई-बहिनों के हाथ में सैल की घड़ी बंधी होती है, इससे भी अम्निकाय के जीवों की विराधना होने के कारण उस भाई-बहिन के हाथ से अथवा उसका छुआ अन्न-जल संतों के लिये ग्राह्य नहीं होता है।
8. **आठवां रोग है लिफ्ट की सुविधा-** महानगरों में बहुमंजिले भवनों में रहने वाले लोग लिफ्ट का प्रयोग करते हैं, किन्तु जैन श्रमण पद-यात्रा करते हैं। इतनी ऊँची-ऊँची मंजिलों में सीढ़ियों से चढ़ना और फिर खाली लौटना कब तक संभव है।

श्रावकाचार से अनभिज्ञता

आहार की बात तो दूर रही, वर्तमान में शुद्ध धोवन पानी भी नसीब नहीं होता। बर्तन पाउडर से धोए जाते हैं जो धोवन पानी के रूप में काम नहीं आता। गैस के चूल्हों, भट्टियों तथा बिजली के हीटर की कृपा से राख का तो नामो-निशान ही मिटता नजर आ रहा है। धोवन किन-किन चीजों से बनता है, श्रावकाचार व स्वाध्याय के अभाव में इसकी जानकारी नहीं होने के कारण राख के बन्द डिब्बे बाजार से खरीदे जाते हैं। जिनमें भरी होती है श्मशान की राख। जरा सोचिये, ऐसे युग में श्रमणों का कैसे निभे शुद्ध श्रमणाचार। अनुभवियों ने टीक ही तो कहा है कि-

जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन,
जैसा पीवे पानी, वैसी होवे वाणी॥

वर्तमान में यह कहावत पूर्ण रूप से चरितार्थ हो रही है। अशुद्ध और अशुभ भाव से बहराये हुए आहार-पानी का प्रभाव हमारे संत-साध्वीमण्डल के दिलो-दिमाग पर भी पड़ने लगा है। कुछ संत-साध्वी तो कठिन श्रमणाचार के पालन से भयभीत हो पुनः गृहस्थ बनने लगे हैं, तो कुछ चाहकर भी जैन भागवती-दीक्षा लेने से हिचकिचाते हैं।

घटता आचार

कुछ सम्प्रदायों में तो बदलते परिवेश को देखकर भगवान् महावीर के द्वारा बताये 52 अनाचारों की पालना में परिवर्तन कर दिया गया है। कुछ सम्प्रदायों में पद-यात्रा के स्थान पर कार व वायुयान द्वारा यात्राएँ होने लगी हैं तथा श्रमण नंगे पांव न रहकर कपड़े व प्लास्टिक के जूते पहनने लगे हैं। धोवण के स्थान पर नल का पानी सचित्त-अचित्त जो भी श्रावक बहरावें, ले लेते हैं, तो विहार में टिफिन-व्यवस्था भी प्रारम्भ कर दी गई है, तो कुछ सम्प्रदायों में पंखे, बिजली तथा माईक का प्रयोग होने लगा है। ऐसे में हमारी श्राविका बहिर्न, अपने श्राविकाचार को बिल्कुल ही भुलाती जा रही हैं। समझ में नहीं आता, कैसे चलेगा भगवान् महावीर का यह जैन धर्म।

जहाँ जैन परिवारों में सूर्य की साक्षी में भोजन किया जाता था तथा सूर्य के उदय होने से पूर्व मुँह में पानी भी नहीं डाला जाता था, वहीं आज मशीनरी युग में 'अर्थ' की होडा-होडी में हमारे श्रावकगण रात्रि 11-12 बजे तक भोजन करते हैं। रात्रि एक बजे तक सोते हैं। प्रातः 9-10 बजे उठते हैं। 11 बजे तक चाय-नाश्ता लिया जाता है तो ऐसी स्थिति में जरा विचार कीजिये, कहाँ से मिलेगा जैन श्रमणों के अनुकूल जैन संत-साध्वी जी को प्रासुक एषणीय आहार-पानी? कैसे बढ़ेगी हमारे निर्ग्रन्थ गुरुओं की संख्या?

जैन संतों को किस वस्तु की जरूरत है, वे मुँह से कहते नहीं, हमारे श्रावक धन कमाने में लगे हैं, फिर महिलाएँ भी नौकरी पेशा होने के कारण वे भी नौकरी पर आश्रित रहती हैं। एकल परिवार में वृद्ध अनुभवी लोगों का साया उन पर रहता नहीं, अतः संतों का उपदेश उन्हें अच्छा लगता है, पर उनकी जीवन शैली से वे परिचित नहीं होते। श्रावक कहलाने वाले श्रावकाचार अपनाते नहीं। संत अच्छे लगते हैं, पर जिगर के टुकड़े महाराज को बहराते नहीं। बेटे-बेटी बहराने की बात तो दूर रही, पर शुद्ध आहार-पानी बहराना भी नहीं जानते। ऐसी स्थिति में समता के पुजारी निर्ग्रन्थ तो सहज में ऊणोदरी तप कर अपनी आध्यात्मिक यात्रा करते रहते हैं, पर यह कब तक? जरा आप भी सोचिये- ऐसा क्यों?

नामधारी श्रावकों की संख्या में तो निरन्तर वृद्धि हो रही है, परन्तु श्रमणाचार एवं श्रावकाचार से अनभिज्ञ श्रावक ही अधिक हैं।

समय रहते हम श्रावक/श्राविकाओं को सजग होना होगा। हमें भगवान् महावीर द्वारा बनाये श्रावक-धर्म को जीवन में उतारना होगा। तभी हम अपने कर्तव्य का पालन करते हुए श्रमणाचार के शुद्ध-पालन में सहयोगी बन सकते हैं।

-पूर्व सचिव, श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जैन कॉलोनी, राइकाबाग, जोधपुर (राज.)

जैनश्रमण की रोग-प्रतिरक्षात्मक स्वावलम्बी जीवनशैली

डॉ. चंचलमल चोरडिया

संयम-जीवन की साधना हेतु स्वास्थ्य का समीचीन रहना आवश्यक है। श्रमण-श्रमणी निर्दोषतापूर्वक नीरोग किस प्रकार रह सकते हैं, इस हेतु विविध स्वावलम्बी उपायों की चर्चा डॉ. चोरडिया ने अपने आलेख में की है। रोगों से बचाव के साथ उनकी निर्दोष पद्धति से स्वयं चिकित्सा कर लेना श्रमण-श्रमणियों के लिए तो उपादेय है ही, श्रावक-श्राविकाओं के लिए भी उपादेयता असंदिग्ध है। -सम्पादक

साधु-जीवन की सीमाएँ

आत्मार्थी साधक आत्म-शोधन को सर्वाधिक प्राथमिकता देता है न कि शरीर पोषण को। वह अपने मन, वचन और काया पर पूर्ण नियन्त्रण रख प्रत्येक प्रवृत्ति को सम्यक् प्रकार से करने का जीवन पर्यन्त संकल्प लेता है। पांच समिति और तीन गुप्ति रूपी आठ प्रवचन माताएं उसकी साधना में सुरक्षा कवच की भांति सहयोग करती हैं। वह शरीर का तब तक ही खयाल रखता है, जब तक शरीर आत्मोत्थान में सहयोग देता है। क्योंकि मोक्ष-प्राप्ति तक आत्मा शरीर के बिना नहीं रह सकती। अतः शरीर की उपेक्षा कर साधक साधना भी नहीं कर सकता। अधिकांश शारीरिक रोगों का मुख्य कारण प्रायः जाने-अनजाने प्राप्त 10 प्राणों एवं 6 पर्याप्तियों का असंयम, दुरुपयोग, क्षमता के अनुरूप उपयोग न करना अथवा प्रकृति के स्वास्थ्य संबंधी सनातन सिद्धान्तों की उपेक्षा करना होता है। आहारादि के संयम से शरीर में रोग उत्पन्न होने की संभावनाएँ काफी कम हो जाती हैं और यदि रोग की स्थिति हो भी जाती है तो आहारादि के संयम से, पुनः शीघ्र स्वास्थ्य को प्राप्त किया जा सकता है। जैन श्रमण का जीवन यथासंभव पूर्ण रूप से संयमित, नियमित, स्वावलम्बी एवं पाप रहित होता है। वह तीन करण और तीन योग से हिंसा का त्यागी होता है। अर्थात् मन, वचन एवं काया द्वारा पाप प्रवृत्तियों से बचता हुआ, 42 दोष टाल गृहस्थों से निर्दोष, अपनी निम्नतम आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। साधक अनावश्यक बाह्य साधनों का उपयोग भी नहीं लेता है। प्रकृति के सनातन सिद्धान्तों का यथा संभव पालन करते हुए, प्राणिमात्र को बिना कष्ट पहुँचाने की भावना एवं आचरण में सजगता रखते हुए स्वयं का जीवन चलाने हेतु आवश्यक प्रवृत्तियाँ भी पूर्ण सावधानी पूर्वक करता है। सच्चा श्रमण वर्ग अपनी साधना में उपचार हेतु अनावश्यक दोष लगाना नहीं चाहता और न अपने शिष्यों अथवा सहयोगियों से उपचार हेतु अनावश्यक सेवा

लेकर परावलंबी जीवन जीना चाहता है। ऐसे साधकों का जीवन प्रायः रोग ग्रस्त नहीं होता। परन्तु फिर भी प्राण और पर्याप्तियों का पूर्ण संयम न रखने से, पूर्व उपार्जित असातावेदनीय कर्मों के उदय से, वर्तमान में उपलब्ध अशुद्ध खान-पान, प्रदूषण, पर्यावरण, दुर्घटना, आसपास के दूषित वातावरण के प्रति सजगता और सावधानी न रखने के प्रभाव से अथवा शरीर की रोग प्रतिकारात्मक क्षमता कमजोर हो जाने से रोग होने की संभावना रहती है। अतः उनके साथ भी जब तक जीवन है, कम अथवा ज्यादा सहनशक्ति एवं मनोबल की क्षमताओं के अनुरूप स्वास्थ्य की समस्याएँ जुड़ी रहती हैं।

स्वस्थ कौन?

स्वस्थ का मतलब विकार मुक्त अवस्था। जब ये विकार शरीर में होते हैं तो शरीर, मन में होते हैं तो मन, भावों में होते हैं तो भाव और आत्मा में होते हैं तो आत्मा विकारी अथवा रोगी कहलाती है। स्वस्थता तन, मन और आत्मोत्साह के समन्वय का नाम है। जब शरीर, मन, इन्द्रियाँ और आत्मा ताल से ताल मिला कर सन्तुलन से कार्य करते हैं, तब ही अच्छा स्वास्थ्य कहलाता है। जिसका शरीर, मन एवं आत्मा विकारों से मुक्त हो, वही पूर्ण स्वस्थ होता है। जितने-जितने अंशों में साधक इन विकारों से मुक्त होता है, उतना-उतना ही वह स्वस्थ होता है।

रोग सुरक्षा हेतु स्वावलंबी सुझाव

प्रकृति का सनातन सिद्धान्त है कि जहाँ समस्या होती है, उसका समाधान उसके आस-पास अवश्य होता है। अतः जो रोग शरीर में उत्पन्न होते हैं उनका बचाव एवं उपचार शरीर में अवश्य होना चाहिये। शरीर का विवेकपूर्ण एवं सजगता के साथ उपयोग करने की विधि स्वस्थ एवं निर्दोष स्वावलंबी जीवन की आधारशिला होती है। मानव की क्षमता, समझ और विवेक जागृत करना उसका उद्देश्य होता है। अच्छे स्वास्थ्य हेतु साधु की जीवन शैली कैसी हो, ताकि रोग होने की संभावनाएँ कम से कम हों, इस बात की सामान्य जानकारी प्रत्येक साधक को आवश्यक रूप से होनी चाहिए। ऐसी साधारण चन्द्र निर्दोष अग्रंकिता बातों की सतर्कता रखने से श्रमण वर्ग अपनी साधना में बिना दोष अथवा कम से कम दोषों का सेवन कर, अनेक रोगों से सहज बच सकते हैं एवं स्वस्थ रह सकते हैं।

भोजन करते समय ध्यान देने योग्य बातें

साधक को अपने स्वास्थ्य के अनुकूल ही आहार मिले, सदैव संभव नहीं होता। गृहस्थों के घर जो निर्दोष आहार उपलब्ध होता है, उसी को ग्रहण कर समभाव से जीवन निर्वाह करना पड़ता है। परन्तु भोजन कैसे करना? कब करना? कितना करना? उसके स्वयं के विवेक एवं नियंत्रण पर निर्भर करता है। भूख लगने पर भोजन करना जितना आवश्यक होता है, उससे भी अधिक उसका पूर्ण पाचन आवश्यक होता है। इसलिए यथासंभव साधक को ऐसा ही भोजन करना चाहिए जिसका सरलता से पूर्ण पाचन हो सके अथवा जो आहार ग्रहण किया जाए उसको पचाने हेतु आवश्यक सतर्कता रखी जाए। अतः साधक को पाचन के नियमों पर विशेष

ध्यान देना एवं उनका पालन करना आवश्यक है। प्रथमतः भोजन को पूर्ण चबा-चबा कर खाना चाहिए ताकि दांतों का कार्य आंतों को न करना पड़े। दूसरा विवेक यह कि भोजन के तुरन्त पश्चात् पानी नहीं पीना चाहिए। विशेष रूप से सायंकालीन भोजन के पश्चात् इसका पालन कठिन होता है। अतः संभव हो तो उन्हें सायंकालीन भोजन का त्याग कर देना चाहिए। भोजन के तुरन्त बाद में पानी पीने से पेट की जठराग्नि शान्त हो जाती है और आमाशय में भोजन को पाचन के लिए आवश्यक पेन्क्रियाज, लीवर, गाल ब्लेडर आदि से मिलने वाले पाचक रस पतले हो जाते हैं। जिससे आमाशय में भोजन का पूर्ण क्षमता से पाचन नहीं हो सकता। अपचा भोजन अनेक रोगों का प्रमुख कारण होता है।

तीसरी बात यह है कि प्रायः श्रमणों को शारीरिक श्रम की अधिक आवश्यकता नहीं होती है। अतः उनके भोजन पाचन में अपेक्षाकृत अधिक समय लगता है। अतः उनके दो आहार के बीच में कम से कम आठ घंटे का अन्तराल अवश्य होना चाहिए। इसके साथ ही निहार के आसन में एवं सूर्य स्वर में भोजन करने से पाचन अच्छा होता है। भोजन करने के पश्चात् कुछ समय व्रजासन में बैठने से भी पाचन में सहायता मिलती है। हमारे ऋषि मुनियों ने कहा- “एक समय खाने वाला योगी, दो समय खाने वाला भोगी, तीन समय खाने वाला रोगी होता है।” श्रमण वर्ग को इस तथ्य की गहराई में जाकर आचरण करना चाहिए। यदि ऐसा संभव न हो तो साप्ताहिक उपवास अवश्य करना चाहिए। उपवास के समय शरीर अपने दोष (वात, पित्त, कफ) को खाता है और शरीर स्वस्थ होने लगता है।

अन्य ध्यान रखने योग्य तथ्य

1. सर्दी और गर्मी का कानों पर अपेक्षाकृत प्रथम एवं अधिक प्रभाव पड़ता है। अतः जहां साधारण वातावरण से अधिक ठण्डे या गरम वातावरण में जाना हो तो जुकाम होने की संभावना रहती है। उदाहरण के लिए गर्म हवाओं अथवा लू में विचरण करते समय, सर्दी के समय अन्दर से बाहर आते समय, सर्दी से पुनः गरम वातावरण में जाते समय परिवर्तित तापमान से प्रभावित हवा का कान के पर्दों से तुरन्त स्पर्श न हो- इसका ध्यान रखना चाहिए। सावधानी के लिए ऐसे समय यदि कानों में रुई रखी जावे तो, वातावरण में परिवर्तन से होने वाले रोग प्रायः नहीं होते।
2. प्रातःकाल दोनों हथेलियों को आपस में मिला, दोनों अंगूठों से नाक के दोनों नथूनों को पूरा दबाकर, मुंह को फूलाकर, श्वास को बाहर निकालने का जितना सहन हो सके नियमित प्रयास करने से गले, नाक एवं कान में जमे विजातीय तत्त्व दूर होने लगते हैं। संबंधित कोशिकाएँ सक्रिय होने लगती हैं तथा इनसे संबंधित रोग होने की संभावनाएँ कम हो जाती हैं। जुकाम, श्वसन, थायराइड एवं पेराथायराइड, गले तथा कान के रोग प्रायः नहीं होते हैं।
3. गले से कबूतर की भांति आवाज निकालने का प्रयास करने से गला साफ होता है, जिससे गले एवं श्वसन तंत्र बराबर कार्य करने लगता है। इससे खांसी, दमा, आवाज में भारीपन आदि रोगों में शीघ्र आराम

मिलता है।

4. गले और गर्दन को अलग-अलग स्थितियों में बायें-दायें, ऊपर-नीचे, सभी तरफ जितना सहन हो सके, तनाव की स्थिति में रख, जितना दीर्घ गमो का उच्चारण कर सके, उतना करने से अथवा उस स्थिति में मौन अट्टाहाम करने से गर्दन की जकड़न दूर होती है और गर्दन संबंधी रोग ठीक होते हैं। थायराइड और पेराथायराइड ग्रन्थियाँ और विशुद्धि चक्र सक्रिय हो बराबर कार्य करने लग जाते हैं।
5. शरीर के असक्रिय, कमजोर भाग पर हथेली से (Clockwise) घड़ी की दिशा में मसाज करने से उस भाग की सक्रियता बढ़ने लगती है और वे अंग उपांग बराबर कार्य करने लग जाते हैं। इसी प्रकार दर्द, पीड़ा, खुजली अथवा जलन वाले भाग पर घड़ी की उल्टी दिशा में (Anti Clockwise) शरीर को स्पर्श करते हुए हथेली को घुमाने से रोग में तुरन्त राहत मिलती है। उदाहरण के लिए पेन्क्रियाज पर घड़ी की दिशा में मसाज करने से मधुमेह तथा पेट पर मसाज करने से कब्जी ठीक होती है तथा दस्त होने की स्थिति में पेट पर हथेली से घड़ी की उल्टी दिशा में मसाज करने से दस्तें बंद हो जाती हैं।
6. विधि सहित नियमानुसार भावना पूर्वक वंदना एवं प्रतिक्रमण साधक का नियमित व्यायाम होता है। उग्र विहारी श्रद्धेय श्री गुणवंत मुनि जी म.सा. के अनुभवों के अनुसार विहार चर्या के पश्चात् वंदना करने से विहार की थकान दूर होती है।
7. आसन- साधक को यथा संभव सीधी कमर रखकर वज्रासन, पद्मासन एवं सुखासन में ही बैठना चाहिए। जिससे शरीर का संतुलन बना रहता है एवं वीर्य विकार संबंधी रोग होने की संभावनाएँ कम हो जाती हैं। गोदुहासन में अपनी क्षमतानुसार बैठने से शरीर का स्नायुतंत्र सक्रिय रहता है और एडी, घुटने, पैर एवं पीठ के रोग परेशान नहीं करते।
8. प्राणायाम- सम्यक् प्रकार से श्वसन क्रिया को संचालित एवं नियन्त्रित करने की विधि को प्राणायाम कहते हैं। दो श्वासों के बीच का समय ही जीवन होता है। प्रत्येक व्यक्ति के श्वासों की संख्या निश्चित होती है। जो व्यक्ति आधा श्वास लेता है वह आधा जीवन ही जीता है। प्राणायाम से शरीर में प्राण ऊर्जा उत्प्रेरित, संचारित, नियमित और संतुलित होती है। जिस प्रकार बाह्य शरीर की शुद्धि के लिये स्नान की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार शरीर के आन्तरिक अवयवों की शुद्धि के लिये प्राणायाम का बहुत महत्त्व होता है।
9. प्रातःकालीन उदित सूर्य देखने से लाभ- सूर्य दर्शन अर्थात् सूर्य को देखना। मूर्खों के समय वायुमण्डल में अदृश्य परा बैंगनी किरणों (Ultra Violet Rays) का विशेष प्रभाव होता है। जो विटामिन डी का सर्वोत्तम स्रोत होती है। ये किरणें रक्त में लाल और श्वेत कणों की वृद्धि करती हैं। श्वेत कण बढ़ने से शरीर में रोग प्रतिकारात्मक शक्ति बढ़ने लगती है। परा बैंगनी किरणें तपेदिक, हिष्टिरिया, मधुमेह और महिलाओं के मासिक धर्म-संबंधी रोगों में बहुत लाभकारी होती हैं। ये शरीर में

विकारनाशक शक्ति पैदा करती हैं। इससे आंतों में अम्ल क्षार का संतुलन एवं शरीर में फासफोरस कैल्शियम का संतुलन बना रहता है। नेत्र ज्योति बढ़ती है तथा शरीर के सभी आवश्यक तत्वों का पोषण होता है। हृदय रोग, मस्तिष्क विकार, आंखों के विकार आदि अनेक व्याधियां दूर होती हैं। प्रातःकालीन सूर्यकिरणों जीवनी शक्ति बढ़ाती हैं, स्नायु दुर्बलता कम करती हैं, पाचन और मल निष्कासन की क्रियाओं को बल देती हैं, पेट की जठराग्नि प्रदीप्त करती हैं, रक्त परिभ्रमण संतुलित रखती हैं, हड्डियों को मजबूत बनाती हैं, रक्त में कैल्शियम, फासफोरस और लोहे की मात्रा बढ़ाती हैं, अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों के स्राव बनाने में सहयोग करती हैं।

10. **ध्यान-** ध्यान शरीर, मन एवं मस्तिष्क को स्वस्थ रखने का अच्छा माध्यम है। ध्यान से आभा मण्डल शुद्ध होता है, हानिकारक तरंगें दूर होती हैं। ध्यान की साधना शांत, एकान्त, स्वच्छ एवं निश्चित स्थान पर निश्चित समय करने से ज्यादा लाभ होता है। ध्यान के लिए मौन आवश्यक होता है। पहले शरीर की स्थिरता, फिर दृढ़ता और धैर्य के बिना ध्यान संभव नहीं हो सकता।
11. **आत्म-विकारों की शुद्धि-** आत्म-विकारों को दूर करने हेतु साधक को अपना सोच सकारात्मक, पूर्वाग्रहों से रहित, 'गुणिषु प्रमोद' से युक्त रखना चाहिए। भौतिक कामनाओं से निर्लिप्त रहने का अभ्यास करना चाहिए। नियमित स्वाध्याय, ध्यान, मौन एवं कायोत्सर्ग में अधिकाधिक अपने अमूल्य समय का सदुपयोग करना चाहिए। व्रतों में लगे दोषों की नियमित समीक्षा एवं गर्हाकर प्रमोदभाव से प्रायश्चित्त लेना चाहिए। स्वाध्याय मात्र वाचना और पर्यटना तक ही सीमित न हो, अपितु उसके द्वारा की जाने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति तथा उच्चारित शब्दों का अनेकान्त दृष्टि से चिंतनकर उसके मर्म की अनुप्रेक्षा करनी चाहिए। उसके अनुरूप अपने आचरण की समीक्षा करनी चाहिए। ऐसा करने से जीवन में सरलता, सहजता, संतोष, विनय, सहनशीलता, निर्लिप्तता आदि गुण विकसित होते हैं। जिससे साधक आत्मिक, मानसिक और शारीरिक रूप से अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ रहता है।
12. **मुस्कान के लाभ-** प्रातः 15-20 मिनट मुस्कराता हुआ चेहरा रखने का अभ्यास करने से मानसिक तनाव, आवेग, अधीरता, भय, चिंता आदि दूर होते हैं। सकारात्मक सोच विकसित होता है। अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियाँ सक्रिय होती हैं जिससे शुद्ध हारमोन्स का निर्माण होता है। मानसिक संतुलन बना रहता है। दुःखी, चिन्तित, तनावग्रस्त, भयभीत, निराश, क्रोधी आदि मुस्करा नहीं सकते और यदि उन्हें किसी भी कारण से चेहरे पर मुस्कराहट आती है तो तनाव, चिंता, भय, दुःख, क्रोध आदि उस समय उनमें रह नहीं सकते, क्योंकि दोनों एक दूसरे के विरोधी स्वभाव के होते हैं। अतः किसी भी आकस्मिक स्थिति में रोग सहनशक्ति के बाहर हो तथा दवा लेना आवश्यक हो उस समय चन्द मिनटों तक मुस्कराता चेहरा बनाने से तुरन्त राहत मिलती है। फिर चाहे निम्न या उच्च रक्तचाप अथवा मधुमेह आदि कोई भी रोग क्यों न हो, दवा की आवश्यकता नहीं पड़ती।

13. **सही स्वर संचालन-** जब श्वसन क्रिया बायें नथुने से होती है तो उसे 'चंद्र स्वर', जब दाहिने नथुने से होती है तो 'सूर्य स्वर' और जब दोनों नथुनों से चलती है तो सुषुम्ना स्वर का चलना कहा जाता है।
- गर्मी संबंधी रोग-** गर्मी, प्यास, बुखार, पित्त संबंधी रोगों में चन्द्र स्वर चलाने से शरीर में शीतलता बढ़ती है, जिससे गर्मी से उत्पन्न असंतुलन दूर हो जाता है। आवेग, क्रोध, उत्तेजना, उच्च रक्त चाप, मानसिक अधीरता में चन्द्र स्वर चलाने से शीघ्र लाभ होता है।
- सर्दी संबंधी रोग-** सर्दी, जुकाम, खांसी, दमा आदि कफ संबंधी रोगों में सूर्य स्वर अधिकाधिक चलाने से शरीर में गर्मी बढ़ती है, सर्दी का प्रभाव दूर होता है।
- आकस्मिक रोग-** जब रोग का कारण समझ में न आये और रोग की असहनीय स्थिति हो, ऐसे समय रोग का उपद्रव होते ही, जो स्वर चल रहा है उसको बन्द कर विपरीत स्वर चलाने से तुरन्त राहत मिलती है।
14. **गोदुहासन में नमस्कार मुद्रा-** 5 से 10 मिनट नमस्कार मुद्रा में गोदुहासन में बैठकर दिन में पांच-सात बार दीर्घ स्वर में ओम् अथवा नमस्कारमंत्र के एक-एक पद का कुछ समय तक लम्बा उच्चारण करने से शरीर बायें-दायें संतुलित होता है जिससे पैर, मेरुदण्ड, मस्तिष्क एवं नाड़ी संस्थान संबंधी रोग होने की सम्भावनाएँ नहीं रहती हैं।
15. **अंग व्यायाम-** शरीर के अंग, उपांग तथा प्रत्येक भाग की मांसपेशियों को प्रतिदिन कम से कम एक बार अथवा आवश्यकतानुसार जितना संभव हो आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे, घुमाने, खींचने, दबाने, मसलने, सिकोड़ने और फैलाने से, सम्बन्धित भाग की मांसपेशियाँ सजग और सक्रिय हो जाती हैं। परिणामस्वरूप उस भाग में रक्त परिभ्रमण नियमित होने लगता है। आँख, कान, नाक, मुँह, गला, छाती, पेट, हाथ, पैर, कमर और शरीर के मुख्य जोड़ों के अंग-व्यायाम से वहाँ पर प्राण ऊर्जा का प्रवाह बराबर होने लगता है।
16. **उड्डियान बंध-** श्वास को बाहर निकालकर पेट को कमर की तरफ जितना सिकोड़ सकें, बाह्य कुम्भक करने की स्थिति को उड्डियान बंध कहते हैं। खाली पेट इस क्रिया से आमाशय का सम्पूर्ण भाग स्पंज की भांति निचोड़ा जाता है। जिससे जमा अथवा रुका हुआ रक्त पुनः प्रवाहित होने लगता है। फलतः पेट के सभी अंग सक्रिय होने लगते हैं एवं पेट के रोग ठीक होते हैं।
17. **मूल बंध-** मल द्वार को ऊपर खींचकर संकुचित कर जितनी देर रख सकें, रखने की शारीरिक स्थिति को मूल बंध कहते हैं। इस बंध से आंतों और मल मूत्र संबंधी अंग बराबर कार्य करते हैं तथा उनसे संबंधित रोगों में लाभ होता है।
18. **प्रभावशाली रीढ़ के घुमावदार व्यायाम-** मनुष्य को छोड़कर सभी प्राणियों की रीढ़ की हड्डी क्षितिज के समानान्तर होती है। अतः चलने-फिरने में उनके मणके स्वयं हलचल में आ जाते हैं। परिणाम स्वरूप

उनकी सुषुम्ना नाडी की सुप्त शक्तियाँ स्वयं जागृत हो जाती हैं। यही कारण है कि अन्य जीवों को मनुष्य की अपेक्षा स्नायु सम्बन्धी रोग कम होते हैं। यदि साधक भी रीढ़ के विविध घुमावदार आसनों को नित्य विधिपूर्वक करलें तो उनमें भी सुषुम्ना शक्तियाँ जागृत होने लगती हैं, ऊर्जा चक्र सक्रिय होने लगते हैं एवं स्नायु संस्थान ताकतवर होने से, स्नायु संबन्धी रोगों के होने की संभावनाएं बहुत कम हो जाती हैं। इस व्यायाम को नियमित करने से नाभि अपने स्थान पर रहती है। कब्ज, गैस, थकावट, आलस्य, अनिद्रा, मोटापा, मधुमेह एवं स्नायु संबन्धी अन्य रोगों में लाभ होता है। मेरुदण्ड के मणके अपने स्थान पर रहते हैं।

19. **उषापान** - बिना कुछ खाए अथवा पिए एवं दांतुन किए बिना, प्रातःकाल अपने पेट की क्षमतानुसार सर्व प्रथम भर पेट पानी पीने को उषापान कहते हैं। उषापान से आमाशय और आंतों की सफाई होती है। जिससे पाचन संबन्धी रोग होने की संभावनाएँ कम हो जाती हैं और यदि असावधानी के कारण रोग हो गए हों तो भी बवासीर, सूजन, संग्रहणी, ज्वर, उदर रोग, कब्ज, आंत्ररोग, मोटापा, गुर्देसंबन्धी रोग, यकृत रोग, नासिका से रक्त स्राव, कमर दर्द, आंख, कान आदि विभिन्न अंगों के रोगों से राहत मिलती है। इससे नेत्र ज्योति में वृद्धि एवं बुद्धि निर्मल होती है।

20. **शिवाम्बु सेवन से लाभ** - दुनिया में रोग-मुक्त करने के लिए हजारों दवाइयाँ उपलब्ध हैं, जिनका रोगों की रोकथाम, उपचार एवं परहेज के रूप में सेवन किया जाता है। सभी दवाओं का शरीर के अंगों पर अलग-अलग अच्छा अथवा दुष्प्रभाव पड़ता है। आंख के रोगों की दवा कान में नहीं डाली जा सकती। नाक में डालने वाली दवा मुंह में नहीं ली जा सकती। परन्तु शिवाम्बु स्वयं के द्वारा स्वयं के शरीर से रोगों की आवश्यकतानुसार निर्मित जन्म से उपलब्ध ऐसी दवा है, जिसका प्रयोग चाहे कान हों या आंख, नाक हो या मुंह, त्वचा के रोग हों अथवा शरीर की आन्तरिक शुद्धि के लिए दिया जाने वाला एनिमा ही क्यों न हों, सभी में स्वस्थ रहने एवं रोग मुक्ति हेतु बेहिचक प्रयोग किया जा सकता है।

शिवाम्बु के सेवन से शरीर की रोग प्रतिकारात्मक क्षमता बढ़ती है, जिससे वायरस एवं मौसम परिवर्तन संबन्धी रोग होने की संभावनाएँ कम हो जाती हैं। शिवाम्बु क्षारीय प्रकृति का होने से इसके सेवन से आंतों एवं रक्त की सफाई होने में मदद मिलती है। अतः साधक को प्रातःकाल मल-त्याग के पूर्व शिवाम्बु सेवन करना चाहिए। उसके 15-20 मिनट पश्चात् उषापान कर मल त्याग हेतु जाने से कब्जी, गैस आदि रोग होने की संभावनाएँ कम रहती हैं। भोजन के पश्चात् शिवाम्बु का सेवन करने से पाचन अच्छा होता है। हिलते हुए दांतों को पुनः मजबूत करने के लिये तथा दांतों संबन्धी अन्य रोगों में ताजे शिवाम्बु को मुंह में भरकर दिन में तीन-चार बार पंद्रह बीस मिनट घुमाने से हिलते हुए दांत ठीक हो जाते हैं। मांप-बिच्छु अथवा शरीर में अन्य ज्वर फैलने पर शिवाम्बु पीने से विष का प्रभाव समाप्त हो जाता है। आंखों के सभी रोगों में, नेत्र ज्योति बढ़ाने के लिए, चश्मे के नम्बर कम करने के लिए, रोजाना तीन-चार बार आंखों में ताजे शिवाम्बु को तीन चार मिनट टंडा होने के पश्चात् डालने से काफी लाभ होता है। यदि किसी साधक

का पेशाब बंद हो तो, अन्य स्वस्थ साधक का शिवाम्बु पिालाने से मूत्र में आया अवरोध दूर हो जाता है। उसके पश्चात् रोग ग्रस्त साधक अपने स्वयं के शिवाम्बु का सेवन कर सकता है।

21. **मौन हंसी द्वारा रोगोपचार-** हंसी से शरीर में वेग के साथ ऑक्सीजन का अधिक संचार होने से मांसपेशियाँ सशक्त होती हैं। जमे हुए विजातीय, अनुपयोगी, अनावश्यक तत्त्व अपना स्थान छोड़ने लगते हैं, जिससे विशेष रूप से फेंफड़े और हृदय की कार्य क्षमता बढ़ती है। अवरोध समाप्त होने से रक्त का प्रवाह संतुलित होने लगता है। फलतः हृदय और श्वसन संबंधी रोग होने की संभावनाएँ कम हो जाती हैं और यदि इनसे संबंधित कोई रोग हो तो तुरन्त राहत मिलने लगती है। प्रातःकाल चंद मिनटों तक एकान्त में, स्वच्छ वातावरण में बैठ साधक मौन हंसी द्वारा हास्य योग द्वारा स्वयं को स्वस्थ रख सकते हैं।
22. **एकाग्रता से रोगोपचार-** प्रातःकाल जितना जल्दी उठ सकें, निद्रा त्यागकर शांत, एकान्त खुले स्वच्छ वातावरण में आंखें एवं मुंह बंद कर, दर्द अथवा शरीर के कमजोर भाग पर यदि दबाव दे सकते हैं तो दबाव दें, अन्यथा उस स्थान पर हथेली से मसाज करने, अगर यह भी संभव न हो तो उस स्थान पर हथेली से स्पर्श कर मौन हंसी -हंसने से शरीर के उस भाग में चेतना का प्रवाह अधिक होने लगता है। जिससे शरीर का वह भाग सक्रिय होने लगता है। चन्द दिनों तक नियमित इस प्रयोग से चमत्कारी परिणाम आते हैं तथा संबंधित अंग सक्रिय हो बराबर कार्य करने लग जाता है। पेन्क्रियाज पर दबाव देने से चन्द दिनों में ही मधुमेह का रोग भी नियन्त्रित हो जाता है। हृदय पर मसाज करने से हृदय बराबर कार्य करने लगता है।
23. **मेथी स्पर्श रोग निवारण-** मेथी वात और कफ का शमन करती है। अतः जिस स्थान पर मेथी का स्पर्श किया जाता है, वहाँ वात और कफ विरोधी कोशिकाओं का सृजन होने लगता है, शरीर की रोग-प्रांतरोधक क्षमता बढ़ने लगती है। दर्द वाले अथवा कमजोर भाग में विजातीय तत्त्वों की अधिकता के कारण शरीर के उस भाग का आभा मंडल विकृत हो जाता है। मेथी अपने गुणों वाली तरंगें शरीर के उस भाग के माध्यम से अन्दर में भेजती है। जिसके कारण शरीर में उपस्थित विजातीय तत्त्व अपना स्थान छोड़ने लगते हैं, प्राण ऊर्जा का प्रवाह संतुलित होने लगता है। फलतः रोगी स्वस्थ होने लगता है। जैन श्रमण के लिए सचित मेथी का उपयोग वर्जित होने से वे अचित्त मेथी स्पर्श कर उपर्युक्त लाभ प्राप्त कर सकते हैं।
24. **रक्त शुद्धि का सरल उपाय-तेल गंडूस-** लगभग एक चम्मच सूर्यमुखी तेल को 15 से 20 मिनट मुंह में अन्दर ही अन्दर घुमाकर थूकने से रक्त की शुद्धि होती है। जिससे रक्त-विकार से संबंधित, उच्च एवं निम्न रक्तचाप, हृदय, गुर्दे, त्वचा आदि सभी प्रकार के रोग चन्द दिनों में ही दूर होने लगते हैं। हड्डियाँ और दांत भी मजबूत होने लगते हैं।
25. **शारीरिक संतुलन क्यों आवश्यक?**- हमारा शरीर दाहिने एवं बायें बाह्य दृष्टि से एक जैसा लगता है। परन्तु उठने-बैठने-खड़े रहने, सोने अथवा चलते-फिरते समय प्रायः हम अपने बायें और दाहिने भाग पर

बराबर वजन नहीं देते। जैसे खड़े रहते समय किसी एक तरफ थोड़ा झुक जाते हैं। बैठते समय सीधे नहीं बैठते। सोते समय हमारे पैर सीधे और बराबर नहीं रहते। स्वतः किसी एक पैर को दूसरे पैर की सहायता और सहयोग लेना पड़ता है। फलतः पैर के ऊपर दूसरा पैर चला जाता है। ऐसा क्यों होता है? दोनों पैरों के बराबर न होने अर्थात् एक पैर बड़ा और दूसरा पैर छोटा होने से प्रायः ऐसा होता है। अतः प्रत्येक साधक को पैरों, मेरुदण्ड एवं गर्दन को संतुलित करने का ढंग, जो बहुत ही सरल है अवश्य सीख लेना चाहिए ताकि आवश्यकता पड़ने पर वह स्वयं कर सके। जिससे एडी से लगाकर गर्दन तक स्नायु संबंधित रोगों में तुरन्त राहत मिलती है।

26. **नाभि संतुलन का महत्त्व**— यदि नाभि अपने स्थान से अन्दर की तरफ हो जाए, उस व्यक्ति का वजन दिन प्रतिदिन घटता चला जाता है और यदि किसी कारण नाभि अपने स्थान से बाहर की तरफ हो जाती है तो शरीर का वजन न चाहते हुए भी अनावश्यक बढ़ने लगता है। किसी कारण नाभि यदि अपने स्थान से ऊपर की तरफ चढ़ जाती है तो खट्टी डकारें, अपच आदि की शिकायतें रहने लगती हैं। कब्जी भी हो सकती है। परन्तु यदि नाभि अपने स्थान से नीचे की तरफ चली जाती है तो दस्तों की शिकायत हो जाती है। इसी प्रकार नाभि कभी दायें, बायें अथवा तिरछी दिशाओं में भी हट जाती है, जिससे शरीर में अनेक प्रकार के रोग होने लगते हैं। सारे परीक्षण एवं पेशालोजिकल टेस्ट करने के पश्चात् भी यदि रोग पकड़ में नहीं आता हो तो, ऐसे में नाभि केन्द्र को अपने केन्द्र में लाने से तुरन्त राहत मिलने लग जाती है।

उपसंहार

स्वास्थ्य-विज्ञान जैसे विस्तृत विषय को सम्पूर्ण रूप से इस लेख में अभिव्यक्त करना बड़ा कठिन है। फिर भी गत वर्षों के अनुभव से मैंने जो परिणाम देखे उसके आधार पर ही कथन करने का मेरा प्रयास है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि उपर्युक्त तथ्यों का महत्त्व समझकर यदि साधक अपने विवेक से सजगता पूर्वक स्वयं के लिए आवश्यक नियमों का पालन करना प्रारम्भ कर दे तो अनेक रोगों से सहज बच सकता है, जिसके लिए उपचार करवाते समय उसको अपने ब्रतों में दोष लगाकर प्रायश्चित्त लेना पड़ता है तथा आचरण करने से साधक बिना दवा स्वस्थ एवं निर्दोष स्वावलम्बी जीवन जी सकता है। मृत्यु के लिए सौ सर्पों के काटने की आवश्यकता नहीं होती। एक सर्प का काटा व्यक्ति भी कभी-कभी मर सकता है। ठीक उसी प्रकार कभी-कभी बहुत छोटी लगने वाली हमारी गलती अथवा उपेक्षावृत्ति भी भविष्य में रोग का बहुत बड़ा कारण बन सकती है। “आरोग्य आपका”, “स्वस्थ रहें या रोगी- फैसला आपका” तथा “शरीर स्वयं का चिकित्सक” जैसी पुस्तकें अध्ययन करने से अन्य संबंधित जानकारियाँ एवं शंकाओं के समाधान प्राप्त किए जा सकते हैं।

चोरडिया भवन, जालोरी गेट के बाहर, जोधपुर-342003 (राज.)

फोन : 0291-2621454, 94141 34606 (मोबाइल)

E-mail: cmchordia.jodhpur@gmail.com

Website: www.chordiahealthzone.com

आर.एन.आई. नं. 3653/57

डाक पंजीयन संख्या RJ/JPC/M-07/2009-11

वर्ष-67 अंक-12 एवं वर्ष-68 अंक-01 * मूल्य : ₹ 100.00 * 10 जनवरी 2011 * मार्गशीर्ष-पौष, सं. 2067

धोवन पानी - निर्दोष जिन्दगानी

KALPATARU GARDENS



Offering 2 BHK and E3 Homes apartment with state-of-the-art amenities include a clubhouse with a well equipped gymnasium, swimming pool, squash and badminton court, landscaped gardens, a children's play area and multi-level car parking.



Other Projects:

- Kalpataru Aura - Ghatkopar (W) • Kalpataru Towers, Kandivali (E)
- Kalpataru Riverside, Panvel • Kalpataru Hills, Thane (E) • Srishti, Mira Road



KALPATARU

Site: Kalpataru Gardens, Off Ashok Chakravarty Road, Near Jain Temple, Kandivali (East), Mumbai - 400 101. Tel.: 022-2887 2914

H.O.: Kalpataru Limited, 101, Kalpataru Synergy, Opp. Grand Hyatt, Santacruz (East), Mumbai - 400 055. Tel.: 022-3064 3065 / 3064 5000 or Fax: 022-3064 3131

Email: sales@kalpataru.com or visit www.kalpataru.com

स्वामी-सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के लिए मुद्रक संजय भित्तल द्वारा दी डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस, एम.एस.बी. का रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर से मुद्रित एवं प्रकाशक विरदराज सुराणा, बाह्य बाजार, जयपुर से प्रकाशित। सम्पादक डॉ. धर्मचन्द्र जैन।